विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला १४

कादम्बरी

(एक सांस्कृतिक अध्ययन)

वासुदेवशरण अग्रवाल
अध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी–१

प्रकाशक
चौखम्बा विद्या भवन
चौक, वाराणसी-१
ई० १९५८

मूल्य १३॥)

मुद्रक
विद्याविलास प्रेस
वाराणसी-१
सं० २०१४

पुण्यश्लोक

महाकवि बाणभट्ट को

उन्हीं की अमरकृति कादम्बरी का

यह एक अध्ययन

सविनय समर्पित है

—वासुदेवशरण

भूमिका

महाकवि बाण कृत कादम्बरी का यह सांस्कृतिक अध्ययन बाणसंबंधी उस सप्तसूत्री साहित्यिक कार्यक्रम के छठे भाग की एकांश में पूर्ति है जिसका उल्लेख हमने अपने हर्षचरित की भूमिका में किया था।[1]

इस अध्ययन में चार दृष्टिकोण ऊपर उभर आए हैं—एक तो अक्षरशः अनुवाद न होते हुए भी इसमें कादम्बरी के सम्पूर्ण कथासूत्र की सावधानी से रक्षा की गई है। दूसरे बाण का जो अति उत्कृष्ट कवि-गद्य है, जिसमें उनकी अनेक कल्पनाओं और विविध पदावली द्वारा अभिनव अर्थों का प्रतिपादन एवं अद्भुत रसवत्ता है, उसे हिन्दी की निजी

---

(१) बाण के समग्र अध्ययन के लिये निम्नलिखित कार्य करना आवश्यक ज्ञात होता है—

१—कादम्बरी का प्रामाणिक संस्करण जिसमें हस्तलिखित प्रतियों एवं प्राचीन टीकाओं की सहायता से पाठ का संशोधन किया जाय।

२—कादम्बरी का हिन्दी भाष्य जिसमें पूर्व टीकाओं की छानबीन करके श्लेषों में छिपे हुए अर्थों को पूरी तरह प्रकट किया जाय।

३—हर्षचरित का संख्या एक की भाँति तैयार किया गया प्रामाणिक संस्करण।

४—हर्षचरित की विस्तृत टीका जिसमें शब्दों के श्लिष्ट अर्थों पर भली-भाँति विचार किया जाय।

५—कादम्बरी और हर्षचरित का सम्मिलित कोश जो बाण के शब्दानुक्रम कोश का काम दे सके।

६—हर्षचरित और कादम्बरी के आधार पर बाण की सम्पूर्ण सांस्कृतिक सामग्री का ऐतिहासिक विवेचन।

७—बाण का साहित्यिक अध्ययन जिसमें रस, मनोभाव, अलंकार, वृत्ति, शैली, चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से हर्षचरित और कादम्बरी का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किया जाय।

संख्या छह में निर्दिष्ट कार्य हर्षचरित के लिये पहले किया गया था और अब यहाँ कादम्बरी के लिये कुछ अंशों में सम्पन्न किया गया है। किन्तु बाण की दोनों कृतियों को मिलाकर सम्पूर्ण सांस्कृतिक सामग्री का वर्गीकृत और तुलनात्मक अध्ययन करना अब भी अवशिष्ट रह जाता है। मेरी अभिलाषा है कि कभी उसे ईप्सित और पल्लवित ढंग से पूरा करूँ।

प्रकृति के अनुसार यथासंभव सुरक्षित रखते हुए हिन्दी पाठकों तक पहुँचाने का यत्न किया गया है। तीसरे कादम्बरी के कथाविधान में कवि की विशेष प्रतिभा के कारण सप्तम शती की संस्कृति से संबंधित जिस बहुविध सामग्री का सन्निवेश हुआ है, भारतीय कला,साहित्य, इतिहास और संस्कृति की इतर सामग्री के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उसकी बहुविध व्याख्या यहाँ की गई है। ऐसा करने में बाण के स्थलों का मर्म नए ढंग से दृष्टिपथ में आ सका है। उदाहरण के लिये उज्जयिनी का वर्णन उस युग के नगर-विन्यास की दृष्टि से, राजकुल का वर्णन राजभवनों के वास्तुविन्यास, स्थापत्य और आभ्यंतरिक जीवन की दृष्टि से पाठकों को यहाँ पहली ही बार देखने को मिलेगा। हिमगृह के वर्णन में भी स्थापत्य की कई महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ प्रथम बार ही स्पष्ट की गई हैं। चण्डिका के मंदिर और बुड्ढे पुजारी के वर्णन एवं शूद्रक के भुक्त्वास्थानमंडप एवं बाह्यास्थानमंडप के वर्णन भी सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। हर्षचरित और कादम्बरी दोनों की सांस्कृतिक सामग्री को एकत्र करके गुप्तकालीन संस्कृति की पृष्ठभूमि में जब उस युग के अन्य साहित्यिक एवं कला संबंधी तथ्यों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जायगा, उसके लिये यह प्रयत्न सीढ़ी के पहले डंडे के समान उपयोगी सिद्ध होगा। भारत के सांस्कृतिक इतिहास के स्वर्णगिरि पर आरोहण करने की जो भव्य कल्पना किसी भाग्यशाली ऐतिहासिक के मन में आ सकती है, उसके लिये इस प्रकार के अनेक सांस्कृतिक अध्ययनों की एक सोपान परंपरा ही रचनी होगी। आशा है भविष्य में यह पथ और भी प्रशस्त बनाया जा सकेगा।

कादम्बरी के अध्ययन का चौथा दृष्टिकोण आध्यात्मिक है जिसकी व्याख्या अन्त में परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत की गई है। जहाँ तक कादम्बरी का काव्यात्मक रूप है वह अपने आप में सर्वथा परिपूर्ण है। काव्य से जो रसोपलब्धि चाहिए वह पाठकों को पूर्णमात्रा में कादम्बरी के काव्यात्मक संस्थान से प्राप्त हो जाती है। किन्तु बाण और कालिदास स्वर्णयुग के प्रतिनिधि पुरुष थे। दोनों शिव तत्त्व के परम आराधक भक्तकवि थे। वे सरस्वती के प्रज्ञाशील वरद पुत्र होने के नाते अपने युग को कुछ सन्देश देना चाहते थे। एक बार उस धरातल तक ऊँचे उठकर जब हम उनकी परिभाषाओं और प्रतीकों के अर्थ समझने लगते हैं, तब हमें प्रतीत होता है कि भारतीय अध्यात्म की उदात्त परंपरा में काव्य, नाटक, कथा आदि के माध्यम से ये महापुरुष मोक्ष और जीवन, निर्गुण और सगुण, अव्यक्त और व्यक्त, प्रेम और वासना की अति प्राचीन परिभाषाओं को नये रूप में ढालकर किसी नित्य तत्त्व की व्याख्या करना चाहते थे। इनकी अर्थवती भाषा में जीव की सबसे बड़ी अध्यात्म समस्या कामवासना और शुद्ध प्रेम के तारतम्य को पहचानना और जीवन में प्रत्यक्ष करना है। मानव अपनी वासना के कारण सृष्टि के ब्रह्मसूत्र से विचलित या नित्य विधान से च्युत हो जाता है। उसी की संज्ञा शाप है। तपश्चर्या से उस शाप का अन्त होता है। शाप के अन्त में पुनः उसी स्वाभाविक स्थिति, उसी उच्च स्वर्गीय पदवी, उसी भगवत्तत्त्व, उसी शिवतत्त्व की उपलब्धि संभव होती है। यक्ष, यक्षपत्नी, उर्वशी, पुरूरवा शकुन्तला, दुःषन्त, पुण्डरीक, महाश्वेता, चन्द्रापीड, कादम्बरी, सबके अध्यात्म जीवन की समस्या वासनामय स्नेह के अभिशाप से ऊपर उठकर नित्य अविचल प्रेमतत्त्व की प्राप्ति है।

शाप से जब उनका छुटकारा होता है तो वे प्रेम का नित्य सुख प्राप्त करते हैं। वासना अनित्य है, प्रेम नित्य है। इस दृष्टि से कादम्बरी के पात्रों के नाम और उनके जीवन की घटनाएँ साभिप्राय हैं। आरंभ में ही राजा का नाम शूद्रक क्यों है? वैशम्पायन सुग्गा किसका प्रतीक है? अच्छोद सरोवर क्या है? इन्द्रायुध कौन है? पत्रलेखा उसे लेकर अच्छोद में क्यों कूद जाती है? इनके जैसे अनेक प्रश्न कादम्बरी के अध्यात्म धरातल पर उत्पन्न होते हैं। हमें उनका स्वागत करना चाहिए। भारतीय अध्यात्म की परंपरा में उनका समाधान ढूंढ़ना चाहिए। इस प्रकार का एक प्रयत्न ग्रन्थ के अन्त में किया गया है।

भारतीय काव्य का जो स्वरूप है, अध्यात्म दृष्टिकोण से उसका मौलिक उद्देश्य क्या है? काव्य का एक बाह्य रूप है, दूसरा आभ्यन्तिक स्वरूप है। बाह्य रूप का धरातल मानवी है। आभ्यन्तर स्वरूप देवतत्त्व की लीला की व्याख्या है। रूप मानवी है, स्वरूप दैवी है। राम रावण का स्थूल चरित बाह्य मानवी रूप है। वह अनित्य होता है। राम ब्रह्म के निर्गुण-सगुण रूपों के प्रतीक हैं, रावण महामोह का प्रतीक है—काव्य का यह स्वरूप नित्य लीला से सम्बन्ध रखता है। नित्य भगवत्तत्त्व, स्वरूप, लीला पर्यायवाची हैं। मानवी रूप के घटनात्मक कर्म अनित्य हैं। किन्तु अनित्य और नित्यरूप दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए या अविनाभूत हैं। अनित्यरूप नित्यलीला की व्याख्या करते हैं। इसी दृष्टि से पंचपांडव, द्रौपदी, शताधिक कौरव आदि के चरितों की व्याख्या दोनों धरातलों पर घटित होती है। मेघदूत, शकुन्तला, विक्रमोर्वशीय, कादम्बरी आदि काव्य-ग्रन्थ भी इन दोनों क्षेत्रों में चरितार्थ होते हैं। एक में उनका बाह्य शब्दार्थरूप है; दूसरा प्रतीकार्थ रूप है। एक मानवी जीवन के अनित्य कर्मों तक सीमित है; दूसरा नित्य रसतत्त्व से मिला हुआ है। रसतत्त्व ही काव्य की वास्तविक आत्मा है। अध्यात्म संकेत नित्य रस तत्त्व की व्याख्या करते हैं। प्रतीक या लीला मानव के चंचल कर्म से ऊपर विश्व के अविचल विधान से सम्बन्ध रखती है। यक्ष निजी वासना के वशीभूत होकर स्वाधिकार या जीवन के विहित स्वरूप से च्युत होता है; अतएव वह तपश्चर्या द्वारा शुद्धि के लिये रामगिरि के आश्रम में भेज दिया जाता है। राम नित्य ब्रह्मलीला के प्रतीक हैं। जनकतनया विदेह की पुत्री हैं। वहाँ प्रेम है, वासना नहीं। भारतीय वाङ्मय में इन दो धरातलों को पहचानना ही उसके वास्तविक उद्देश्य का परिचय है।

कादम्बरी कथानक

मान्यता है कि कादम्बरी के कथानक की मूल वस्तु गुणाढ्य कृत बृहत्कथा में विद्यमान थी। गुणाढ्य का वह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं रहा, किंतु क्षेमेन्द्र कृत बृहत्कथामंजरी और सोमदेव कृत कथासरित्सागर बृहत्कथा पर ही आश्रित कहे जाते हैं। बृहत्कथामंजरी (१६।१८३-१२५१, निर्णय सागर संस्करण) एवं कथासरित्सागर (शक्तियशोलम्बक नामक दसवां लम्बक, तीसरी तरंग, श्लोक १–१७९, पृ० ३०३–३०८, निर्णय सागर संस्करण) में कादम्बरी से मिलता हुआ कथानक प्राप्त होता है। सोमदेव ने मकरन्दिका की जो कहानी दी है वह कादम्बरी की कथावस्तु से मिलती है। पर

कथासरित्सागर कादम्बरी की रचना के बाद का ग्रन्थ है, अतएव यह कहना कठिन है कि उसका कितना अंश मूल बृहत्कथा से लिया गया और कितना स्वयं कादम्बरी के प्रभाव से पुनः उसमें आ गया। जो हो मकरन्दिका और कादम्बरी की कहानी का पारस्परिक तारतम्य ऐसा है जैसा महाभारत की प्रगल्भताभरी शकुन्तला का और कालिदास की लज्जा और शील से संवारी हुई वनकन्या का। एक अनगढ़ पाषाण है, दूसरी चतुर शिल्पी की कमनीय कृति है जिसके रूप का उन्मीलन भावों की सूक्ष्मतम व्यंजनाओं द्वारा किया गया है।

कादम्बरी की कथावस्तु की तुलना एक सुघटित देवप्रासाद से की जा सकती है। उस युग के देवप्रसादों के वास्तु विन्यास के मुख्य चार भाग होते थे—पहिला मुखमंडप, दूसरा रंगमंडप, तीसरा अन्तरालमंडप और चौथा सबके अन्त में गर्भगृह। देव दर्शन का अभिलाषी व्यक्ति मुखमंडप से रंगमंडप में और फिर वहाँ से अन्तरालमंडप में होते हुए गर्भगृह में प्रवेश करता था उसी प्रकार के विन्यास को लेकर कादम्बरी के कथानक की कल्पना की गई है। शूद्रक सभा से लेकर जाबालि आश्रम तक की कथा इस साहित्यिक प्रासाद का मुखमंडप है। इस मुखमंडप में चन्द्रापीड के ही जन्मान्तरीय प्रतीक के रूप में शूद्रक विद्यमान है। इसके बाद कथा उज्जयिनी से आरंभ होकर चन्द्रापीड की दिग्विजय यात्रा तक चलती है, वह उस कथा प्रासाद का रंगमंडप है। रंगमंडप में पहुँचकर देव दर्शन की संभावना दृष्टिपथ में आती है। उससे आगे अच्छोद सरोवर का वृत्तान्त अन्तराल मंडप है जहाँ से गर्भगृह में प्रवेश किया जाता है। यही रंगमंडप और गर्भगृह के बीच में विश्राम का स्थल होता है। गर्भगृह से संयुक्त होने के कारण इसे गर्भगृह का ही भाग मानते हैं। अच्छोद सरोवर पर पहुँचकर चन्द्रापीड को पहली बार कादम्बरी के अस्तित्व का परिचय मिलता है। वहीं से वह कादम्बरी दर्शन के लिये महाश्वेता के साथ हेमकूट जाता है। बाण के इस सुविशाल वाङ्मय प्रासाद का गर्भगृह हेमकूट है जहाँ कादम्बरी रूपी दिव्य ज्योति निवास करती है। इस प्रकार कादम्बरी का सुग्रथित कथानक उस एकाश्मक देवभवन के तुल्य है जिसका संघटन किसी विचित्र शिल्पी ने पर्वत को उकेर कर किया हो।

कादंबरी के अद्भुत कथाशिल्प को राजप्रासाद के विन्यास से भी मिलाकर देखा जा सकता है। राजप्रसाद के शिल्प में सबसे पहले द्वारप्रकोष्ठ सहित प्रथम कक्ष्या आती है। शूद्रक की राजसभा में वैशंपायन सुग्गे के आने से लेकर उसके द्वारा कथा के आरम्भ तक कादम्बरी कथा की भूमिका है। इसमें कवि ने पहले शूद्रक और उसकी राजसभा का विस्तृत वर्णन, फिर सुग्गे को लेकर लक्ष्मीरूपी चांडाल कन्या का आगमन और सुग्गे द्वारा कथा के आरंभ करने का वर्णन किया है। यही राजप्रासाद की भव्य तोरणद्वार युक्त प्रथम कक्ष्या है।

द्वारप्रकोष्ठ में प्रविष्ट दर्शक पहली कक्ष्या पार करके दूसरी कक्ष्या में प्रवेश करता था, जहाँ राजभवन में बाह्यास्थान मंडप का निर्माण किया जाता था। विंध्याटवी, पंपासर एवं जाबालि आश्रम में भगवान् जाबालि द्वारा कथा का आरंभ इसी दूसरी कक्ष्या के समान है।

उज्जयिनी इस राजप्रसाद की तीसरी कक्ष्या है। तीसरी कक्ष्या में ही धवलगृह होता था जहाँ राजकुल के अन्तरंग दर्शन मिलते थे। वैसे ही उज्जयिनी में कथानक के अन्तरंग पात्रों के चरित्र का प्रथम दर्शन होता है। राजा तारापीड और रानी विलासवती का परिचय, कुमार चन्द्रापीड का जन्म, शिक्षा, यौवराज्याभिषेक और दिग्विजय यात्रा के लिये प्रयाण, ये उस तीसरी कक्ष्या में स्थित राजकुल के अन्तरंग दृश्य हैं। किन्तु वहाँ तक पहुँचकर भी दर्शक को वास्तविक अन्तःपुर के उस सुखमंदिर का दर्शन अवशिष्ट रहता है जहाँ नायक-नायिका का एकांत सम्मिलन होता था। वही कादम्बरी कथाशिल्प का हेमकूट लोक है जो कैलास के उत्संग में बसा है। स्थापत्य की परिभाषा में धवलगृह के उस अन्तरंग भाग को कैलास या सुखवासी भी कहा जाता था। कादम्बरी देवलोक की अध्यात्म विभूति है। उसी की साधना के लिए चन्द्रापीड का जीवन समर्पित है।

बाण ने महान् शिल्पाचार्य की भाँति अपने इस वाङ्मय प्रासाद को भरपूर रीति से सजाया है। उसका प्रत्येक भाग और सूक्ष्म अंश यथायोग्य अलंकरणों से संपन्न किया गया है। जैसे राजप्रासाद में अलिन्द, कक्ष्याएँ, स्तंभ, आस्थानमंडप, धवलगृह, देहली, चतुःशाल, वीथियाँ, अंगणवेदिका, सोपान, प्रग्रीवक, वासगृह, सौध, प्रासाद कुक्षियाँ, चन्द्रशालिका, वज्रमंदिर, भवनोद्यान, दीर्घिका, वापियाँ, आहारमंडप, व्यायामभूमि, आस्थानमंडप, हिमगृह, कुमारीभवन, श्रीमंडप, क्रीडापर्वत आदि सब भाग सूक्ष्मातिसूक्ष्म अलंकरणों से भूषित किए जाते हैं, वैसे ही कवि ने इन वस्तुओं के स्थूल रूपों को शब्दों में पूरे सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त किया है। इन चित्रों में स्वर्णयुग की संस्कृति का भव्य रूप सुरक्षित है। कवि ने उस युग के शोभासंपन्न राजप्रासादों का मानों साक्षात् दर्शन सदा के लिये सुलभ कर दिया है। स्थूल रूपों के निर्माण से ऊपर कवि का और भी महत्वपूर्ण उद्देश्य उनमें निवास करने वाले राजा, रानी, मंत्री, राजकुमार, राजकुमारी, प्रिय सखियाँ, प्रतीहार, प्रतीहारी आदि के बाह्य व्यक्तित्व और अलंकृत रूपों का परिचय देना भी है। इन वर्णनों में जो चित्र उपलब्ध होते हैं वे उस युग की मानवी सृष्टि का अन्तरंग परिचय कराते हैं। किन्तु इस उच्च धरातल से भी उच्चतर वह लोक है जिसमें इन पात्रों की पूर्णतम अभिव्यक्ति उनके मानस की भावनाओं द्वारा की जाती है। कादम्बरी में उस युग के मानस भावों का समग्र परिचय कवि ने दिया है। ये भाव एक ओर संसार-निरत है, दूसरी ओर इन्हें संस्कार सम्पन्न बनाकर अध्यात्म में प्रतिष्ठित किया गया है। यही कवि का लक्ष्य है। वैदिक या भारतीय दर्शन की मूलभूत चेतना की अजस्र धारा भारतीय साहित्य में उसी प्रकार वर्तमान रही है, जैसे भूतल की ऊपरी पपड़ी के नीचे कम या अधिक गहराई में जलधारा प्रवाहित रहती है। कादम्बरी में यह बात सुस्पष्ट है। कादम्बरी बाण के परिपक्व मानस की देन है। बाण अपने सरस जीवनानुभव एवं तत्त्वालोकन से उस आदर्श भारतीय मानव के स्वरूप थे जो जीवन रस का पान करके पूर्ण विदग्ध बने थे। उन्होंने लोक व्यवहार की सामग्री से कथा का ठाट निर्मित करने में साहित्यकार की रसानुभूति एवं कलाकार के रचनाकौशल

का परिचय दिया है। यह निश्चित है कि वे कथा श्रवण एवं श्रावण के अतिशय अनुरागी थे। यह भी सत्य है कि नीर-क्षीर विवेकी उनका मानस किसी असाधारण तत्त्व का लक्ष्य करके ही साहित्य की आराधना में रम सकता था। वही इस महाकाव्य का पूर्णतम बिंदु है। कादम्बरी की कथा में प्रमुख पात्रों के चरित्र को तीन जन्मों के समय तक उठाते जाना, सारे कथानक को एक विशिष्ट केन्द्र से आरंभ करके पूर्ण सन्तुलन के साथ बढ़ाना और पुनः उसी बिन्दु पर ले आना, तथा रोचकता एवं नवीन उत्कंठा को सुस्थिर रखना उन्हीं का काम था। उस युग की कथा कहने की विशेषता का आलंबन अथवा उपाख्यान शैली के सब रूपों का प्रयोग करते हुए उनकी अलग-अलग धारा बहाकर एक में ही सबकी व्याप्ति कर देना इस कथानक की महती विशेषता है।

कादम्बरी के वर्णन भी अनूठे हैं। हर्षचरित में बाण की चित्रग्राहिणी बुद्धि की अद्भुत वर्णन क्षमता हम देख चुके हैं। कादम्बरी में उसका मृद्वीका पाक हुआ है। कादम्बरी के वर्णनों का रस कुछ और ही है। इन वर्णनों का जो लालित्य है, इनमें जो शिल्प विधान का पूर्ण सौन्दर्य है, रस से तृप्त कवि की जो अनुभूति है, प्रत्येक धरातल पर सत्यानुसंधान की जो महती शक्ति है, वह अद्वितीय है। जैसे कोई रसानुभवी कलावंत सम्पूर्ण तन्मयता में डूबकर अपने वाद्य से स्वर निकालते हुए कोमल एवं गंभीर सभी स्तरों पर एक सी ही तल्लीनता से बढ़ता हुआ ध्वनि द्वारा रसचित्र बनाता है कुछ वैसी ही स्थिति बाण कृत कादम्बरी की है। किसी समाधिजन्य तन्मयता से लालित्य के सागर में डूब कर उन्होंने कादम्बरी के वर्णनों की लहरें उठाई थीं। हम लोगों के सामने उस युग के महान् उत्तराधिकार का रूप खड़ा करने वाले चित्रों में अजन्ता आदि के कुछ ही वर्णचित्र बचे हैं। उन्हीं असामान्य रूपाकृतियों के प्रतीक बाण के शब्दचित्र हैं। कोई भी श्रेष्ठ पुष्प अपने विटप की अंतर्निहित सुगन्धि का ही परिचय देता है। बाण के मानस का सौगन्धिक पुष्प मूलभूत भारतीय वैदिक सुरभि से ही सुरभित था। कादम्बरी की कथा में वैदिक रसतत्व की अनुपम निधि को ही बाण ने सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। सच तो यह है कि संस्कृति की प्राचीनतम धारा बाण के स्वर्ण युग में और भी अधिक सौभाग्य, सुगन्धि और रस से परिपूर्ण हो उठी थी। उसके समग्र उपकरणों को प्रतिभाशाली महाकवि ने कथा में भर दिया है। योग्य पिता के योग्य पुत्र का यह कहना यथार्थ ही था कि उस युग में भी कादम्बरी के रसपान से मत्त हुए रसिकों को और कुछ न सुहाता था। कादम्बरी की उस प्रियशालिनी महिमा का देश और काल में संवर्धन ही हुआ है।

कादम्बरी का अध्ययन करते हुए कुछ स्थल ऐसे मिले जो अब तक स्पष्ट नहीं थे। उनके अर्थों का उद्घाटन भारतीय कला और संस्कृति की सामग्री से संभव हो सका है। जैसे—भुवनालोकन प्रासाद (अनु० २१ पृ० ३७); प्रासाद शिखरों पर पारावत

मालाएँ (अनु० २४ पृ० ३९); त्रिपताकोग्रभ्रकुटि (अनु० २८ पृ० ४२); धर्मशासन कटक (अनु० ३४ पृ० ४७); तनुतरंगभंग युक्त यज्ञोपवीत (अनु० ३८ पृ० ५३); दन्तवलभिका (अनु० ४५ पृ० ६१); दर्शित विश्वरूप चित्रभित्ति (अनु० ४४ पृ० ६०); अन्तःपुर संगीतक (अनु० ५० पृ० ६५); आयति और तदात्व (अनु० ५० पृ० ६६); महत्तरिका (अनु० ५६ पृ० ७३); पत्रलता (अनु० ६१ पृ० ७४); अवतरणक मंगल (अनु० ६१ पृ० ७४); जातमातृ देवता (अनु० ६४ पृ० ७७); पटलक (अनु० ६४ पृ० ७८); आर्यवृद्धा (अनु० ६४ पृ० ८०); वर्धमान (अनु० ६४ पृ० ८०); अधर रुचक (अनु० ६५ पृ० ८२); पुस्तक व्यापार या पुस्तकर्म (अनु० ७१ पृ० ८५); सुरंगोपभेद (अनु० ७१ पृ० ८६) व्रतिन् (अनु० ७६ पृ० ८६); कक्ष्याओं के विभागानुसार राजकुल (अनु० ८५ पृ० ९६-१०५); सिंहमुख प्रतिमा (अनु० ८५ पृ० ९८); मृदुकरसहस्र संवर्धित रत्नालय (अनु० ८५ पृ० १०२); धर्मपट (अनु० ६० पृ० १०८); मंडल (कवच पर बनाए जानेवाले शतसूर्य और शतबिन्दु अलंकरण, अनु० ६६ पृ० ११२); तरंग और बुद्बुद नामक रत्न दोष (अनु० १०४ पृ० ११८); पुस्तकमयी मूर्ति (अनु० १०६ पृ० ११६); मायूरातपत्र (अनु० ११६ पृ० १२५); शासन, पूर्वा, कीर्तन शब्दों के पारिभाषिक अर्थ (अनु० १२३ पृ० १३०); गुल्मक या सैनिक चौकियाँ (अनु० १३१ पृ० १३७); शिलीमुख (अनु० १३१ पृ० १३८); भ्रमर संघात या शतावर्त नामक अलंकरण जो कवचों पर बनाया जाता था (अनु० १३१ पृ० १३८); कुसुमशर पतत्रिन् (अनु० १४१ पृ० १४८); अंजनरजोलेखा श्यामल रोम राजि (अनु० १४२ पृ० १४९), रक्षावली (अनु० १५३ पृ० १५५); त्रिभुवन प्रासाद महाप्रणाल (अनु० १६७ पृ० १६४); प्रमदवन पक्षद्वार (अनु० १६८ पृ० १६५); महादेवी हेमपट्ट (अनु० १८० पृ० १७७); दोलायमान वलय (अनु० १८२ पृ० १७६); इन्द्रायुधजाल वर्णांशुक (अनु० १८२ पृ० १७६); ऊर्ध्वस्थित व्यजन (अनु० १९० पृ० १८३); श्रीमंडप (अनु० १९१ पृ० १८४); अवाङ्मुख उत्कीर्ण विद्याधर (अनु० १९१ पृ० १८४); क्रीडानदिका (अनु० १९१ पृ० १८६); पत्रशबरी (अनु० १९१ पृ० १८६); चन्द्रलेखिका आभूषण (अनु० १९१ पृ० १८६); नखपद मण्डल (अनु० १९१ पृ० १८७); निरुपहत शिला (अनु० १९९ पृ० १९६); पटलक रत्न मंजूषा (अनु० २०१ पृ० १९८); चित्रलिखित मुद्रा (अनु० २०२ पृ० २०१), प्रासाद में अंगन सौध वेदिका (अनु २०५ पृ० २०५); चार प्रकार की परिव्राजिकाएँ (अनु० २०५ पृ० २०६); गान करने वाली नारद दुहिता (अनु० २०५ पृ० २०७), सीमन्त मकरिका (अनु० २०६ पृ० २०९); क्षुरधारिणी (अनु० २०७ पृ० २१०); कामपीठ (अनु० २०९ पृ २१४); मायामेघमाला अलंकरण (अनु० २०९ पृ० २१५); बुद्बुद संज्ञक अलंकरण (अनु० २१५ पृ० २२४); आपुरुषसिंहमुख मध्यस्थित स्थूल लोहकटक (अनु० २१६ पृ० २२६); कौशेयक कोशावरण (अनु० २१६ पृ० २२९); अष्टादशद्वीपमालिनी मेदिनी (अनु० २१५ पृ० २५६); रूपालेख्य या प्रतिकृति चित्र के उन्मीलन के लिये कज्जल वर्तिका (अनु० २५३ पृ० २६१); कीर्तन या देवमन्दिर (अनु० २६६ पृ० २६८); कायमान

या छावनी में राजा के लिये छाया हुआ फूस का बँगला (अनु० १९७ पृ० ११९); समायोग (वहीं, अनु० २६८ पृ० २७०) ।

इन शब्दों के विशेष अर्थों का उद्घाटन यथास्थान मिलेगा। इनसे विदित होगा कि किस प्रकार बाण ने अनेक पारिभाषिक शब्दों को काव्यमयी कल्पनाओं में गूंथ दिया था। यह उनकी शैली की अपनी विशेषता थी। कादम्बरी में एक स्थान पर उन्होंने स्वयं कहा है —

स्वयमुत्पादितानेकचिन्ताशताकुला कविमतिरिव तरलता न किंचिन्नोत्प्रेक्षते
(अनु० १६८ पृ० १६५) ।

अर्थात् कवि का तरंगित मन जब सक्रिय होता है तो वह अपने भीतर अनेक कल्पनाएँ करता है। ऐसा कुछ नहीं है जो उसमें न आ जाता हो। लोक के सर्वाङ्गीण जीवन-व्यवहार और विधाता की सृष्टि में जितना कुछ है सब कवि कल्पना में उद्भासित हो उठता है। कवि के उन संकेतों को गंभीर चिन्तन और विस्तृत अभिज्ञता से पहचानने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये उज्जयिनी के वर्णन में अनेक शब्दों के श्लेषात्मक अर्थों में उस युग की सांस्कृतिक शब्दावली अन्तर्निहित है। जब कवि उज्जयिनी के नागरिक जन को कोटिसार और प्रकटितकनकपद्मराशि कहता है, तो ऊपरी अर्थ के अतिरिक्त उसका संकेत वहाँ के कोटिपति और पद्मपति धनिकों से है। जब वह नगर के वर्णन में शंखशुक्ति मुक्ताप्रवाल मरकत मणि सुवर्ण से भरे हुए महाविपणि पथों का चित्र खींचता है, तो उसका अभिप्राय उस युग के चौरासी हाटों में से नमूने के लिये केवल स्वर्णहट्टी या सराफा बाजार से पाठकों को परिचित कराना है क्योंकि उसीका महत्त्व सबसे अधिक था। जब वह सदासन्नवसुधाधरा लिखता है तो उसका संकेत उज्जयिनी के भूमिगृहों में यत्नपूर्वक रक्खी हुई उस रत्न राशि से है जो स्वर्णयुग के नागरिक संसार के अनेक भागों से संगृहीत करके पीढ़ियों के लिये अपने यहाँ रखते थे। जब वह अनेकबालक्रीडारमणीया हरिवंशकथा से उज्जयिनी की तुलना करता है, तब प्रकट में तो वह कृष्ण की बाललीला और घर-घर में होनेवाली बच्चों की क्रीड़ा का उल्लेख करता है, पर श्लेष से उसका संकेत वास्तुशिल्प के उन अलंकरणों से है जिनमें क्रीड़ा करती हुई बालमंडली को प्रासाद के शिलापट्टों पर बहुधा उत्कीर्ण किया जाता था और जिन्हें सुबन्धु ने वासवदत्ता के प्रासाद वर्णन में श्लेष से माणवकक्रीडित कहा है। जब कवि लक्ष्मी की उपमा वसुजननी गंगा से देते हुए उसे तरंगबुद्बुद चंचला कहता है तो उसका अभिप्राय तरंग और बुद्बुद नामक उन मणिदोषों से है जिन्हें वसु या रत्न तराशनेवाले वेगड़ी (वैकटिक) रत्नों में बचाते थे। जब कवि शिशु चन्द्रापीड या मुनिकुमार के सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में अधररुचक का उल्लेख आता है तो वह गुप्तयुग की उस सौन्दर्य-विशेषता की ओर ध्यान दिलाता है जिसके अनुसार अजन्ता की चित्रकला में अधर को निष्क नामक गोल मुद्रा या आभूषण की भाँति लटकता हुआ दिखाया जाता था।

चन्द्रापीड की मृगया के प्रसंग में कविने कहा है—समुद्गतस्वेदतयान्तरार्द्रीकृत-मंडलेन मृगरुधिरलवशतशबलेन वारबाणेन द्विगुणतरमुपजनिकान्तिः (अनु० ९६)। यह·

चित्र तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक कवच पर बनाए जानेवाले अलंकरणों को न जान लिया जाय। कवच पर बने हुए मंडल क्या थे, मृग रुधिर की सैकड़ों बूंदों के पड़ने से क्या विशेषता हुई और कैसे कवच की शोभा पहले से दुगुनी हो गई—इन प्रश्नों के उत्तर बाण के चित्र को समझने के लिए आवश्यक हैं। महाभारत के विराट पर्व में उल्लेख है कि कवचों पर शतसूर्य, शतबिन्दु, शतावर्त और शताक्षि नामक अलंकरण बनाए जाते थे। बाण के वर्णन में शतसूर्य को मंडल और शतबिन्दु को लवलत कहा गया है। जिस कवच पर पहले केवल शतसूर्य या सूर्यमंडल बूटी बनी हुई थी उसी पर मृगरुधिर की बूँदें पड़ जाने से शतबिन्दु या तारामंडल नामक बूटी भी मानों दिखाई पड़ने लगी, इसीसे कवच की शोभा द्विगुणितहो उठी। सौभाग्य से तीसरे शतावर्त नामक अलंकरण का भी बाण ने उल्लेख किया है — दंशितेरिव भ्रमरसंघातकवचावृतकायैः (अनु० १२१)। भ्रमरसंघात शतावर्त नामक अलंकरण का ही पर्याय है जिसका निर्देश कवच के प्रसंग में किया गया है। पहली टीका या व्याख्याओं में ये अर्थ धुंधले रह गए थे।

कादम्बरी में इस प्रकार के और भी अनेक शब्द हैं। इस रसमयी कथा के संस्थान को आत्मसात् करने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण सहायता प्रासादशिल्प को स्पष्ट रूप से समझ लेने से प्राप्त होती है। उज्जयिनी के राजकुल और गन्धर्वलोक के कुमारी अन्तःपुर के वास्तु विन्यास संबंधी सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनकी स्पष्ट प्रतीति द्वारा ही कथा के सूत्रों को अवगत करने की निर्मल दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। परिशिष्ट संख्या दो में इनका कुछ विवरण दिया गया है।

मैं अपने मित्र श्री सूर्यनारायण जी व्यास का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने अवन्ति माता के मंदिर या अवन्ति मातृगृह के संबंध में सूचना भेजकर मुझे कृतार्थ किया (अनु० ३१६ पृ० ३०५) (अनु० ३१८ पृ० ३०७)। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर के प्रांगण के एक भाग में ही यह मन्दिर है। नगर परिक्रमा के समय इसका विशेष रूप से दर्शन किया जाता है। चन्द्रापीड के हेमकूट से सकुशल लौट आने का वरदान देवी से माँगने के लिये रानी विलासवती अवन्ति माता के मन्दिर में गई थी और वहीं जब त्वरितक नामक संदेशहर से चन्द्रापीड का मरण समाचार ज्ञात हुआ तो उसने महाकाल मन्दिर के समीप ही चिता रचने का आदेश दिया। इससे यह निश्चित है कि महाकाल के समीप में किसी समय श्मशान भी था। इस जिज्ञासा के सम्बन्ध में श्री सूर्यनारायण जी ने लिखा है—महाकाल वन में एक श्मशान माना गया है। स्कंदपुराण में उज्जैन के बारह श्मशानों का उल्लेख है, उनमें महाकाल वन भी एक है।[1]

१—व्यास जी के अनुसार इस विषय में एक स्वतंत्र वचन भी है—

श्मशानमीश्वरं क्षेत्रं वनं पीठं तथैव च।
पंचैकत्र न लभ्यन्ते महाकालपुरीं विना॥

अर्थात् महाकाल श्मशान, महाकाल शिव, महाकाल क्षेत्र, महाकाल वन, महाकाल पीठ—ये पाँचों एक ही साथ महाकाल नगरी उज्जयिनरी में हैं।

भांडारकर प्राच्य संस्थान पूना के संग्रहाध्यक्ष श्री पी० के० गोडे सबके लिये सुलभ शोधमित्र हैं। उन्होंने अति कष्ट करके कई पाठांतर जाँचने की कृपा की जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। अनुच्छेद ११९ में पिटरसन, वैद्य, और निर्णयसागर के संस्करणों में अधर्मकालोपस्थितेन भूमिगृहेण (अनु० ११९) पाठ मिला, किन्तु अर्थ की दृष्टि से यहाँ अघमर्षकाल पाठ संगत बैठता है। श्री गोडे जी ने कई हस्तलेख जाँचकर अन्त में मुझे सूचित किया कि उन्हें एक प्रति में अघमर्षकाल पाठ मिल गया है (भांडारकर संस्थान की प्रति संख्या १२२, १८६६-६८)। इसी प्रकार कात्यायनी के मन्दिर के वर्णन में प्रचलित संस्करणों में त्रापुष सिंहमुख मध्यस्थितस्थूल लोह कण्टकम् पाठ है (अनु० २१६); किन्तु प्रसंग से ज्ञात होता है कि यहाँ किवाड़ों में लगे हुए पीतल के सिंहमुखी लट्टुओं में पड़े हुए लोहे के मोटे कड़ों से तात्पर्य है। अतएव लोहकण्टकम् की जगह मूल पाठ यहाँ लोहकटकम् होना चाहिए। श्री गोडे जी को यह पाठ अभीतक हस्त-लिखित प्रतियों में नहीं मिला है। फिर भी मेरा सुझाव है कि लोहकटकम् प्राचीन श्रेष्ठ पाठ था और लोहकण्टक उसकी जगह आगन्तुक पाठ है। किवाड़ों में लगे हुए इस प्रकार के कड़े वलय, कंकण और कुंडल भी कहे जाते थे।

श्री जगन्नाथ पाठक साहित्याचार्य ने पुस्तक के लिपिकरण में मनोयोग पूर्वक श्रम किया जिसके लिए मैं उनका उपकार मानता हूँ।

काशी विश्वविद्यालय
१४-११-१९५७

वासुदेवशरण

विषय-सूची

[अ] मंगलाचरण

[आ] कथामुख

[इ] महर्षि जाबालि द्वारा कही हुई कथा

पृष्ठ संख्या

*अनु० ८३ की संख्या मुद्रण में भूल से रह गई है। पृ० ९३ पर 'आलोकन के लिये उत्कंठित…' से उसका आरम्भ समझना चाहिए।

† अनुच्छेद १४५ की संख्या मुद्रण में भूल से छूट गई है। पृष्ठ १५० पर 'मैं सोचने लगी...' से उसका आरम्भ समझना चाहिए।

पृ० सं०

*अनु० २२१ की संख्या भूल से मुद्रित होने से रह गई है। उसका आरम्भ पृ० २३४ पर 'तब मैंने उनका आशय समझ कर' यहाँ से समझना चाहिए।

उत्तर भाग

मंगलाचरण के श्लोक

पृ० सं०

❀ अनुच्छेद ३१३ की संख्या का शीर्षक मुद्रण में भूल से छूट गया है। पृ० २०१ पर 'मदलेखा जाकर लौट आई...', यहाँ से वह शुरू होता है।

कादंबरी के पात्र

(१) पुरुष पात्र

शूद्रक—विदिशा का राजा, चन्द्रापीड़ का अवतार
कुमारपालित—शूद्रक का प्रधानामात्य
जाबालि—कथा कहनेवाले महर्षि
हारीत—मुनिकुमार, जाबालि के पुत्र
चन्द्रापीड़—प्रधान नायक
तारापीड़—चन्द्रापीड़ के पिता, उज्जयिनी के राजा
वैशम्पायन—चन्द्रापीड़ का सखा
शुकनास—तारापीड़ का मंत्री और वैशम्पायन का पिता
बलाहक—राजा तारापीड़ का बलाधिकृत
मेघनाद—बलाहक का पुत्र, चन्द्रापीड़ का महाबलाधिकृत
कैलास—अन्तःपुर का प्रधान कंचुकी
मंगल—शुकनास का भृत्य
जालपाद—जाबालि का शिष्य
पुण्डरीक—महर्षि श्वेतकेतु का युवापुत्र और महाश्वेता का आराध्य प्रेमी
कपिञ्जल—पुण्डरीक का सखा मुनिकुमार
श्वेतकेतु—पुण्डरीक के पिता
हंस—महाश्वेता के पिता
चित्ररथ—गंधर्वों के राजा, कादम्बरी के पिता
केयूरक—कादम्बरी का वीणावाहक गन्धर्व कुमार
क्षीरोद—गन्धर्वराज चित्ररथ का कंचुकी
मातङ्क—शबर सेनापति

(२) स्त्री पात्र

कादम्बरी—कथा की नायिका, गन्धर्वराज चित्ररथ की पुत्री
मदिरा—चित्ररथ की पत्नी, कादम्बरी की माता
गौरी—हंस की पत्नी, महाश्वेता की माता
मदलेखा—कादम्बरी की प्रधान सखी
तमालिका—कादम्बरी की अन्य सखी
तरलिका—महाश्वेता की ताम्बूल-करंक वाहिनी
पत्रलेखा—कुलूतेश्वर की पुत्री चन्द्रापीड़ की प्रियसखी
विलासवती—तारापीड़ की पत्नी, चन्द्रापीड़ की माता
मनोरमा—शुकनास की पत्नी, वैशम्पायन की माता
मकरिका—विलासवती की ताम्बूलकरंक वाहिनी
कुलवर्धना—विलासवती के अन्तःपुर की महत्तरिका
चाण्डाल कन्या—पुण्डरीक की माता, लक्ष्मी का अवतार

(३) अन्यपात्र

वैशम्पायन—कथा सुनाने वाला शुकशावक, पुण्डरीक का अवतार
इन्द्रायुध—चन्द्रापीड़ का अश्व, कपिञ्जल का अवतार
गन्धमादन—चन्द्रापीड़ का राजकुंजर
कालिन्दी—कादम्बरी की सारिका
परिहास—कादम्बरी का शुक, कालिन्दी का पति

कादम्बरी : एक अध्ययन

कादम्बरी

एक सांस्कृतिक अध्ययन

कादम्बरी महाकवि बाणभट्ट की अमर कृति है। बाण के दूसरे ग्रंथ हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के व्याख्यानों में प्रस्तुत किया गया था। यहां हमारा विचार है कि कादम्बरी का भी उसी प्रकार का एक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय।

बाण की सहज प्रफुल्लित प्रकृति, चित्रग्राहिणी प्रतिभा, कल्पनाशील मन और असामान्य पाण्डित्य के विषय में जो कुछ हम हर्षचरित में देख चुके हैं, कादम्बरी के चित्रों में उनका व्यक्तित्व उससेकहीं अधिक विकसित परिलक्षित होता है। हर्षचरित इसी पृथिवी की तथ्यात्मक आख्यायिका है, पर कादम्बरी दिव्यलोक को भूतल पर लाने वाली काव्य-कल्पना है जिसमें कवि का मानस अपने युग के उस विराट् मानस में अन्तर्लीन हुआ मिलता है जब देव और मानव एक दूसरे से मिलने के लिये निकटतम आ गए थे। शंकर ने अद्वैत परक 'अहं ब्रह्मास्मि' का जो उद्घोष बाण के कुछ वर्षों बाद किया, उस दिव्य वसंत की श्रीपंचमी बाण की कादम्बरी है। कादम्बरी का जो सुरभित सौन्दर्य है उसमें किसी देवलोक का अपूर्व सौगंधिक यश मिला हुआ है। सचमुच संस्कृति के उस विकास में भारतीय मानव देवों के विराट् भाव का संस्पर्श कर रहा था। गंगा की अन्तर्वेदी में कैलास के उस अट्टहास की साक्षात् उपलब्धि हो रही थी जिसकी ओर पूर्वयुग के महाकवि ने 'राशीभूतः प्रतिदिन मिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः' कहकर संकेत किया था। भारतीय मानस-हंस गंधर्वों के दिव्यलोक का अन्तरंग वरण करने के लिये आकुल थे। चन्द्रापीड़ और कादम्बरी उस सुपर्ण के दो पंख हैं जिनके बल पर कवि की कल्पना ने पृथिवी और आकाश के बीच में ऊँचे उठने का प्रयत्न किया।

कादम्बरी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि क्या है; इस प्रश्न का उत्तर पुराणों के तत्कालीन कुछ वर्णनों में हम देख सकते हैं। 'भारतवर्ष पृथिवी में कर्म-भूमि है (पृथिव्यां भारतं वर्षं कर्मभूमि रुदाहृता, ब्रह्म २७।२)। भारत ही मोक्ष-क्षेत्र है। भारत वह वर्ष है जो भुक्ति और मुक्ति दोनों के साधन की सुविधा देता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति यहीं भारत में मनुष्य को हो जाती है (प्राप्नोति पुरुषः सर्वं तस्मिन्वर्षे सुसंयतः, ब्रह्म० २७।५)।

इन्द्रादि देवों को अमर पद की प्राप्ति भारत में किए सुशोभन कर्मों से हुई। भारत स्वर्ग के लिये भी प्रतिमान या प्रतिरूप है। स्वर्ग की मात्रा जानना चाहो तो भारत का दर्शन करो। देवों का भी सदा यह मनोरथ है कि हम भारत में मनुष्य के रूप में उत्पन्न हों[१]।' भारत की इस गुण सम्पत्ति का स्रोत क्या था, इसका उत्तर उस युग के प्रत्यक्ष जीवन से ही दिया गया था—'यह भूमि कर्मभूमि है, स्वर्ग तो केवल फलभूमि है। यहाँ का मनुष्य जो अपने कर्म से संभव बनाता है वह उस लोक के सुरासुरों के लिये भी संभव नहीं—(मनुष्यः कुरुते यत्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः)। भारत में निवास करने वालों के पास जीवन के विविध कर्मफल विद्यमान हैं। धन्य हैं वे जो भारतवर्ष में जन्म लेते हैं और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के महाफलों में अपना पूरा अंश प्राप्त करते हैं। तप का फल, सब दानों का फल, अहिंसा आदि साधनाओं का फल, नाना शास्त्रों का फल, नाना व्रतों का फल, स्वाध्याय का फल, स्वनुष्ठित ब्रह्मचर्य का फल, सर्वोपकारक्षम गृहस्थाश्रम का फल, वनवास में मुनिवृत्ति से रहने का फल, योगयुक्त संन्यास का फल तथा अनेक शुभकर्मों के उदार फल इसी भारत में फैले हैं, अन्यत्र नहीं (प्राप्यते भारतेवर्षे न चान्यत्र द्विजोत्तमाः, ब्रह्म० २७।७८)। लोक और परलोक के सब लाभ भारत के ही नगर जनपद, ग्राम, निगम, राजधानी, गुरुकुल, आश्रम और अरण्यों में भरे हुए दिखाई देते हैं।' भारत के मुकुट की मणि का जैसा भास्वर तेज है वैसा और कहीं नहीं। अतएव युगवाणी के रूप में कहा गया—'भारतवर्ष के समान पृथिवी में दूसरा कोई वर्ष नहीं। भारत के अखिल गुणों को कौन कह सकता है[२]? देवता भारत से ही स्वर्ग में गए और वे अपने देवत्व की विभूति के साथ पुनः भारत में ही आना चाहते हैं (निवासं भारते वर्षे आकांक्षन्ति सदा सुराः, ब्रह्म, २७।९)। स्वर्ग और अपवर्ग दोनों की उपलब्धि का हेतु भारतवर्ष है। स्वर्ग की देवयोनियों से भारत की मानुषी योनि श्रेष्ठ है।'

जो कोई इस प्रकार का सुरभित सांस्कृतिक प्राणवायु था उससे कादम्बरी काव्य का चिदंश संपन्न हुआ। संस्कृति के क्षीर-समुद्र में महाकवि की ध्यानशक्ति द्वारा जो अमृतघट उत्पन्न हुआ वही कादम्बरी कथा-काव्य है। यक्षलोक, गंधर्वलोक, त्रिदशालय या निर्जर देवलोकों के अक्षय्य जीवन का वरदान लिए हुए देवकुमारियाँ भारत के राजकुमारों का वरण करना चाहती थीं। यही कादम्बरी का चित्रपट है। जीवन में जो प्राप्तव्य है यदि वह सब प्राप्त हो जाय हो तो मानव लोक और देवलोक में फिर

१—देवानामपि भो विप्राः सदैवैष मनोरथः।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ॥
ब्रह्म० २७।६६

२—न भारतसमं वर्षं पृथिव्याम् अस्ति भो द्विजाः।
कः शक्नोति गुणान् वक्तुं भारतस्याखिलान् द्विजाः ॥
ब्रह्म० २७।७१, ७८

क्या कर्त्तव्य शेष रहता है ? कवि के शब्दों में इसका उत्तर है प्रेम की साधना । वह भी एक जन्म के लिये नहीं, तीन तीन जन्मों में सत्य होने के लिये । भूत, भविष्य और वर्तमान की शृंखलाओं को कादम्बरी के कथाकार ने एक सूत्र में पिरो दिया है । अपने प्रतिभानवान् चक्षु से उसने मृत्यु की छाया को अमृत के आतप से हटा दिया है । यह कथा क्या है ? इसके फैलते हुए सूत्रों का वितान कितना सक्षम और व्यापक है ? इसके कक्ष कितने अवकाश संपन्न हैं ? मानवी भावों के कितने पत्रलतात्मक चित्रों से वे संकुल हैं ? भारतीय प्रकृति की कितनी ओजस्वी सृजनशक्ति है ? उसकी षट्ऋतुमयी परिवर्तनशीलता कितनी मनोरम है ? उसके चक्रात्मक संवत्सर की एकतान संचरणशीलता कितनी प्राणवन्त है ? इन सबकी प्रभाव छाया कादम्बरी के कथानक में प्राप्त होती है ।

कादम्बरी के पात्र गंधर्वलोक और मानुषलोक की जीवन विभूति और मानस-संपत्ति एक दूसरे की संप्रीति और कुशलक्षेम के लिये समर्पित करते हैं । उनमें द्वन्द्व के स्थान पर समवाय का नियम कार्य करता है । वे सब एक सर्वाभिभावी, सर्वोपरि नियतिचक्र के अनुशासन से बँधे हुए अपने-अपने जीवन का उद्घाटन करते हैं । उनकी मूल प्रेरणा सदा प्रेम है । यह स्वर्गीय तत्त्व मनुष्यलोक को गंधर्वलोक के साथ मिलाता है । इसकी साधना करते हुए इस लोक के पात्र देवलोक में जाते-आते हैं ।

कथा की दृष्टि से कादंबरी का संस्थान उस वसुधान-कोश के समान है जिसमें ढक्कन के भीतर ढक्कन खुलता हुआ पद-पद पर नया रूप, नया यश और नया विधान आविष्कृत करता है । यहाँ पात्रों के चरित्र एक जीवन में नहीं, तीन-तीन जीवन पर्यन्त हमारे सामने आते हैं ।

कादंबरी के उदात्त वर्णनों का रस लेने के लिये आवश्यक है कि पाठक के मन में उसके संश्लिष्ट कथासूत्रों की स्पष्ट कल्पना बनी रहे । इसकी कथावस्तु को अति संक्षेप में इस प्रकार जान सकते हैं । जैसे किसी चित्रपट के उत्तरोत्तर खुलते हुए अंश सामने आते हैं वैसे ही कथा के मुख्य मोड़ इस प्रकार हैं[१] ।

(१) अ—शूद्रक की राजसभा में चांडाल कन्या का आगमन [अनुच्छेद १–११]
आ—वैशंपायन तोते का परिचय और उसके द्वारा कथा का आरंभ [अनु० १२–१६]

(२) अ—विंध्याटवी वर्णन । [अनु० १७–३५]
आ—जाबालि का आश्रम; जाबलि ऋषि द्वारा वैशंपायन तोते की कथा का आरंभ । [अनु० ३६–४३]

(३) अ—उज्जयिनी और तारापीड का वर्णन; चन्द्रापीड का जन्म [अनु० ४४–६७]

आ—चंद्रापीड़ की शिक्षा, यौवराज्याभिषेक और दिग्विजय [९८–१२३]

(४) अ—अच्छोद सरोवर का वर्णन; चन्द्रापीड़ और महाश्वेता की भेंट एवं महाश्वेता का अपना वृत्तांत-कथन [अनु० १२४–१८१]

आ—चंद्रापीड़ और कादम्बरी का प्रथम मिलन [अनु० १८२–२१२]

(५) अ—चंद्रापीड़ का उज्जयिनी में लौटना; कादंबरी का विरह और प्रेम-संदेश [अनु० २१३–२५७]

आ—चंद्रापीड़ का पुनः गंधर्व लोक में जाना और मृत्यु [अनु० २५८–३००]

(६) अ—महाश्वेता और कादम्बरी का शोक एवं प्रतिबोधन [अनु० ३०१–३१५]

आ—तारापीड़ और विलासवती का शोक, जाबालि ऋषि द्वारा उद्घाटित कथासूत्र की समाप्ति। [अनु० ३१६–३२९]

(७) अ—श्वेतकेतु द्वारा भेजे हुए कपिंजल का वैशंपायन से जाबालि आश्रम में आकर मिलना। [अनु० ३३०–३३७]

आ—जाबालि आश्रम से वैशंपायन तोते का भागना और चांडाल कन्या द्वारा पकड़कर शूद्रक की सभा में लाया जाना। [अनु० ३३८–३४७]

(८) अ—लक्ष्मी द्वारा शूद्रक तथा वैशंपायन के पूर्वजन्म का परिचय देना और उनका शापमोचन। [अनु० ३४१]

आ—महाश्वेता और पुंडरीक एवं चंद्रापीड़ और कादम्बरी का समागम। [अनु० ३४२–३५२]

इन कथामोड़ों के भीतर से कथाप्रवाह लहरिया गति से आगे बढ़ता है। इसका क्रम कथा-शिल्प के मर्मज्ञ कथाकार ने इस प्रकार रखा है। पहले वे कथा के लिये एक स्थिर धरातल तैयार करते हैं। फिर उस ठहराव पर कथा के गतिशील कण संगृहीत होने लगते हैं और उसके तरल प्रवाह को आगे बढ़ाते हैं। यों स्थिति और गति के मिले हुए विधान से कथा के वर्णनों में अद्भुत रसवत्ता की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है।

१—इस अध्ययन में श्री पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित संस्करण का उपयोग किया गया है; प्रकाशक—ओरियएटल बुक एजेंसी, पूना, १६३५। उसमें गद्य कथा को ३५२ अनुच्छेदों में बाँटा गया है। यहाँ सर्वत्र उन्हीं के अनुसार अंक दिए जाएंगे।

कथा

१ अ-आ—आरंभ में कवि ने विदिशा के राजा शूद्रक की राजसभा का वर्णन करते हुए एक चांडाल कन्या का वैशंपायन नामक तोतेको राजा को समर्पण करने और तोते द्वारा अपनी महती कथा आरंभ करने की भूमिका दी है।

विशेष वर्णन

शूद्रक (अनु० १-२); विदिशा राजधानी (३); राजा का जीवन (४); राजसभा (५-७); चाण्डाल कन्या (८); वैशंपायन तोता (९-११); आस्थान मंडप में सभा विसर्जन (१२); शूद्रक का स्नान और भोजन (१३-१४); भुक्त्वास्थानमंडप में वैशंपायन द्वारा कथा का आरंभ (१५-१६)।

२ अ-आ—वैशम्पायन शुक कथा का आरंभ करते हुए विंध्याटवी और उसके आश्रम का एवं पंपानामक पद्मसर का वर्णन करके शाल्मली वृक्ष के कोटर में अपने निवास का परिचय देता है। प्रातःकाल शबरसेनापति शबर-सैन्य लिये हुए उधर से निकलता है। एक बुड्ढा शबर वृक्ष पर चढ़कर तोतों को उनके घोंसलों से पकड़ता है। वैशंपायन नीचे गिर जाता है। हारीत नामक तापसकुमार उसे उठाकर आश्रम में ले आता है और वहाँ उसके पिता जाबालि तोते के पूर्व जन्म की कथा सुनाते हैं।

विंध्याटवी (१७); पंचवटी-आश्रम (१८-१९); पंपानामक पद्मसर (२०); शाल्मली वृक्ष (२१-२३); प्रभात (२४); शिकार का कोलाहल (२५-२६); शबर-सैन्य (२७); शबर सेनापति (२८); हारीत नामक ऋषिकुमार (३४); जाबालि-आश्रम (३६-३७); जाबालि (३८-३९); संध्याकाल (४२); चन्द्रोदय। (४३)।

३ अ-आ—यहाँ से वैशंपायन शुक और शूद्रक के भी पूर्व जन्मों की, जैसा आगे चलकर विदित होता है, कथा का ठाठ आरंभ होता है। उज्जयिनी के राजा तारापीड़ की रानी विलासवती के गर्भ से कथा के नायक चंद्रापीड़ का जन्म होता है और मंत्री शुकनास के यहाँ चन्द्रापीड़ का सखा वैशंपायन जन्म लेता है। दोनों गुरुकुल में विधिवत् शिक्षा प्राप्त करके घर लौटते हैं। यौवराज्य में अभिषिक्त होने के बाद चंद्रापीड़ दिग्विजय के लिये निकलता है और उत्तर में कैलास के पास हेमकूट के निवासी किरातों के सुवर्णपुर नामक स्थान

उज्जयिनी वर्णन (४४-४५); राजा तारापीड़ का वर्णन (४६-४७); राजा और रानी की पुत्र के लिये अभिलाषा (५३-५६) पुत्र जन्म और सूतिकागृह का वर्णन (६३-६४); जन्म-महोत्सव (६७); विद्यामंदिर और चंद्रापीड़ की शिक्षा (६९-७२) इंद्रायुध अश्व का वर्णन (७६-७७); चंद्रापीड़ को देखकर पौरवनिताओं की चेष्टाएँ (८०-८२); प्रमदाओं के आलाप (८३); राजकुल का विशद वर्णन (८५); चंद्रापीड़ द्वारा पिता तारापीड़ एवं माता विलासवती का दर्शन (९०); संध्या वर्णन (९४);

में पहुँचकर वहाँ से भी आगे अच्छोद सरोवर की ओर जा निकलता है।

चंद्रापीड़ की दिनचर्या (९५-९८); पत्रलेखा वर्णन (१००); शुकनास कृत उपदेश (१०३-१०९); चंद्रापीड़ का यौवराज्याभिषेक (१११); दिग्विजय के लिये प्रस्थान (११२-११५); सेना की हलचल और कोलाहल (११६-११९); किन्नर-मिथुन का पीछा करना (१२४-१२५)।

४अ—चंद्रापीड़ अच्छोद सरोवर के समीप पहुँचकर गीत की ध्वनि सुनता है और उसका अनुसरण करते हुए सरोवर के पश्चिमी तट पर शिव के मंदिर में एक कन्या को देखता है। यही महाश्वेता थी। वह इसका आतिथ्य सत्कार करती है और परिचय बढ़ने पर अपना वृत्तान्त सुनाती है। उसी सरोवर के तट पर वह ऋषि कुमार पुंडरीक के दर्शन से मदनाविष्ट हुई थी। दोनों की मदनगत अवस्थाओं के अनंतर मदनावेश से पुंडरीक का मरण हुआ था और उसके लिये महाश्वेता ने करुण विलाप किया था। इस प्रकार शोक व्याकुल महाश्वेता को चंद्रापीड़ सांत्वना देता है।

अच्छोद सरोवर (१२७-१२९); शिव मंदिर का वर्णन (१३१-१३२); महाश्वेता-वर्णन (१३३-१३५); महाश्वेता-जन्मादि वर्णन (१३६-१४०); मुनिकुमार पुंडरीक का वर्णन (१४१); मदनाविष्ट पुंडरीक और महाश्वेता (१५२-१५३), पुंडरीक का संदेश (१५४); कपिंजल द्वारा पुंडरीक को समझाना (१५९-१६१); चन्द्रोदय (१६५), महाश्वेता का अभिसार (१६६-१६८); पुंडरीक का मरण (१६९-१७०); महाश्वेता का विलाप (१७१); पुंडरीक के शरीर का चंद्रलोक में ले जाया जाना (१७४-१७५); चंद्रापीड़ का महाश्वेता को समझाना।

४आ—इसके अनन्तर चंद्रापीड़ महाश्वेता की सखी तरलिका के विषय में पूछता है और वह उसके गंधर्वलोक जाने की बात कहती हुई गंधर्वराजपुत्री कादम्बरी का प्रथम परिचय देती है। तभी गंधर्वकुमार केयूरक महाश्वेता के लिये कादंबरी का संदेश लाता है। तरलिका भी साथ लौटती है। जबतक महाश्वेता का पुंडरीक से पुनर्मिलन न हो तब तक कादंबरी स्वयं विवाह न करने की प्रतिज्ञा पर दृढ़ बनी हुई है। स्थिति को समझ कर महाश्वेता स्वयं जाकर उसे समझाने का निश्चय करती है और चन्द्रापीड़ को साथ ले जाती है। महाश्वेता कुमारी अन्तः पुर में

कुमारी अन्तःपुर का वर्णन (१८५–१८७); परिचारिकाओं के आलाप (१८८); श्रीमंडप का वर्णन (१९०); कादंबरीवर्णन (१९१); मणिगृह और क्रीड़ा पर्वत (१९८–२००); शेषहार नामक वर्णन (२०१); संध्या समय (२०३); हिमगृह-वर्णन (२०८–२०९); कादंबरी की विरहावस्था का वर्णन (२१०)।

पहुँचकर कादंबरी से मिलती है और चंद्रापीड़ का परिचय कराती है। महाश्वेता कादंबरी के माता पिता से मिलने चली जाती है। कादंबरी और चंद्रापीड़ एक दूसरे के प्रति प्रेम से आकर्षित होते है चंद्रापीड़ कादंबरी के आतिथ्य में वहीं रहता है। कादंबरी का अनुराग बढ़ता है और वह चंद्रापीड़ के लिये उपहार भेजती है एवं स्वयं मिलने आती है। चंद्रापीड़ भी उससे मिलने जाता है।

५ अ— चंद्रापीड़ कादंबरी से बिदा होकर अपने स्कंधावार में लौट आता है। तभी उसे अपने पिता का पत्र मिलता है। मार्ग में चंडिका का एक प्राचीन मंदिर है जिसमें एक बुड्ढा दाक्षिणात्य पुजारी रहता है। चंद्रापीड़ ने मंदिर में जाकर देवी को प्रणाम किया। अंत में वह उज्जयिनी पहुँचता है। उसके पीछे पत्रलेखा भी जिसे कादंबरी ने रोक लिया था लौट आती है और उससे कादंबरी की विरहावस्था का वर्णन करती है एवं कादंबरी का संदेश भी सुनाती है [इतनी कथा लिख चुकने पर बाण का स्वर्गवास हो गया और शेष अंश उनके पुत्र ने पूरा किया।]

कादंबरी की दशा जानकर चंद्रापीड़ उससे मिलने के लिये व्याकुल हो जाता है। उसी समय कादंबरी की ओर से केयूरक उसका संदेश लेकर उज्जयिनी आता है और कादंबरी की विरहदशा का विस्तार से वर्णन करता है। चन्द्रापीड़ उससे द्रवित होकर कहता है कि अब और सुनने की मुझ में शक्ति नहीं और गंधर्वलोक जाने को आतुर हो उठता है। तभी उसने सुना कि

महाराज तारापीड़ का पत्र (२१४); शून्य महाटवी का वर्णन (२१५); महिषासुर मर्दिनी देवी के मंदिर या चंडिकायतन और उसके पुजारी का वर्णन (२१६); पत्रलेखा द्वारा कादंबरी की विरहावस्था का वर्णन (२२३–२३०); केयूरक द्वारा कादंबरी की विरहावस्था का वर्णन (२३८–२४१); संध्यासमय-वर्णन (२४४); चंद्रापीड़ का कादंबरी के लिये संदेश (२५१); चंद्रापीड़ का प्रयाण (१५७)।

उसकी सेना दशपुर तक लौट आई है। वह पत्रलेखा को तो कादंबरी के लिये अपना संदेश लेकर भेज देता है, और स्वयं पिता की अनुमति से वैशंपायन को वापस लाने के लिये निकल पड़ता है।

५ आ—उसने दशपुर में अपने स्कंधावार को देखा और वैशंपायन के विषय में पूछा। लोगों ने बताया कि वैशम्पायन अपने को लौटने मेंअसमर्थ पाकर वहीं अच्छोद सरोवर के तट पर रुक गया है और हम लोग वहाँ का सब प्रबंध करके लौट आये हैं। यह सुनकर चन्द्रापीड़ राजा और शुकनास को यह सूचना देने के लिये उज्जयिनी लौट आता है। यह हाल जानकर मनोरमा बहुत दुःखी होती है और शुकनास के मन में भी वैराग्य का भाव उत्पन्न होता है। चंद्रापीड़ इन सबको धैर्य देकर माता-पिता की अनुज्ञा से उज्जयिनी से चलकर पुनः अच्छोद सर के तट पर पहुँचता है। वहाँ महाश्वेता के दिये हुए शापवश वैशंपायन की मृत्यु का समाचार जानकर चंद्रापीड़ का भी हृदय विदीर्ण हो जाता है।

स्कंधावार वर्णन (२५८); जलमंडप वर्णन (२६९); मनोरमा-विलाप (२७२); शुकनास का निर्वेद और सांत्वना (२७४-२७८); जलदकाल-वर्णन (२८७ २८९); महाश्वेता द्वारा वैशंपायन वृतान्त कथन (२९४-२९७); चंद्रापीड़ की मृत्यु (२९८)।

उस अवसर पर कादंबरी भी वहाँ आई हुई थी। वह इस दुर्घटना से अत्यंत दुःखित होकर प्राण त्यागने को उद्यत हो जाती है। तभी एक दिव्य पुरुष उसे आश्वासन देता है कि चंद्रापीड़ चंद्रमा का अवतार है, तुम इस शरीर की रक्षा करो, वह पुनः जीवित होगा। चन्द्रापीड़ के वियोग से दुःखी होकर पत्र-लेखा इंद्रायुध को साथ लेकर अच्छोद सरोवर में कूद पड़ती है। तत्काल कपिंजल जो अब तक शापवश इंद्रायुध के रूप में था सरोवर से बाहर आता है और सूचित करता है कि पुंडरीक का शरीर चन्द्र-लोक में सुरक्षित है

कादंबरी का शोक (३०१); कपिंजल द्वारा शाप का वृत्तान्त कथन (३०४-३०५); चन्द्रापीड़ का अविनाशी शरीर (३११-३१२); तारापीड़ के दूतों का आना और लौटना (३१४-३१७); तारापीड़ का शोक (३१९); विलासवती का विलाप (३२५-३२६)।

और पुंडरीक ही वैशम्पायन के रूप में अवतरित हुआ था।

आ. इधर तारापीड़ को दूतों द्वारा सब समाचार विदित हुआ। वे रानी विलासवती एवं शुकनास और मनोरमा के साथ अच्छोद सरोवर पर गए। सब अत्यंत दुःखी होते हैं और वहीं सरोवर के किनारे वैराग्य लेकर रहने लगते हैं।

इतनी कथा सुनाकर जाबालि बताते हैं कि मंत्री शुकनास का पुत्र वैशम्पायन ही महाश्वेता के शापवश शुक की योनि में जन्मा है। जाबालि के इतना कहते ही तोते को अपने पूर्वजन्म की स्थिति का स्मरण हो आता है और जाबालि कथा-गोष्ठी समाप्त कर देते हैं।

७ अ-आ—वैशम्पायन तोता अपने दुःखों का स्मरण करके जीवन के प्रति निराश हो रहा था कि भगवान श्वेतकेतु का भेजा हुआ कपिंजल वहाँ आता है। दोनों मिलकर गद्गद होते हैं और कपिंजल उसे अपने शाप से छूटने का समाचार सुनाकर उसके पिता श्वेतकेतु का समाचार देता है। कपिंजल वहाँ से अदृश्य हो जाता है। तोता कुछ दिन आश्रम में रहकर पंख निकलने पर वहाँ से उड़ता है और एक चांडाल द्वारा पकड़ा जाता है। वह उसे अपने स्वामी की कन्या को दे देता है। जब वह और बड़ा हो गया तभी वह चांडाल राजपुत्री उसे शूद्रक के यहाँ ले आई।

कपिंजल और तोते के रूप में वैशंपायन की भेंट और बातचीत (३३०–३३३); तोते का जाबालि आश्रम से उड़ जाना और चांडाल द्वारा पकड़े जाना (३३५); पक्कण या चांडाल बस्ती का वर्णन (३३८); चांडाल राजपुत्री के साथ बातचीत (३३९)।

इस प्रकार यह महती कथा जिस बिंदु से उठी थी अपने आवर्तों का वितान पूरा करके फिर वहीं आ पहुँचती है।

८ अ—राजा शूद्रक ने चांडाल कन्या को बाहर से बुलवाकर पूछा कि वह कौन थी, उसने तोते को क्यों बाँधा और वहाँ क्यों ले आई। उसने प्रगल्भता से शूद्रक के जन्म का पर्दा उठाते हुए कहा—'चंद्रमा के अवतार चंद्रापीड़ आप ही हैं, जो कादंबरी के प्राणाधार हैं। आपने न केवल इसके, बल्कि अपने भी पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुना है। मैं इसकी माता लक्ष्मी हूँ। कामराग से अंधे होकर इसकी यह दशा हुई है।

चांडाल कन्या का लक्ष्मी के रूप में राजसभा में प्रकट होकर शापमोक्ष का सब हाल कहना (३४१)।

कहीं यह इससे भी अधिक नीच योनि में पापवश न जा पड़े इसलिये इसके पिता ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं इसके शाप की समाप्ति तक इसे मर्त्यलोक में ही बाँधकर रख लूँ। अब शाप समाप्त हो गया है। यह कहकर वह आकाश में अदृश्य हो गई।

८ आ—उसकी बात सुनकर शूद्रक को भी अपने पूर्वजन्म का सब वृत्तांत स्मरण हो आया और वह कादंबरी के विरह में विह्वल हो गया। वैशंपायन की भी महाश्वेता के लिये वही दशा हुई।

शूद्रक का विरह (३४२); वसंत ऋतु वर्णन (३४३); चंद्रापीड़ का जीवित होना (३४५); सबका समागम और हर्ष (३४८-३५२)।

उसी समय वसंत ऋतु अपने पूरे वैभव के साथ आ उपस्थित हुई। गंधर्व लोक में कादंबरी ने कामदेव के उत्सव में पूजा करके चंद्रापीड़ की देह का जैसे ही आलिंगन किया वह फिर जीवित हो गया। उसने कादंबरी से कहा—शाप के कारण इतने दिनों तक तुम्हारा स्पर्श होते हुए भी मैं जीवित नहीं हुआ। अब शाप समाप्त हो गया है। अतएव शूद्रक की मानुषी देह छोड़कर मैं यहाँ आया हूँ। तुम्हारी सखी महाश्वेता के प्रियतम का भी शाप समाप्त हुआ है। इतना कहते ही आकाश से कपिंजल का हाथ पकड़े हुए

पुंडरीक भी आ उपस्थित हुआ। सब लोग अति प्रसन्न हुए। महाराज तारापीड़ और विलासवती एवं मंत्री शुकनास और मनोरमा वृत्तान्त सुनकर वहाँ आए। उधर कादंबरी और महाश्वेता के माता पिता, चित्ररथ और मदिरा एवं हंस और गौरी भी वहाँ आए, और सब एक दूसरे से मिलकर परम आनन्द को प्राप्त हुए।

कादम्बरी की कथा भवचक्र की व्याख्या के रूप में कल्पित की गई है। इसके मुख्य पात्र केवल एक जन्म में नहीं तीन जन्मों तक हमारे सामने हैं। इस जन्म में जिसे हम शूद्रक के रूप में देखते हैं वही पूर्व जन्म में चन्द्रापीड़ था और चन्द्रापीड़ के रूप में भी शापवश चन्द्रमा ने अवतार लिया था। जिसे हम इस जन्म में वैशम्पायन तोते के रूप में देखते हैं वही उससे पूर्व जन्म में उज्जयिनी के मंत्री शुकनास का पुत्र और चन्द्रापीड़ का अभिन्न सखा वैशम्पायन था जिसे महाश्वेता के शाप से शुकयोनि में जन्म लेना पड़ा। वैशंपायन ही अपने पूर्व जन्म में पुण्डरीक था जिसके लिये महाश्वेता अनुरागवती हुई थी। निम्नलिखित दो समीकरणों का स्मरण रखना आवश्यक है—

१—चन्द्रमा = २—राजकुमार चन्द्रापीड़ = ३—राजा शूद्रक

१—ऋषि कुमार पुण्डरीक = २—मंत्री पुत्र वैशंपायन = ३—वैशम्पायन तोता

ये दो तार जन्म-जन्म में एक दूसरे का संस्पर्श करते हुए चलते हैं। जो मर्त्यलोक में वर्तमान स्थूल जन्म है वही हमें दिखाई देता है। तोते द्वारा कथा की भूमिका केवल वहीं तक का चित्र उद्घाटित करती है। उसकी दृष्टि उससे आगे और पीछे कुछ नहीं देख पाती। उसके आगे एवं पूर्वजन्म का वृत्तान्त जानने के लिए ऋषि दृष्टि की आवश्यकता होती है। जाबालि ऐसे ऋषि हैं जिन्हें भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ एक समान भासता है। इसे ही उस युग की भाषा में निष्प्रतिघ चक्षु कहते थे, जैसा कालिदास ने वसिष्ठ के लिये लिखा है—

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति॥
(रघुवंश ८।७८)

यही बाण ने जाबालि के लिये कहा है—करतलामलकवदखिलं जगदालोकयतां दिव्येन चक्षुषा भगवतामेवं विधानाम्, अर्थात् इस प्रकार के तपःपूत भगवत् पद के अधिकारी ऋषि समस्त संसार को हस्तामलकवत् देखते हैं। बौद्ध लोग भगवान् बुद्ध को इसी प्रकार की चक्षुष्मत्ता से संपन्न मानते थे। पाली ग्रंथों में उन्हें पंचचक्खु और संस्कृत बौद्ध ग्रंथों में

पंचचक्षुः समन्वागत कहा गया है। जाबालि ऋषि के दिव्य चक्षु का आलोक कथा के प्रधान भाग को आलोकित करता है। वह चन्द्रमा के परतः प्रकाश पिंड पर सूर्य की स्वतः प्रकाश ज्योति है। उसके शुभ प्रकाश में मर्त्य जन्मों की कथा उद्घाटित होने लगती है।

बाण की गद्यशैली का जो परिचय हम हर्षचरित में देख चुके हैं वही सर्वांश में कादंबरी में भी मिलता है। कहा जा सकता है कि कादंबरी में उसकी प्रांजलता, रस प्रदायिनी क्षमता एवं काव्यात्मकता और भी बढ़ गई है। यह शैली मुख्यतः तीन प्रकार की है। एक आडम्बरपूर्ण लम्बे-लम्बे समासों से भरी हुई, दूसरी छोटे-छोटे समासों वाली और तीसरी समासों से रहित। समासों के भारी-भरकम ठाट से बनी हुई गद्यशैली प्राचीन परिभाषा में उत्कलिका या तण्डक कहलाती थी। अल्प समासयुक्त शैली का नाम चूर्णक था, जिसमें कवि समासों की सहायता तो लेता है किन्तु उन्हें छोटे-छोटे खंडों में बाँटकर संतुलन और सरलता उत्पन्न करता है। तीसरे प्रकार की शैली वह थी जिसमें प्रायः समासों के बिना ही वाक्यावली स्वतंत्र फुदकते हुए पक्षियों की भाँति कलरव करती हुई जान पड़ती हैं; जैसे शुकनास के उपदेश में लक्ष्मी के विषय में कहा गया है—न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रमभनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति। न श्रुतमाकर्णयति। न धर्ममनुरुध्यते। न त्यागमाद्रियते। न विशेषज्ञतां विचारयति। नाचारं पालयति। न सत्यमनुबुध्यते। न लक्षणं प्रमाणीकरोति (१०४)।

कपिंजल का विलाप (१६९), महाश्वेता का विलाप, शुकनास का निर्वेदयुक्त भाषण (२७४), इत्यादि कितने ही स्थलों में इस शैली का निखरा हुआ रूप मिलता है। उत्कलिका शैली तो बाण की निजी विशेषता या सफलता है। इसके द्वारा वे अपने पात्रों का जैसा भरा-पूरा चित्र प्रस्तुत करते हैं उसकी तुलना में रखने के लिये संस्कृत साहित्य में वैसी सामग्री कहीं नहीं मिलती। जिस प्रकार कैमरे द्वारा कोई चलचित्र तैयार किया जाता है उसी प्रकार समासों द्वारा अनेक लघु चित्रों की समष्टि से बाण अपने महाचित्र प्रस्तुत करते हैं। विंध्याटवी में खड़े होकर कवि की चित्रग्राहिणी दृष्टि एक बार पृथिवी से आकाश तक घूम जाती है और सैकड़ों खंड चित्रों की छाया कवि के मन पर छप जाती है। उसे ही हम समासों के अनुक्रम से सजाई पंक्तियों में प्रत्यक्ष देखते हैं। जब इन वर्णनों के भीतर प्रविष्ट होकर उस चित्र को पुनः अपने मानस पटल पर उतारने लगते हैं तो एक-एक समासरूपी वाक्य अपनी रेखा और बिन्दुवर्तना से चित्र के स्वरूप को पूरा करता हुआ जान पड़ता है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ सहृदय पाठक लम्बे वर्णनों से ऊबता नहीं। उसे तो अपने चारों ओर व्यंजक रंगों का इन्द्रधनुष सा फैला हुआ दिखाई देता है। अजन्ता के एकाश्मक मंडपों में खड़े हुए दर्शक का मन जैसे वहाँ के वर्णाढ्य भित्तिचित्रों से प्रफुल्लित होता है वैसे ही जाबालि आश्रम (३६), महर्षि जाबालि (३८), उज्जयिनी (४४), राजकुल (८५), अच्छोद सरोवर (१२८), महाश्वेता (१३३), कादंबरी (१९०), हिमगृह (२०६) आदि के समृद्ध चित्र अतिशय प्रसन्नता प्रदान करते हैं।

श्लेषप्रधान शब्दों की अद्भुत योजना बाण की शैली की विशेषता है। इस शैली का श्लाघनीय आदर्श सुबन्धु की वासवदत्ता में विकसित हुआ था। उसी का परिपाक बाण में मिलता है।

कादम्बरी को बाण ने स्वयं ही कथा कहा है (धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा; पूर्व-भाग, श्लोक २०)। उनकी दृष्टि में यह कृति वासवदत्ता और बृहत्कथा इन दोनों से विशेष अतिशय रखने वाली थी। इनका नामोल्लेख उन्होंने हर्षचरित की भूमिका में किया है। अग्निपुराण में गद्य-काव्य के पाँच प्रकार कहे हैं—आख्यायिका, कथा, खंडकथा, परिकथा, कथनिका (अग्निपुराण ३६६।१२)। उसके अनुसार आख्यायिका वह है जिसमें कुछ विस्तार से लेखक के वंश की प्रशंसा हो, जिसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ आदि विपत्तियों का वर्णन हो, जिसमें रीति और वृत्ति अति प्रदीप्त शैली में हों, जिसमें उच्छ्वास नामक परिच्छेद हों, जिसमें चूर्णक शैली का बाहुल्य हो एवं वक्त्र और अपरवक्त्र नामक श्लोक हों (अग्नि पुराण ३३६।१३-१४)।

इसके विपरीत कथा वह है जिसमें आरम्भ में कुछ श्लोकों में कवि वंश का संक्षिप्त वर्णन हो, मुख्यार्थ का आरम्भ कराने के लिए भूमिका रूप में दूसरी कथा कही जाय और जिसमें परिच्छेद न हों; अथवा कहीं कहीं पर लम्बक[1] हों (अग्नि ३३६।१५)।

कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि ये लक्षण किसी ने हर्षचरित और कादम्बरी पर आँख रखकर ही लिखे हैं। दण्डी ने आख्यायिका और कथा के भेदों पर कुछ अधिक विचार करते हुए यही निष्कर्ष निकाला कि कथा और आख्यायिका में केवल नाम का भेद है। बाण के उदाहरण से इतना तो निश्चित ज्ञात होता है कि आख्यायिका का आधार इतिहास होता था और कथा कवि-कल्पना-प्रसूत होती थी।

कादम्बरी के पूर्व भाग में पहले बीस श्लोक हैं। उनमें आरम्भ के तीन श्लोकों में त्रिगुणात्मक ब्रह्मा, शिव और विष्णु के प्रति नमस्क्रिया-रूप मंगल है। शिव और विष्णु इन दोनों देवों के प्रति समन्वयात्मक बुद्धि गुप्त युग के सांस्कृतिक उत्थान की विशेषता थी जिसका प्रभाव न केवल मध्य देश के, बल्कि चालुक्य प्रदेश एवं सुदूर दक्षिण के पल्लव प्रदेश के धार्मिक जीवन पर भी पाया जाता है।

बाण ने इन श्लोकों में इतिहासप्रसिद्ध मौखरि और गुप्त राजाओं का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने गुरु भर्त्सु को प्रणाम करते हुए लिखा है कि मौखरि राजा उनके चरण

---

१ श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात् कविर्यत्र प्रशंसति।
मुख्यस्यार्थावताराय भवेद् यत्र कथान्तरम्॥
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद् वा लम्बकैः क्वचित्।
सा कथा नाम तद्गर्भे निबध्नीयात् चतुष्पदीम्॥
(अग्नि० ३३६।१५-१७)

कमलों की पूजा करते थे। ये कन्नौज के शर्ववर्मा, अवन्ति वर्मा आदि मौखरि होने चाहिएँ। इसी प्रकार वात्स्यायन वंश में उत्पन्न कुबेर नामक उनके पूर्वज की अर्चना अनेक गुप्तों ने की थी। कुबेर बाण के प्रपितामह थे। उनको सम्मान देनेवाले ये गुप्त राजा मगध के उत्तर कालीन गुप्तवंशी राजा थे जिनके घराने में कृष्णगुप्त, जीवितगुप्त (५४० ई०), दामोदरगुप्त (५७५ ई०) महासेनगुप्त (६०० ई०) और माधवगुप्त (६३०-६५० ई०) की परम्परा इतिहास से प्रमाणित होती है। माधवगुप्त हर्ष के मित्र थे।

बाण ने हर्षचरित में अपने पूर्वजों का जो उल्लेख किया है वह सूची कादंबरी की सूची से एक जगह भिन्न है। हर्षचरित के अनुसार कुबेर-पाशुपत-अर्थपति-चित्रभानु-बाण—यह क्रम था। कादंबरी की सूची में कुबेर–अर्थपति–चित्रभानु–बाण,—यह क्रम पाया जाता है। बाण के प्रपितामह का नाम इसमें छूट गया है। हर्षचरित की सूची अधिक विश्वसनीय जान पड़ती है क्योंकि उसके संकलन में कवि को अपेक्षाकृत अधिक सावधानी से काम लेना पड़ा होगा।

कविवंश-वर्णन के पूर्व बाण ने दुर्जन और सज्जन के साहित्यिक अभिप्राय का उल्लेख किया है—'बिना कारण ही वैर साधने वाले दुष्टों से किसे भय नहीं लगता? काले नाग के विष की तरह उनके मुख में दुर्वचन सदा धरा रहता है। दुष्ट अपने संपर्क से मलीन करते हैं और कड़वे शब्दों से ऐसे दुख देते हैं जैसे बंधन की बेड़ियाँ। दूसरी ओर वे साधु हैं जो पद-पद पर झंकारते हुए मणि नूपुरों की भाँति मन को अपनी ओर खींच लेते हैं। दुष्ट को कितने भी मीठे वचन से समझाइए वह उसके गले नहीं उतरता, जैसे अमृत राहु के गले नहीं पहुँच सका। पर सज्जन व्यक्ति उपदेश की बात को ऐसे हृदय में रख लेता है जैसे विष्णु ने कौस्तुभ मणि को अपने वक्ष पर स्थान दिया था।' काव्य के आरंभ में सज्जन-दुर्जन के स्मरण की परंपरा सबसे पहले कालिदास के रघुवंश में मिलती है—एक ओर वे हैं जो काव्य का उपहास करते हैं और दूसरी ओर भले-बुरे की परख जाननेवाले वे संत हैं जिन्हें सुनाने के लिये ही काव्य रचना में कवि की प्रवृत्ति होती है।[१] कालांतर में यह अभिप्राय संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों की परंपरा में प्रयुक्त होता हुआ हिंदी के प्रबंध काव्यों में भी आया जिसका सर्वोत्तम उदाहरण रामचरितमानस में पाया जाता है। बाण के 'अकारणाविष्कृत वैरदारुणात्' को ही गोसाईं जी ने 'जो बिनु काज दाहिनेहु बाएँ' लिखा है। अपने पूर्वजों का परिचय देते हुए बाण ने उनके शिक्षण क्रम का प्रभावशाली चित्र उपस्थित किया है। वस्तुतः हर्षचरित और कादंबरी दोनों में यथास्थान उन्होंने ब्राह्मण गृहस्थों के गृहों में प्रतिपालित संस्कृति का सोत्साह वर्णन किया है। इन प्रख्यात गुरुओं

१ तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्ति हेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥

(रघुवंश १।१०)

के घरों में छात्र एकत्र होते थे और वेद-पारायण एवं शास्त्रों के शिक्षण की दिन-रात चर्चा रहती थी। कवि कल्पना के अनुसार ब्रह्मचारी माणवकों का तो कहना ही क्या, उन घरों की शुक सारिकाएँ भी वाङ्मय की सब शाखाओं का अभ्यास करती थीं। उनमें से कुछ आचार्य शास्त्रों के व्याख्यान और विद्या-दान में इतने कृती थे कि उनके नित्य फैलने वाले यश को सुनकर नित्य नए-नए शिष्य उनके पास आते रहते थे। शिलालेख एवं साहित्यिक ग्रंथ दोनों में इस बात की प्रचुर सामग्री मिलती है कि उस समय भारतवर्ष में शिक्षा का ताना-बाना सारे देश में फैला हुआ था और अपने घर पर स्वतंत्र रीति से अध्यापन कराने वाले आचार्य शिक्षण के मेरुदण्ड थे। काश्मीर से प्राप्त संस्कृत विनयपिटक में उल्लेख है कि किस प्रकार मध्यदेश के माणवक विद्याध्ययन के लिये दक्षिणापथ में जाते थे और दक्षिणापथ के आचार्य अपने शिष्यों के साथ मध्यदेश के दिग्गजविद्वानों के पास ज्ञान-साधन के लिये आते थे। बाण के पितामह अर्थपति जिस समय प्रातःकाल से पढ़ाने बैठते उनके सुंदर अध्यापन की शैली से मुग्ध होकर पाठ सुनने के लिये नए-नए शिष्य प्रतिदिन एकत्र हो जाते थे और दत्तचित्त होकर श्रवण करते थे। यही उस विद्यामंदिर की शोभा थी। जैसी इस देश की परिपाटी रही है, शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन गुरु-शिष्य परंपरा के द्वारा चिरजीवी बनाया जाता था। ब्राह्मणों के विद्यालय इसी प्रकार निजी गुरुकुलों में फैले हुए थे। किंतु बौद्धों का प्रबंध इससे कुछ भिन्न था। बाण ने दिवाकरमित्र के आश्रम का जो उल्लेख हर्षचरित में किया है वह कुछ उस प्रकार का सामूहिक संगठन है जैसा नालंदा विश्वविद्यालय में रहा होगा। बाण के अपने घर में प्रथम प्रकार के गुरुकुल की परंपरा चली आती थी और उन्होंने स्वयं भी अपनी घुमक्कड़ी यात्रा में अनेक विद्वानों के गुरुकुलों में जाकर उनका अनुभव प्राप्त किया था (गुरुकुलानि सेवमानः)। उस समय न केवल बड़े नगर केंद्रों में बल्कि प्रीतिकूट जैसे ग्रामों में भी विविध विषयों की पढ़ाई का अच्छा प्रबंध था। अर्थपति के कई पुत्र थे। उन्हें भी वेद और शास्त्रों की विधिवत् शिक्षा घर पर ही मिली थी (श्रुतिशास्त्रशालिनाम्)। बाण के पिता चित्रभानु एक ओर यज्ञीय कर्मकांड और दूसरी ओर शास्त्राभ्यास में दत्तचित्त थे। बाण की पढ़ाई का सिलसिला घर पर ही पूरा हुआ था (सति च अविच्छिन्ने विद्याप्रसंगे)। उस समय प्रीतिकूट गाँव में नियमित रूप से व्याकरण, न्याय, मीमांसा, काव्य, कर्मकांड और वेद पाठ इतने विषयों की पढ़ाई होती थी। जैसा हर्षचरित में लिखा है—'जब बाण की आयु चौदह वर्ष की हुई, उनके पिता का देहांत हो गया। तब तक बाण ने अपने घर के सारस्वत सरोवर में रात-दिन अवगाहन किया। उनके संवेदनशील मन को इससे अमित लाभ पहुँचा था। जन्म भर के लिये उनके ज्ञानात्मक संस्कार बद्ध-मूल हो गए थे जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है—वैपश्चितीम् आत्म-वंशोचितां प्रकृतिमभजत् (हर्ष० २७)। वंशपरिचय के अनंतर बाण ने तुरंत मूल कथा का आरंभ किया है।

कादम्बरी कथा

[१]

शूद्रक नाम का राजा था। वह पृथिवी पर दूसरा इंद्र था। सब राजा सिर झुकाकर उसकी आज्ञा मानते थे। वह चतुरंत पृथिवी का स्वामी था। उसके प्रताप या भक्ति के वशीभूत हो सब सामंत-मंडल उसके अधीन हो गया था। चक्रवर्ती राजा के शरीर में जो महापुरुष के लक्षण होते हैं उनसे वह युक्त था। उसके हाथ में शंख और चक्र के चिन्ह सुशोभित थे जैसे विष्णु के हाथ शंख-चक्र से युक्त रहते हैं। शिव की भाँति उसने काम जीत लिया था। कार्तिकेय की भाँति उसकी शक्ति बेरोक टोक थी। ब्रह्मा की भाँति उसने राजा रूपी हंसों के समूह को अपने नीचे कर लिया था। समुद्र की भाँति लक्ष्मी का वह जन्म स्थान था। गंगा का प्रवाह जैसे भगीरथ के पथ पर चला ऐसी ही वह भी महान् पथ का अनुगामी था। सूर्य के समान वह दिन-दिन नया अभ्युदय प्राप्त करता था। मेरु के समान उसके चरणों की छाया में सब लोक अपनी जीवन-यात्रा प्राप्त करता था। दिग्गज के समान उसके कर दान से सदा गीले रहते थे। वह आश्चर्ययुक्त कर्मों का कर्त्ता, बड़े-बड़े सोमयज्ञों का विधाता, सब शास्त्रों का दर्पण, कलाओं का जन्म-स्थान था। सब गुणोंके एकत्र निवास के लिये वह राजप्रासाद के समान था। काव्यों के रसों का मानो उसीसे उद्गम होता था। वह मित्र-मंडली के लिये उदयाचल, पर वैरियों के लिये धूमकेतु था। वह नाना प्रकार की गोष्ठियों का आयोजन करता था। काव्य कलाओं के रसिक मर्मज्ञ उसके यहाँ आश्रय पाते थे। वह धनुर्धरों का मान भंग करने वाला, साहस के टेढ़े काम करने वालों का अगुआ और विदग्ध पंडितों में प्रधान था। विनता को जैसे गरुड़ ने सुखी किया ऐसे ही वह विनीत पुरुषों का आनंददाता था। आदिराज पृथु के समान उसने अपने धनुष की कोर से सब शत्रुरूपी कुल-पर्वतों को एक ओर हटाकर भूमि को समतल कर दिया था। इस वर्णन में कवि ने अपने युग के राजोचित आदर्शों की एक सूची गूँथ दी है। शिरः समभ्यर्चित शासनः का संकेत यह है कि जो शासन पत्र या राजादेश लिखित रूप में भेजे जाते थे उन्हें अधीन राजा उठकर शिर से लगाते और स्वीकार करते थे। गुप्तयुग में राजा की तुलना इंद्र से और राज्य की इंद्रपद से की जाती थी। राजा अपने आपको आसमुद्रांत पृथिवी का स्वामी मानने में गर्व का अनुभव करते थे। गुप्त अभिलेखों में 'चतुरुदधि सलिला स्वादित यशसः' यह विरुद पाया जाता है। उसी का समकक्ष उल्लेख बाण ने 'चतुरुदधि माला मेखलाया भुवो भर्त्ता' इस रूप में किया है। कालिदास ने भी यह कल्पना की थी कि चार समुद्र पृथिवी रूपी गौ के मानों चार स्तन ही बन गए थे। उस समय के चक्रवर्ती सम्राट् छोटे सामंत राजाओं को अपने वश में लाकर राज्य का विस्तार करते थे। यह प्रक्रिया दो प्रकार से पूरी की जाती थी, या तो प्रताप अर्थात् प्रभुशक्ति और सैनिक बल से, या अनुराग अर्थात् भक्ति के प्रभाव से। सामंत लोग चक्रवर्ती सम्राट् के बल के

कारण या उसके प्रति स्नेह के कारण उसके तंत्र में सम्मिलित हो जाते थे। समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राजाओं को प्रताप से वश में किया था ऐसा प्रयाग प्रशस्ति में उल्लेख है। राजाओं का पहले ग्रहण और फिर मोक्ष यह प्रतापोन्मिश्र नीति का अंग था (सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रह जनित प्रतापोन्मिश्रमहाभागस्य, समुद्रगुप्त प्रयागप्रशस्ति)। ज्ञात होता है कि जिस समय सम्राट् चतुरंत पृथिवी की दिग्विजय के लिये उठते थे उस समय उनके सैनिक बल से अभिभूत होकर जो राजा अधीनता स्वीकार कर लेते थे वे प्रताप - विजित माने जाते थे। विजेता की सेना पहले विजित राजाओं का घेरा डालती थी और फिर अधीनता स्वीकार कर लेने पर वह घेरा उठा लिया जाता था। इसे ही ग्रहण मोक्षानुग्रह कहा जाता था। दूसरी नीति अनुराग से वश में करने की थी। इस नीति में विजित राजा दूर से ही करदान एवं आज्ञाकरण स्वीकार कर लेते और प्रणामांजलि भेंट करने के लिये राजदरबार में सम्मिलित होते थे। इसे ही प्रयाग प्रशस्ति में 'सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमन' की नीति कहा गया है। प्रताप और अनुराग इन दोनों नीतियों में विजित राजा के राज्य की रक्षा हो जाती थी। इन दो के अतिरिक्त तीसरी नीति वास्तविक युद्ध की थी जिसे प्रसभोद्धरण अर्थात् बलपूर्वक उखाड़ फेंकने की नीति कहा जाता था। कवि ने शूद्रक की तुलना विष्णु, शिव, ब्रह्मा, कार्तिकेय, सूर्य, इंद्र इन देवों से की है। यह उस युग की रीति थी। समुद्रगुप्त ने अपने आप को कुबेर, वरुण, इंद्र और यम के समान कहा है। 'विमानीकृतराजहंसमंडलः' पद में उस मंडल-सिद्धान्त का संकेत है जिसके अनुसार विजीगीषु राजा के लिये मित्र, शत्रु, उदासीन राजाओं के साथ यथोचित व्यवहार करके उन्हें अपने तंत्र के अनुकूल बनाना आवश्यक था। मंडल नीति का विकास कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भली प्रकार पाया जाता है। ज्ञात होता है कि उससे भी पूर्व यह सिद्धान्त विकसित हो चुका था। राजतंत्र की सफलता के अतिरिक्त राजा के लिये यह भी आवश्यक था कि वह अपने युग के ऊँचे सांस्कृतिक आदर्श की पूर्ति करे। जैसा कवि ने लिखा है कला, काव्य, शास्त्र, इनका सर्वोच्च बिंदु राजा ही होता था। गुप्त राजाओं से लगभग दो शती पहले ही इस आदर्श की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, जैसा रुद्रदामा ने अपने गिरनार-लेख में लिखा है (शब्दार्थगांधर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना)। कुल भवन का तात्पर्य राजकुल के प्रासाद से था। जैसे हर्षचरित में प्रयुक्त गृहावग्रहणी' शब्द में 'गृह' का अर्थ 'राजगृह' था (= राजगृह की देहली), वैसे ही यहाँ 'कुल भवन' में 'कुल' शब्द 'राजकुल' के लिये है। राजा को समस्त गुणों की खान समझा जाता था। कई सौ वर्षों तक विदेशी राज्य की समाप्ति के बाद जब गुप्तों ने स्वराज्य की स्थापना की तब समाज में आचार संबंधी गुणों पर बहुत बल दिया जाने लगा। गिरनार शिला लेख में स्कंदगुप्त को नृपतिगुणनिकेतः अर्थात् राजोचित गुणों का निवास कहा गया है। उसी लेख में सौराष्ट्र के गोप्ता पर्णदत्त का चुनाव राजा ने उसके अनेक गुणों के कारण ही किया था जिनकी सूची लेख में है। सत्य, आर्जव, औदार्य, नय, माधुर्य, दाक्षिण्य, यश, मेधा, स्मृति, प्रभुभक्ति, जनानुराग, सर्वोपधाविशुद्धि, राजा-प्रजा के ऋण से उऋण होने का भाव, सब लोक के हित में प्रवृत्ति इत्यादि अनेक गुणों के कारण कोई भी व्यक्ति विशेष दायित्व को

सँभालने के योग्य समझा जाता था। पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित जिसे उसके पिता ने पीछे राजधानी का शासन सौंपा अपने उत्कृष्ट और स्वाभाविक गुणों में अपने पिता से भी अधिक था (स्वगुणैरनुपस्कृतैरुदात्तैः पितरं यश्च विशेषयाञ्चकार)। कालिदास ने अनेक गुणों का उल्लेख करते हुए विनय को उन सब में मुख्य कहा है (गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः, रघु० ६। ७९) और यह कल्पना की है कि आदर्श चरित्रयुक्त राजा में ज्ञान और मौन, क्षमा और शक्ति जैसे विरुद्ध गुण भी सगे भाइयों की भाँति मिलकर रहते हैं (१। ८२)। शुक्रनीति में भी गुण-विवेचन का विस्तार पाया जाता है और गुप्त युग के सत्यमित्र, धृतिशर्मा नामों में भी वही संकेत है। रस-पक्ष में राजा का एक बड़ा कर्त्तव्य गोष्ठियों का आयोजन था। विद्यागोष्ठी, काव्यगोष्ठी, वीणागोष्ठी, वाद्यगोष्ठी, नृत्यगोष्ठी, आदि कितने ही प्रकार की गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। वस्तुतः गोष्ठियाँ कला, साहित्य और संगीत की विशेष सभाएँ थीं जिनका आयोजन समय-समय पर सम्राट् या राजा की ओर से किया जाता था। शांति के समय गोष्ठियों द्वारा मानों संस्कृति का अटूट सत्र चलता रहता था।

शूद्रक के नाम से ही उसके वैरियों के हृदय फट जाते थे। अपने अद्वितीय पराक्रम से उसने समस्त पृथिवी को आक्रांत कर लिया था। इससे वह विष्णु पर हँसता था जिन्होंने एक शत्रु के विरुद्ध नृसिंह-रूप रखने का आडंबर रचा और भुवनों को आक्रांत करने के लिये तीन चरणन्यास (विक्रम करने) का आयास किया।

[२]

राजलक्ष्मी चिरकाल तक दुष्ट राजाओं के संपर्क में रहने से जिस कलंक में सन गई थी उसे धोने के लिये वह देर तक शूद्रक की कृपाण के विमल धाराजल में निवास करती रही। धर्म उस राजा के मन में, यम क्रोध में, कुबेर प्रसन्नता में, अग्नि प्रताप में, भूमि भुजाओं में, श्री नेत्रों में, सरस्वती वाणी में, चंद्रमा मुख में, मरुद्गण बल में, बृहस्पति बुद्धि में, कामदेव रूप में, और सूर्य तेज में निवास करते थे, जिसके कारण वह सर्वदेव मय नारायण की साक्षात् मूर्ति जान पड़ता था। मत्त गजेंद्रों के विदीर्ण मस्तकों के स्थूल मोती उसकी कृपाण में भर गए थे। दृढ़ता से पकड़ी हुई मूठ के पानीदार मोतियों की निचुड़ी हुई धारा के जलबिंदुओं से वह खंग दंतुरित जान पड़ता था। उसके उस खड्ग से खिंचकर शत्रुओं की राजलक्ष्मी बार बार युद्ध की घनघोर रात्रियों में उसके पास आती थी, मानों योद्धाओं के विघटित कवचों के अंधकार की नीलिमा में निशाभिसार करने वाली कोई नायिका आ रही हो। उस राजा की प्रतापाग्नि रातदिन धधकती थी। जगत को जीतकर वह इस प्रकार पृथिवी का पालन करने लगा कि वर्णसंकर केवल चित्र कर्म में, केशाकर्षण केवल रतिकर्म में, दृढ़बंधन केवल काव्यों में, चिंता केवल शास्त्रों में, वियोग केवल स्वप्न में, स्वर्ण दंड केवल छत्रों में, कँपकँपी केवल ध्वजाओं में, रागविलास केवल गीतों में मदविकार केवल गजों में, गुणों की त्रुटि केवल धनुष में, जालमार्ग केवल गवाक्षों में कलंक चिन्ह केवल चंद्रमा कृपाण और कवचों में, दूतों का आना जाना केवल काम-केलियों में और सूने घर केवल पासे के खेलों में रह गए, प्रजाओं में नहीं। उसके यहाँ भय केवल परलोक का, वक्रता अंतः

पुर की स्त्रियों की अलकों में, मुखरता नूपुरों में, कर-ग्रहण विवाहों में अश्रुपात यज्ञाग्नि के धूम से, कशाभिघात तुरंगों में और धनुष की टंकार केवल कामदेव के धनुए में थी।

यहाँ भागवतों के नृसिंह और वामन अवतारों की लीलाओं का संकेत किया गया है जो गुप्त-युग से अत्यंत लोकप्रिय हो गई थीं। इसी प्रसंग में विश्वरूपाकृति सर्वदेवमय भगवान् नारायण का उल्लेख किया गया है। विष्णु-पुराण में कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इंद्र, वायु, यम, सूर्य, वरुण, धाता, पूषा, पृथिवी और चंद्र तथा इनके अतिरिक्त और भी जितने देव शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ हैं वे सब राजा के शरीर में वास करते हैं। इस प्रकार राजा सर्व देवमय है।[1] गुप्त काल में विष्णु की तीन प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं—गरुडस्थ विष्णु, शेषशायी विष्णु और विश्वरूप विष्णु। विश्वरूप विष्णु की कई मूर्तियाँ मथुरा कला में पाई गई हैं। विश्वरूप मूर्ति की दो विशेषताएँ होती थीं। एक तो जैसा यहाँ कहा है मूर्ति के परिकर में चारों ओर वसु, रुद्र, आदित्य, शिव, ब्रह्मा, चंद्र, सूर्य आदि अनेक देवों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाती थीं। दूसरी विशेषता, जैसा अन्यत्र कहा गया है, यह होती थी कि बीच के पुरुष विग्रह के एक ओर वराह का और दूसरी ओर नृसिंह का मस्तक बनाया जाता था। राजलक्ष्मी साक्षात् राजा का वरण करती थी यह कल्पना उस युग के साहित्य और लेखों में कई प्रकार से पाई जाती है। स्कंदगुप्त के गिरनार लेख में कहा है—लक्ष्मीः स्वयं यं वरयां चकार। कालिदास ने कल्पना की है कि लक्ष्मी स्वयं अपने हाथ में छत्र लेकर साम्राज्य-दीक्षित राजा की सेवा करती थी। यहाँ कवि की कल्पना है कि मेघाच्छन्न रात्रि में अभिसार करने वाली स्त्री के समान समर-रात्रियों में लक्ष्मी बार बार उसका वरण करती थी। कला की दृष्टि से इस वर्णन में और भी कई महत्त्वपूर्ण शब्द आए हैं; जैसे, जड़ाऊ मोतियों वाली दंतुर तलवार। यहाँ कवि की कल्पना के अनुसार गजमस्तकों के स्थूल गजमुक्ता तलवार की मूठ में लगे हुए थे। उस जड़ाऊ मूठ को जब राजा ने दृढ़ता से पकड़ कर दबाया तो उन पानीदार मोतियों का पानी तलवार की धार पर फैल गया जिससे वह धार भी पानीदार बन गई। फिर उस धार के पानी के विंदु तलवार के पृष्ठ भाग की ओर बह आए और उसका वह भाग दंतुरित जैसा हो गया। तलवार के पृष्ठभाग में फैले हुए जलबिंदु उन मोतियों के समान थे जिन्हें तलवार में लगाते हैं। ऐसी तलवार आजकल दौड़ते हुए मोतियों की तलवार या मरवारीद की तलवार कहलाती थी। चित्रकर्मसु वर्णसंकराः का आशय यह है कि चित्र बनाने के लिये रक्त, पीत हरित, श्वेत, नील इन मौलिक रंगों को मिलाकर नए-नए रंग तैयार किये जाते थे जैसा कि अजंता और बाघ के चित्रों में पाया जाता है। अवश्य ही गुप्त युग में चित्रकला का विशेष विकास होने पर

[1]—ब्रह्मा जनार्दनः शम्भुरिंद्रो वायुर्यमो रविः।
हुतभुग्वरुणो धाता पूषा भूमि निशाकरः॥ विष्णुपुराण १।१३।२१
एते चान्ये च ये देवाः शापानुग्रहकारिणः।
नृपस्यैते शरीरस्था सर्वदेवमयो नृपः॥ विष्णुपुराण १।१३।२२

नए-नए रंगों का प्रयोग ठीक उसी प्रकार हुआ जैसा आगे चलकर अकबर और जहाँगीर के युग के मुगल चित्रकला में हुआ जब चित्रकला की ओर सम्राटों ने विशेष ध्यान दिया काव्येषु दृढ़बंधाः, काव्यों में कवि लोग कठिन बंधों की रचना करते थे—इस उल्लेख क यथार्थ अभिप्राय उस प्रकार के कठिन श्लोकों से है जैसे भारविकृत किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग में पाए जाते हैं। उदाहरण के लिये एकाक्षरपाद[१], निरौष्ठ्य (जिसमें ओष्ठ्य वर्ण का प्रयोग न हो), पादांतादि यमक (जिसे वैण-सगाई कह सकते हैं), गोमूत्रिका बंध, एकाक्षर बंध[२], सर्वतोभद्र अर्ध-भ्रमक, गूढ़ अर्थपाद, अर्थत्रयवाची, आदि कई प्रकार के श्लोक जानबूझ कर अत्यंत क्लिष्ट बनाए जाते थे और उन्हें प्रबंध-काव्य की शोभा समझा जाता था। चौथी शती में विरचित रघुवंशादि काव्यों में यह परिपाटी न थी। उसके बाद लगभग छठी शती से काव्यों में दृढ़बंधों का आदर्श मान्य हुआ। 'गीतेषु राग-रागविलासितानि' यह उल्लेख सूचित करता है कि संगीत के क्षेत्र में राग-रागिनी बद्ध गीतों का विकास इस समय हो चुका था। भारतीय संगीत के इतिहास में तीन मोड़ मुख्य हैं। पहला समगान का युग था। दूसरा जनपद युग से लेकर लगभग कुषाण काल तक मार्गी संगीत या ध्रुवा गीतियों का युग था जिसका सुस्पष्ट वर्णन भरत के नाट्य शास्त्र में पाया जाता है। लगभग गुप्त काल से देशी राग-रागिनियों का नया युग आरंभ हुआ। कालिदास ने कुमारसंभव में मंगल कैशिक राग का उल्लेख किया है (८। ८५)। यह मंगल कैशिक राग विदर्भ देश की ध्वनि में गाया जाता रहा होगा क्योंकि विदर्भ को गुप्त युग में क्रथकैशिक देश कहते थे। सुबंधु ने वासवदत्ता में विभास राग का नाम लिया है (विभास राग मुखरकार्पटिकजनोपगीयमान काव्य कथासु)। कुमारसंभव (७। ६१) में स्पष्टतः रागों का उल्लेख आया है। भरत के युग में राग-रागिनियों का जन्म नहीं हुआ था, किंतु मतंग के बृहद्देशी ग्रंथ में राग रागिनियों का विस्तार से संकलन है। पहले मार्गी संगीत की अपेक्षा इस नए संगीत को देशी कहा गया[3]। मार्गी संगीत के क्षेत्र से बाहर भाँति भाँति के स्थानीय लोक-गीतों को उनके निजी ताल और लय में राग-रागिनियों के रूप में संकलित किया गया और वही भारतीय संगीत का तीसरा महत्त्व-पूर्ण युग था जिसका उल्लेख बाण ने किया है। अनुमान होता है कि सातवीं शती के मध्य भाग में तीन प्रवृत्तियों का उदय हो चुका था—संगीत के क्षेत्र में राग रागिनियों का, भाषा के क्षेत्र में अपभ्रंश का और चित्रकला के क्षेत्र में अपभ्रंश शैली की चित्रकला का।

१—स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययायय:।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन्॥ किरात० १५।५

२—न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥ किरात० १५।६

३—देशे देशे प्रवृत्तोऽसौ ध्वनि र्देशीति संज्ञितः। राग मार्गस्य यद्रूपं यन्नोक्तं भरतादिभिः। निरूप्यते तदस्माभिर्लक्ष्य लक्षण संयुतम्॥ (बृहद्देशी)

[३]

उस राजा की विदिशा नामक राजधानी थी। वेत्रवती नदी ने उसको चारों ओर से घेर रखा था। कलिकाल के भय से भागा हुआ सतयुग मानों सिमिट कर वहाँ आगया था। उसके विस्तार को देखकर कल्पना होती थी कि तीनों भुवनों ने वहीं जन्म लिया था। मालव जनपद की विलासिनी युवतियाँ उस वेत्रवती की उर्मिमालाओं में स्नान करती थीं। इतिहास की दृष्टि से वेत्रवती और विदिशा के साथ मालवों का उल्लेख महत्वपूर्ण है। जिस समय यह लिखा गया उस समय सातवीं शती में विदिशा से उज्जयिनी तक मालव जनपद का विस्तार था और वहाँ के निवासी भी मालव कहे जाते थे। इस प्रदेश का प्राचीन नाम अवंति जनपद था। कालिदास ने उज्जयिनी के संबंध में अवंति जनपद का ही उल्लेख किया है, मालव शब्द उनके ग्रंथों में नहीं है। मालव किसी समय पंजाब के निवासी थे और अपने साथी क्षुद्रकों के साथ उन्होंने सिकंदर से लोहा लिया था। फिर वे अपने मूल स्थान से उत्क्रांत होकर राजस्थान की ओर चले आए जहाँ जयपुर के कर्कोट नगर स्थान में उन्होंने केंद्र बनाया, जैसा वहाँ से प्राप्त बहुसंख्यक मुद्राओं से सूचित होता है। यह दूसरी शती ई० पूर्व की स्थिति थी। वे वहाँ से क्रमशः और भी दक्षिण की ओर बढ़े, जैसा कि नाँदसा (उदयपुर, संवत् २८२ का लेख), बड़वा (कोटा, सं० २९५ का लेख), मंदसोर (मालवा, सं० ४६१, ४९३, ५२९, ५८९) आदि स्थानों से प्राप्त लेखों से प्रकट होता है। मोटे तौर पर दक्षिणी जयपुर से उज्जयिनी तक के प्रदेश में मालवों का विस्तार तीसरी शती और छठीं शती के बीच में पूरी तरह हुआ। अतएव सातवीं सती में बाणभट्ट द्वारा मालवों का विदिशा में उल्लेख ऐतिहासिक तथ्य के अनुकूल है।

[४]

सब भुवनों को जीतकर निश्चिंतता से राजा शूद्रक उस राजधानी में नाना प्रकार के विनोदों द्वारा अपना समय बिताते थे। द्वीपांतरों से आए हुए अनेक राजा उनके चरणों में अपना मस्तक रखते थे। भुवन का भार उठाने में उनकी भुजा को केवल इतना आयास था जितना लीलावलय पहनने में। राजा के चारों ओर अनेक प्रज्ञाशील अमात्य थे जो स्नेही, जागरूक और निर्लोभी थे। उन्होंने नीति-शास्त्रों का बहुविध अभ्यास किया था और वे पितृ-पितामह के क्रम से राजसेवा में चले आते थे। राजा के चारों ओर रहनेवाले अनेक राजपुत्र थे जो उसकी सुख लीलाओं में भाग लेते थे। वे काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका, चित्र, कला, व्याख्यान आदि में निपुण थे। अनेक मूर्धाभिषिक्त राजाओं के राजकुलों से वे उसकी सेवा में एकत्र हुए थे और समस्त कलाओं में निष्पन्न बुद्धि थे। समय को जानने वाले, राजा के प्रभाव से अनुरक्त, शिष्ट परिहास में कुशल, दृढ शरीर से सिंह शावकों के समान विक्रमशाली वे राजकुमार राजा शूद्रक की निजी परछाईं से जान पड़ते थे। दिग्विजय की इच्छा राजा के मन में इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि स्त्रियों के समूह को वह तृण के समान उपेक्षा से देखता था। मंत्री लोग चाहते थे कि संतान के लिए कामोपभोगों में

राजा का मन लगे किंतु रूपवान् और युवावस्था में होने पर भी राजा को जैसे सुरत सुख से बैर था। दिन का अधिकांश समय कलाविलास में व्यतीत होता था। वनिता सुखों से पराङ्मुख रहकर कभी वह संगीत का आयोजन करता और उसमें स्वयं ही मृदंग और घर्घरिका वाद्यों को बजाता जिसके कारण हाथ का ढीला रत्नवलय बराबर हिलता रहता था। कभी वह विदग्ध मंडली में काव्य प्रबंध की रचना का रस लेता, कभी शास्त्रों के आलाप का, कभी आख्यान, आख्यायिका और इतिहास, पुराण का श्रवण करता, कभी आलेख्य विनोद और कभी वीणा-वादन में मन लगाता, और कभी अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिंदुमती, गूढ़चतुर्थपाद आदि कठिन काव्यबंधों की रचना में, या पहेली-बुझौअल में मित्रों के साथ समय बिताता। यहाँ राजा के जिन विनोदों का उल्लेख किया है वे भाँति-भाँति की गोष्ठियाँ ही थीं जिनका समय-समय पर राजसभा में आयोजन होता रहता था। काव्य-गोष्ठी, शास्त्र-गोष्ठी, आख्यान-गोष्ठी, चित्र-गोष्ठी- वीणा-गोष्ठी, जल्प-गोष्ठी, पद-गोष्ठी आदि नाना प्रकार की गोष्ठियाँ राजसभाओं की शोभा थीं। यह स्वस्थ परंपरा गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक और उसके बाद भी प्रचलित रही। अपनी सभा के सदस्य विद्वानों में, समागत विद्वज्जनों एवं गुणी कलावंतों में राजा सच्ची रुचि लेते थे जिसके फलस्वरूप ललित-कलाओं का पोषण और प्रतिपालन होता था।

[५]

एक दिन प्रातः काल के समय जब भगवान् मरीचिमाली सूर्य अपनी ललाई छोड़ते हुए आकाश में थोड़ा चढ़ चुके थे, राजा अपने आस्थान-मंडप में आकर विराजे। तब उनकी प्रतिहारी ने, जो श्वेत रंग का कलहंस दुकूल पहने हुई थी और जिसके वाम पार्श्व में तलवार लटक रही थी, हाथ में वेत्रलता लिये हुए राजा के समक्ष उपस्थित होकर पृथिवी पर मस्तक टेककर सविनय निवेदन किया—'देव, दक्षिणापथ से कोई चांडाल कन्या पिंजड़े में एक तोता लिए हुए आई है और यह विनती करती है कि भुवनों में जितने रत्न हैं देव ही उनके योग्य पात्र हैं और यह चमत्कारी शुक सारी पृथिवी में विशिष्ट रत्न है। इसलिये इसे लेकर मैं आपकी चरण-सेवा में आई हूँ।' उसके यह वचन सुनकर राजा के मन में कुतूहल उत्पन्न हुआ और सभा में बैठे हुए राजाओं की ओर दृष्टि घुमाकर उन्होंने कहा—'क्या हर्ज है? उसे भीतर ले आओ।'

यहाँ जिस आस्थान मंडप का उल्लेख आया है वह बाह्यास्थान मंडप था। राजप्रासाद की दूसरी कक्ष्या में बाह्यास्थान मंडप का स्थान होता था। इसे सभा, सभामंडप, आस्थान मंडप, आस्थान, आस्थानी और आस्थायिका (नल चम्पू, नवीं शती) भी कहा जाता था। राजप्रासाद में इसकी वास्तुशास्त्रीय स्थिति का सचित्र विवेचन 'हर्ष चरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन' में किया जा चुका है। बाह्यास्थान मंडप तक लोगों के आने-जाने में विशेष रोक-टोक न होती थी, क्योंकि यह राजकीय अंतःपुर या 'धवलगृह' की कक्ष्या से बाहर के चौक में होता था। इसलिये इसे मध्यकालीन संस्कृत में 'सर्वावसर' (अपराजित पृच्छा

७८।३१) भी कहा जाने लगा। अपभ्रंश ग्रंथ भविसयत्त कहा (९।२।३) में इसे ही सब्बावसर कहा है। पृथ्वीचंद्र-चरित (सर्वोसर, पृ० ११२), विद्यापति की कीर्तिलता और ज्योतिरीश्वर कृत वर्णरत्नाकर में भी सर्वासर का उल्लेख है। मुस्लिम परिभाषा में इसे ही दरबार-आम कहने लगे। अनु० ५ से १२ तक का वर्णन बाह्यास्थान मंडप से ही संबंध रखता है। इसके अनंतर जहाँ वैशम्पायन शुक से राजा ने उसकी कथा सुनी वह स्थान आभ्यंतरास्थानमंडप या भुक्तास्थानमंडप (दरबार-खास) कहा जाता था। हर्ष से बाण की पहली भेंट धवलगृह के भीतर भुक्तास्थानमंडप में ही हुई थी।

[६]

राजा का वचन सुनकर प्रतिहारी गई और उस चांडाल कन्या को ले आई। चांडाल कन्या ने भीतर आकर सभा में बैठे हुए राजा के दर्शन किए। सभा में अनेक राजा एकत्र थे। उनके मध्य में विराजमान महाराज शूद्रक कुल-पर्वतों के बीच में सुमेरु से लगते थे। अनेक रत्न जटित आभरणों की रश्मियों से उनका स्वरूप ऐसे जगमग था जैसे वर्षा का दिन अनेक इंद्रधनुषों से सुशोभित हो। सभा के बीच में सुवर्ण श्रृंखलाओं से बँधे हुए मणियों के चार दंडों पर श्वेत रंग का न बहुत छोटा, न बहुत बड़ा एक रेशमी चँदोवा तना हुआ था। उसकी छत के बीच में बड़े-बड़े मोतियों का झुग्गा लटक रहा था। चँदोवे के नीचे चंद्रकांत मणि की छोटी चौकी (पर्यंकिका) पर राजा बैठे थे। सुनहले चँवर डुलाए जा रहे थे। राजा का बाँया पैर बिल्लौरी पादपीठ पर रखा हुआ था। मुड़ा हुआ दाहिना पैर आसन पर ही था। वहाँ का फर्श नीली झलक वाली इंद्रनील मणियों से बना था। आसन के दोनों ओर बड़ी-बड़ी पद्मराग मणियाँ जड़ी थीं जिनकी लाल किरणें राजा के उरु भाग को सुशोभित कर रही थीं। वे उत्तरीय और अधोवस्त्र के रूप में दो श्वेत दुकूल पहने हुए थे जिनके पल्लों पर पीली गोरोचना से हंस-मिथुनों के चित्र बनाए गए थे। उरः प्रदेश में चंदन लगा हुआ था जिसके बीच-बीच में कुंकुम के छापे लगे थे। जान पड़ता था शुभ्र कैलास पर बाल-सूर्य की धूप कहीं-कहीं चोटियों पर छिटक रही हो। कंठ में हारलता ऐसी लग रही थी जैसे चंद्रमा के चारों ओर नक्षत्र-माला। वे दोनों भुजाओं में इंद्रनील के दो केयूर पहने हुए थे। ज्ञात होता था अति चंचल राजलक्ष्मी को बाँधने के लिये दो हथकड़ियाँ हों। कान में कुछ नीचे तक लटकता हुआ कर्णोत्पल था। नासिका ऊँची थी। नेत्र खिले कमल के समान थे। अष्टमी-चंद्र की आकृति वाले एवं निर्मल सुवर्ण पट्ट के समान चौड़े ललाट के भ्रूमध्य में ऊर्णा का चिह्न था। सिर पर मालती के सुगंधित पुष्पों का सेहरा सुशोभित था। चारों ओर सेवा के लिये वार-वनिताएँ उपस्थित थीं। राजा की परछाईं चमकते हुए फर्श पर पड़ रही थी। ऐसा ज्ञात होता था मानों अतिशय प्रेम के कारण पृथिवी ने अपने पति को हृदय में रख लिया हो। उनके शरीर में असामान्य राजलक्ष्मी का निवास जान पड़ता था। राजा की प्रतापाग्नि प्रचंड थी। वे सूक्ष्मदर्शी, सकल गुण निधान, सदा दानशील और अपने स्वभाव से भगवान् कृष्ण के दिव्य चरित को चरितार्थ करने वाले थे।

आस्थान मंडप या दरबार में राजा के बैठने के लिये विशेष प्रबंध सदा से किया जाता रहा है। इसका रूप यह था कि सोने के या मणियों से बने हुए चार जड़ाऊ डंडों पर एक चँदोवा तानकर उसके नीचे विशेष कीमती चौकी या सिंहासन पर राजा का सिंहासन लगाया जाता था। यहाँ उन सुकुमार डंडों को मणिदंडिका और शामियाने को दूकूल-वितान कहा गया है। नातिमहतः लिखकर बाण ने चँदोवे के सीमित फैलाव का हूबहू चित्र उतार दिया है। चँदोवे का रंग श्वेत कहा गया है किंतु प्रायः राजकीय चँदोवे और डेरे लाल रंग के होते थे। लाल रंग केवल राजकीय उपयोग में आता था, अथवा जिस पर विशेष राज-कृपा होती थी उसे प्रदान किया जाता था। पद्मावत में रत्नसेन के लिये लाल बिछावन, लाल दगला, लाल रथ, लाल छत्र और लाल चँदोवे का उल्लेख है (ऊपर रात चँदोवा छावा। औ भुइं सुरँग बिछाउ बिछावा, २९१।४)। लाल चँदोवे की प्रथा प्राचीन ज्ञात होती है। माघ ने लिखा है कि राजाओं के निवास में मोती टँके हुए, भाँति-भाँति की सजावट से युक्त, गहरे लाल रंग से रँगे हुए, ऊँचे तंबू या चँदोवे थे (छाया विधायिभिरनुज्झितभूतिशोभैरुच्छ्रायिभिर्बहलपाटलधातुरागैः। दूष्यैरिव क्षितिभृतां द्विरदैरुदार तारावली विरचनैर्व्यरुचन्निवासाः ॥ माघ ५।२१)। जैसा वर्णन यहाँ है उससे ठीक मिलते हुए दुकूल-वितान अजंता के भित्तिचित्रों में दिखाए गए हैं। वितान के नीचे छत में से बड़े मोतियों का झुग्गा (स्थूलमुक्ताकलाप) शोभा के लिये लटकाया जाता था। हंस मिथुनों से सनाथ दुकूल गुप्तकाल की विशेष प्रथा थी। कालिदास ने भी कलहंसों से सुशोभित वधू दुकूल का उल्लेख किया है (कुमार० ५।६७)। कलहंस की पहचान संभवतः जल में रहने वाली बत्तखों से की जा सकती है (विकचकमलखंडलीयमानमत्तकलहंसकुलकोलाहलमुखरितसकलसरोवरः, सुबंधुकृत वासवदत्ता, पृ० ६३)। अजंता के एक चित्र में वस्त्र पर बत्तख की आकृति छपी हुई है। किंतु यहाँ हंसमिथुन के अलंकरण का उल्लेख है। इसमें विशेष ध्यान देने योग्य यह बात है कि हंस-मिथुनों की आकृति छापी नहीं गई थी बल्कि गोरोचना से लिखित अर्थात् चित्रकार द्वारा चित्रित की गई थी। वस्त्रों पर हाथ से बनाए हुए चित्र छापे की अपेक्षा अधिक सच्चे और सुहावने होते थे। दक्षिण के मसलीपट्टम के वस्त्रों में छापे के अतिरिक्त हाथ से लिखी हुई आकृतियाँ भी पाई जाती हैं और दोनों में वे ही अधिक सुंदर हैं। ऊर्णा भूमध्य में पड़े हुए रोओं के आवर्त्त को कहा जाता था। इसकी महापुरुष-लक्षणों में गिनती थी। गुप्तकालीन बुद्ध-मूर्ति में प्रायः ऊर्णा चिह्न पाया जाता है। अश्वघोष ने भी ऊर्णा का उल्लेख किया है।

[७]

चांडाल कन्या ने जैसे ही राजा को देखा, सभा का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिये उसने फटे हुए बाँस के टुकड़े से सभा का फर्श खटखटाया। तुरंत ही सबकी आँखें राजा की ओर से उस पर चली गईं।

प्रचलित रत्नवलय उस प्रकार का जड़ाऊ कंगन होता था जो अपेक्षाकृत औरों से बड़ा और प्रायः एक ही हाथ में पहना जाता था। अहिच्छत्रा से प्राप्त किन्नर मिथुन के

मृण्मय फलक पर किंनरी दाहिने हाथ में इस प्रकार का कंगन पहने है जिसे उस समय की भाषा में दोलावलय भी कहा जाता था (देखिए 'अहिच्छत्रा के खिलौने' शीर्षक मेरा लेख, चित्र २०३)।

[८]

राजा भी तत्काल एकटक नेत्रों से अतिशय रूपिणी उस चांडाल कन्या को देखने लगे। प्रतिहारी उसकी ओर संकेत करती हुई उसे सहेज रही थी कि दूर ही खड़ी होकर देखो। उस कन्या के आगे श्वेतवस्त्र पहने हुए एक पकी उमर पर हट्टा-कट्टा चांडाल था जिसकी आँखों के डोरे लाल थे और सिर के बाल धौला गए थे। उसके पीछे काकपक्षधारी एक बालक था जिसके हाथ के सुनहरे पिंजड़े में तोता था। साँवले रंग की वह चांडाल कन्या विष्णु के उस मोहिनी रूप से मिलती थी जो उन्होंने असुरों के हाथ में पहुँचे हुए अमृतघट को वापिस लाने के लिए बनाया था। वह कन्या क्या, मानों चलती-फिरती नीलम की पुतली थी। उसका शरीर गुल्फ (पैर के गट्टे) तक लटकते हुए नीले कंचुक से ढका हुआ था और उसके ऊपर वह मँजीठी रंग की रेशमी ओढ़नी डाले हुए थी (रक्तांशुक रचितावगुंठनाम्)। एक कान में हाथीदाँत का पत्ता था। माथे पर कुछ पीले रंग की गोरोचना का तिलक तीसरे नेत्र की छटा दे रहा था, मानों शिव के किरात-वेश धारण के समय पार्वती ने भी किराती का वेश धारण किया हो। वह विष्णु की देहकांति से साँवली बनी हुई लक्ष्मी सी लगती थी, या शिव की क्रोधाग्नि में दग्ध कामदेव की धुँधुआती देह से मलिन बनी हुई रति जान पड़ती थी। वारुणी छके हुए बलराम ने अपने हल से जब यमुना को खींचना चाहा तो वही मानों भाग आई थी। उसके पैर घने आलते के रंग में रंगे हुए थे। जान पड़ता था कि महिषासुर के रुधिर से अपने पैरों को रंगे हुए चंडिका हो। उसके ललाई लिये हुए पैरों की अँगुलियों के नख भी लाल थे जिनकी परछाईं मणियों के फर्श पर पड़ रही थी। ज्ञात होता था कि कठिन भूमि में सुकुमार पैरों को रखने के लिये पल्लव बिछाती हुई चल रही थी। उसके नुपूरों की कुछ लाल-पीली रश्मियाँ शरीर को रंजित कर रही थीं। ऐसा ज्ञात होता था मानों ब्रह्मा के विधान को मेटकर रूप पर लट्टू हुए अग्नि भी उसकी जाति शुद्ध करने के लिये उसका आलिंगन कर रहे थे। वह जघन भाग में मेखला, कंठ में मुक्ताफलों का उज्ज्वल हार, कानों में चंदन-पल्लवों के अवतंस और कई रंगों के जड़ाऊ कर्णाभरण पहने हुई थी। उसके हाथ में लीला-कमल था। उसका रूप अभी तक अभुक्त था। वह चित्रलिखित सी जान पड़ती थी। उसका कटिभाग अत्यंत पतला था मानों कामदेव की चापयष्टि हो। सिर पर अलकावली सुशोभित थी और उसने अभी-अभी टटके यौवन में पैर रखा था।

चांडाल कन्या के वेश का वर्णन करते हुए कंचुक और उसके ऊपर अवगुंठन का उल्लेख आया है। अवगुंठन-युक्त वेश में सिर पर ओढ़नी ओढ़ना आवश्यक था। यह गाँव की स्त्रियोंका जनपदीय वेश था जो कि गुप्त नागरिकाओं के वेश से भिन्न होता था। देवगढ़ के

दशावतार मंदिर के शिलापट्टों पर देवकी और यशोदा की वेश-भूषा में नगर और जनपद के वेश-भेद एक साथ दिखाए गए हैं। गुल्फ तक लंबे नील कंचुक का अंकन अजंता के एक भित्तिचित्र में पाया जाता है (हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, चित्र ७२)। बाण ने अन्यत्र लाजवर्दी रंग के कंचुकों का उल्लेख किया है (अवदातदेहविराजमानराजावर्तमेचकैः कंचुकैः)। महिषासुर के रुधिर से रक्त कात्यायनी के उल्लेख से निश्चित ज्ञात होता है कि महिषासुर मर्दिनी का ही नाम कात्यायनी भी था। अनंग-वारण की नक्षत्र-माला का संकेत उस माला से है जो हाथी के सिर पर पहनाते थे और जिसे उस युग में नक्षत्र-माला कहा जाता था। अन्यत्र भी बाण में इसका उल्लेख आया है। अमरकोश के अनुसार सत्ताइस मोतियों की इकलड़ी माला नक्षत्रमाला कही जाती थी। चित्रश्रवणाभरण अर्थात् कान का विचित्र गहना संभवतः वह आभूषण था जिसमें दो बड़े मोतियों के बीच में एक पन्ने का जड़ाव किया जाता था। दोनों की कांति एक दूसरे में संक्रांत होना ही उसकी विचित्रता थी। हर्ष चरित में इसे त्रिकंटक कहा हैं (हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन चित्र १·)। इसी वर्णन प्रसंग में बाण ने लिखा है कि मधुमास या वसंत-ऋतु के पुष्पों में जाति या जाही का फूल नहीं होता (मधुमास कुसुम समृद्धिमिवाजातिं)। सुबंधु ने भी वसंत ऋतु को जाति पुष्प से रहित लिखा है (दुष्कुलजातिहीनः वसंतः, वासवदत्ता, जीवानंद, पृ० ६४)।

[६]

उसे देखकर राजा को विस्मय हुआ, उनके मन में अनेक विचार आने लगे—'देखो ब्रह्मा कैसे अयोग्य स्थान में भी ऐसा रूप उत्पन्न कर देते हैं। यदि यही करना था तो इसे अछूत कुल में जन्म क्यों दिया? ज्ञात होता है इसकी चांडाल जाति से डरकर ब्रह्मा ने बिना छुए ही इसे बना डाला। नहीं तो सौंदर्य का यह अछूतापन कैसे संभव था? जिन अंगों को हाथ से छू लिया जाय उनमें ऐसी शोभा कहाँ रहती है? ब्रह्मा को धिक्कार है जो उसने ऐसा बेमेल काम किया। यह इतनी सुन्दर होकर भी मन को खिन्न करती है।' राजा यों सोच ही रहे थे कि उस कन्या ने प्रगल्भता से सिर झुकाकर प्रणाम किया। जब वह प्रणाम करके मणि-भूमि पर बैठ गई तो उस पुरुष ने पक्षी समेत पिंजड़ा लेकर और कुछ आगे बढ़कर राजा से निवेदन किया—'देव, यह वैशम्पायन नाम का तोता सब शास्त्रों के मर्म का ज्ञाता है। राजनीति के व्यवहार में कुशल है। पुराण और इतिहास की कथा कहने में चतुर है। संगीत की श्रुतियों का ज्ञाता है। काव्य, नाटक, आख्यायिका, आख्यानग्रंथों के असंख्य सुभाषित चुन चुनकर इसने कंठ किए हैं और स्वयं भी उनकी रचना करता है। यह हँसने-हँसाने में अत्यंत चतुर है। वीणा, वेणु, मृदंग आदि वाद्यों के सुनने का बड़ा रसिया है। नृत्य के प्रयोग देखने का इसका बड़ा चाव है। चित्रों की भी पहचान इसे है। द्यूत-व्यापार को खूब समझता है। प्रेम में रूठी स्त्रियों को मनाने की कला इसे आती है। हाथी, घोड़े, पुरुष, स्त्री, इनके उत्तम लक्षणों का यह पूरा पारखी है। यह पृथिवी में रत्न है और आप सब रत्नों के भाजन समुद्र हैं। यही सोचकर हमारे स्वामी की पुत्री इसे

आपके चरण-कमलों में लाई है । तो कृपया इसे स्वीकार कीजिए ।' यह कहकर उसने पिंजड़ा राजा के सामने रख दिया और स्वयं हट गया ।

[१०]

उसके हट जाने पर उस पक्षिराज ने राजा की ओर अभिमुख होकर अपना दाहिना पैर उठाकर झुकाया और अत्यंत स्पष्ट और स्वर वाली वाणी में जय युक्त आशीर्वाद देकर राजा के लिये एक आर्या पढ़कर सुनाई—

'आपके वैरियों की स्त्रियों के स्तन अश्रुओं से भीगे हुए रहते हैं, समीपस्थ हृदय की शोकाग्नि से दग्ध रहते हैं, और हार आभूषण आदि उन्होंने सर्वथा त्याग दिए हैं, मानों वे नित्य स्नान, अग्नितापन और आहार त्याग कर कोई व्रत साध रहे हों ।'

[११]

श्लोक सुनकर राजा को विस्मय हुआ । उसने पास में सुवर्ण के आसन पर बैठे हुए सकल राजशास्त्र में पारंगत अपने कुमारपालित नामक प्रधानामात्य से कहा—'आपने इस तोते की वाणी की स्पष्टता और स्वर की मधुरता सुनी ? पहले तो यही बड़ी अचरज की बात है कि इसके कंठ से इतने स्पष्ट अक्षर, स्वर, अनुस्वारयुक्त शब्दों का उच्चारण हो रहा है । फिर यह और विस्मय की बात है कि पक्षी होकर भी यह अधीत मनुष्य की तरह बुद्धिपूर्वक इच्छानुकूल व्यवहार कर सकता है । इसने दाहिना पैर उठाकर जय शब्द का उच्चारण किया और फिर मेरे लिये यह आर्या गाकर पढ़ी । प्रायः तो पशु-पक्षी आहार निद्रा, भय, मैथुन—इन्हीं के विषय में जानते हैं । पर यह तो सचमुच बहुत विचित्र है ।' राजा की यह बात सुनकर कुमारपालित कुछ मुस्कराए और बोले—देव, इसमें अचरज कैसा ? पक्षियों में शुक-सारिका सुनी हुई बात को वैसे ही कह देते हैं यह आपको विदित ही है । और भी पूर्व जन्म में प्राप्त संस्कारों के कारण या इसी जन्म में किसी के सिखाने पढ़ाने से उनमें और भी विशेषता आ जाती है । कहते हैं कि इनकी वाणी भी पहले मनुष्यों की तरह बिल्कुल स्फुट थी, पर अग्नि के शाप से हाथियों की जिह्वा उलट गई और तोता की वाणी में कुछ अस्फुटता आ गई ।' मंत्री के इतना कहने पर उसी समय मध्याह्न की सूचक जलघड़ी के अनुसार पहले धौंसा बजा और फिर उसी के साथ मध्याह्न-शंख बज उठा । उसे सुनकर राजा ने स्नान का समय जानकर सभा विसर्जित की और वे आस्थान-मंडप से उठ गए ।

राजा की मंत्रिपरिषद् महत्त्वपूर्ण संस्था थी । पाणिनि ने मंत्रिपरिषद् के आधार पर एक नए राजनीतिक विशेषण परिषद्बलो राजा का उल्लेख किया है । शिशुनाग-वंश से लेकर शुंग-काल तक बड़े-बड़े प्रधानामात्यों का उल्लेख आता है; जैसे, मगधराज अजातशत्रु के महामंत्री वर्षकार, कोसलराज विडूडभ के दीर्घचारायण, वत्सराज उदयन के यौगंधरायण, मगधराज चंद्रगुप्त मौर्य के आर्य चाणक्य, अशोक के राधगुप्त, अवंतिराज पालक के आचार्य पिशुन,

पंचालराज ब्रह्मदत्त के आचार्य बाभ्रव्य । प्रधानामात्य को आर्य-ब्राह्मण भी कहते थे। राजा के समान ही मंत्रियों का व्यक्तित्व भी प्रसिद्ध और प्रभावशाली होता था। कुषाण-काल में मंत्रिपरिषद् का स्पष्ट चित्र नहीं मिलता, किंतु महाक्षत्रप रुद्रदामा की मंत्रि-परिषद के मतिसचिव और कर्मसचिव इतने प्रभावशाली थे कि उन्होंने सुदर्शन तड़ाग के पुनः सेतुबंध के लिये आवश्यक द्रव्य सार्वजनिक कोष से देना अस्वीकृत कर दिया। गुप्त सम्राटों के समय मंत्रिपरिषद् और उसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री के पद का गौरव पूर्व की भाँति फिर उभर आया। कामंदक नीतिसार और शुक्रनीति से इस पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। बाण का यह उल्लेख मंत्रिमंडल और प्रधानामात्य के सक्रिय अस्तित्व के विषय में प्रामाणिक है।

प्राचीन काल में समय नापने के लिये दो उपाय काम में लाए जाते थे—एक छाया दूसरी नालिका। आगे अनुच्छेद ६३ में इन दोनों का एक साथ उल्लेख आया है। पहली धूपघड़ी और दूसरी जलघड़ी समझनी चाहिए। धूप में शंकु की छाया का प्रमाण नापकर समय जाना जाता था। मध्याह्न तक दिन के चार भाग और उसके बाद फिर चार भाग किए जाते थे। पहले भाग में उसी शंकु की छाया तीन पुरुष-प्रमाण लंबी, दूसरे भाग में एक पुरुष-प्रमाण लंबी, तीसरे भाग में चार अंगुल और चौथे भाग में बिल्कुल सिमटी हुई होती थी। दिन के दूसरे भाग में विपरीत क्रम से छाया नापी जाती थी। नालिका को घटिका भी कहते थे। दिन और रात के आठ-आठ भाग किये जाते थे एक नालिका के भरने में डेढ़ घंटे का समय लगता था और प्रत्येक नालिका की समाप्ति पर पटह (नगाड़ा) बजाया जाता था जैसा बाण ने लिखा है; और जब चार नालिकाएँ पूरी हो जातीं तो ठीक मध्याह्न की सूचक शंख-ध्वनि की जाती थी। अर्थशास्त्र १।१९ के अनुसार तीसरे भाग में राजा को स्नान, भोजन और स्वाध्याय करना चाहिए। बाण के समय में मध्याह्न काल में राजाओं के लिये स्नानादिक का समय नियत था। संभवतः पहली परिपाटी में कुछ परिवर्तन किया गया था।

[१२]

राजा के उठ जाने पर विसर्जित हुए दरबार की हलचल का बड़ा सटीक चित्र बाण ने खींचा है। सबसे पहले दरबारी राजाओं की भीड़ का उल्लेख है। फिर जितने भी लोग दरबार में थे सबको आपा-धापी पड़ती थी, इसलिये विचित्र कोलाहल वहाँ मच जाता था। जिस समय सम्राट् भद्रासन से उठते राजाओं में आगे बढ़कर बिदाई का प्रणाम करने के लिए कशमकश होती। उनके भुजबंधों में जो पत्रभंगमकरिकाएँ बनी हुई थीं। उनकी निकली हुई कोरों से किसी दूसरे का रेशमी उत्तरीय (अंशुक) नुच जाता। गले में पड़ी हुई लंबी माला झटके से एक ओर को फिंक जाती। कंधे पर बने हुए कुंकुम की धूलि वायु में फैल जाती। मालती के पुष्पों का शेखर हिलकर भौंरों को छितरा देता। लटकते हुए कर्णोत्पल गालों तक आ जाते। वक्षस्थल के हार धक्का-धुक्की में बिखुर जाते। चामरग्राहिणी

कंधों पर चँवर रखे जब वहाँ से चलतीं तो उनके मणि-नूपुर झंकारते थे। राजसभा में जो परिचारिकाएँ, वार-विलासिनियाँ रहती थीं उनकी मेखलाओं से लटकती हुई रत्नमालाएँ मनोहर शब्द करती थीं। भवन दीर्घिकाओं में जो कलहंस पाले गए थे वे इस कोलाहल को सुनकर समझते न जाने क्या हुआ और आस्थान मंडप की ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ आते और स्वयं भी किलकारने लगते थे। राजकुल में जो सारस पाले गए थे वे भी स्त्रियों के कांचीदाम का शब्द सुनकर कें-कें करने लगते थे, मानों कोई कसेरा खराद पर काँसे के बर्तन फेर रहा हो। सम्राटों के आस्थान मंडप में जहाँ बहुत से राजा एकत्र होते वहीं उनसे छोटी पदवी के सामन्त, ठिकानेदार भी इकट्ठे होते थे। वे भी बड़ी धमक के साथ आस्थान मंडप की धरती को कँपाते हुए उठते थे। अपराजितपृच्छा में तो यहाँ तक लिखा है कि बड़े महाराजाधिराज परमेश्वर की सभा में १२ दंड-नायक, ४ मंडलेश्वर, १२ मांडलिक, १६ महासामंत, ३२ सामंत, और १६० लघुसामंत तथा ४८४ चौधरी रहते थे। बाण ने सामान्य तौर पर सामंतशत का उल्लेख कर दिया है। सम्राट् के साथ जो प्रतिहारी चलते उनसे भी आगे लोगों को हटाने के लिये दंडधारी भागते हुए 'आलोकयत-आलोकयत' इस शब्द को जोर-जोर से बोलते थे। वह शब्द महल के कुंजों में दूर तक गूँज जाता था। राजा की सवारी के समय भीड़-भाड़ को हटाना प्राचीन शिष्टाचार था जिसे समुत्सारण कहते थे। आलोकयत आलोकयत (देखो-देखो, आजकल का हटो-बचो) उस समय की शब्दावली में आलोक-शब्द कहा जाता था। कालिदास ने भी इसका उल्लेख किया है (रघु० २। ९)। आलोक शब्द का उच्चारण कुछ डाँट-डपट के साथ या धमकाकर नहीं बल्कि बहुत रस-पूर्वक हलके-फुलके ढंग से किया जाता था (समारब्ध हेलम्)। इस शब्द के उच्चारण की यह भी विशेषता थी कि उसकी गूँज महल के दूसरे हिस्सों में भी फैलती हुई सुनाई पड़ती थी और उन-उन स्थानों में नियुक्त परिचारक आदि भी उसी टेर में उसका उच्चारण कर देते थे जिससे सम्राट् की सवारी का समाचार महल के हर भाग में लोगों को मिल जाता था। इस बात को स्पष्ट करने के लिये आलोक शब्द के विषय में पहले उच्चैः उच्चारण, फिर तारतर दीर्घ और फिर दीर्घतरता को प्राप्त कहा गया है। प्रणाम करने वाले राजाओं की शिरोभूषा में दो आभूषण कहे गए हैं—एक मौलि में लोलचूडामणि और दूसरा मणि-शालाकाओं से बना हुआ किरीट। लोलचूड़ामणि उस प्रकार का आभूषण था जिसका एक सिरा बाल या मुकुट में फँसा रहता था और दूसरा छुटा हुआ। इसे चटुला या लोलक भी कहते थे। मणिशालाकाओं से दंतुर किरीट का स्पष्ट चित्रण अजंता की पहली गुफा में वज्रपाणि के चित्र में मिलता है (औंध कृत अजंता, फलक ७७, हर्षचरित०) सम्राट् के पथ में उनके आगे-आगे मंगल-पाठक बंदी लोग मीठे स्वर से जयजीव-जयजीव कहते हुए चलते थे। आस्थान-भवन के मणिस्तंभों में सजावट के लिये रत्न और मोतियों के झुग्गे लटकाए जाते थे जिन्हें 'रत्नदाम कहा जाता था। इन्हें ही आगे चलकर लंबन भी कहने लगे। मोतियों के जाले (मुक्ताजाल) और रत्नों की लड़ियाँ (रत्नदाम) ये गुप्तकालीन सजावट का आवश्यक अंग थीं। जिस आस्थान मंडप की भीड़-भाड़ का यह चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है वह अवश्य ही बाह्यस्थान मंडप या सर्वावसर (दरबार आम) ही था।

[१३]

सभा विसर्जन करके राजा ने चांडाल कन्या से तो विश्राम करने के लिये कहा और अपनी तांबूलकरंकवाहिनी को आदेश दिया कि वैशम्पायन को भीतर ले जाओ। फिर कुछ चुने हुए विश्वसनीय राजपुत्रों के साथ राजा स्वयं भी महल के भीतरी भाग में गए। अभ्यंतर का तात्पर्य धवलगृह के भीतर से था। तीसरी कक्ष्या में गृहावग्रहणी अर्थात् धवलगृह की देहली पार करने के बाद अंतःपुर आरंभ होता था। बाह्यास्थान-मंडप तक तो सामान्यतः सभी राजा आ सकते थे पर अभ्यंतर-प्रवेश कुछ चुने हुए लोगों का ही संभव था जो आप्त अर्थात् राजभक्त और विश्वसनीय समझे जाते थे। सबसे पहले राजा ने सब आभूषण उतार डाले और तब विशेष रूप से सजाई गई व्यायामभूमि में प्रवेश किया जहाँ व्यायाम करने की आवश्यक सामग्री एकत्र थी। अपने समान वयस राजपुत्रों के साथ हलका व्यायाम किया और फिर स्नान करने के स्थान (स्नानभूमि) में गए। यद्यपि व्यायामभूमि से स्नानभूमि तक जाने तक का मार्ग बहुत दूर या लंबा न रहा होगा फिर भी कवि ने सूचित किया है कि अपने महल में भी राजा लोग बिना उत्सारण के कहीं आते-जाते न थे। यद्यपि राजकुल में बाहरी मनुष्यों की भीड़-भाड़ की संभावना ही न थी (विरल जनेपि राजकुले) फिर भी समुत्सारण-कर्तव्य में नियुक्त दंडी या दंडधारी लोग राजा के आगे-आगे चलते हुए हटो-बचो का अपना कर्तव्य पूरा करते और यों उसे मार्ग भी दिखाते थे। स्नान की सामग्री जुटाने वाले परिजन इधर से उधर दौड़कर अपना कर्त्तव्य निबाह रहे थे। स्नानभूमि या मार्जनगृह राजप्रासाद का विशेष स्थान होता था। उसके ऊपर श्वेत चँदोवा ताना गया था। उसके बीच में सोने की सुगंधित जल से भरी हुई जलद्रोणी बनी हुई थी। स्नान के समय बैठने के लिये बिल्लौरी पीढ़ा रखा हुआ था (स्फाटिकस्नानपीठ)। एक ओर अत्यन्त सुगंधित जल से भरे हुए स्नानकलश रखे थे जिनका मुँह नीले कपड़े से ढका था। पहले द्रोणी में स्नान करने के बाद फिर कलसों से विशेष परिचारक राजा को स्नान कराते थे। स्नान-कलशों द्वारा अभिषेक का दृश्य अजन्ता के एक भित्तिचित्र में आया है। ज्ञात होता है स्नान के समय भी राजा का यश बखानने के लिये विशेष चारण स्नानभूमि के समीप विद्यमान रहते थे। राजा के स्नान करने की भी नियत विधि थी। पहले वार-विलासिनी स्त्रियाँ, जिन्हें हम आस्थानमंडप में भी उपस्थित देख चुके हैं, सुगंधित आँवले का चूर्ण राजा के सिर पर मलती थीं। फिर स्तनांशुक से उरस्थल को कसकर भुजाओं के कंगन को अलग हटाकर कान के लटकते हुए आभूषण और कान के पास की अलकावली को भी पीछे करके वे स्त्रियाँ राजा को स्नान कराने का उपक्रम करती थीं जिससे उनके वस्त्र या आभूषणों का राजा के शरीर से स्पर्श न हो सके। पहले राजा ने जलकुंड में स्नान किया। पुनः नहाने के शुभ्र पीढ़े पर बैठ गए। तभी वार-स्त्रियाँ मरकत, चाँदी, स्फटिक और स्वर्ण के बने हुए विभिन्न कलसों से स्नान कराने लगीं। किसी में स्वच्छ सलिल था, किसी में ज्योत्स्ना में रखा हुआ चांद्रजल, किसी में तीर्थजल, किसी में कुंकुमजल और किसी में चंदन-रस मिला हुआ सुगंधित जल। स्नान कराने

में भी जलों का क्रम यही रखा जाता था। ऊँचे उठाए हुए कलसे के मुँह के पास हाथ लगाकर उँगलियों के बीच से जल गिराती हुई वे मानों फव्वारा सा बना रही थीं। महल के ऊँचे भाग में रहट से या पुर से पानी चढ़ाकर फिर उसे छिपी हुई नालियों से महल के भिन्न-भिन्न भागों में ले जाते थे और विशेषतः स्नानगृह में किसी युक्ति से फव्वारे बनाते थे जिन्हें गुप्तकाल की भाषा में यंत्रधारा गृह कहा जाता था। इन फव्वारों में भाँति-भाँति की शालभंजिकाएँ या पुतलियाँ बनाई जाती थीं और उनके मुख, नेत्र, कर्ण, हाथ आदि से जल की फुहारें निकलती हुई दिखाई जाती थीं। भारतीय प्रासादों की यह पुरानी विशेषता थी जो मध्यकाल में भी जारी रही, जैसा हेमचंद्र के द्व्याश्रयकाव्य के विवरण से ज्ञात होता है। भाँति-भाँति की उन पुतलियों को ही यहाँ सलिलयंत्रदेवता कहा गया है। राजा स्नान कर चुके इस बात की सूचना महल भर में पहुँचाने के लिये अनेक शंख बजाए जाते थे जिसे स्नान-शंखध्वनि कहा जाता था। उसी के साथ बंदी लोग राजा का यश बखान करने के लिये समयोचित श्लोक पढ़ते और नौबतखाने में भी बहुत से बाजे बजाए जाने लगते थे।

[१४]

अभिषेक से निवृत होकर राजा ने साँप की केंचुली की तरह अत्यंत झीने और हल्के दो धुले हुए श्वेत वस्त्र (उत्तरीय और धोती) धारण किए और सिर पर रेशमी वस्त्र के पट्टे का उष्णीष धारण किया। तब मंत्रपूत जल से पितरों को जलांजलि देकर सूर्य को प्रणाम किया और देव-मंदिर में आए। जैसा हर्षचरित में हम राजकुल के वर्णन में दिखा चुके हैं (हर्ष०, फलक २६), राजकुल के भीतर ही व्यायामभूमि और स्नानगृह के अतिरिक्त सुंदर देवगृह की भी व्यवस्था रहती थी। उसमें सम्राट् और राजपरिवार के निजी दर्शन और पूजन के लिए कुल-देवता की मूर्ति स्थापित की जाती थी। राजप्रासाद के मंदिर में भगवान् शिव की प्रतिमा स्थापित थी। राजा ने उसका पूजन किया और देवमंदिर से बाहर निकलकर पहले अग्निहोत्र किया और फिर विलेपन भूमि में जाकर केसर, कपूर, कस्तूरी से मिले हुए चन्दन का शरीर में अनुलेपन किया। इन चारों से जो उत्तम सुगंधि बनती थी उसे उस युग की परिभाषा में यक्षकर्दम कहते थे। अमरकोश में कपूर, कस्तूरी, अगरु और कंकोल की सुगंधि को यक्षकर्दम लिखा है। धन्वंतरि ने कुंकुम, कस्तूरी, कपूर, चंदन और अगुरु से बनी हुई महा सुगंधि को यक्षकर्दम नाम दिया है। लगभग नवीं शती के बाद इसे ही चतुःसम सुगंधि कहने लगे (काव्य-मीमांसा अ० १८, पृ० १००, चतुःसमं यन्मृगनाभिगर्भम्; चउसम कस्तुरि सिल्हा कप्पूर लाइअइ, दोहाकोश पृ० ५५; पद्मावत २७६। ४)। तदनंतर राजा ने सुगंधित मालती के पुष्पों का शेखर धारण किया, अवसरोचित नए वस्त्र पहने और कान में रत्नजटित कर्णपूर का आभूषण पहनकर अपने संगी-साथियों के साथ समुचित भोजन किया।

[१५]

इसके बाद राजा ने धूमवर्त्ति[१] का पान किया और तब जल से मुख शुद्ध करके पान खाया। उसके बाद वे प्रतिहारी के हाथ का अवलंब लेकर चुने हुए अभ्यंतर परिजनों के साथ भुक्त्वास्थान मंडप में गए। भोजनोपरांत सम्राट् जहाँ बैठकर विश्राम करते थे वही भुक्त्वास्थानमंडप था जिसे मध्यकाल में दरबार-खास कहा जाता है। बाण की हर्ष से पहली भेंट भुक्त्वास्थानमंडप में हुई थी जो तीन कक्ष्याएँ पार करने के बाद महल के भीतरी भाग में स्थित था। हर्षचरित और कादंबरी दोनों में तत्संबंधी वर्णन में बहुत साम्य है। उस आस्थानमंडप में चारों ओर धवलांशुक की जवनिकाएँ पड़ी हुई थीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह मुख्यतः खुला हुआ मंडप था जिसकी छत स्तंभों पर टिकी हुई थी। दिल्ली के किले में बना हुआ दरबार-खास भी चारो ओर से खुला हुआ केवल खंभों पर टिका है। उसकी छत और खंभों पर सोने का काम है। बाण ने यहाँ कहा है कि आस्थानमंडप में सुनहले खंभों का समूह था। खंभों पर शालभंजिकाओं की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण थीं। गुसाँई जी ने भी लिखा है 'प्रतिमा खंभनि गढ़ि-गढ़ि काढ़ीं'। गढ़ कर काढ़ी हुई मूर्तियों का तात्पर्य उभारदार उकेरी से था। कालिदास ने इन्हें ही स्तंभों पर बनी हुई योषित-प्रतियातना कहा है। भारतीय स्थापत्य की यह विशेषता लगभग दो सहस्र वर्षों तक अक्षुण्ण रही। शुंगकाल और कुषाणकाल के स्तंभों पर बनी हुई शालभंजिकाएँ बहुत ही सुंदर और आकर्षक मानी जाती हैं। इन मूर्तियों को शालभंजिका कहने का हेतु यह था कि आरंभ में फूले हुए शाल-वृक्षों के नीचे खड़ी होकर स्त्रियाँ उनकी डालों को झुका कर और पुष्पों के झुग्गे तोड़कर क्रीड़ा करती थीं जिसे शालभंजिका क्रीड़ा कहते थे। क्रीड़ा की मुद्रा और उस मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री भी शालभंजिका कही जाने लगी। तोरण के स्तंभ और बँडेरी के बाह्य कोने में झुके हुए शरीर वाली जो स्त्री-मूर्ति बनाई जाती थी उसे तोरण-शालभंजिका कहा गया (अश्वघोष, बुद्धचरित ५। ५२)।

१—चरक में कई ओषधि द्रव्यों को मिलाकर धूमवर्ति बनाने का उल्लेख है। इसका आकार जौ के समान बीच में मोटा, किनारों पर पतला होता था (सूत्रस्थान ५। २०—२५)। कुट्टनीमतम् में भी आया है—

मृदु धौत धूपिताम्बरमग्राम्यं मंडनञ्च बिभ्राणा।
परिपीत धूमवर्तिः स्थास्यासि रमणांतिके सुतनु॥

नागर सर्वस्व में धूमवर्ति का नुसखा इस प्रकार है—

कर्पूरागुरु चंदनमुस्ता पूति प्रियंगुवालं च।
मांसी चेति नृगाणां योग्या रतिनाथ धूमवर्तिः॥

इस सूचना के लिए मैं अपने मित्र श्री अत्रिदेव आयुर्वेदाचार्य का अनुगृहीत हूँ।

आस्थान मंडप के फर्श पर कस्तूरी-मिश्रित चंदन का जल छिड़का गया था और थोड़ी-थोड़ी दूर पर पुष्पों की सजावट की गई थी। अगुरु की धूप की सुगंधि से वह महमहा रहा था। उसमें एक वेदिका या कुछ ऊँचा चबूतरा बना था जिस पर एक पलँग बिछा था। पलँग के एक ओर रत्नों का पादपीठ रखा था। उसके ऊपर कुसुमों की सुगंधि से बसाई हुई चादर (प्रच्छदपट) बिछी थी और उसके सिरहाने रेशमी तकिया लगा था। शयन पर लेटकर राजा ने मुहूर्त भर विश्राम किया। उस समय उनकी खड्ग-वाहिनी अंगरक्षिका तलवार गोद में रखकर फर्श पर बैठकर धीरे-धीरे हाथों से उनके पैर दबा रही थी। जो राजा, मित्र और मंत्री भुक्त्वास्थानमंडप में प्रवेश के अधिकारी थे, उनके साथ राजा बात चीत भी करते जाते थे। इस प्रकार स्वस्थ होकर राजा ने पास में स्थित प्रतिहारी से कहा—'जाओ, अंतःपुर से वैशम्पायन को ले आओ।' 'देव की जो आज्ञा' यह कहकर उसने वैसा ही किया। राजा जब आज्ञा देते तो प्रतीहारी जैसी परिचारिकाओं को पृथिवी में मस्तक टेकने की मुद्रा में होकर उसे स्वीकार करना महल के शिष्टाचार का अंग था। इस मुद्रा को क्षितितलनिहितजानुकरतलमुद्रा कहा गया है।

[१६]

प्रतिहारी वैशम्पायन का पिंजड़ा लेकर जब लौटी तो उसके पीछे-पीछे सोने की वेत्रलता लिए बुड्ढा कंचुकी भी आया। उसके शरीर का ऊपरी भाग कुछ झुक गया था। वह श्वेत कंचुक पहने था और उसके सिर के बाल भी पक गए थे। उसका स्वर कुछ काँपता था और वह बहुत धीरे ही चल पाता था। उसने भी धरती पर हाथ टेककर राजा से विनती की—'देव, देवियाँ निवेदन करती हैं कि वैशम्पायन ने स्नान और आहार कर लिया है और आपकी आज्ञा से प्रतिहारी इसे आपके पास लाई है।' यह कहकर वह हट गया और राजा ने वैशम्पायन से पूछा—'कहिए, आपने अंतःपुर में कुछ रुचिकर आहार लिया ?' उसने कहा—'देव, मैंने क्या नहीं खाया ? इच्छानुसार कसैला, मीठा जामुन का रस पिया। लाल-लाल अनार के दाने खाए। पके हुए द्राक्षा जैसे मीठे आँवले चखे। बहुत क्या, देवियाँ अपने हाथ से जो देतीं उसमें अमृत का स्वाद था।' राजा ने ही बीच में रोककर कहा—'अच्छा, यह सब हुआ। अब हमारा कुतूहल दूर करो और आरंभ से अपने जन्म की कथा कहो। किस देश में कैसे उत्पन्न हुए ? किसने नाम रखा ? माता कौन थी ? पिता कौन था ? वेदों का ज्ञान और शास्त्रों का परिचय कैसे हुआ ? कलाओं की उपलब्धि कैसे हुई ? क्या जन्मान्तर की सिद्धि थी या किसी ने वरदान दिया ? क्या पक्षी के वेश में कोई महापुरुष तो छिपा नहीं है ? पहले कहाँ रहते थे ? क्या आयु हुई ? पिंजड़े में कैसे फँस गए ? चांडाल के हाथ में कैसे पड़े और यहाँ तक कैसे पहुँचे ?' कुतूहलवान् राजा के इन प्रश्नों से सम्मानित हुए वैशम्पायन ने कुछ देर सोचकर सादर कहा—'देव, यह कथा लंबी है। यदि कुतूहल है तो कृपया सुनें।'

वैशम्पायन शुक द्वारा कथा का आरम्भ

[१७]

पूर्व और पश्चिम के समुद्र तटों तक फैला हुआ, मध्यदेश को सुशोभित करनेवाला विंध्याटवी नाम का बड़ा वन है। उसे पृथिवी की करधनी कहना चाहिए। उसमें फूलों से लदे हुए अनेक वृक्ष थे। उसमें कहीं कुरर पक्षियों के समूह मरिच वृक्षों के कोमल पत्ते नोचकर खा रहे थे कहीं हाथियों के बच्चों ने तमाल के पत्तों को मींडकर डाल दिया था जिनमें से सुगंध निकल रही थी। उसमें चारों ओर लाल-लाल पल्लवों की छटा छाई हुई थी, मानों मधुमद की ललाई लिये हुई केरली स्त्रियों के कपोल हों, या वन-विहारिणी किसी देवी के चरणों का आलता रस छितराया हुआ हो। स्थान-स्थान पर अनेक लता-मंडप सुशोभित थे। किसी में तोतों ने अनार के दाने छितरा रखे थे। किसी में चंचल कपियों ने कक्कोल के फल और पल्लव गिरा दिये थे। किसी में पक्षियों ने आराम करने के लिये लवंग पल्लवों की साथरी बनाई थीं। किसी में पूग वृक्षों पर ताम्बूल की लताएं लिपटी थीं, मानों वन-लक्ष्मी ने अपने लिये वासगृह बनाए हों जिनमें फूलों की रेणु भरी हो। जिनमें मस्त हाथियों का मद सलिल बहता था ऐसे इलायची के जंगलों का घना अँधेरा उस वन में छाया हुआ था। कहीं शबर-सेनापति शेरों का शिकार करते थे। भैंसों से भरी हुई वह अटवी अत्यंत भीषण लगती थी। उसमें बाण और असन, श्रीद्रुम और वरुणा, अगुरु और तिलक, ताड़ और मैनफल, तमाल और नेत्र, कीचक और बेंत, शमी और पलाश के अनेक वृक्ष थे। कहीं सिंह दहाड़ते और कहीं गेंडे इधर से उधर भागते थे। सायंकाल के समय मोरों का नाच अत्यंत सुन्दर लगता था। सब जगह बड़े बड़े पहाड़ भरे हुए थे। जगह-जगह असंख्य छोटी तलैयाँ दिखाई पड़ती थीं। रीछ, खरहे, चँवरी गाएँ और हिरन वन में चौकड़ी भरते थे। उस विंध्याटवी की उपमा किस-किससे दी जाय? तमाल-नील शोभा के कारण वह नारायण मूर्ति सी जान पड़ती थी। वानरों से आक्रांत वह मानो पार्थ के रथ की पताका थी। चंचल तारक मृगों का पीछा करते हुए व्याधों से वह अंबर-श्री जैसी सुहावनी थी। कुश, चीर नामक तृण, जटा और वल्कलों से ज्ञात होता था कि उसने कोई व्रत धारण किया है। एक ओर उसमें बहुल पत्रों का संचय था और दूसरी ओर सप्त-पर्णों की शोभा भी थी। एक ओर हिंस्र जीवों से भरी हुई थी और दूसरी ओर मुनिजनों से जहाँ वह पुष्पवती (पुष्पयुक्त, ऋतुमती) थी वहीं सर्वथा पवित्र भी थी।

[१८]

उस विंध्याटवी में दंडक वन के बीच में महामुनि अगस्त्य का आश्रम था जिसे चारों ओर से गोदावरी ने घेर रखा था। भगवान् अगस्त्य की महिमा सुविख्यात थी। अपने जठरानल से उन्होंने वातापि दानव को जीर्ण कर डाला था। जिस विंध्य पर्वत ने

देवताओं की प्रार्थना की परवाह न करके अपने शृंगों को आकाश में फैलाकर सूर्य के रथ का मार्ग भी रोक दिया था उसे भी भगवान् अगस्त्य की आज्ञा उल्लंघन करने का साहस न हुआ। देवता और असुर दोनों अपने मुकुट में बने हुए मकरिका आभूषण की पत्रलता से उनके चरणों का स्पर्श करते थे। एक ही हुंकार में उन्होंने नहुष को देवलोक से नीचे गिराकर अपना प्रभाव प्रकट कर दिया था। ऐसे उन महामुनि की पत्नी लोपामुद्रा स्वयं अपने हाथों से उसके वृक्षों को सींचती और उनके चारों ओर थाँवले बनाती थी। उनके दृढ़दस्यु नामक पुत्र मौञ्जी मेखला, कुश चीर और पलाश दंड लिए हुए, मस्तक पर भस्म का त्रिपुंड लगाए हुए हाथ में हरे पत्तों का दोना लेकर एक झोंपड़ी से दूसरी झोंपड़ी तक भिक्षा माँगने जाते थे और पिता के अग्निहोत्र के लिये जंगल से समिधाओं का इतना बोझा लाते थे कि पिता ने उनका नाम ही इध्मवाह रख दिया था। आश्रम के चारों ओर हरे-हरे केलों की मेंड लगी हुई थी।

[१९]

जहाँ दशरथ की आज्ञा से राज्य छोड़कर सीता और लक्ष्मण के साथ राम पर्णशाला बनाकर पंचवटी में कुछ समय तक सुख से रहे थे, जहाँ के एकांत वृक्षों पर बैठे हुए कबूतरों को देखकर तपस्वियों के अग्निहोत्रों से उठती हुई धूम लेखाओं का भ्रम होता था लताओं के कोमल किसलयों में जो लाली थी उसे देखकर भ्रम होता था कि पूजा के लिये फूल चुनते समय सीता जी ही तो अपने हाथों की लाली कहीं पीछे नहीं छोड़ गई थीं। आश्रम के चारों ओर के जल से भरे हुए बड़े सरोवरों को देखकर भ्रम होता था कि कहीं अगस्त्य ने ही तो पिए हुए समुद्र-जल को बाहर नहीं उँडेल दिया है। जंगल के लाल-लाल कोमल किसलय देखकर भ्रम होता था कि राम के तीक्ष्ण बाणों से निहत राक्षस समूह का रुधिर ही तो पौधों की जड़ में पड़कर कहीं उनके किसलयों के रूप में प्रकट नहीं हो गया है। सीता जी द्वारा पाले हुए कुछ जीर्ण आश्रममृग आज भी बरसात में मेघों का गर्जन सुनकर घास से मुँह हटा लेते हैं और रोते हुए सोचते हैं कि कहीं फिर से वह राम के धनुष की टंकार नहीं आगई जिसने हमारे बंधु-बांधवों को पहले शून्य कर दिया था। वहाँ सोने का मृग आखेट के व्याज से राम को दूर बहका ले गया था। वहाँ सीता के वियोग-दुःख से दुःखित राम-लक्ष्मण ने कबंध राक्षस के साथ युद्ध के समय तीनों भुवनों को महाभय से भर दिया था। सीता के विरह में अपना मन बहलाने के लिये राम ने जो उनका चित्र कुटिया में लिखा था आज भी वनचर उसका दर्शन करते हैं, मानों राम की उस कुटिया को देखने की लालसा से सीता पृथिवीतल से फिर बाहर आ गई हों।

[२०]

उस अगस्त्य आश्रम से कुछ दूर पर ही पंपा नामक सरोवर था। अगस्त्य जब समुद्र का आचमन कर गए तो उसके देवता वरुण ने ब्रह्मा को उकसाकर मानो एक नया सागर ही वहाँ बनवा दिया था। सरोवर के पानी का शांत धरातल ऐसा लगता था जैसे

गगनतल धरती पर उतर आया हो। आदिवराह विष्णु ने जो भूमि-मंडल समुद्र से ऊपर उठाया था, मानो उसी पर यह पानी भरा रह गया था। शबरों की उद्दाम युवतियाँ उसके जल में खुलकर क्रीड़ा करती थीं। उसमें नाना भाँति के कमल और कोकाबेली खिली थीं। कमलों से उछटे हुए मधुबिंद पानी पर तैरते थे। बड़े सौगंधिक कमल उनपर छाए हुए भौंरों से साँवले हो रहे थे। सरोवर में मदभरे सारस बोल रहे थे। कमलों का मधु पीकर मत्त हुई कलहंसिनियाँ कोलाहल कर रही थीं। अनेक जलचर पक्षी लहरों पर झपट रहे थे। जलक्रीड़ा की अनुरागिणी वनदेवियाँ अपने केश-कुसुमों से मानों जल को सुशोभित कर चली गई थीं। कहीं मुनिजन अपने कमण्डलु जल में डुबका रहे थे। नीले कमलों के मध्य में धुमैले रंग के कादंब हंस केवल बोली से पहचाने जाते थे। कहीं किनारे पर बन-राज पुलिंद की सुंदरी नारियाँ अपनी चंदन-चर्चित देह से अभिषेक कर रही थीं। किनारों पर केतकी के पुष्प लगे थे जिनके केसर की धूल बालू पर बिछ गई थी। पास के आश्रम से तपस्वी आकर अपना वल्कल धो रहे थे जिनके कसैला रंग जल में घुल-घुल कर उसे रंगीन बना रहा था। तट के वृक्षों के हिलते हुए पल्लवों से उठी हुई वायु जल में सुकुमार लहरें उत्पन्न कर रही थी। सरोवर के चारों ओर वनमालाएँ सुशोभित थीं। कुछ में तमाल की घनी बीथियों का अंधकार छाया हुआ था। कहीं फल-फूलों से मुंडी बेलें छाई थीं, ज्ञात होता था कि बाली के भय से ऋष्यमूक के पास छिपे हुए सुग्रीव ने उन्हें साफ कर दिया था। तपस्वी देवपूजा के लिये उन वनों में पुष्प लेने आते थे। जल में भीगे हुए पक्षी ऊपर उड़कर पंख फड़फड़ाते तो उनकी बूँदें वृक्षों के सुकुमार पल्लवों पर दिखाई देती थीं। कहीं लता-मंडपों में मोर अपने ताण्डव नृत्य में लीन थे। वे वन पुष्पों से ऐसे महमहा रहे थे, जैसे वनदेवियाँ उन्हें अपने श्वास से सुवासित कर गई हों। बड़े-बड़े जंगली हाथी वहाँ जल पीने आया करते, मानो उसे दूसरा समुद्र जानकर मेघ ही जल लेने उतरते थे। वहाँ इतना अंधेरा था कि दिन में ही वियुक्त चकवा-चकई दो किनारों से पुकारते हुए बीच वालों को ऐसे लगते थे, मानो विरही राम अपना मूर्तिमंत शाप छोड़ गए हों।

[२१]

उस सरोवर के पश्चिमी किनारे पर पुराना बड़ा सेमल का पेड़ था। समीप में ही उसका साथी वह जीर्ण ताड़-वृक्ष था जिसे त्रेतायुग में राम अपने बाणों से जर्जर कर गए थे। उसकी जड़ में सदा एक बड़ा अजगर लिपटा रहता था, जैसे किसी ने वृक्ष के लिये थाँवला बना दिया हो। ऊँचे गुद्दों से लटकते हुए केंचुल वायु में हिलते हुए ऐसे लगते थे मानो उस महावृक्ष ने झीने उत्तरीय ओढ़े हों। दिशाओं का प्रसार कहाँ तक है, इसे जानने के लिये मानों उसने आकाश में अपनी सहस्रों शाखा-प्रशाखाएँ फैलाई थीं। उन्हें देखकर जान पड़ता था मानों वह प्रलयकाल में ताण्डव के लिये सहस्रों भुजाएँ फैलाए हुए भगवान् शंकर की होड़ कर रहा था। बहुत पुराना होने के कारण कहीं वह गिर न जाय इसलिये उस वृक्ष ने अपना कंधा आकाश के सहारे टेक दिया था। उसे चारों ओर से वनबेलों ने कस लिया था, मानों वे उसके जीर्ण शरीर की नस-नाड़ियां हों। उसके काँटों

की शोभा ऐसी थी, मानों बुड्ढे शरीर पर मस्से पड़ गये हों। समुद्र का जल पीकर जो मेघ उसके पास आते वे ऊँचे शिखर को न छू पाकर पक्षियों की तरह उसकी शाखाओं के बीच में ही छिप जाते थे और भरे हुए बोझे से अलसाकर क्षणभर के लिये जो ठहरते तो उतनी ही देर में उसके पल्लवों को बूँदों से गीला कर जाते थे। वह इतना ऊँचा था मानों स्वर्ग के नन्दनवन की सौन्दर्य-लक्ष्मी को देखने के लिये उचका हुआ हो। उसके शिखर पर भूवों की फैली हुई रूई से श्वेत शाखाओं को देखकर संदेह होता था कि कहीं आकाश में चलने से सूर्य के घोड़े थककर वहाँ कुछ देर के लिये ठहर गए हों और उनके ओठों के छोर से मुँह का फेना वहाँ टपक गया हो। जड़ों के पास उसके तने से गण्डस्थल रगड़ कर जहाँ जंगली हाथियों ने अपनी खाज मिटाई थी वहीं मद की सुगंधि से खिंचकर भौंरे चिपट रहे थे, मानों किसी ने लोहे के दृढ़ सिक्कड़ों से उसके मूल भाग को कल्पांत तक के लिये अडिग बना दिया हो। कोटरों में भरे हुए भनभनाते भौंरों को देखकर लगता था मानों उसकी देह में प्राण हों। अनेक पक्षियों ने वहाँ अपने पंख गिराए थे। वनराजियों ने उसे सब ओर से ढक रखा था। यों आकाश में ऊँचा सिर उठाए हुए वह वृक्षराज ऐसा जान पड़ता था मानों वनदेवताओं ने भुवनों का दर्शन करने के लिये एक अवलोकन-प्रासाद बनाया हो, या वह दण्डकवन का राजा हो, या सब वनस्पतियों का नायक हो, या विंध्याचल का सखा हो, जिसने अपनी शाखारूपी भुजाओं से विंध्याटवी का आलिंगन कर रखा था।

भुवनावलोकन प्रासाद तत्कालीन स्थापत्य का पारिभाषिक शब्द था। प्रासाद की चोटी पर सबसे ऊँचे कक्ष के लिये यह संज्ञा थी, जहाँ बैठकर राजा या गृहपति चंद्रिका का आनंद लेते थे और यथावसर प्रकृतिदर्शन करते थे। कन्हेरी के गुफामंडपों में सबसे चोटी की गुफा को, जहाँ से अब भी समुद्र का दृश्य दिखाई पड़ता है, सागरप्रलोकन-गुफा कहा गया है। यद्यपि बाण चित्रात्मक वर्णनों के धनी हैं और उनकी कल्पनाओं की कोई थाह नहीं है, फिर भी शाल्मली वृक्ष का यह वर्णन अपने ढंग का एक है। इसमें सूक्ष्म दृष्टि से उन्होंने वृक्ष के बाहरी रूप और चारों ओर के वातावरण का निरीक्षण किया है और काव्यमयी नई-नई कल्पनाओं के ताने-बाने से उसे सजाया है। जलधर मेघों का वृक्षों के पास आना और अपनी बूँदों का कुछ अंश हल्का करके वहाँ से हटना इस तथ्यात्मक घटना को कवि ने जैसी काव्यमयी कल्पना में रखा है वह अतीव हृदयग्राही है।

[२२]

उसकी शाखाओं पर, कोटरों में, पल्लवों के बीच में, गुद्दों के जोड़ों में, पुरानी छाल के छेदों में, नाना देशों से आए हुए सैकड़ों तोतों के कुटुम्ब घोंसला बनाकर रहते थे। वृक्ष पर चढ़ना कुछ कठिन था, इसलिये वे संकट से निश्चिन्त थे। यद्यपि उस बूढ़े पेड़ के पत्ते कुछ विरल हो गए थे तो भी उस पर बैठने वाले सुग्गों से वह छतनार जान पड़ता था। वे उसपर रात बिताकर प्रातःकाल चुग्गा लेने के लिए पंक्ति बनाकर कोलाहल करते हुए प्रतिदिन इधर-उधर आकाश में उड़ जाते थे। उस समय ऐसा ज्ञात होता था मानों

बलराम के हल से खींची हुई जमुना की धाराएँ बिखर गई हों, या स्वर्ग के ऐरावत ने आकाशगंगा की कमलिनियों को उखाड़कर फेंक दिया हों, या सूर्य के हरे रंग के घोड़ों की प्रभा से आकाश रंग गया हो, या पन्ने की भूमि का खंड उड़ रहा हो, या आकाश रूपी सरोवर में सिरवाल घास फैली हुई हो। कदलीदल के समान खुले हुए अपने पंखों से वे सूर्य-ताप से खिन्न दिशाओं के मुख पर पंखा झलते हुए से लगते थे, या मानों आकाश में हरी घास की बढ़ती हुई पट्टी सी बिछाते जाते थे। उनकी रंग-बिरंगी पंक्तियों से विदित होता था कि आकाश में इंद्रधनुष फैला हुआ था। अपना पेट भरकर जब वे लौटते तो घोसलों में बैठे हुए अपने बच्चों के लिए भी भाँति-भाँति के रसीले फल और चावलों की बाले अपनी लाल टोंट में दबाकर लाते और असाधारण प्रेम से बच्चों के मुँह में चुग्गा देकर बाल-बच्चों के साथ रात बिताते थे।

[२३]

उसी वृक्ष के एक पुराने कोटर में पत्नी के साथ रहते हुए मेरे पिता की आयु के अंतिम भाग में भाग्यवश मेरा जन्म हुआ। मेरे जन्म के समय की कठिन प्रसव-वेदना से माता स्वर्ग सिधार गई। प्रिय पत्नी के विरह-शोक में दुःखी हुए पिता पुत्र-स्नेह से किसी तरह अपने को धैर्य देकर मेरा लालन-पालन करने लगे। बुढ़ापे के कारण पिता के पंखों में उड़ने की शक्ति न रह गई थी। उनमें पखने भी थोड़े ही बचे थे। ज्ञात होता था उन्होंने हरा कुश-चीर पहन लिया था। उनका शरीर काँपता था, मानों देह में चिपटी हुई दुखःदाई बुढ़ौती को वे झाड़ कर छुड़ा देना चाहते थे। इस जीर्ण दशा में भी वे सुकुमार हरसिंगार के फूल की डंडी के समान लाल चोंच से, जिसकी अगली कोर टूट चुकी थी और चावल के दाने तोड़ते हुए जिसके पार्श्वभाग में पतला रेखा-चिन्ह पड़ गया था, औरों के घोसलों से पेड़ के नीचे गिरे हुए चावल के कण या सुग्गों द्वारा कुतर कर फेंके हुए फलों के टुकड़े लाकर मुझे देते और मुझे खिलाकर ही बचा हुआ आप खाते थे।

[२४]

एक दिन जब प्रभातकाल की ललाई से आकाश फूला हुआ था, तब उस वन में मृगया के कोलाहल की ध्वनि सुनाई पड़ी। आकाश में एक ओर चंद्रमा बूढ़े हंस की भाँति आकाश-गंगा का तट छोड़कर पश्चिमी समुद्र के किनारे उतर रहा था। दिशाओं के छोर तक फैला हुआ हलका पीला क्षितिज क्रमशः अधिक विस्तृत होता जा रहा था। चंद्रमा की किरणें हाथी के रुधिर से रंजित सिंह के बालों के समान पहले कुछ अधिक लाल थीं। फिर उनका रंग लाख के तंतुओं के समान हो गया। धीरे-धीरे आकाश के तारे ओझल होने लगे, मानो किसी ने पद्मराग की शलाकाओं से बनी हुई बुहारी से गगन-तल के फर्श पर फैले हुए फूलों को समेट दिया हो। सप्तर्षि मंडल उत्तर की दिशा में दिखाई पड़ रहा था मानों संध्योपासन के लिये वह मानसरोवर के तीर पर चला गया था। पश्चिमी समुद्र का तट उषःकाल में धवलित हो गया था। उसपर जो सीपियों के खुले हुए संपुटों से मोती

बिखर गए थे वे ऐसे लगते थे मानों सूर्य की किरणों ने समेट कर आकाश के नक्षत्रों को नीचे गिरा दिया हो।

वन में ओस की बूँदे वृक्षों से धरती पर पड़ने लगीं। पक्षी जाग गए। माँद में सोए हुए सिंह अँगड़ाई लेने लगे। हथनियाँ मदमत्त यूथपति को जगाने लगीं। वृक्षों पर रात में जो फूल फूले थे उन्हें प्रातःकाल अरण्य स्वयं अपनी पल्लवांजलि में भरकर उदयगिरि के शिखर पर उगते हुए भगवान् सूर्य को अर्पित करने लगा। तपोवनों में मुनियों ने वृक्षों के नीचे जो अग्निहोत्र आरंभ किए उनकी धूम-लेखाएँ वृक्षों के शिखर छूने लगीं, मानों धर्म की पताकाएँ फहराने लगी हों, या वन देवताओं के महलों के शिखर पर धूसर रंग की पारावत पंक्तियाँ बैठ गई हों।[1]

उस समय प्रभात काल की शीतल मंद सुगंध वायु बहने लगी। कहीं उसने ओस की बूँदों का स्पर्श किया। कहीं कमल के बनों को गुदगुदाया। कहीं रति-खिन्न शबरी के स्वेद-बिंदुओं से चुहल की। इधर जुगाली करते हुए जंगली भैंसों के मुँह से टपकते हुए फेन-बिंदुओं को उड़ा ले गई, उधर फहराते हुए पल्लवों[2] वाली लतारूपी नर्तकियों को सुकुमार लास्य सिखाने लगी। कहीं खिलते हुए कमल-बन के मकरंद की वर्षा करने लगी। कहीं फूलों की सुवास से भौंरों को छका डाला। रात्रि के अंत में उत्पन्न शीत के कारण वह स्वयं जड़ बनी हुई मंथर गति से चल पा रही थी। कहीं कमल बनों में पुष्पों के खिलने से छूटे हुए भौंरे मंगल पाठकों की तरह गुंजारने लगे और हाथियों के गंडस्थल के पास डिंडिम घोष करने के लिये जा पहुँचे। दूसरी ओर वे कुमुद वनों के बंद होते हुए पुष्पों में अपने पंख समेट कर मुँद गए। वन-मृगों ने प्रभात की ठंडी वायु से जागकर आँखें खोलीं। उनकी बरौनियों पर मानों किसी ने हलका लाखी रंग पोत दिया था। कुछ-कुछ अवशिष्ट निद्रा से उनकी अलसाई हुई पुतलियाँ कनखियों से देख रही थीं। रेहाली धरती में सोने के कारण उनकी रोम राजि मटमैली लग रही थी। जब दिन कुछ और चढ़ा तो वनचर इधर उधर आने जाने लगे। पम्पा सरोवर में बत्तकों का शोर बढ़ने लगा। जंगली हाथियों के कान फड़फड़ाने का शब्द सुनकर मोर नाचने लगे, मानों उसने उनके नृत्य में ताल का काम किया। धीरे धीरे मँजीठिया रंग की किरणें आकाश में ऊपर छा गईं जैसे सूर्यरूपी

१—मुनियों ने वृक्षों के नीचे जो अग्निहोत्र किए, उनकी धूमलेखाएँ पहले तो वृक्षों के सघन वितान के भीतर से जगह-जगह प्रकट हुईं और अंत में उसकी चोटी पर एकत्र हुआ वह धुआँ आकाश में फैल गया। इस पर कवि की कल्पना है कि पत्तों के गुंबद से प्रकट होता हुआ धुआँ शिखरों पर बैठे हुए कबूतरों सा लगता था। प्राचीन स्थापत्यकला के अनुसार महल या मंदिरों के शिखर पर सजावट के लिये चारों ओर पत्थर में तराशी हुई कपोतों की आकृतियाँ बनाते थे। उनकी संज्ञा कपोतपाली, कपोताली या अपभ्रंश केवाली की ओर यहाँ संकेत है।

२—पल्लव-लता पक्ष में फहराते हुए पत्ते; नर्तकी पक्ष में फहराते हुए वस्त्र।

हाथी के मस्तक पर लगा हुआ रंगीन चँवर हो। सूर्य का बालातप पम्पा सरोवर के किनारे के वृक्षों की चोटी पर दिखाई पड़ा और फिर पर्वत के शिखर पर पहुँच गया। जब प्रातः काल बिलकुल स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा और दिन के अष्टम भाग में सूर्य की कांति निखर गई तब तोतों के झुंड मनचाही दिशाओं की ओर जाने के लिये उड़े और यद्यपि बच्चे घोसलों में ही बैठे रहे फिर भी वह वृक्ष नीरव बना हुआ बिलकुल सूना जान पड़ता था। मेरे पिता भी अपने घोसले में ही रहे और मैं उन्हीं के साथ चिपका हुआ बैठा रहा। बाल्यावस्था के कारण मुझमें अभी बल न आया था और मेरे पखनों ने फुटाव लेना शुरू ही किया था।

सहसा ही उस महावन में मृगया का कोलाहल सुनाई पड़ा जिससे सब बनवासी डर गए, पक्षी पंख फड़फड़ाने लगे, हाथियों के डरे हुए बच्चे चिंघाड़ने लगे, घूमते हुए बनैले सुअर मुँह उठाकर घरघर शब्द करने लगे और पहाड़ी गुफाओं में सोकर जागे हुए सिंह दहाड़ने लगे।

[२५]

तुरंत बाद ही मैंने शिकारियों के झुंड का कोलाहल इस प्रकार सुना—'यह देखो, इधर से गजों के यूथपति से मसली हुई कमलिनी की सुगंध आ रही है। उधर सूअरों से कुतरा हुआ नागरमोथा महक रहा है। यहाँ हाथी के बच्चे से तोड़ी हुई सलई की डाल की कसैली गंध उठ रही है। उधर झड़े हुए सूखे पत्तों की मर्मर ध्वनि सुनाई पड़ रही है। इधर जंगली भैंसे अपनी सींगों की नोक से बाँबी खोदकर मिट्टी उछाल रहे हैं। यह देखो, इधर मृगों का झुंड है, उधर जंगली हाथियों का समूह है। वहाँ वे बनैले सूअर हैं, यहाँ जंगली भैंसे हैं। यहाँ मोर बोल रहे है वहाँ कपिंजल और क्रौंच कूज रहे है। वह देखो, शेर के नखों से चोट खाया हुआ हाथी कैसा कराह रहा है। इधर कीचड़ में सने हुए सूअरों के पैरों के निशान हैं। यहाँ नई घास खाकर जुगाली करते हुए हिरनों के मुँह से फेन गिरा है। इधर जंगली हाथियों ने जहाँ अपना गंडस्थल खुजाया है वहाँ भौंरे चिमट कर गुंजार रहे हैं। यहाँ से घायल रुरु-मृग रक्त की बूँदें टपकाता हुआ गया है। इधर पेड़ के पत्ते हाथियों ने रौंद डाले हैं, उधर गैंड़े मटरगश्ती कर रहे हैं। इधर से कोई शेर हाथी का शिकार करके अपने लाल पंजों की छाप और गजमोती छोड़ता हुआ गया है। यहाँ अभी अभी किसी मृगी के बच्चा जनने से भूमि लाल हो गई है। इधर से कोई हाथियों का झुंड मदजल का छिड़काव करता निकला है जिससे अटवी की वेणी सी बन गई है। वहाँ चँवरी गायों का पीछा करने योग्य है। इस वनभाग में सूखे हुए जंगली कंडे बिखरे हैं। यहीं पड़ाव डालो। अरे, पेड़ पर तो चढ़ो। इधर तो देखो। कान लगाकर यह टोह तो सुनो। जल्दी से धनुष लो, चौकन्ने हो जाओ, कुत्तों का झुंड छोड़ दो।' इस प्रकार एक दूसरे से कहते और चिल्लाते हुए मनुष्यों का शब्द मुझे सुनाई पड़ा। वे अभी पेड़ों के पीछे छिपे हुए ही थे पर जैसे सारे जंगल को उन्होंने मथ डाला था।

[२६]

थोड़ी देर बाद वह जंगल चारों ओर मचते हुए उस भारी कोलाहल से काँप उठा। शिकारी शबरों के बाणों से चोट खाए हुए शेर दहाड़ने लगे। उनका वह शोर गुफाओं में गूँजता हुआ और भी गंभीर हो उठा, मानो टटके अनुलेपन से गीले मृदंगों की ठनकती हुई ध्वनि थी। अपने डरे हुए झुंड से बिलगा कर अकेले घूमते हुए यूथपति हाथी सूँडों को फटकार कर गलगाजने लगे। शिकारी कुत्ते झपट कर जिनके अंगों को काट कुतर रहे थे ऐसे हिरन नेत्रों की अत्यंत कातर मुद्रा में कराहते हुए चिल्ला रहे थे। हाथियों के मारे जाने से वियोगिनी हथिनियाँ पीछे आते हुए बच्चों की कलकल को ठहर-ठहर कर सुनती हुई और कान उठाकर इधर उधर भागती हुई पतिशोक में घोर चीत्कार कर रही थीं। कुछ दिन पहले ही ब्याई हुई गेंडों की मादाएँ डरकर भागे हुए बच्चों को ढूँढ़ती हुई गला फाड़ कर बिलख रही थीं। तरु-शिखरों से उड़े हुए पक्षी घबराकर इधर-उधर बड़ा कोलाहल मचा रहे थे। पीछा करने वाले पशुओं के आगे-आगे चौकड़ी भरते हुए हिरनों के पैरों की टापों से मानों धरती काँप रही थी।[1] कान तक खींचे हुए धनुषों की टंकार से, भैंसों के कठिन कंधों और पीठ को काट देने वाले तलवार के भरपूर हाथ की खड़खड़ाहट से और दौड़ते हुए कुत्तों के घर-घर शोर से वह जंगल भर गया। शीघ्र ही जब शिकार का शोर कम हुआ और वह बन फिर उसी प्रकार गुमशुम हो गया तब मेरा डर कुछ मिटा और मैंने कुतूहलवश पिता की गोद से निकलकर कोटर में ही बैठे हुए गर्दन फैलाकर बाहर झांककर देखा।

[२७]

मुझे सामने बन के भीतर से आता हुआ शबरों का सैन्य दल दिखाई पड़ा। वह मानों कार्तवीर्य अर्जुन के भुजदंडों से अनेक धाराओं में बिखरा हुआ नर्मदा का प्रवाह था, या झंझावात से कँपाया हुआ तमाल वृक्षों का वन था, या भूचाल से छितराया हुआ काले पत्थर के स्तंभों का समूह था या सूर्य की किरणों से ध्वस्त अंधकार था, या यमराज का कुटुंब ही घूम रहा था, या रसातल को फाड़कर दानव-समूह निकल पड़ा था, या जैसे पापों का समूह इकट्ठा हो गया था, या दंडक वन में रहने वाले क्रोधी मुनियों के शापों का ठट्ठ एक साथ फिर रहा था, अथवा राम ने बाणों से खरदूषण के जिस सैन्यदल को मारा था वही मानो राम का अहित सोचने से पिशाचों के रूप में प्रकट हो गया था, या वहाँ कलियुग के सगे भाई-बंध इकट्ठे हुए थे, अथवा जंगली भैंसों का झुंड नहाने के लिये जा रहा था, या समस्त जंगली जीवों के बिनाश के लिये धूम केतुओं का जमावड़ा दिखाई दिया था।

१—रूपानुसार प्रधावितानाम्—रूप का अर्थ हाँ जंगली पशु है (रूपं स्वभावे सौंदर्ये नामगे पशु शब्दयोः मेदिनी)। अनुसार = पीछा करना।

[२८]

उस बड़ी शबर सेना के बीच में मैंने शबर सेनापति को देखा। जैसा मुझे पीछे मालूम हुआ उसका नाम मातंगक था। आयु अभी नई थी। अति कर्कश शरीर जैसे लोहे का बना हुआ था। उसकी मसें अभी भीन रही थीं मानों पहली पहली मदलेखा से सुशोभित गंडस्थल युक्त कोई गज-कुमार हो। उसके शरीर का रंग नीला था। कंधों तक लटकते हुए कुटिल केश गजमद से गीली शेर की अयाल जैसे लगते थे। उसका माथा चौड़ा था। नासिका बड़ी और ऊँची थी। बाएँ कान में भुजंग के फन की चमकती हुई मणि उसके शरीर के वाम भाग को लोहित बना रही थी। तत्काल मारे हुए हाथी के गंडस्थल के मद से उसने अपने शरीर पर काले अगुरु जैसा अंगराग लगाया था जिसमें से सप्तपर्ण की सी सुगंधि उठ रही थी। उस से खिंचे हुए भौंरे नाचते हुए मोर के पंखों के जैसा छत्र उसके ऊपर बना रहे थे। कान में खोंसे हुए पल्लव की हलकी वायु कपोल के स्वेद को सुखा रही थी मानों उसके भुजबल से जीती हुई और भयवश सेवा के लिये आई हुई स्वयं विंध्याटवी अपने हाथ से पसीना पोंछ रही थी। अपने लाल डोरों वाली दृष्टि से वह दिशाओं को रँग रहा था मानों हरिण कुल के काल-रात्रि की संध्या हो। घुटनों तक लंबे उसके दोनों भुजदंड हाथी की सूँड के समान थे। भगवती चंडिका को रुधिर बलि चढ़ाने के लिये शस्त्रों पर धार रखने के कारण उसके हाथ बड़े कर्कश हो गए थे। उसका वक्ष स्थल विंध्याचल की शिला के समान चौड़ा था। उस पर हिरनों के रक्त की सूखी हुई बूँदे स्वेदकण के साथ मिलकर घुँघची और मोतियों को मिलाकर गूँथे हुए हार जैसी लग रही थीं। निरंतर व्यायाम करने से उसका उदर-भाग छँट कर ऐसा गोल हो गया था मानों खराद पर चढ़ाया गया हो।[1] उसके दोनों उरुदंड हाथी बाँधने के खंभे जैसे लगते थे। रेशमी वस्त्र लाखी रंग से रँगा हुआ था। विना कारण भी उसके क्रूर ललाट पर त्रिपताका युक्त उग्र भौंहें ऐसी लगती थीं मानो कात्यायनी दुर्गा ने उसे अपना भक्त जान कर त्रिशूल से दाग दिया हो।[2]

१—शारीरिक सौंदर्य के गुप्तकालीन आदर्श में शरीर के मध्यभाग को खरादा हुआ जैसा कहा जाता था। रघुवंश ६।३८ में कालिदास ने इस विशेषता का उल्लेख किया है (विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्य' 'त्वष्ट्रेव यंत्रोल्लिखितो विभाति)। हर्षचरित में भी शबर युवक के वर्णन में उसे यंत्रोल्लिखित अश्मसार स्तंभ के समान और उसके मध्यभाग को प्रथम यौवनोल्लिख्यमान मध्यभाग कहा है।

२—इस प्रकार की त्रिपताका आकृतियुक्त भ्रकुटि की उपमा उग्र पुतली से दी जाती थी। या जैसा यहाँ कहा है वह माथे पर लगा हुआ त्रिशूल का चिह्न जैसा ज्ञात होता था। हर्षचरित के शबरयुवा निर्घात की तनी भौंहें के बीच में भी त्रिशाख अर्थात् तीन साँकों वाले त्रिशूल की आकृति का उल्लेख आया है (हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १८६, चित्र ६०)। अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी के खिलौनों में

शबरों के पीछे अनेक रंग के प्रचंड कुत्तों का झुंड चल रहा था। वे उनसे इतने हिले हुए थे कि इशारे पर पीछे पीछे भाग रहे थे। थकान के कारण उनकी लाल-लाल जिह्वाएँ बाहर लटक रही थीं। यद्यपि वे सूख गई थीं पर ऐसा जान पड़ता था मानों उनसे हिरन के रक्त की बूँदें झर रही हों। उनके मुँह खुले हुए थे जिससे दाँतों की किरणें मुँह के कोनों पर छिटक रही थीं और ऐसा लगता था मानों सिंहों के अयाल के बाल उनकी दाढ़ों में फँस गए हों। उनके गले में स्थूल कौड़ियों की मालाएं थीं। बनैले सूअरों के साथ भिड़न्त करने से उनकी दाढ़ों के प्रहार से कुत्तों के शरीर चुटैल हो गए थे। वे आकृति में छोटे होते हुए भी महाबली थे। और अयालहीन छोटे सिंघेलों (सिंह-शावक) के समान हिरनों का शिकार करने में सधे थे। उनके साथ भारी कदवाली कुत्तियों का भी एक झुंड था, मानों शेरनियां शेरों के लिये प्राण-भिक्षा माँगने आई थीं।

सेनापति के साथ शबरों का झुंड चल रहा था। कुछ हाथों में चँवर और हाथियों के दाँत लिए थे। कुछ ने शहद के छत्तों को घने पत्तों में लपेटकर हाथ में लटका लिया था। कुछ की मुट्ठियों में शेरों के पंजों की तरह गजमोती भरे हुए थे। कुछ पिशाचों की तरह मांस का ढेर लादे हुए चल रहे थे। कुछ शिवगणों के समान बाघम्बर लपेटे थे। कोई अपने हाथों में क्षपणकों की तरह मोर-पिच्छी लिए थे। कोई बालों में कौओं के पंख खोंसने के कारण काकपक्षधर शिशुओं से लगते थे। कुछ ने हाथी के दाँत उखाड़कर हाथों में ले रखे थे, मानों कुवलयापीड़ का बध करने वाले कृष्ण के रूप का प्रदर्शन कर रहे हों। कुछ ने मेघों के रंग जैसे काले वस्त्र पहन रखे थे।

शबरों के स्वामी ने कमर की पेटी में कटारी (खड्गधेनुका) खोंस रखी थी। उसका धनुष मोर के पंखों से सजाया हुआ था। उसके एक हाथ में चक्र था। वह बड़े बड़े हाथियों के दाँत उखाड़ चुका था। मोरों का वह शत्रु था। मृगों को मारने की उसकी प्यास कभी बुझती न थी। वह अहंकार में चूर था। उसके शरीर की गंध दूर तक फैल रही थी। देखने में अत्यंत भयंकर वह सजावट के लिये मोर पंख के पेच लगाए हुए था। बनैले सूअरों ने अपने दाढ़ों से उसकी छाती चुटैल कर दी थी। उसके साथ में राग गुन-गुनानेवाले बहुत से बंदीजन थे। अनेक बहेलियों और निषादों की टोली साथ थी। भैंसों के रक्त से लथपथ उसका शरीर कात्यायनी के त्रिशूल जैसा था। उसे जंगली फल मूल खाने का चाव था। वह विंध्याचल का पुत्र, यमराज का अंशावतार, पाप का सहोदर और कलि-युग का निचोड़ा हुआ अंश जान पड़ता था।

[२६]

उसे देखकर मैंने सोचा—'अहो इन लोगों का जीवन कितना निंदित है। मधु-मांस ही इनका आहार है। मनुष्यों तक को खा जाना ये धर्म समझते हैं। शिकार ही इनका

गुप्तकालीन एक नृसिंह-मूर्ति में त्रिशूल से अंकित जैसी त्रिपताक भ्रकुटी का स्पष्ट चित्रण पाया जाता है। दे० अहिच्छत्र के खिलौनों पर मेरा लेख (एंशेंट इंडिया संख्या ४, चित्र सं० १०८)।

व्यायाम[1] है। शृंगालियों का रोना ही इनके लिये वेद पाठ है। उल्लू ही इनके उपदेशक हैं। चिड़ियों के बारे में जानना ही इनकी समझ का नाप है। कुत्ते इनके संगी साथी हैं। सूने जंगलों पर इनका राज है। पान-गोष्ठियाँ इनके उत्सव है। क्रूर कर्मों के साधन धनुष ही इनके मित्र हैं। विषधर साँपों की तरह बाण ही इनके सहायक हैं। निष्ठुर बाघों के साथ ये रहते हैं। पशुओं के रुधिर से अपने देवताओं को पूजते और मांस की बलि चढ़ाते हैं। लूट-पाट ही इनकी जीविका है। साँपों की मणियाँ ही इनके आभूषण हैं। जंगली हाथियों का मद ही इनका अंगराग है। जिस वन में ये पहुँच जाते हैं उसी को जड़ मूल से उजाड़ कर देते है।'

मैं यह सोच ही रहा था कि वह शबर सेनापति अपनी थकान मिटाने के लिये उसी सेमल के पेड़ के नीचे आकर रुका। उसने धनुष उतार कर रख दिया और संगी-साथियों द्वारा जल्दी से बिछाए हुए पत्तों के आसन पर बैठ गया। उनमें से एक शबर फुर्ती से सरोवर की ओर गया और दोनों हाथों से उसे झकोलकर उसका शीतल स्वच्छ जल कमलिनी के चौड़े पत्तों से बने हुए दोने में ले आया और अच्छी तरह कीचड़ धोकर कुछ कमल-ककड़ियाँ भी ले आया। सेनापति ने पहले जल पिया और फिर कमल-ककड़ियों को दाँतों से चखा। थकान मिटाकर वह उठा और जल पीकर निश्चिंत हुए अपने सब साथियों को लेकर धीरे-धीरे एक ओर चला गया।

[३०]

उनमें से पिशाच की तरह भयंकर आकृतिवाला एक बुड्ढा शबर जिसे हिरन का मांस नहीं मिला था उसी पेड़ के नीचे और मुहूर्त भर रुका रहा। शबर सेनापति के ओझल हो जाने पर वह बुड्ढा उस पेड़ पर चढ़ने की इच्छा से बहुत देर तक उसे जड़ से ऊपर तक देखता रहा। वह भीषण भौंहों वाली अपनी लाल दृष्टि से मानों हमारे आयुर्बल को सोख रहा था। बाज की तरह पक्षियों के मांस का लोलुप वह उस पेड़ पर रहनेवाले सुग्गों को अपनी दृष्टि से जैसे गिन रहा था। उसके देखने से भयभीत हुए सुग्गों के प्राण उसी समय निकल गए। ऐसे निष्ठुरों के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं। वह उस ऊँचे पेड़ पर बिना आयास के ऐसे चढ़ गया जैसे सीढ़ी पर चढ़ते हैं और ऊपर पहुँचकर उड़ने में अशक्य उन सुग्गों के बच्चों को शाखा और कोटरों में से खींच-खींचकर सेमल के फलों की तरह पकड़ने लगा। उनमें से कुछ बच्चे तो इतने थोड़े दिन के थे कि उनके गर्भ की लाली भी न मिटने पाई थी और वे सेमल के लाल फूल से लगते थे। किन्हीं बच्चों के अभी

१—श्रम=व्यायाम। श्रम का यह पारिभाषिक अर्थ था (मल्लकलाभ्यास)। हेमचंद्रकृत कुमारपालचरित में व्यायामशाला को श्रमगृह (१।६०) कहा गया है जहाँ मल्लविद्या से लेकर धनुरभ्यास तक की क्रियाएँ की जाती थीं। शूद्रक के वर्णन में भी श्रम शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (श्रमवशादुन्मिषतीभिः स्वेदजलकणिकाभिः, अनु० १३)। आजकल इस अर्थ में श्रम के स्थान पर रियाज़, मशक्कत शब्द चल गए हैं।

पल्लवों ने फुटाव लेना शुरू किया था और वे कमल के नये[1] दलों के समान सुहावने लगते थे। कुछ और बड़े बच्चे आक के फल जैसे लग रहे थे। कुछ की लाल चोंच की कोर अभी पूरी तरह खुल भी न पाई थी। ऐसे उन सबके प्राण ले लेकर वह उन्हें धरती पर फेंकने लगा।

[३१]

पिता ने उस प्राणहर विघ्न को अकस्मात् आया देख काँपते हुए शरीर से अपनी आँसू भरी दृष्टि इधर उधर फेंककर और कुछ उपाय न देखते हुए मुझे अपने पंखों से ढक लिया और छाती से चिपटाकर बैठ गए। वह पापी भी दूसरी शाखाओं पर होता हुआ क्रम से हमारे कोटर के सामने आ गया और उसने काले साँप की तरह भीषण अपनी बायीं भुजा फैलाकर बनैले सूअर की तरह चर्बी से गंधाते हाथ से मेरे पिता को खींच लिया। यद्यपि पिता ने बार-बार चोंच चलाकर उस पर प्रहार किया पर उस पापी ने उनके प्राण ले ही लिए। एक तो मैं छोटा था, दूसरे मेरा शरीर सिकुड़ गया था, तीसरे आयुर्बल भी शेष था, इसलिये पंखों के नीचे छिपे हुए मुझे वह नहीं देख पाया। पिता के मृत शरीर को जिसकी गर्दन झूल गई थी उसने नीचे फेंक दिया। मैं भी उनके चरणों के बीच में अपना सिर रक्खे हुए चुपचाप उनकी छाती से सटकर उन्हीं के साथ गिर गया। हवा ने वहां जो सूखे पत्तों का ढेर इकट्ठा कर दिया था, कुछ पुण्य शेष रहने के कारण मैं उसी पर गिरा। इसलिए मेरे अंग टूटे नहीं। जब तक वह उस पेड़ के शिखर से उतर भी न पाया था उससे पहले ही मैं सूखे पत्तों से मिलते हुए अपने रंग के कारण अलग न पहचाना जाकर निष्ठुर हृदय से मृत पिता को वहीं छोड़कर छोटे पखनों के सहारे लुढ़कता हुआ मानों यमराज के मुँह से निकलकर पास ही के एक तमाल वृक्ष की जड़ के निकट चला गया। यद्यपि पितृ-वियोग के उस गाढ़ दुःख के समय मुझे प्राण छोड़ देने चाहिए थे तो भी जो बड़े होने पर स्नेहरस उत्पन्न होता है वह बालपन के कारण उत्पन्न न हुआ था और जन्म के साथ ही पीछे लगनेवाला भय मुझे दबोच रहा था। इसलिये मुझे प्राण बचाने की ही चिन्ता अधिक थी।

[३२]

ऊपर से उतरकर उस शबर ने पृथिवी पर फैले हुए उन सुग्गों के बच्चों को इकट्ठा किया और सबको बेल के फंदे में लपेटकर बाँध लिया और पत्तों के एक बड़े दोने में रखकर जिधर सेनापति गया था उधर ही वह जल्दी से चला गया। मुझे जीवन की कुछ आशा हुई, पर पितृमरण के ताजे शोक से हृदय सूख रहा था और ऊपर से गिरने के कारण शरीर भी दर्द कर रहा था। इन कारणों से और भय के कारण भी सारे शरीर को भून डालने वाली जोर की प्यास मुझे लगी और मैं बेबस हो गया। इतने थोड़े समय में ही वह पापी दूर निकल गया होगा यह सोचकर मैंने अपनी गर्दन कुछ फैलाई और डरकर

१—नलिन संवर्तिका=कमल के नये पत्ते। संवर्तिका नवदलम्, अमरकोश।

इधर उधर देखने लगा। तृण का खटका होने पर भी मुझे उस पापी के पुनः लौट आने की आशंका होती थी। इस प्रकार डरते-डरते उस तमाल वृक्ष के नीचे से निकलकर मैं जल के पास पहुँचने का प्रयत्न करने लगा।

[३३]

अभी न तो पंख ही निकले थे और न चाल ही दृढ़ हुई थी। इसलिये बार-बार मुँह के बल गिर जाता और कभी एक ओर को लुढ़क जाता। तब एक ही करवट के सहारे पृथिवी पर रेंगने का प्रयत्न करने लगता, पर अनभ्यास के कारण एक पैर चलकर ही मेरी साँस फूलने लगती। इस प्रकार धूल में सना हुआ मैं सोचने लगा—'अत्यंत कष्ट की अवस्था में भी प्राणी जीवन की आशा नहीं छोड़ता, यही संसार की प्रवृत्ति है। इस जगत् में सब जीवों को प्राणों से बढ़कर और कुछ प्यारा नहीं। तभी तो पिता के मरने पर होश-हवाश ठीक रहने पर भी जी रहा हूँ। मेरे जैसे कर्महीन, अतिनिष्ठुर और अकृतज्ञ को धिक्कार है। अहो, पिता के मरण शोक को सहने की भीषणता को लिए हुए मैं जी रहा हूँ। उनके किये उपकारों का भी मुझे ध्यान नहीं है। अवश्य मेरा हृदय बड़ा कृतघ्न है। जब मेरी माता परलोक चली गई थी तो उस विरह शोक को रोककर पिता ने वृद्ध होते हुए भी जन्म दिन के बाद से ही स्नेहवश कष्ट की परवाह न करके अनेक उपायों से मेरा लालन-पालन किया था। पर मैंने वह सब एक साथ ही भुला दिया। अवश्य मेरे प्राण बड़े लालची हैं जो ऐसे उपकारी पिता के साथ आज वे भी नहीं चले जाते। जीवन की तृष्णा किसे तुच्छ नहीं बना डालती जो ऐसी दशा में भी जल की अभिलाषा मुझे सता रही है? मैं तो यही समझता हूँ कि पिता के मरण शोक को कुछ न गिनकर जल पीने की यह इच्छा केवल निष्ठुरता ही है। और अभी भी सरोवर का किनारा तो दूर ही है क्योंकि जल देवता के नूपुरों की तरह झंकारनेवाली बत्तकों की रटन दूर जान पड़ती है। सारसों का कलरव भी साफ नहीं सुनाई पड़ता। कमलिनी की सुगंधि भी दूर के कारण अभी नहीं आ रही है। दिन की हालत अत्यन्त कष्टदायक हो गई है। सूर्य आकाश के मध्य में पहुँच चुके हैं। उनकी किरणें बराबर चिनगारियाँ बरसा रही हैं। पृथिवी की जलती हुई बालू और भी अधिक प्यास उत्पन्न कर रही है। प्यास के कारण अंगों में चलने की शक्ति बिल्कुल नहीं बची। अब मैं लाचार हो गया हूँ। हृदय बैठा जाता है और आँखों में अँधेरा छा रहा है।'

[३४]

मैं इस प्रकार सोच ही रहा था कि उसी समय उस सरोवर से थोड़ी दूर पर रहने वाले जाबालि नाम के तपस्वी के पुत्र हारीत नामक तापस कुमार अपने साथ तपोधन ऋषिकुमारों को लिए हुए उस सरोवर में स्नान करने के लिये आए। सनत्कुमार के समान वे सब विद्याओं से पवित्र थे सूर्य के समान उनके मुख की ओर कठिनाई से देखा जाता था। सूर्य के रश्मिमंडल को उत्कीर्ण करके मानों उनका स्वरूप बना था। विद्युत् से जैसे उनके अंगों का निर्माण हुआ था। तपाए हुए सोने का द्रव मानों

उनके शरीर के बाहर पोता गया था। उनकी छिटकती हुई पीली देह कांति से ज्ञात होता था कि प्रातःकाल की धूप खिली है, या वन में दावानल की ज्योति फैल गई है। तपाए हुए लोहे सी चमकीली और अनेक तीर्थों में स्नान करने से पवित्र उनकी जटाएँ कंधों पर लटक रही थीं और शिखाओं का एक जुट्टा सिर के ऊपर बँधा था। ज्ञात होता था कि खाण्डव वन का दाह करने के लिये भगवान अग्नि ने ब्रह्मचारी का कपट वेश बना लिया हो। उनके दाहिने कान में बिल्लौर के मनकों की माला थी जो धर्मशासन के कटक के समान लगती थी।[1] उनके ललाट पर भस्म का त्रिपुंड्र था मानों विषयों से पराङ्मुख रहने के लिये त्रिसत्य[2] व्रत धारण किया हो। बाएँ हाथ में बिल्लौर का बना हुआ कमंडलु[3] था जिसकी ग्रीवा बलाका की ग्रीवा के समान लंबी और ऊपर उठी हुई थी। नीले और पीले मिले हुए रंग का कृष्णाजिन कंधे से लटक रहा था मानों तपस्या के समय पिए हुए धुएँ को वे फिर बाहर निकाल रहे थे।[4] उनके बाएँ कंधे पर यज्ञोपवीत सुशोभित था जो अत्यंत महीन कमल-तंतुओं को बटकर बनाया गया था। वह हवा से हिलता हुआ मानों उनकी निर्मांस पसलियों को गिन रहा था। उनके दाहिने हाथ में पलाश का दंड था जिसके सिरे के पास देवार्चन के लिये चुने हुए वन पुष्पों से भरा हुआ एक दोना हाथ में था। उनके पीछे-पीछे तपोवन का हिरन चल रहा था। उसने अपने सींग से मुनि के स्नानार्थ कुछ मिट्टी खोद ली थी जो सींग

१—धर्मशासन कटक – धर्मशासन का तात्पर्य ताम्रपत्रों से है जो ब्राह्मणों के भूमिदान के लिये राजाओं द्वारा लिखाकर दिए जाते थे। ताम्रपत्र के ऊपर की ओर बीचों बीच में ताँबे का गोल कड़ा डाला जाता था जिसमें राजमुद्रा अंकित करके पहनाई जाती थी। उसे धर्मशासन कटक कहते थे। इस प्रकार के बहुत से ताम्रपत्र और उनमें पिरोये हुए कड़े प्राप्त हुए हैं। हारीत के दाहिने कान पर लटकाई हुई छोटी अक्षमाल लगभग उतनी ही बड़ी थी जितनी ताम्रपत्र के गोल कड़े होते हैं।

२—'त्रिसत्या वै देवाः' यह वैदिक कल्पना थी, अर्थात् मनसा वाचा कर्मणा किया हुआ त्रिविध सत्य संकल्प देव सत्य कहलाता है। किसी भी संकल्प के विषय में जब तक मन, प्राण और शरीर सत्य को न पकड़े तब तक वह संकल्प मूर्तरूप ग्रहण नहीं कर सकता अर्थात् सत्यात्मक नहीं बन सकता।

३—कमंडलु की यह आकृति गुप्तकाल की मूर्तियों के बाएँ हाथमें पकड़े हुए अमृत-कलश को देखने से ही स्पष्ट समझ में आती है। इन अमृत-कलशों का ग्रीवा भाग अपेक्षाकृत लंबा, पतला और ऊपर को उठा हुआ होता है और ग्रीवा के ऊपरी सिरे के पास पानी निकलने के लिए छोटी टोंटी रहती है। अमृत-कलश के नीचे का लंबोतरा भाग, उसकी ग्रीवा और टोंटी-तीनों मिलकर बलाका का पूरा दृश्य बनाते हैं।

४—कंधे पर कृष्णाजिन का लटकाना गुप्तकालीन तपस्वी और ब्रह्मादिक देवताओं की मूर्तियों में प्रायः देखा जाता है। देवगढ़ मंदिर की नर-नारायण मूर्ति में भी वह है।

के सिरे पर लगी हुई थी। मुनियों ने उसके साथ स्नेह बढ़ाकर मुट्ठियों से नीवार धान्य खिलाकर उसे पाला था। मार्ग में कुशा, पुष्प और लताओं को देखती हुई उस मृगछौने की चंचल दृष्टि लोभ कातर खिन्न हो रही थी।

उनके शरीर के मध्यभाग में मेखला बँधी थी। वे अनेक बार सोम पान कर चुके थे। पंचाग्नि-तापन के समय उन्होंने सूर्य-मरीचियों का भी पान किया था। जल द्वारा निरंतर प्रक्षालन से उनकी जटाएँ स्वच्छ थीं। उनके दाँत खिले कुमुद के दल की भाँति शुभ्र थे। वे करुणा से भरे हुए, दोषों से रहित और रजोगुण को शांत कर चुके थे। निगूढ़ मंत्र साधन से उन्होंने अपना शरीर कृश कर लिया था। योग-साधना में वे महालय-प्रवेश[1] तक सिद्ध कर चुके थे।

[३५]

प्राय: संतों के चित्त करुणा से आर्द्र होते हैं और वे सबके प्रति निष्कारण मैत्री का व्यवहार करते हैं। उन्होंने भी मुझे उस अवस्था में देखकर दयार्द्र भाव से साथ के मुनि-कुमार से कहा—'यह सुग्गे का बच्चा जिसके अभी पखने भी नहीं निकले हैं इस पेड़ की चोटी से गिर गया है, अथवा किसी बाज के मुख से छूटकर गिर पड़ा है। देखो, बहुत दूर से गिरने के कारण इसमें थोड़ी प्राणशक्ति बची है। यह आँख मींचे हुए बार-बार मुँह पटक रहा है, गहरी साँस ले रहा है और अपनी चोंच खोल रहा है। इसकी गर्दन भी नहीं ठहरी है। तो जब तक इसमें साँस है तभीतक इसे लेकर जल के समीप पहुँचाओ।' यह कहकर वे मुझे सरोवर के समीप लिवा ले गए। जल के पास जाकर उन्होंने अपना दंड-कमंडलु एक ओर रख दिया और अपने हाथ से मेरा मुँह उठाकर कुछ जल-विंदु उसमें डाले। जल के सिंचन से मुझमें नई प्राणशक्ति आई। तब उन्होंने मुझे तट के समीप उगे हुए कमलिनी के पत्ते की शीतल छाया में रख दिया और स्वयं स्नान करने लगे। स्नान के अंत में अनेक प्राणायामों से अपने आपको पवित्र करके और पवित्र अघमर्षण मंत्रों का जाप करके टटके खिले हुए रक्तारविंद पुष्पों के साथ कमलिनी के दोने में जल भरकर भगवान् सविता देव को अर्घ्य दिया। फिर उन्होंने अपना धोया हुआ श्वेत वल्कल लिया और हाथ से जटाओं को फटकार कर स्वच्छ किया तथा कमंडलु में जल भरकर मुनि कुमारों के साथ मुझे लेकर धीरे धीरे तपोवन की ओर लौटे।

१—भानुचंद्र के अनुसार कुंडली को ऊर्ध्वमुख करके ब्रह्मरंध्र पर्यन्त उसकी शक्ति का उत्थान करना ब्रह्म में लीन होना या महालय प्रवेश कहा जाता था—अधोमुख्या कुंडलिन्या ऊर्ध्वमुखे कृते सति ब्रह्मरंध्रपर्यंतं नीतायां तस्यामेकांतेनावस्थानं ब्रह्मणि लय इति। यद्वा महालयो मोक्षः।

[३६]

कुछ ही दूर जाकर मैंने दूसरे ब्रह्मलोक के समान एक अति सुन्दर आश्रम देखा। वहाँ हरएक दिशा में फूल और फल लदे हुए थे। उसके जंगलों में ताल, तमाल, हिंताल, तिलक, बकुल, इलायची की लताओं से आलिंगित नारियल, लोध्र, लवली, लवंग, आम्र, सहकार आदि वृक्ष भरे हुए थे। कहीं केतकी की धूल हवा में उड़ रही थी। कहीं वनदेवियों के झूलने के लिये पूगी लता के झूले से बने थे। कहीं आम्र-मंजरी की धूल वायु में फैल रही थी। कहीं मतवाली कोयल और भौंरे कोलाहल मचाए थे। हवा वृक्षों के पुष्पों की वर्षा सी कर रही थी। आश्रम के चारों ओर दण्डकारण्य की भूमियाँ फैली हुई थीं। किसी में कृष्णसार मृग निर्भय घूम रहे थे। कहीं लाल कमलिनियाँ फूल रही थीं। कहीं मारीच ने मायावेश[1] में बेलों के पत्ते टूँग लिए थे। कहीं की भूमि उन गड्ढों से ऊँचो-नीची लग रही थी जहाँ राम ने अपने धनुष की नोक से कंद खोदे थे। वहाँ समिधा, दर्भ, पुष्प और मृत्तिका हाथ में लिये हुए वेदपाठी शिष्यों के साथ मुनिगण चारों ओर से प्रवेश कर रहे थे। कहीं मोर जल में कलश भरने की डुग-डुग ध्वनि उत्कंठित होकर सुन रहे थे कि मेघों की मंद ध्वनि तो नहीं है। कहीं निरन्तर आज्याहुति से प्रसन्न अग्नियाँ अपनी धूमलेखाओं से मुनि-जनों को सशरीर स्वर्ग ले जाने के लिये मानों सोपान मार्ग रच रही थीं। आश्रम में अनेक वापियाँ (दीर्घिका) आस-पास में बनी हुई थीं। तपस्वियों के संपर्क से मानों उनका जल स्वच्छ हो गया था। उनकी तरंगों में सूर्य का प्रतिबिंब पड़ रहा था। तपस्वियों के दर्शन के लिये आए हुए सप्तर्षि उनमें अभिषेक करते थे। कुछ में कुमुद-पुष्प खिले थे, मानों ऋषियों की उपासना के लिये रात में ग्रह-गण आकाश से पृथिवी पर उतर आए हों। वायु से विकंपित वन-लताएँ अपने मस्तक झुकाकर उस आश्रम को प्रणाम कर रही थीं। वृक्ष अपने पुष्प बखेर कर और पल्लवों की अंजलि बाँधकर उसकी अर्चना कर रहे थे। कुटियों के आँगन में फैलाया हुआ सावाँ सूख रहा था। उनमें आँवला, लवली, बेर, केला, लकुच, कटहल और ताड़ के फल एकत्र करके रक्खे गए थे। आश्रम के छोटे माणव वेद पढ़ने में मुखर थे। आहुति-प्रक्षेप के समय जिस वषट्कार[2] का उच्च उच्चारण होता था सुग्गे भी उसे रटने लगे थे। वहाँ सारिकाएँ भी सुब्रह्मण्या मंत्र का उद्घोष करने लगीं थीं। जंगली कुक्कुट वैश्वदेव-बलि के पिंड खाने के लिए एकत्र हो जाते थे। पास की वापियों से कलहंसों के बच्चे नीवार-बलि खाने के लिये आ जाते थे। स्नेह भरी हिरनियाँ अपनी जीभ से मुनिकुमारों को चाटती थीं। अग्निहोत्र के समय आधी जली हुई समिधाएँ,

---

१—माया मृग से एक बार छिन्नदल होने के बाद वे बेलें फिर नहीं पनप सकीं, यह कवि की व्यंजना है। जिसे एक बार कपट ने छू लिया वह फिर अपने पूर्व-रूप में नहीं आ सकता।

२—यज्ञ में वषट्कार का उच्चारण 'वौ३षट्' इस प्रकार बहुत उच्च स्वर में किया जाता है जैसा पाणिनि सूत्र में कहा है (उच्चैस्तरां वा वषट्कारः)।

कुश और पुष्प देर तक सिमसिमाते रहते थे। तोड़े हुए नारियल के रस से आश्रम की सिलें गीली हो रही थीं। वल्कलों के ताजे चुए हुए कस्सों से भूमि लाल हो रही थी। लाल चन्दन से लिखे हुए सूर्य मंडल की पूजा के लिये करवीर के फूल चढ़ाए जा रहे थे। मुनि-जनों के भोजन के लिये चौके की भूमि भस्म की रेखा खींचकर अलग कुंडलित कर दी गई थी। सिखाए हुए लंगूर बुड्ढे और अंधे तपस्वियों को हाथ पकड़कर बाहर भीतर लाते ले जाते थे। हाथियों के बच्चों ने जो कमल-नाल आधे-आधे खाकर आश्रम में जहाँ तहाँ गिरा दिए थे वे देवी सरस्वती की बाहु से गिरे हुए श्वेत शंखवलय जैसे लग रहे थे। हिरन के सींगों से ऋषियों के खाने के लिये भूमिकन्द खोदे जा रहे थे। जंगली हाथी कमलदल के बड़े दोनों में जल भरकर वृक्षों के आलवाल सींच रहे थे। बनैले सूअरों की दाढ़ों में जो कमल-कंद फँस गए थे उन्हें ऋषि बालक खींचकर निकाल रहे थे। हिले हुए मोर पास आ-आकर अपने पंखों से मुनियों की होमाग्नि चिता रहे थे। यज्ञ के लिये पकाए जाते हुए ब्रह्मौदन की गंध से आश्रम सुवासित हो रहा था। अग्नि में निरंतर आज्यधारा की आहुति पड़ने से सूँ-सूँ की ध्वनि उठ रही थी। आश्रम में आए हुए अतिथियों को सम्मानित किया जा रहा था। पितरों की पूजा और हरि हर पितामह की अर्चा का प्रबंध हो रहा था। वहाँ सोद्दिष्ट श्राद्ध कल्प का विधिवत् पालन किया जाता था, यज्ञ विद्या की व्याख्या की जाती थी, धर्मशास्त्रों की मीमांसा होती थी, विभिन्न ग्रंथ बाँचे जाते थे और समस्त शास्त्रों के अर्थों का विचार किया जाता था।

वहाँ मुनियों के रहने के लिए पर्णशालाएँ बनाई जा रही थीं, आँगन लीपे जा रहे थे और कुटियों के भीतर सफाई हो रही थी। कहीं मुनि ध्यान लगा रहे थे, कहीं मंत्र सिद्ध किये जा रहे थे और कहीं योग का अभ्यास किया जा रहा था। कुछ लोग वन-देवताओं को बलि दे रहे थे। कुछ मूँज की मेखला बना रहे थे। कुछ पहनने के वल्कल कचर रहे थे। कुछ समिधाएँ बीन रहे थे। कुछ मृगचर्म को पहनने योग्य बना रहे थे।[1] कुछ जंगल में पककर गिरा हुआ गडहेरुआ (गवेधुका) चावल बटोर रहे थे। कुछ कमलों के पके हुए कमलगट्टे निकाल कर सुखा रहे थे। कुछ मुनि कुमार अक्षमालाएँ गूँथने में लगे थे। कुछ बेंत के पेड़ों से डंडे बना बनाकर रख रहे थे। कुछ आश्रम के परिव्राजकों की कुटियों को ठीक-ठाक कर रहे थे, और कुछ कमंडलु भर कर ला रहे थे। उस आश्रम में कभी कलियुग का प्रभाव न देखा गया था, अनृत ने कभी उधर झाँका भी न था, कामदेव के विषय में किसी ने सुना

१—उपसंस्क्रियमाण कृष्णाजिनम्—उपसंस्क्रियमाण विशेष पारिभाषिक शब्द के रूप में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। मुनियों को जो मृगचर्म मिलते थे उन्हें उसी रूप में धारण करना संभव न था और आश्रम से बाहर भेजकर भी उन्हे तैयार कराना आत्मनिर्भर मुनियों के लिए उचित न था। अतएव वे स्वयं बबूल आदि का कस्सा इकट्ठा करके उन चमड़ों को सिझाकर कमाते थे (कच्चे चमड़े को तैयार करने की क्रिया कमाना या झँवाना कही जाती है)।

भी न था, त्रिभुवन के सब लोग उसकी वंदना करने आते थे। वहाँ सूअर और नर शेर[1] जैसे पशु (रूप) प्रकट घूमते थे। साथ ही आश्रम में अनेक कपिला गाएँ भी थीं। कहीं तगड़ी मस्तानी हथिनियाँ[2] बिथुर रही थीं। कहीं कलोर बछड़े आनन्द से किलोल कर रहे थे। कहीं मुनि कुमार अपने हाथ से जलपूर्ण कलश लेकर द्रुमों[3] को सींच रहे थे। आश्रम के घने वनों में सिंह सुख से सोते थे। पास में ही जल के झरने झर रहे थे। बहेड़े के सूखे फलों को सिल-लोढ़े से तोड़कर उनकी गुठलियाँ रक्खी जा रही थीं। वहाँ जो मूँज, सरपत, कुशादिक के जंगल थे उनका ऊपरी कांडभाग काट लेने के बाद पेड़ियाँ जलाई जा रही थीं।[4] आश्रम में सदा सुगंधित हव्य प्रदार्थों के जलाने से धूम गंध उठती रहती थी। वह सर्वथा प्रशांत था और उसमें वृक्षों का गहन अंधकार छाया रहता था।

[३७]

जहाँ कलौंस अग्निहोत्र के धुएँ में दिखाई पड़ती थी, मुनिजन के चरित्रों में नहीं; मुँह की लाली सुग्गों में थी, कोप में नहीं; तीक्ष्णता कुशाओं के अग्रभाग में थी, मानव के स्वभाव में नहीं; चंचलता केले के पत्तों में थी, मुनियों के मन में नहीं; नेत्रराग (आँखों की लाली) कोयलों में थी, पराई स्त्रियों के लिये चक्षुराग (वासना भरी दृष्टि) नहीं;

१—प्रकटित वराह नरसिंह रूपम्—नरसिंह=नर शेर।

२—मधुरोपवनमिव बलावलीढदर्पित धेनुकम्—वह आश्रम मथुरा के उस उपवन जैसा लगता था जहाँ अपने बल का घमंडी धेनुकासुर रहता था। आश्रम-पक्ष में धेनुका शब्द का अर्थ जंगली हथिनियाँ है (करिणी धेनुका वशा, अमर २।८।३८)। यद्यपि यह विशेष अर्थ अमरकोश में आया है और बाण में भी है किंतु मौनियर विलियम्स के कोश में रह गया है। कादम्बरी के टीकाकार भानुचंद्र को भी इसका यह दूसरा अर्थ नहीं लगा।

३—किंपुरुषाधिराज्यमिव मुनिजनगृहीत जलकलशाभिषिच्यमानद्रुमं—यहाँ द्रुम शब्द दूसरे अर्थ में किंपुरुष देश के राजा का नाम था। इसके राज्य को अर्जुन ने उत्तर दिशा की दिग्विजय करते हुए जीत लिया था (दिशं किंपुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम्, सभापर्व २५।१; सभापर्व के क्षेपक श्लोक ४१० में भी किंपुरुषेश्वर द्रुम का उल्लेख है)। खोतन से मिले हुए सुधन अवदान में भी उसकी कहानी आई है (लंदन ओरियंटल स्कूल की पत्रिका, भाग १३, १९५१, पृ० ६२१, बेली का इरानो-इंडिका लेख)। हर्षचरित में बाण ने हिमालय प्रदेश के अधिपति द्रुम का उल्लेख किया है (सहिमहिमवद्द्रघवहितोऽप्युवाह बहुबलव्यतिकरकातरः करं कौरवेश्वरस्य किंकर इवाकृतो द्रुमः, हर्ष० पृ० २१३)।

४—खांडवविनाशोद्यतार्जुनमिव प्रारब्धाग्निकार्य—यहाँ 'अग्निकार्य' का एक अर्थ तो 'खांडव वन जलाना' है, दूसरा अर्थ भानुचंद्र ने 'होम' किया है पर वह अर्थ ठीक नहीं बैठता क्योंकि खांडववनदाह की तुलना में उसी प्रकार का वनदाह यहाँ इष्ट होना चाहिए जैसा ऊपर लिखा है।

कंठग्रह कमंडलुओं के लिये था, सुरतों में नहीं; पक्षपात (पंखों का गिरना) कुक्कुटों में होता था, विद्या-विवाद में (पक्षपात) नहीं; भ्रम (संख्या-संबंधी) अग्नि की प्रदक्षिणा में होता था, शास्त्र का अर्थ लगाने में नहीं; वसुदेवताओं का गुणगान दिव्य कथाओं में होता था, तृष्णावश (धन की चर्चा में) नहीं; गिनती रुद्राक्ष माला की की जाती थी, नश्वर शरीर में (सम्मान भावना) नहीं; मुनियों के बालों का नाश (मुंडन) यज्ञ-दीक्षा के समय होता था, मृत्यु से (मुनिकुमारों की शरीर-हानि) नहीं; रामानुराग (राम संबंधी प्रेम) रामायण में उत्पन्न होता था, यौवन से (स्त्री-प्रेम) नहीं; मुखभंगविकार (झुर्रियों का पड़ना) वृद्धावस्था से होता था, धन के घमंड से (मुँह मोड़ना) नहीं। वहाँ शकुनिवध केवल महाभारत में था, आश्रम में (पक्षिहत्या) नहीं; वायु प्रलपित (वायु द्वारा प्रवचन) उस नाम के पुराण में था, मुनियों में (उन्माद-रोग) नहीं; द्विजपतन (दाँतों का गिरना) बूढ़ी उमर में होता था, आश्रम में (ब्रह्मचारियों का स्खलन) नहीं; जड़ता (शीतलता) उपवन के चंदनों में थी, मुनियों के पास (जाड्य) नहीं, गान सुनने की आसक्ति मृगों को ही थी, मुनियों को नहीं; नृत्य-पक्षपात (नाचते हुए पंख गिराना) मोरों में होता था, मुनियों में (नृत्य की अभिरुचि) नहीं; भोग (शरीर) सर्पों में था, मुनियों में (वासना-सुख) नहीं; श्रीफल की अभिलाषा (बिल्वफल की इच्छा) वानरों को होती थी, मुनियों को (लक्ष्मी के फल की) नहीं; अधोगति (नीचे फैलना) वृक्ष की जड़ों में थी, मुनियों में (अधोगति) नहीं।

[३८]

उस आश्रम के मध्यप्रदेश में मैंने पशुपति के समान शरीर में भस्म लगाए हुए भगवान् जाबालि को एक रक्ताशोक के नीचे बैठे हुए देखा। उस वृक्ष के पल्लव जैसे किसी ने आलते से रँग दिए थे। उसकी शाखाओं पर मुनियों ने अपने कृष्ण मृगचर्म और जलपूर्ण कमंडलु टाँग रखे थे। मुनि कन्याओं ने उसके नीचे पीले ऐंपन से पंचांगुल छापे लगाए थे। हिरनों के छोटे-छोटे बच्चे उसके थाँवलों में भरा हुआ जल पी रहे थे। मुनि कुमारों ने उसके चारों ओर कुश चीर की मेखला लपेटी थी। उसकी भूमि को हरे गोबर से लीपकर पवित्र बनाया गया था, जो तत्काल बनाई हुई पुष्प रचना से और सुन्दर लग रही थी। भगवान् जाबालि के चारों ओर महर्षि बैठे हुए थे। बुढ़ापे से उनकी देह काँप रही थी, बाल पक गए थे, भौंहें टेढ़ी हो गई थीं वे चलने में डगमगाते थे और देह में यत्र-तत्र तिलमस्सों के निशान पड़ गए थे। सारे शरीर पर श्वेत भस्म लगी हुई थी। उनके सिर पर लंबी श्वेत जटाएँ थीं, मानों स्वर्ग लोक में चढ़ने के लिए पवित्र रस्सियाँ हों या बढ़े हुए पुण्यतरु की पुष्प-मंजरियां हों। उन्होंने जन्म से अपनी जटाएँ बढ़ाई थीं। ललाट पर लगा हुआ त्रिपुंड्र त्रिपथगा की धाराओं के समान सुशोभित था। लटकती हुई भौंहें देखने में कुछ बाधा करती थीं। निरंतर मंत्रपाठ करने से उनका मुँह खुला था और दाँतों की श्वेत रश्मियाँ आगे के भाग को उज्जवल बना रही थीं। निरंतर सोमपान के कारण सुगंधित हुई श्वास वायु से खिचकर भौंरे मुँह के पास मँडरा रहे थे। उनके गालों में कृशता से गड्ढे पड़ गए थे। नासिका और भी

ऊँची उठी हुई जान पड़ती थी। पुतलियाँ कुछ टेढ़ी और बरौनियाँ छीदी हो गई थीं। कान के छेद के पास रोएँ भर गए थे। दाढ़ी नाभि तक लटक रही थी। कंठ के चारों ओर उभरी हुई नाड़ियाँ दिखाई पड़ रही थीं मानों चंचल इन्द्रिय रूपी घोड़ों को बाँधने के लिये रस्सियाँ हों। उनके शरीर का अस्थि-पंजर ऊँचा और स्पष्ट दिखाई पड़ता था। कंधे पर धवल यज्ञोपवीत पड़ा हुआ था। यज्ञोपवीत के वस्त्र में हवा से पतली चुन्नटें पड़ रहीं थीं[1] उनके हाथ में निर्मल स्फटिक की गुरियों से बनी माला थी, जान पड़ता था जैसे बड़े मोतियों से गूँथा हुआ सरस्वती का हार हो। उसे वे अपनी अँगुलियों से फेर रहे थे। शरीर की धमनियाँ ऊपर उभरी हुई दिखाई दे रही थीं, मानों पुराने कल्पवृक्ष पर पकी हुई बेलें चढ़ी हुई हों। वे मानसरोवर के जल में धोने के कारण शुद्ध पवित्र दुकूल वल्कल पहने हुए थे, मानों जरावस्था ने पहले शिराजाल के ऊपर एक दूसरी जाली से उनका शरीर ढक दिया हो। वह वल्कल वस्त्र ऐसा झीना था कि चन्द्र की किरणों से या अमृत के फेने से बुना हुआ जान पड़ता था। त्रिदंड से बनी हुई टिकठी के बीच में बिल्लौरी कमंडलु लटक रहा था जो खिले हुए कमलों के बीच में राजहंस सा ज्ञात होता था। उनके कर्णपाश लंबे थे। वे आश्रम के गुरु, स्वप्रभाव से द्विजों के अधिपति, सदा दुग्धाहार पर रहनेवाले, सत्यव्रतधारी और दीन अनाथ विपन्नों को शरण देनेवाले थे। ऊपर बलाकानुकृति कमंडलु का उल्लेख आ चुका है। यह भी वैसा ही था। जैसा गुप्तकाल की मूर्तियों में प्रायः पाया जाता है, तीन डंडों को ऊपरी सिरे पर जोड़कर और फैलाकर खड़ा करने से उनके बीच में साधु अपना कमंडलु लटका दिया करते थे। त्रिदंड को ही पतंजलि ने त्रिविष्टब्धक कहा है। लंबे कर्णपाश भी महापुरुष का लक्षण माना जाता था और गुप्तकालीन मूर्तियों में प्रायः पाया जाता है।'

[३६]

जाबालि महर्षि को देखकर मैं सोचने लगा—'अहा तपस्या का भी कैसा प्रभाव है! इनकी यह शांत मूर्ति बिजली सी चमचमा रही है जिसे देखकर आँखें चौंधिया जाती हैं। महामुनियों का नाम लेने से पुण्य होता है, दर्शन की तो बात ही क्या? यह आश्रम धन्य है जिसके ये अधिपति हैं। ये तो पृथिवी पर साक्षात् कमलयोनि ब्रह्मा हैं। ये मुनिजन

१—यहाँ बाण ने अपने युग की एक सूक्ष्म विशेषता का उल्लेख किया है। गुप्त युग के मुनियों की वेश-भूषा में यज्ञोपवीत बायें कंधे से छाती पर आती हुई चौड़ी पट्टी के रूप में दिखाया जाता था। किन्हीं मूर्तियों में इस पट्टी में महीन चुन्नटें भी बनी हुई मिलती हैं, जैसे देवगढ के मंदिर में मिले हुए शिलापट्ट पर अगस्त्य आश्रम में राम-सीता के दृश्य में अगस्त्य मुनि का यज्ञोपवीत इसी प्रकार चुन्नटदार है। पं० माधवस्वरूप वत्स कृत देवगढ मंदिर, फलक १६ अ।

धन्य हैं जो रात-दिन इनके मुख से पवित्र कथाएँ सुनते रहते हैं। यह सरस्वती भी धन्य है जिसे इनके मुख का सान्निध्य प्राप्त है। चतुर्मुख ब्रह्मा के मुख कमलों में रहते-रहते बहुत दिनके बाद उसे यह उचित स्थान मिला होगा। इनमें आकर सारी विद्याएँ शरत्काल की नदियों के समान प्रसन्न हो उठी हैं। इनमें सर्वात्मना निवास करते हुए धर्मको सतयुगका स्मरण भूल गया होगा। अहो, इस जरा को भी कितना साहस है जिसे इनके जैसों पर पैर रखने में भी झिझक न हुई। तेजस्वियों में अग्रणी ये महात्मा साक्षात् दूसरे सूर्य हैं। इनके सहारे से ही धरती टिकी है। ये करुण-रस के प्रवाह हैं, संसार सागर तरने के लिये सेतु हैं, क्षमाजलों के संचय के लिये महान् आधार हैं, तृष्णा-लता काटने के लिये कुठार हैं, संतोष के अमृत समुद्र हैं। ये सिद्धि-मार्ग के उपदेष्टा, उपशम वृक्ष के मूल, प्रज्ञाचक्र की नाभि, सब विद्याओं के तीर्थ, शास्त्र रत्नों की कसौटी, लोभ समुद्र को सोखने के लिये बड़वानल, राग के पत्ते को झुलसाने के लिये दावानल, क्रोध-सर्प के लिए महामंत्र, नरक-द्वारों को बंद करने के लिये अर्गला, साधुता के जन्म स्थान, उत्साह-चक्र की नेमि, तप के कोष, सत्य के सखा, आर्जव के क्षेत्रऔर पुण्यों के उत्पत्ति-स्थान हैं। विषय इन्हें अपने वश में नहीं कर सके, सुखों की ओर इन्होंने कभी मुख नहीं किया, दैन्य और रोष कभी इनके पास नहीं फटके।' यहाँ बाण ने उन सब उत्तम गुणों और चरित्र संबंधी पूर्णताओं का उल्लेख किया है जो गुप्तयुग में महापुरुष के या बोधिसत्व समतुल्य पुरुषों के आदर्श-चरित्र की विशेषताएँ मानी जाती थीं।

'अहा, महात्माओं का कैसा प्रभाव होता है? पशु-पक्षी भी इनके प्रसाद से विगत-वैर होकर बसते हैं। यह देखो, यह मृगछौना अपनी माँ को छोड़कर सिंघेलों से हिला हुआ शेरनी का स्वयं झरता हुआ दूध पी रहा है। वह साँप धूप से घबराकर नई घास के ढेर की तरह मोर के पंखों में छिप जाना चाहता है। यहाँ हाथियों के बच्चे नेत्र मूँदकर लेटे हुए सिंह की अयाल खींच रहे हैं। वह देखो स्नान किए हुए मुनि कुमारों को वानर फल लाकर दे रहे हैं। और तो क्या, निश्चेतन वृक्ष भी अग्नि होत्र की उठती हुई धूमलेखाओं के रूप में कृष्णमृगचर्म पहने हुए मानों मुनियों का व्रत साध रहे हैं।

जिस प्रकार हर्षचरित में बाण ने बौद्ध पंडित दिवाकरमित्र के आश्रम का भव्य चित्र खींचा है वैसे ही वैदिक परंपराओं के पुंजीभूत आदर्श के रूप में जाबालि महर्षि के दिव्य आश्रम की कल्पना की है।

[४०]

मैं यह सोच ही रहा था कि हारीत मुनि ने उसी अशोक-वृक्ष के नीचे छाया में मुझे रख दिया और वे स्वयं पिता के चरणों की वंदना करके एक ओर बैठ गए। मुझे देखते ही वे सब मुनि कुतूहल वश पूछने लगे—'यह सुग्गे का बच्चा कहाँ पाया? हारीत ने उनसे कहा—'मैं स्नान करने के लिये गया था। वहीं पम्पासर के वृक्ष के घोंसले से यह गिरा था और दूर से गिरने के कारण व्याकुल हुआ सूर्य से तपाई हुई भूमि में पड़ा था। उस पेड़ पर

चढ़कर फिर घोंसले में रखना कठिन था, इसलिये दयावश मैं इसे यहाँ ले आया तो जब तक यह पखने निकलने से उड़ने योग्य न हो जाय तब तक यहीं किसी तरु-कोटर में मुनि-बालकों के और हमारे हाथ से दिए हुए तिन्नी के कण खाकर या फलों का रस पीकर बड़ा हो। अनाथों का परिपालन हमारा धर्म है। डैने निकलने पर जहाँ इसका मन होगा उड़ जायगा, या हिल गया तो यहीं रहने लगेगा।'

मेरे विषय में पुत्र का यह कथन सुनकर भगवान् जाबालि को भी कुछ कुतूहल हुआ। उन्होंने गर्दन घुमाकर अपनी अति प्रशांत दृष्टि से मेरी ओर देर तक देखा, मानों उन्होंने मुझे पवित्र जल से स्नान करा दिया। फिर जैसे मुझे पहचान गए हों, वे पुनः-पुनः देखकर कहने लगे—'यह तो अपनी ही भूल का फल भोग रहा है।' वे त्रिकालदर्शी महात्मा तप के कारण अपने दिव्य चक्षु से सारे जगत को करतलगत की भाँति देखते थे। पूर्व-जन्मों की बात भी जानते थे। भविष्य की बात भी उनसे छिपी न थी। दृष्टिगोचर होते ही प्राणियों का आयुष्य भी वे जान लेते थे। इसलिये उनकी यह बात सुनकर उस तपस्वी परिषत् में, जो उनका प्रभाव जानती थी, इस प्रकार का कुतूहल उत्पन्न हुआ—'भगवन्, इसने क्या भूल की, क्यों की और कहाँ की? जन्मांतर में यह कौन था?' इस कुतूहल से सबने महर्षि से प्रार्थना की—'भगवन्, कृपाकर हम सबका कुतूहल दूर करें और बताएँ कि यह किस भूल का फल भोग रहा है? यह पूर्व-जन्म में कौन था? पक्षि-योनि में इसका जन्म क्यों हुआ? इसका नाम क्या है? आप सब अपूर्व वस्तुओं को जानते हैं। कृपया इसके विषय में हमारा आश्चर्य भी दूर करें।'

जाबालि के विषय में बाण ने जो कहा है वही कालिदास ने वसिष्ठ के विषय में लिखा था—

> पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
> स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति॥

अजन्मा पुराण-पुरुष के इस त्रिभुवन में भूत, भविष्य, वर्तमान की जितनी वार्ता है, वे महर्षि अपने अप्रतिहत ज्ञान नेत्र से उस सबको देखते थे। यह महती समाधि-सिद्धि थी। बौद्धलोग इसे उस समय के पारिभाषिक शब्दों में चक्षु कहते थे। बुद्ध को इसी प्रकार की दृष्टि के कारण चक्खुमा (चक्षुष्मान्) कहा जाता था। मांस-चक्षु, दिव्य-चक्षु, प्रज्ञा-चक्षु, धर्म-चक्षु और बुद्धि-चक्षु ये पाँच प्रकार की दृष्टियाँ मानी जाती थीं जो बुद्ध सदृश महर्षि पुरुषों के पास होती थीं। धर्म-साधना और ज्ञान के उन्हीं आदर्शों को उस काल के साहित्यिकों ने वैदिक दृष्टि से और भी पल्लवित किया।

[४१]

तपस्वियों की परिषद् ने जब इस प्रकार की प्रार्थना की तो महामुनि जाबालि ने कहा—'इसके पीछे महान् आश्चर्य है जो कहने योग्य है, पर आज दिन थोड़ा रह गया है।

हमारे स्नान का समय भी हो रहा है। आप लोगों के भी देवार्चन का समय है। तो आप सब अपने आवश्यक कर्तव्यों को पूरा करें। तीसरे पहर भोजनोपरांत जब सब निश्चिंतता से बैठेंगे तो आरंभ से लेकर पूरी कथा सुनाऊँगा।'

[४२]

यह सब होते-जाते दिन ढल गया। स्नान के बाद मुनियों ने अर्घ्य देते समय सूर्य को जो लाल चंदन का अंग-राग पृथिवी पर अर्पण किया, उसे ही मानों सूर्य ने अंबर में उठाकर साक्षात् अपने शरीर में लगा लिया और वह लाल हो गया। दिन छोटा हो गया, मानों वन्हिपान करने वाले ऊर्ध्वमुखी तपस्वियों ने सूर्य के आतप तेज को पी लिया हो। सायंकाल के समय उदित होते हुए सप्तर्षियों को कहीं रश्मि-रूपी चरण स्पर्श न कर लें इस भय से सूर्य अपनी किरणों को समेट कर आकाश में एक ओर लटक गए और पश्चिमी समुद्र में पड़ती हुई उनकी लाल-लाल परछाहीं ऐसी लगने लगी मानों जल में शयन करते हुए विष्णु का मधुबिंदु फैलाता हुआ नाभि कमल हो। सूर्य की किरणें पृथिवी को छोड़कर पर्वत की चोटियों पर जा पहुँचीं मानों कमल-वनों के पक्षी उड़कर तपोवन-वृक्षों के शिखरों पर जा बैठे हों। लाल धूप के टुकड़े कहीं-कहीं आश्रम के वृक्षों पर अभी अवशिष्ट थे, मानों मुनियों ने अपने लाल वल्कल टाँग रखे हों।

सूर्य के अस्त हो जाने पर पश्चिमी समुद्र के तल से विद्रुम-वल्ली की तरह उठती हुई संध्या दिखाई पड़ी। आश्रम में कहीं मुनिजन ध्यान करने लगे, कहीं होमधेनुओं के दूध दुहने की ध्वनि सुनाई देने लगी, कहीं हवन कुंड की वेदी पर ऋषिकुमार हरी कुशा बिछाने लगे और कहीं ऋषिकन्याएँ दिग्देवताओं के लिये बलि फेंकने लगीं। पाटल संध्या भी थोड़ी दूर तक घूम-घामकर लौटी हुई तपोवन की कपिला गौ के समान मुनियों को दिखाई पड़ी। सूर्य के अन्यत्र प्रवास के लिये चले जाने पर शोकमग्न कमलिनी मानों पति समागम के लिये व्रत साधने लगी। कमल की मुँदी हुई कलिका ही उसका कमंडलु था, पास का हंस श्वेत दुकूल था, मृणाल श्वेत यज्ञोपवीत था और ऊपर गुंजारती हुई भौंरों की मंडली अक्षमाला थी।

कमल-मुकुल सदृश कमंडलु का उल्लेख हर्षचरित में भी आता है। देवगढ़ मंदिर के नरनारायण शिलापट्ट पर अंकित नारायण के बाएँ हाथ में इसी प्रकार का कमंडलु है (हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, चित्र ५)। सूर्य के पश्चिमी समुद्र में गिरने से जो जल के छींटे उड़े वे आकाश के तारे बन गए। शीघ्र ही सारे अंबर में टकटक करते हुए तारे दिखाई पड़ने लगे, मानो सिद्ध-कन्याओं ने संध्या-पूजा के पुष्प बिथुराए हों। क्षण भर में ही संध्या की ललाई अदृश्य हो गई, मानो मुनिजनों द्वारा प्रणामांजलि में भरकर ऊपर फेंके गए जलों से धुल गई हो। यों तो हर्षचरित और कादंबरी दोनों में ही बाण ने प्रातः-काल और सायंकाल के कई रोचक और विस्तृत वर्णन किए हैं, पर संध्याकाल के वर्णन में बाण को विशेष रुचि थी। हर्षचरित में तो चार बार प्रदोष-समय और संध्या का वर्णन आया

है (पृ० १४-१६, ८०-८१, २१८-१९, २५७-५८), उषा का वर्णन एक बार भी नहीं। कादंबरी में भी प्रभात के वर्णनों की अपेक्षा, सायंकाल और चंद्रोदय के वर्णन कहीं अधिक हैं (अनु० ४२, ४३, १६५-१६७, १८१)।

[४३]

संध्या के क्षीण हो जाने पर मानों उसके विनाश से दुखित हुई रात्रि ने अंधकार रूपी नया मृगचर्म पहन लिया। सर्वत्र अँधेरा छा गया, केवल मुनियों के हृदय उससे बचे रहे। सूर्य अस्त हो गए यह समाचार पाकर चंद्रमा आकाश में दिखाई दिए, मानों वैरागी के वेश में आश्रम-वास करने लगे हों। धवलाम्बर ही उनका श्वेत दुकूल-वल्कल बना उनके अंतःपुर के तारागण ही मानों शरीर रूपी पुरी के भीतर ध्यानगम्य तारक ब्रह्म हुए। आकाश में क्षितिज के छोर पर जो हलके अंधकार की एक रेखा थी वही मानों उस आश्रम के चारों ओर तमाल-वृक्षों की वन-राजि थी। अंबर-तल से उतरती हुई चाँदनी ने धरती में फैलकर समुद्रों को भर दिया, मानों शिव के मस्तक से गंगा उतरी हो। चंद्रमा की किरणें कुमुद-सरोवरों में फैल गईं, जैसे वर्षा के अंत में श्वेत हंस उनमें छा जाते हैं। उस समय चंद्रमा उदयकालीन लाली के मिट जाने से ऐसे दिखाई पड़ा जैसे आकाश-गंगा ने ऐरावत के मस्तक का सिंदूर धो डाला हो।

क्रमशः चंद्रमा आकाश में और ऊँचे उठ गए। ओस के बिंदुओं से भारी बनी हुई वायु खिलते हुए कुमुदवनों की सुगंधि लेकर कुछ मंथर गति से चलने लगी। निद्रा से अलसाए हुए नेत्रों की पलकें बंद करके आश्रम के मृग सुख-पूर्वक जुगाली करने लगे। तब आधा पहर रात्रि बीतने पर हारीत मुनि आहार से निवृत्त हो मुझे लेकर अन्य मुनियों के साथ अपने पिता महर्षि जाबालि के समीप उपस्थित हुए। जाबालि तपोवन के एक भाग में वेत्रासन पर बैठे हुए थे और पास में खड़ा हुआ जालपाद नाम का शिष्य चमड़े के पंखे (धवित्र) से उन्हें धीरे-धीरे हवा झल रहा था। हारीत ने निवेदन किया—'हे तात, तपस्वियों की यह मंडली उस आश्चर्य को सुनने के लिये उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही है। यह सुग्गे का बच्चा भी विश्राम कर चुका है। तो कृपाकर कहिए इसने पूर्व जन्म में क्या किया ? यह कौन है और आगे क्या होगा ?' यह प्रार्थना सुनकर महर्षि जाबालि ने सामने बैठे हुए मेरी ओर देखा और सुनने के लिये दत्तचित्त उन सब मुनियों से मंद स्वर में कहा—'यदि कुतूहल है तो सुनिए।'

महर्षि जाबालि द्वारा कथा का आरंभ

[४४]

'अवंति जनपद में उज्जयिनी नाम की नगरी थी', इस प्रस्तावना के साथ बाण ने उज्जयिनी का एक समृद्ध चित्र प्रस्तुत किया है। वह काव्य की आदर्श उज्जयिनी तो है ही, किंतु साथ ही गुप्तयुग के अवंति-जनपद की वह उज्जयिनी भी है जिसका कुछ समय पूर्व कालिदास 'श्रीविशाला विशाला' कहकर वर्णन करते हुए मुग्ध हो गए थे। बाण के वर्णन में ये दोनों विशेषण मूर्त हो उठे हैं। उस युग का रोम से चीन तक और सिंहल से मंगोलिया तक फैला हुआ जो त्रिभुवन था उसमें सातवीं शती की उज्जयिनी सर्वत्र विख्यात थी और उसके लिए 'सकलत्रिभुवनललामभूता' विशेषण सर्वथा चरितार्थ था। जैसा अमरकोश में कहा है उस युग में आर्यावर्त को पुण्य-भूमि कहा जाता था। उसका धर्म अर्थ काममय निचोड़ उज्जयिनी थी। समसामयिक नागरिकों की दृष्टि में वह सतयुग की भूमि जान पड़ती थी। बाण का यह वर्णन मुख्यतः समकालीन पाठकों को दृष्टि में रखकर ही लिखा गया था जो उस उज्जयिनी से भली भाँति परिचित थे। कवि ने स्वयं भी अपनी उल्लिखित लंबी यात्रा में उज्जयिनी का साक्षात् दर्शन अवश्य किया होगा, अतएव उनके एक-एक विशेषण के पीछे काव्यमयी कल्पना के आवरण में समकालीन इतिहास का तथ्य छिपा हुआ है।

उज्जयिनी की श्रीविशाला समृद्धि के विषय में कहा है कि वहाँ के पुरवासी अक्षरशः सर्वास्तिवादी थे। वैसे तो यह शब्द बौद्ध दार्शनिकों में प्रचलित था, किंतु पुरवासियों के पक्ष में नितांत सत्य था। पुण्यचरित, धन-धान्य, कामप्रथित यश चाहे जिस वस्तु की माँग करो, उस नगरी में सभी कुछ मिल जाता था। 'सब कुछ है' यही नागरिकों की भावना थी। वहाँ की धन-संपत्ति का कहना ही क्या ? ज्ञात होता था कि सब समुद्रों ने अपनी रत्न-संपत्ति वहाँ के हाटों में उँड़ेल दी थी। पूर्व और पश्चिम के व्यापार में रमे हुए भारतीय सामुद्रिक व्यापारी जो रत्नराशि एकत्र करते उसके लिए 'उद्धृतसमस्त सागर रत्नसार' कहना ठीक ही था। व्यापार द्वारा चारों ओर से सुवर्ण आकर जहाँ एकत्र हुआ था वहाँ के अनेक नागरिक करोड़पति और कुछ उससे भी अधिक पद्मपति थे, जिनकी ओर 'कोटिसार' और 'प्रकटितकनकपद्मराशि' इन शब्दों द्वारा संकेत किया गया है। सुवर्ण का यह कोष उनके घरों में सहस्रों निधान-कलशों के रूप में रक्खा जाता था (सन्निहितकनकघटसहस्र)। उनके निवास स्थान सुनहले अलंकारों से युक्त होने के कारण सुवर्णमय जान पड़ते थे (जातरूप-क्षय)। रत्नों में और सब तो वहाँ थे ही, किंतु उज्जयिनी विशेष रूप से पद्मराग मणियों के लिये प्रसिद्ध थी (पद्मरागानुरागिणी)।

राजधानी की इस समृद्धि का यश देश-देशांतरों में प्रसिद्ध था (सकलभुवनख्यात-यशसा)। वहाँ के नागरिक अपनी दानशीलता के कारण साक्षात् कल्पवृक्ष थे। कवि ने उनके चरित्र-गुणों का अच्छा परिचय दिया है। वे वीर, विनयी, प्रियंवद, सत्यवादी, अभिरूप, धर्म-प्रधान, महासत्व, उदार, दक्ष, स्मितपूर्वाभिभाषी, परिहासपेशल, अंतःकरण के सरल, अनेक कलाओं में पारंगत, प्रशांत, दाक्षिण्य-गुण से युक्त, शुभ्रवेश-धारी, सुभाषितों के रसिक, जीवों पर अनुकंपा करनेवाले, मित्रों के प्रति अनुकूल और अनेक प्रकार के विशेष कलात्मक विज्ञानों को जानने वाले थे। नाट्यशास्त्र और अभिनय का उन्हें अद्भुत परिचय था (आविष्कृत भरत परिचय)। उज्जयिनी का निवास यही उनकी बुद्धि जागरित करने के लिये पर्याप्त था।

उज्जयिनी उस युग के सभ्य संसार की विश्वात्मिका राजधानी थी। वहाँ के सर्व लोकमित्र नागरिकों के व्यवहार-सूत्र द्वीपांतर, चीन, मध्यएशिया, ईरान इन देशों में फैले रहते थे। अतएव कवि के अनुसार वहाँ के पुरवासी सब देशों की भाषा सीखने में दक्ष थे (शिक्षिताशेषदेशभाषेण) और उनकी लिपियों के अभ्यास में रुचि रखते थे (सर्वलिपिज्ञ)। वहाँ निगम, श्रेणी, पूग, पाषंड कितने ही प्रकार के सार्वजनिक संगठन थे और सबके अपने नैगम, श्रेष्ठी, चौधरी और मुखिया होते थे (प्रधानपुरुषोपेत)। वहाँ की स्त्रियों का सौंदर्य देवों के लिए भी आकर्षण की वस्तु थी। वे नित्य नए-नए उत्सवों में मग्न रहती थीं। वहाँ के महाभवनों में उद्दाम यौवन के धनी नागरिक भगवान् मकरध्वज की पूजा में निरत रहते थे। वे लाल पताकाएँ, लाल चँवर और मूँगों से अंकित मकर-यष्टियाँ कामभवनों में लगाते थे जिनमें झूलती हुई टल्लियाँ (सौभाग्य-घंटिका) मधुर स्वर से बजती थीं।

महाकवि ने अपनी चित्रग्राहिणी शक्ति से निरंतर समासयुक्त शैली में कैमरे से उतारे हुए चलचित्र के समान उज्जयिनी के अनेक चित्र खींचे हैं। उज्जयिनी के स्थापत्य के दृश्य विशेष ध्यान देने योग्य हैं। लंबे-चौड़े विस्तारवाली विशाला उज्जयिनी दूसरी पृथिवी ही जान पड़ती थी। नगरी के चारों ओर जल से भरी हुई गहरी खाई थी। खाई के बाद ऊँचा सुधाधवल परकोटा था। परकोटे के भीतर नगर-विन्यास करनेवाले वास्तु-विद्याचार्यों ने चौड़े राजमार्ग बनाकर उसे कई भागों में बाँट दिया था। इन मार्गों को महाविपणिपथ[1] या हाटों के चौड़े रास्ते कहते थे। बाजारों में सड़क के दोनों ओर दूकानें थीं और उनके पीछे रहने के लिये भवन बने थे। मध्यकालीन भारतीय नगरों में बाजारों की संख्या चौरासी तक गिनी जाती थी। इन चौरासी हाटों के नामों की सूची पृथ्वीचंद्र-चरित में दी हुई है। गुप्तकाल में उसीसे मिलती-जुलती परंपरा का अनुमान किया जा सकता है। सब बाजारों में स्वर्णहट्ट या जौहरी-बाजार प्रधान माना जाता था। आगे चलकर उसे ही सराफा भी कहने लगे। स्वर्णहट्टी के प्रतिष्ठित व्यापारियों की विशेष पदवी गुप्तयुग में नैगम या महाजन होती थी। यह मुख्य बाजार नगर के बीचोबीच

१—विपणिः पण्य वीथिका (अमर)। विपणि=बाजार, हाट। आपण=दूकान।

सबसे सुरक्षित स्थान में होता था। हाटों का चित्र खींचते हुए उज्जयिनी के मुख्य स्वर्ण-बाजार का ही एक चित्र नमूने के लिये कवि ने देना पर्याप्त समझा है। नैगमों की दूकानों में शंख, शुक्ति, मुक्ता, प्रवाल, मरकत और मणियों की राशियाँ एवं रवेदार सोने के ढेर लगे हुए थे (चामीकरचूर्णवालुकानिकरनिचित)। समुद्र ने रत्न और मणियों को मानों उज्जयिनी के बाजारों में उँडेल दिया था।

बाजारों के अतिरिक्त तीन बातों का कवि ने विशेष रूप से उल्लेख किया है, एक तो चित्रशालाओं से भरे हुए महाभवनों का, दूसरे नगरी के देव मंदिरों का, और तीसरे नगर से बाहर के उन बगीचों का जिन्हें रईस लोग बड़े शौक से रखते थे और जिन्हें उस युग की भाषा में बाह्योद्यान या बाह्य-उपवन कहा जाता था। कोटिपति और पद्मपति नागरिकों के बड़े मकानों की केवल कुछ कल्पना ही की जा सकती है। वे उसी ढंग पर कई-कई चौक के बनते थे जैसे राजाओं के महल। मृच्छकटिक में सात चौक वाले वसंतसेना के घर का जो वर्णन किया गया है वह उन समृद्ध आवास-गृहों का यथार्थ चित्र था। बाण ने इन महाभवनों के विस्तार की उपमा शाखा-नगर से दी है। राजधानी के अतिरिक्त जनपद के दूसरे नगर शाखा-नगर कहलाते थे। पद्मपति व्यापारियों के ये महाभवन सचमुच ही ऐसे लगते होंगे। ऊपर के तल्लों में बने हुए बड़े-बड़े मंडप या कमरे ऐसे लगते थे जैसे आकाश से देवताओं के विमानों की पंक्तिताँ उतर आई हों। उन्हीं में से एक विशेष कमरा चित्रशाला कहा जाता था। हर्ष के महल में भी बाण ने चित्रशाला का उल्लेख किया है। राजप्रासाद के चित्र में हम उसका निश्चित स्थान बता चुके हैं। चित्रशाला पति-पत्नी के एकांत मिलन का स्थान होता था। उसकी भित्तियों पर नाना भाँति के चित्र बनाए जाते थे। देवता, असुर, सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर, महोरग, इन देव-योनियों की अनेक कथाएँ इन चित्रों में लिखी जाती थीं। पृथिवी और आकाश के बीच में जितना जगत् है वह इन चित्रों का विषय था। इन्हें दर्शितविश्वरूपा कहा गया है (दर्शितविश्वरूपेव चित्रभित्तिभिः)। किन्हीं भी चित्रों के विषय में इतने कम शब्दों में शायद ही इससे अधिक कहा गया हो। उस युग में चित्रों का जितना प्रचार था, अजंता के भित्तिचित्र उसके साक्षी हैं। वस्तुतः धनिकों के महाभवन और चित्रशालिका शब्द पर्याय बन गए थे। इसलिये बाण ने पहले चित्रशाला शब्द से ही घरों का संकेत किया है, यद्यपि बाद में उन्हें महाभवन भी कहा है। इन भवनों की दूसरी विशेषता इनके साथ लगे हुए भवनोद्यान थे जिन्हें उस युग की शब्दावली में निष्कुट भी कहा जाता था (निष्कुटा गृहारामाः, अमर)। भवनोद्यान घरों के आवश्यक अंग थे। वसंतसेना के घर के वर्णन में उद्यान का महत्त्वपूर्ण उल्लेख आता है। सबसे पहले बाहर की चारदिवारी या प्राकार, उसके बीच में बहिर्द्वारतोरण या द्वार-प्रकोष्ठ या अलिंद, उसके भीतर कई कक्ष्याएँ या अजिर, यह उस समय के भवन-विन्यास का स्वरूप था। इन महाभवनों या प्रासादों के अनेक भागों का उल्लेख यहाँ किया गया है, जैसे सौधशिखर, सुधाधवल अट्ट, बिल्लौर की खुली छत (गगनतल प्रसृत वैदूर्य मणि भूमि), मरकत वेदिका, सौध के भीतर संगीतशाला, चित्रभित्ति या चित्रशाला, हीरे सोने का जड़ाऊ कमरा (जातरूप क्षय या वज्रमंदिर), हाथी दांत की मंडपिका (दंत वलभिका), स्नानगृह (अभिषेक

भूमि), धारागृह, नीलम के गवाक्ष (इंद्र नील वातायन), आदि। धवलगृहों में शोभा के लिये नागदंत या हाथी दाँत की खूँटियों पर चँवर लटकाए जाते थे (अवलंबितचामरनागदंतधवलगृहाः)। इस अलंकरण का कुछ अनुमान साँची के एक तोरण-स्तम्भ से किया जा सकता है जिसपर एक विशिष्ट स्तम्भ के दोनों ओर लंबे नागदंतों पर रत्न और मणियों के कंठाभूषण या कठुले झूल रहे हैं (मार्शल—साँची, फलक ३७ अ)। ठीक इसी ढंग से हाथी-दाँत की खूँटियों पर चँवर लटकाने का अभिप्राय सजावट के लिये प्रयुक्त होता था। बैठने के विशेष मंडपों की छतों और स्तंभों से मोतियों के लटकन लटकाना उस युग के घरों की शोभा थी (अवलंबितमुक्ताकलाप)।

नगर-रचना में स्थापत्य की दूसरी विशेषता देवताओं के बड़े-बड़े मंदिर थे। यहाँ महाकवि ने सबसे पहले भगवान् शिव के मंदिर का उल्लेख किया है। ये देव-मंदिर उन चतुष्पथों पर बनाए जाते थे जहाँ महाविपणिपथ या बड़े राजमार्ग एक दूसरे से मिलते थे (अमरमंदिरैर्विराजितशृंगाटका)। देव-प्रासादों के ऊपरी भाग में ऊँचे शिखर बनाए जाने लगे थे जिनका कवि ने यहाँ उल्लेख किया है (बहुभूमिकदेवकुल)। शिखरों के ऊपर सोने के कलश लगे हुए थे।

इनके अतिरिक्त भी नगर में और कई प्रकार के सार्वजनिक वास्तुस्थान थे, जैसे, सभा, आवसथ, कूप, प्रपा, सेतु, यंत्र (जलघटी-यंत्र)। उज्जयिनी के धारागृहों का भी कवि ने उल्लेख किया है। संभवतः ये महाभवनों के ही अंग थे। प्राचीन भारतीय नागरिक कमलों से सदा घनिष्ट संबंध बनाए रखना चाहते थे। पक्की पाल बाँधकर कुवलय कमल से भरे सरोवरों से नगरों को सजाया जाता था। जैसा कवि ने लिखा है, उज्जयिनी में इस प्रकार के अनेक सरोवर थे। स्थापत्य की दृष्टि से एक उल्लेख और ध्यान देने योग्य है। उस पुरी में स्थान-स्थान पर केलों के झुंड लगाकर उनके बीच में हाथी-दाँत की सफेद वलभियाँ बनाई गई थीं[1]। वलभी या वलभिका को अमर कोश में गोपानसी कहा है। ज्ञात होता है कि ये छोटी-छोटी मंडपिकाएँ थीं जहाँ नागरिक मार्गों पर आते-जाते मनोविनोद के लिये विश्राम करते थे। भवनों की अटारियों पर भी वलभिकाएँ बनाई जाती थीं।

नगर के भीतर जैसे गृहोद्यान थे वैसे ही नगर के बाहर बाह्योद्यान थे। एक में भवन प्रधान और उद्यान गौण होता था, दूसरे में उपवन प्रधान और वासगृह अपेक्षाकृत गौण महत्त्व रखता था। इन बाह्य-उपवनों में बड़े-बड़े कुएँ या इंदारे बनाए गये थे। उनके चारों ओर गचकारी की पक्की जगत या मँढ़ बनाई जाती थी (सुधावेदिका)। कुओं में रहट लगाने की प्रथा बाण के समय में फैल चुकी थी। अतएव कवि ने विशेष रूप से रहटदार कुओं से बगीचों की सिंचाई का उल्लेख किया है।

१—अविरलकदलीवनकलिताभिः अमृतफेनपुंजपांडुराभिः दिशि दिशि दंतवलभिकाभिः धवलीकृता (अनु० ४४)।

[४५]

नगरी में कला साहित्य और संगीत की अनवरत साधना की जाती थी। धवलगृह के ऊँचे सौधों में निवास करनेवाली स्त्रियाँ अंतःपुरसंगीत का आयोजन करती थीं। सौध विशेषतः घर के ऊपरी तल्ले में वह स्थान था जहाँ स्त्रियाँ एकान्त में बैठती और सोती थीं (सौधशिखर शायिनीनां पुरसुंदरीणाम्)। संगीत में ठनकते हुए मृदंगों की ध्वनि वहाँ उठती थी। प्रभातकाल में मंगलपाठकों द्वारा मंगलगीतियाँ गाई जाती थीं। भवन दीर्घिकाओं में पाली हुई कलहंसियाँ अपने कोलाहल से पुर वनिताओं का मनोरंजन करती थीं। सिंदूर मणि की भूमियाँ, मोतियों के प्रालंब, सूर्यकांत की शिलाएँ, इन्द्रनील के वातायनों पर पड़ती हुई सूर्य की किरणें रंगों की भिन्न-भिन्न छटाएँ उत्पन्न करती थीं। महाकाल भगवान् शिव मानों कैलास की प्रीति त्यागकर उसी नगरी में रहने लगे थे। उनके चरण कमलों की वंदना करने के लिये देवता और असुर सभी वहाँ आते थे।

[४६]

ऐसी उस महानगरी में तारापीड़ नाम का राजा था। वह मतिमान्, उत्साह-संपन्न, नीति-शास्त्र में तीक्ष्णबुद्धि, धर्मशास्त्रों में निष्णात था। प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति, ये तीनों उसे फलीभूत हुई थीं। अनेक यज्ञों द्वारा उसने अपने आपको पवित्र किया था। नील कमल हाथ में लिए हुए लक्ष्मी अपने पति नारायण को छोड़कर उस अद्वितीय शूर की सेवा के लिये उसके पास चली आई थी। सत्य का प्रभाव-स्थान, धर्म का अवतार वह मानो भगवान् पुरुषोत्तम का साक्षात् प्रतीक था।

[४७]

उसने लोक में कलियुग द्वारा विचलित धर्म को दृढ़ बनाया। रूप में लोग उसे दूसरा कामदेव समझते थे। पूर्व में उदयाचल, दक्षिण में सेतुबंध, पश्चिम में मंदराचल और उत्तर में गंधमादन तक के सब राजा उसके भुजबल से विजित होकर उसे प्रणाम करने आते थे। उसके सिंहासन पर विराजते ही सब दिशाओं ने उसके सामने मस्तक झुकाया। देवराज इंद्र भी उससे स्पृहा करने लगे। उसके भीतर से गुणगण ऐसे प्रकट हुए जैसे क्रौंच पर्वत से हंस-समूह निकलते हैं। उसकी कीर्ति भुवनों को गुँजाती हुई दसों दिशाओं में फैल गई। राजलक्ष्मी क्षण भर के लिये भी उसकी छत्रछाया न छोड़ती थी।[1] प्रजाजन उसके चरित की सौभाग्य वृद्धि सुनते, मंगल के समान उसे अपनाते, मंत्र की तरह उसका मनन करते और आगम-वचनों की तरह जप करते हुए उसे कभी भूलते न थे।

१—भाव यह है कि राजलक्ष्मी अपने हाथ से राज के सिर पर छत्र लगाए थी, जैसा कालिदास ने लिखा है—छायामंडललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्। पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥ रघुवंश, ४।५)।

[४८]

उस राजा के शुकनास नाम का ब्राह्मण मंत्री था। सब शास्त्रों और कलाओं में अवगाहन करने से उसकी बुद्धि गंभीर हो गई थी। बचपन से ही उमगता हुआ प्रेम रस उसके स्वभाव का अंग बन गया था। वह नीतिशास्त्र के प्रयोग में कुशल और भुवन के राज्य का भार उठाने में कर्णधार नावाध्यक्ष के समान था। धैर्य का निधान, मर्यादा का स्थान, सत्य का सेतु, गुणों का गुरु, आचारों का आचार्य, धर्म का धाता, वह भारी संकट के कामों में भी कभी घबराता न था। संधि और विग्रह के कार्य में वह निपुण था। राज्य के दुर्गों में आवश्यक सामग्री का संचय उसने कर रखा था। वह सकल वेद वेदांगों का ज्ञाता और राज्य के कल्याणों का एक मात्र विधायक था। जैसे वृषपर्वा के शुक्राचार्य, दशरथ के वसिष्ठ, राम के विश्वामित्र, युधिष्ठिर के धौम्य और नल के दमनक थे वैसे वह राजा तारापीड़ के सब कार्यों का ध्यान रखता था।

[४९]

वह अपने प्रज्ञाबल से नारायण के वक्षस्थल से भी लक्ष्मी को ले आना सरल समझता था। स्वयं प्रज्ञा भी उसके पास आकर विस्तार को प्राप्त हुई थी। उसके सहस्रों चार-पुरुष लोक में घूमते रहते थे और चतुः समुद्रांत भुवन में राजाओं के नित्य प्रति के कार्यों के विषय में उसे कुछ भी अविदित न था।

[५०]

उस राजा ने छोटी आयु में ही सप्तद्वीपा वसुमती को जीत लिया और राज्य का भार शुकनास को सौंप कर एवं प्रजाओं को सुस्थित करके निश्चिंतता से यौवन-सुखों का उपभोग किया।

इसके अनंतर कवि ने उस समय के राजाओं के मनोविनोदों का विस्तार से उल्लेख किया है। ये विनोद इस प्रकार थे—

कभी वह अपनी प्रणयिनी स्त्रियों के साथ विषय-सुखों का अनुभव करता। कोई चंदन का जल छिड़क कर और अपनी अमृतमयी मुस्कान से उसे नहला देती।[1] कोई कर्णोत्पलों को और लोचनांशुओं को भी उसकी ओर चलाती। कोई कुंकुम की मूठों से और आभूषणों की प्रभा से उसे चौंधिया देती। कोई धवलांशुकों से और कर-नखों के किरण-जाल से उसे आहत करती। कोई चंपा की पुष्पमालाओं से और भुजलताओं से उसे बाँधती। कोई अधरपान करते हुए उसे हाथों से झटक कर कंकण का मधुर शब्द उत्पन्न करती।

१—कालिदास ने इन विविध चेष्टाओं को प्रणय की अग्रदूतियाँ कहा है (रघुवंश ६।१२)।

किसी के कानों के हाथी दाँत के पत्ते शैय्या पर गिर जाते। क्रीड़ा के समय किसी के उठे हुए चरणों का अलक्तक-राग उसके शेखर को रँग देता।[१] केशाकर्षण में किसी का मणि-कर्णफूल भग्न हो जाता। किसी के हुलसाए हुए कुचों पर काले अगुरु से बने हुए पत्रलता के अलंकरण से शैय्या की चादर अंकित हो जाती (विपरीत रति)। किसी के सुरत-श्रम से उत्पन्न स्वेद-जलकणों से गोरोचना के तिलक की पत्रावली मिट जाती।

कभी वह रंगभरी सुनहली पिचकारियों (कनकशृंगकोष) से अपनी स्त्रियों के साथ देर तक क्रीड़ा में लगा रहता। कोई उस पर केसरिया जल छोड़ती, कोई लाखी जल से उसका दुकूल रँग देती और कोई कस्तूरी के सुगंधित जल से उसकी देह के चंदन को शबलित कर देती।

कभी वह गृह-दीर्घिकाओं के जल में अपनी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा करता।[२] कहीं दीर्घिका के जल में स्नान-क्रीड़ा करती हुई स्त्रियों के स्तनों का चंदन पानी में मिलकर उसे धवलित कर देता। कोई झंकारते हुए चंचल पायल[3] पहन कर पानी में पैर लटका कर बैठती और उसे झकोरती तो उनके आलता राग के जल में मिल जाने से उसकी छींटें पाले हुए हंसों पर जो रक्तोत्पल के लोभ से वहाँ आते पड़कर शोभा उत्पन्न करतीं। किसी की विगलित अलकावली से टपके हुए फूल जल को शबलित कर रहे थे। किसी के कानों में खोंसे हुए नील कमल के पत्ते दीर्घिका के जल में तैर रहे थे। किसी के स्नान की लहरियाँ दीर्घिका के जल को क्षुभित कर रही थीं। उखड़े हुए कमलों की धूलि जल के ऊपर उतिरा रही थी। हाथों से झकोलने के कारण पानी में फेन बिंदु उठ रहे थे।

कभी वह प्रणयिनी स्त्रियों को संकेत स्थान पर बुलाकर स्वयं उपस्थित न होता, अतएव वे खीझकर भौंहें टेढ़ी करके झंकारते हुए मणि कंकणों द्वारा अलंकृत भुजाओं में मौलसिरी की माला लेकर उनसे उसके पैर बाँधकर कुसुमदाम से उसका ताड़न करतीं।

१—यहाँ कवि ने काकली बंध का संकेत किया है।

२—यहाँ जलक्रीड़ा से संबंधित कई प्रकार की अवांतर चेष्टाओं का उल्लेख किया गया है। दीर्घिका राजभवन में दौड़ती हुई जल की लंबी नहर की अन्वर्थ संज्ञा थी। उसमें बीच-बीच में छोटी बड़ी-बड़ी वापियाँ बनी रहती थीं। उनमें कई प्रकार का सुगंधित जल भरा जाता था।

३—इसके लिये मूल में चटुला तुलाकोटि शब्द है। तुला या तराजू की डंडी के समान सोने की डंडी को पोली रखकर उसे मोड़कर यह आभूषण बनाया जाता था। हमने इसे पायल माना है।

कभी बकुलवृक्ष के समान कामिनियों के मुँह में भरे हुए मद्य के गंडूषसेक से प्रसन्नता का अनुभव करता ।[1]

कभी अपनी स्त्रियों के साथ अशोक दोहद की क्रीड़ा में स्वयं अशोक बन जाता और युवतियाँ अपने चरण तल के प्रहार से उसे अलक्तक राग से रँग देतीं ।

कभी बलभद्र के समान चंदन-चर्चित होकर और कंठ में खिले पुष्पों की माला पहन कर स्त्रियों के साथ पान में आसक्त होता ।

कभी कपोल पर लटकते हुए कर्णपल्लवों से सुशोभित हो मैंगल हाथी के समान झूमता हुआ स्त्रियों के साथ खिली हुई वनलताओं के पुष्पों की सुगंध लेता हुआ वन-विहार करता ।

कभी उनके झंकृत मणि-नूपुरों से चित्त में प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ हंस की तरह रमण करता ।

कभी सिंह के समान क्रीड़ा-पर्वतों में विचरण करता ।

कभी खिलते हुए पुष्प-कुड्मलों से भरे हुए लतागृहों में भ्रमर के समान एक से दूसरे में घूमता फिरता ।

कभी नील-पट का अवगुंटन ओढ़कर अँधेरी रात्रियों में संकेत स्थल पर सुंदरियों से अभिसार करने जाता ।

कभी अपने महल के ऊपरी भाग के उस स्थान विशेष में जिसे प्रासाद-कुक्षि[2] कहते थे, वातायनों के सुवर्णमय कपाट खोलकर कुछ चुने मित्रों के साथ अंतःपुर-संगीतक का निरीक्षण करता, जिसमें वीणा, वेणु और मृदंग वाद्य बजाए जाते थे (वीणावेणुमुरजमनोहर-मन्तःपुरसगीतकं ददर्श) ।[3]

१—शृंगार चेष्टाओं के इस अभिप्राय का और अशोक दोहद का उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्रायः पाया जाता है ।

२—धवलगृह के ऊपरी तल्ले में सामने की ओर प्रग्रीवक या मुखशालिका, पीछे चंद्रशालिका और दोनों ओर के पार्श्व भागों में तथा प्रग्रीवक के सामने की ओर भी प्रासाद कुक्षियाँ बनी होती थीं । इन्हें हर्म्यकुक्षि भी कहा गया है । अनु० ८१ में हर्म्य-कुक्षियों का और अनु० ८३ में उनके वातायनों या गवाक्षों का उल्लेख आया है । चंद्र-शालिका और प्रग्रीवक को मिलाने वाले लंबे दालान प्रासादकुक्षि कहलाते थे । बनमें बाहर की ओर से हवा आने के लिये वातायन या गवाक्ष-जाल बने रहते थे जिनमें किवाड़ें लगी रहती थीं जो इच्छानुसार खोली या बंद की जा सकती थीं । उन्हीं का यथार्थ उल्लेख बाण ने यहाँ किया है (हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०८, फलक २८) ।

३—संगीतक एक प्रकार का दृश्य नाट्य होता था जिसमें संगीत के साथ साथ अभिनय भी चलता था । राजा अपने चुने हुए मित्रों के साथ अंतःपुर में संगीतक

अधिक कहने से क्या ? पृथिवी के अन्य सब कार्य तो उसके लिये समाप्त हो चुके थे, अतएव जो सुंदर और अभिमत था, एवं इस लोक और परलोक से अविरुद्ध था[१] उस सुख का वह सेवन करता था, कुछ व्यसनी होने के कारण नहीं। जिसकी प्रजा सुखी हो, जो आवश्यक पार्थिव कर्मों को समाप्त कर चुका हो ऐसे राजा के लिये विषयों के उपभोग में प्रवृत्ति उसकी शोभा है, और के लिये वह भारी वंचना है। इस प्रकार वह अपने अंतःपुर में समय बिताते हुए बीच-बीच में प्रजाओं को नित्यप्रति दर्शन देने के लिये और विशेष अवसरों पर दरबार आदि के लिये बाहर आता था।

(५१)

मंत्री शुकनाश भी राज्य के भारी बोझे को बिना श्रम के अपने प्रज्ञाबल से वहन करता और जैसे राजा वैसे ही वह भी प्रजाओं के प्रति दुगुने प्रेम से सब कार्य करता था। सब राजा चूड़ामणि, मौलि और कुसुम-शेखरों से अलंकृत अपने मस्तक झुकाकर शुकनास को भी प्रणाम करते थे।[२]

देखते थे। उसमें अभिनय करने वाली प्रायः वार-वनिताएँ होती थीं। चतुर्भाणी के अंतर्गत वररुचि कृत उभयाभिसारिका नामक भाण में इस प्रकार के संगीतक का उल्लेख आया है जिससे उसके स्वरूप पर निश्चित प्रकाश पड़ता है—

भगवतोऽप्रतिहतशासनस्य कुसुमपुरपुरंदरस्य भवने पुरंदरविजयं नाम संगीतकं यथा-रसाभिनयमभिनेतव्यमिति देवदत्तया सह मे पणितः संवृत्तः (उभयाभिसारिका, पृ० १२); अर्थात् अप्रतिहत शासन, कुसुमपुर के महेंद्र (महाराज कुमारगुप्त) के भवन में पुरंदर-विजय नाम का संगीतक यथोचित रसाभिनय के साथ अभिनय करना है—यह देवदत्त के साथ मेरी शर्त हुई है। यह उल्लेख पाँचवीं शती के आरंभ का है और निश्चय ही महाराज कुमारगुप्त के पाटलिपुत्र-स्थित सुगांगेय प्रासाद में आयोजित पुरंदरविजय नामक किसी संगीतक का संकेत करता है।

१—इस प्रसंग में प्रयुक्त आयति और तदात्व पारिभाषिक शब्द हैं। आयति आने वाले उस लोक के परोक्ष जीवन को और तदात्व इसी लोक के प्रत्यक्ष जीवन को कहते थे। महाभारत में इन दार्शनिक शब्दों का प्रयोग आया है (उद्योग० ३६।४१)। भाग्यवादी मंखलि गोसाल और लोकायतवादी बृहस्पति तदात्व या प्रत्यक्ष जीवन को ही मानते थे; किंतु विदुर सदृश प्रज्ञावादी या पुरुषार्थवादी दार्शनिक आयतिक या परोक्ष जीवन में भी विश्वास रखते थे। पद्मप्राभृतक नामक भाण में भी इन शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि बाणके युग की सांस्कृतिक शब्दावली में ये शब्द पुनः प्रचलित हो गए थे।

२—इन तीनों आभूषणों का उल्लेख हर्ष के वर्णन में आया है। सम्राट् होने के कारण हर्ष तीनों आभूषण एकसाथ पहने हुए था।

जब वह हाथी घोड़े और पदातियों की सेना सजाकर चलता तो सेना की धूलि से दिशाओं में अंधकार छा जाता था।[1]

(५२)

यों मंत्री को राज्य सौंपकर यौवन सुख भोगते हुए राजा का समय बीत रहा था। दीर्घ अवधि में उसने इस लोक के सब प्रकार के सुखों का अंत देख लिया। केवल पुत्र के मुख-दर्शन का सुख उसे नहीं मिला। एक प्रकार से उसका समस्त अंतःपुर निष्फल ही रहा। जैसे-जैसे यौवन बीतता जाता वैसे वैसे पुत्र के अभाव में उसका संताप बढ़ने लगा। विषय सुख की इच्छा भी मन में न रही। सब कुछ होते हुए भी वह अपने को निरालंब मानने लगा।

(५३)

उसकी पटरानी विलासवती थी जो सारे अंतःपुर में प्रधान थी। वह सागर की वेला, दिग्गज की मदलेखा, बलराम की वनमाला, वसंत की पुष्पविभूति, चंद्रमा की चाँदनी, सरोवर की कमलिनी, मानस की हंसमाला के समान सुंदर और त्रिभुवन का भूषण थी। एक बार जब राजा उसके आवास में गए तो भारी चौकी पर बैठी हुई उसे रोते हुए देखा। उसका मुँह बाईं हथेली पर रक्खा था, बाल खुले थे, गहने उतार कर रख दिए थे, आँसुओं से दुकूल भीग गया था। शोक से जड़ीभूत परिजन चारों ओर घेरे हुए थे, कंचुकी पास में खड़े हुए एकटक नेत्रों से देख रहे थे और समीप में ही बैठी हुई अंतःपुर की बड़ी बूढ़ियाँ दिलासा दे रही थीं। रानी ने उठकर राजा का स्वागत किया। फिर राजा ने उसे उसी चौकी पर बैठाया और आप भी बैठ गए। उसके रोने का कारण न जानने से डरकर राजा ने उसके गाल पर बहते हुए आँसू हथेली से पोंछे और कहा—'देवि अंतर में भरे हुए किस शोक भार से चुपचाप रो रही हो? मोतियों के जालों की तरह बरौनियों से आँसू गिर रहे हैं। हे सुंदरि, तुमने शृंगार क्यों नहीं किया? पैरों में आलता क्यों नहीं लगाया? मणि नूपुर क्यों नहीं पहने? आज यह मध्य भाग मेखला से सूना क्यों है? स्तनों पर काले अगुरु से पत्रभंग-रचना क्यों नहीं की? कंठ में हार क्यों नहीं पहना? कपोलों पर बनी हुई कुंकुम की पत्रलताओं को अश्रुजल से क्यों वृथा कर रही हो? कानों में कर्णफूल क्यों नहीं पहना? ललाट पर गोरोचना का तिलक क्यों नहीं लगाया? केश क्यों खुले हैं? तुम्हारा कुसुम-रहित केशपाश देखकर मेरी आँखों को बहुत दुःख हुआ है। हे देवि, प्रसन्न हो, और अपने दुःख का कारण बताओ। तुम्हारे दीर्घोच्छ्वासों से जैसे स्तनांशुक वैसे ही मेरा हृदय भी काँप रहा है। क्या मैंने कुछ अपराध किया है या हमारे आश्रित किसी परिजन से कुछ भूल हुई है?

१—यह उल्लेखनीय है कि गुप्तकाल की सेना में रथ का वर्णन नहीं मिलता जैसा यहाँ भी नहीं है।

बहुत सोचने पर भी मुझे तुम्हारे प्रति अपनी भूल नहीं मालूम होती। मेरे प्राण और राज्य तुम्हारे ही अधीन है। सुंदरि, शोक का कारण कहो। राजा के इस प्रकार कहने पर भी जब विलासवती ने कोई उत्तर न दिया तब राजा ने परिजनों से उसके रोने का कारण पूछा।

(५४)

तब सदा निकट रहने वाली मकरिका नामक उसकी तांबूल करंकवाहिनी ने कहा—'देव, आपसे तो किंचित् भी भूल कहाँ संभव है ? आपके सामने परिजन या किसी दूसरे व्यक्ति की अपराध करने की सामर्थ्य ही कहाँ हो सकती है ? किंतु राजा के साथ मेरा समागम व्यर्थ गया, यही विचार देवी के संताप का कारण है। बहुत दिनों से ये दुःखी हैं। पहले भी स्वामिनी शोकयुक्त रहती थीं पर परिजनों के समझाने से शयन, स्नान, भोजन, भूषण आदि दिवस-व्यापार किसी प्रकार कर लेती थीं। आपके मन को दुःख न हो इसलिये शोकसूचक कोई चिन्ह प्रकट न करती थीं। आज चतुर्दशी है, यह सोचकर ये भगवान् महाकाल की पूजा के लिये गई थीं। वहाँ महाभारत की कथा में इन्होंने सुना कि जो पुत्र-हीन हैं उनकी सद्गति नहीं होती। जो पुंनाम के नरक से बचाता है वही पुत्र है। यह सुनकर घर लौटने पर इन्होंने परिजनों के प्रणामपूर्वक प्रार्थना करने पर भी आहार में रुचि नहीं ली, न भूषण पहने और न उत्तर देती है; केवल निरंतर आँसुओं की धारा बहाकर रोती रही हैं। यह जानकर देव जो आज्ञा दें वह हम करें।' इतना कहकर वह चुप हो गई।

(५५)

उसके वचन सुनकर राजा कुछ देर चुपचाप सोचते रहे, फिर गहरी साँस छोड़ते हुए कहने लगे—'देवी, दैवाधीन इस विषय में क्या किया जाय ? अतएव अति रुदन छोड़ो। देवताओं के अनुग्रह के योग्य हम प्रायः नहीं हैं। पुत्र के आलिंगन रूपी अमृत-सुख का स्वाद लेने के लिये हमारा हृदय अपात्र है। जन्मांतर का किया हुआ कर्म ही पुरुष को इस जन्म में फल देता है। विद्वान् भी दैव को नहीं मेट सकते। मनुष्य होकर जो किया जा सकता है वह सब करना चाहिए। हे देवि, गुरुजनों में भक्ति बढ़ाओ, देवताओं की पूजा दूनी कर दो, ऋषिजनों की सेवा में मन लगाओ। ऋषि ही बड़े देवता हैं। यदि यत्न से उन्हें प्रसन्न किया जाय तो दुर्लभ वरदान देकर मनचाहा फल प्राप्त करा देते हैं। सुनते हैं पहले चंड-कौशिक के प्रभाव से मगध के बृहद्रथ ने विष्णु को भी जीतने वाला अतुलित बलशाली जरासंध नामक पुत्र प्राप्त किया था। दशरथ ने बुढ़ापे में विभांडक मुनि के पुत्र ऋष्यश्रृंग की कृपा से चार पुत्र प्राप्त किए थे। और भी राजर्षियों ने तपस्वियों को प्रसन्न करके पुत्र दर्शन का सुख पाया है। महामुनियों की सेवा अवश्य फलती है। मेरा मन भी अनेक प्रकार के मनोरथों को सोचता हुआ अंतःसंताप के कारण रात्रि में सुख नहीं पाता। जैसे, कब मैं देवी को प्रवृद्ध गर्भ के कारण अलसाई अवस्था में देख पाऊँगा ? कब पुत्र-जन्म-महोत्सव से हुल-

लाए हुए परिजन मेरे पास पूर्णपात्र[1] लेकर आयेंगे ? कब पीलिया[2] पहन कर पुत्र को गोद में लिए हुए देवी मुझे आनंदित करेंगी ? कब पुत्र का दँतुलियों से रहित खिलखिलाता मुँह देखकर मेरा हृदय सुखी होगा ? कब उसके गभुआरे बाल औषधियों से रक्त-पीत दिखाई देंगे ? कब उसके तालु पर रक्षा-घृत की बूँद के साथ पीली सरसों मिली हुई भस्म लगी हुई देखूँगा ? कब कंठ में पहनाए हुए सूत्र की गांठे गोरोचन से रँगी हुई दिखाई देंगी ? कब अंतःपुर की परिचारिकाओं के हाथ की उँगलियाँ पकड़ कर वह मंगल-प्रदीप की भाँति पीली देहकांति से मेरे नेत्रों का शोकांधकार दूर करेगा ? कब वह धूल में सनी हुई देह से मेरे राजभवन के आँगन को एवं मेरी दृष्टि और हृदय को भूषित करेगा ? कब वह सिंह-किशोर की भाँति बकैयाँ चलता हुआ स्फटिक मणि की भित्तियों के उस पार दिखाई देने वाले मृगछौनों को पकड़ने के लिये दौड़ेगा ? कब वह अंतःपुर में झंकारते हुए नूपुरों की ध्वनि पर किलकारने वाले कलहंसों का पीछा करता हुआ राजभवन की भीतरी कक्ष्या से दूसरी कक्ष्या में दौड़ जायगा और बजने वाले घुँघरूओं से युक्त करधनी का शब्द सुनकर पकड़ने के लिये पीछे भागती हुई अपनी धात्री को थका डालेगा कब ?[3] कब वह मत्त गजराज की लीलाक्रीडाओं से मिलती हुई क्रीडाएँ करके चित्त प्रसन्न करेगा, जैसे काले अगुरू से अपने गाल पर मद बहने जैसी रेखाएँ खींच लेगा, मुँह से डिंडिम जैसी ध्वनि निकाल कर प्रसन्न होगा ? हाथ उठाकर फेंके हुए चंदन के चूर्ण की धूलि से स्वयं ऐसे धूसरित हो जायगा जैसे हाथी सूँड़ में धूल भरकर अपने ऊपर फेंकता स्वयं उससे सन जाता है ? कब उँगलियों को अंकुश की भाँति टेढ़ी करके उनसे अपने सिर को आगे-पीछे करेगा ? कब माँ के पैर में लगने से बचे हुए आलते के रस से बूढ़े कंचुकियों के मुखों को रँगकर बिगाड़ेगा ? कब चमकते फर्श में कुतूहल भरे चंचल नेत्रों से अपनी ही परछाईं देखते हुए रुक-रुक कर उसे पकड़ने का प्रयत्न करेगा ? कब आस्थान मंडप में मेरे सामने इधर से उधर भागेगा जब

१—उत्सवेषु सुहृद्भिर्यद्बलादाकृष्य गृह्यते ।
 वस्त्रं माल्यञ्च तत्पूर्णपात्रं पूर्णानकञ्च तत् ॥
 (भानुचंद्र की टीका में उद्धृत श्लोक) ।

२—हारिद्रवसनधारिणी । हारिद्रवसन=हल्दी में रँगा हुआ वस्त्र जिसे आजकल पीलिया कहते हैं । विवाह से पहले कन्या श्वेत वस्त्र पहनती है । सप्तपदी के बाद विवाह हो जाने पर वह लाल चुनरी पहनने योग्य बनती है और पुत्रजन्म के बाद माता बनने पर उसे पीला वस्त्र या पीलिया पहनने का सौभाग्य प्राप्त होता है ।

३—कक्ष्यांतर धावितः—आशय यह है कि राज-भवन की जिस भीतरी कक्ष्या में राजा-रानी रहते थे उससे भागकर कुमार बाहरी कक्ष्या में चला आता है और जब धात्री को उसका पता उसकी करधनी के बजते घुँघरू सुनकर लगता है तो वह उसे पकड़ने के लिये दौड़ती है, पर वह एक जगह से दूसरी जगह भागकर उसे थका डालता है ।

सहस्रों राजा भुजा फैलाए हुए इशारे से उसे अपनी ओर बुलाते होंगे ?' यहाँ बाण ने तारापीड़ के सोचे हुए संकल्पों के व्याज से पुत्र की बाल-लीलाओं का सहृदयता पूर्ण चित्र खींचा है ।

राजा ने रानी से फिर कहा—'निस्संतान होने का यह शोक प्रतिदिन अग्नि की भाँति मुझे भी जला रहा है । मेरे लिये सारा संसार सूना है । राज्य का कोई फल मुझे नहीं दिखाई देता । जिसका कोई प्रतिकार न हो, ऐसे विधाता के सामने क्या किया जाय ? देवि, शोक छोड़ो, धैर्य धारण करो और धर्म में मन लगाओ । कल्याणकारी फल सदा धर्मात्मा लोगों के पास आ जाते हैं ।' यह कहकर राजा ने स्वयं अपने हाथ में जल लेकर रानी का मुँह धोया और धर्मोपदेश युक्त मधुर वाणी से उसका शोक दूर करते हुए बहुत देर तक वहाँ बैठकर वे बाहर चले आए ।

[५६]

उनके जाने पर रानी विलासवती ने शोक कम होने से शृंगार आदि की क्रियाएँ कीं । तब से वह देवों की अर्चना में, ब्राह्मणों की पूजा में और गुरुजनों की सेवा में आदर दिखाने लगी । जो जो जिससे सुनती, पुत्र की लालसा से वैसा करती और उसमें भारी कष्ट को भी कुछ न गिनती थी । श्वेत वस्त्र पहन कर चंडिका भवन में गूगल जलाती और उपवास करके कांटेदार[1] शय्या पर हरी कुशा बिछा कर सोती थी । विविध फूल-फलों से युक्त दूधिया पेड़ों के पत्तों से अलंकृत रत्नगर्भित सोने के घड़ों में पवित्र जल भरकर गोकुलों में लक्षणवती गायों के नीचे बैठकर स्नान करती और वृद्ध गोप-वनिता उसके लिये मंगल मनाती थी । प्रतिदिन उठकर वह रत्नों से युक्त सोने के तिल-पात्र ब्राह्मणों को दान देती थी । कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में चौराहे पर महागारुडिक[2] द्वारा बनाये हुए मंडल के बीच में बैठकर दिग्देवताओं को बलि से प्रसन्न करके मंगल-स्नान करती थी । वह सिद्धायतनों में जाकर रहती और भिक्षा-वृत्ति से जीविका करती हुई देवताओं की विलक्षण पूजा करती थी ।[3] जिनके प्रभाव का लोक में परिचय था ऐसे मातृभवनों[4] में उसने मानता मानी,

---

१—मुसलशयन—वह शय्या जिसमें नुकीली कीलें लगी हों ।

२—मूल में महानरेंद्र शब्द है । भानुचंद्र ने महानरेंद्र का अर्थ महाराज किया है किंतु नरेंद्र गारुडिक को भी कहते थे और वही अर्थ यहाँ इष्ट है । शिशुपाल वध २।८८ में भी नरेंद्र या विषवैद्य द्वारा मंडल में नाग साधने का उल्लेख आया है (तंत्रावापविदा योगैर्मंडलान्यधितिष्ठता । सुनिग्रहा नरेंद्रेण फणींद्रा इव शत्रवः) ।

३—देवतोपयाचितकानि सिषेवे—उपयाचितक=भैक्ष्यचर्या (भानुचंद्र) ।

४—मातृ-भवन=मातृ देवियों की पूजा के लिये प्रायः प्रत्येक गाँव के पास मातृ-

नागदेवताओं की प्रसिद्ध पुष्करिणियों में स्नान किया[1] और अश्वत्थ आदि महावनस्पतियों की पूजा और प्रदक्षिणा करके उनकी वंदना की। जड़ाऊ दोलावलय[2] धारण किए हुए दोनों हाथों में चाँदी का पात्र लेकर उसमें अखंड चावलों से बनाया हुआ दही-भात रखकर उसकी बलि कौओं को खिलाती थी। पुष्प, दूध, विलेपन, अपूप, चावल की पीठी और तिल से बनाए हुए अंदरसे [3], खीर और पूजा के अक्षतों से अंबादेवी की दिन-दिन पूजा करती थी। वह शुभाशुभ बताने वाली स्त्रियों (विप्रश्निका) की बात का बहुत विश्वास मानती; निमित्त बताने वाले[4] लोगों के पास जाकर फल पूछती और शकुन जानने वालों का भी आदर करती। बड़े बूढ़ों की परंपरा में जो स्वीकृत आगम हैं उन बातों में भी विश्वास करने लगी। दर्शनार्थ आए हुए ब्राह्मणों से पुत्र-जन्म के लिये वेदपाठ कराती। निरंतर पुण्य कथा बँचवाकर सुनती थी। गोरोचन से भोजपत्र पर मंत्र लिखवाकर और उसे रक्षा-करंडक (ताबीज) में रखकर बाँधती थी।[5] हाथ में राखी के साथ पवित्र और मंत्रपूत ओषधियाँ बाँधती थी। उसके परिजन भी उपश्रुति[6] देवी से देवप्रश्न सुनने के लिये जाते

भवन होता था जिसमें अनेक मातृदेवियों की मूर्तियाँ पधराई जाती थीं। अहिच्छत्रा की खुदाई में एक मातृभवन पाया गया था जिसमें मातृदेवियों की पचासों मूर्तियाँ एक साथ मिली थीं।

१—दधिकर्ण, तक्षक, मणिकार, एलापत्र आदि प्रधान नागदेवताओं की सूची महाभारत में तथा अन्यत्र पाई जाती है। उनकी मूर्तियाँ ह्रद या पुष्करिणियों के तट पर स्थापित की जाती थीं। इस प्रकार की अनेक पुष्करिणी और नाग-देवों की मूर्तियाँ मथुरा की कुषाण-कला में पाई गई हैं।

२—दोलायमान मणिवलयेन—रत्नजटित ऐसा वलय जो बड़ा होने के कारण हाथ में ढीला रहता था। इसका उल्लेख पहले भी आया है। दोलावलय का अंकन अहिच्छत्रा से प्राप्त किन्नरमिथुन मूर्ति में पाया गया है। हर्षचरित में भी दोलायमान वलय का उल्लेख है (हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १७७)।

३—पलल = पिष्टतिलयोजितमन्नं पललम् (भानुचंद्र)।

४—अंगविद्या के अनुसार आठ प्रकार के निमित्तों के आधार पर शुभाशुभ फल का कथन करनेवाले अंगविद्यावित् आचार्य जिन्हें लोक में अंगवित् या अंगवी भी कहा जाता था। अंग-विद्या नामक एक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथ हाल में प्राप्त हुआ है।

५ गोरोचन लिखित भूर्जपत्र गर्भान् मंत्रकरंडकान्-मंत्रकरंडक को कालिदास ने रक्षा करंडक भी कहा है। यह ठीक आजकल का ताबीज होता था (शकुंतला, अंक ७—अहो रक्षाकरंडकमस्य मणिबंधे न दृश्यते)।

६—अदृष्ट कथन करनेवाली एक देवी—नक्तं निर्गत्य यत्किंचिच्छुभाशुभकरं वचः। श्रूयते तद्विदुर्धीरा दैवप्रश्नमुपश्रुतिम्॥ उद्योगपर्व (१४।१-४) में उपश्रुति देवी की सहायता से इन्द्राणी छिपे हुए इन्द्र का पता लगाती है।

थे और निमित्त लाते थे। वे रात में शृंगालियों के लिये मांसबलि के पिंडे भी फेंकते थे। स्वप्न में देखे हुए आश्चर्यों को गुरुओं से जाकर कहती और उनका फल सुनती थी तथा चौराहे पर शिवबलि छोड़ती थी।

इस लंबी सूची में बाण ने उस युग के अनेक अंधविश्वासों की ओर संकेत किया है जो राजघरानों तक में प्रचलित थे। लोक में फैले हुए नाना प्रकार के हीन मत-मतांतरों में इस प्रकार के अंधविश्वासों का बड़ा गड़बड़झाला इकट्ठा हो गया था।

[५७]

समय बीतने पर राजा ने रात्रि थोड़ी रह जाने पर स्वप्न में क्या देखा कि सब कलाओं से परिपूर्ण चंद्रमा सौध पर बैठी हुई रानी के भीतर प्रवेश कर रहा है। जागकर नेत्रों में प्रसन्नता का भाव भरकर उन्होंने उसी क्षण शुकनास को बुलाकर वह स्वप्न सुनाया। मंत्री ने प्रसन्न होकर कहा—'देव बहुत समय बाद हमारा और प्रजाओं का मनोरथ पूर्ण हुआ। कुछ ही दिन में पुत्र का मुख देखकर आप आनंदित होंगे। आज मैंने भी रात्रि में स्वप्न में देखा है कि श्वेत वस्त्र पहने हुए शांतमूर्ति दिव्यस्वरूप किसी ब्राह्मण ने चंद्रकला के समान केसर और मकरंद से युक्त खिला हुआ कमल देवी मनोरमा की गोद में रख दिया है। निकट आए हुए आनंद को शुभ निमित्त आगे आकर बताते हैं। इससे अधिक प्रिय आनंद का कारण और क्या होगा? रात्रि के अंत में देखे गए स्वप्न प्रायः सच्चे होते हैं। अवश्य ही अब देवी समस्त राजर्षियों को आनंद देनेवाले पुत्र को शीघ्र जन्म देंगी। शरत्काल में जैसे कमलिनी कमल पुष्प से गंध-गज को आनंदित करती है वैसे ही देवी देव को आल्हादित करेंगी। स्वामी की कुल संतति अविच्छिन्न बढ़ेगी और पृथिवी का भार धारण करने में समर्थ होगी।' यों कहते हुए मंत्री शुकनास का हाथ पकड़कर राजा उसे अंतःपुर में ले गए और दोनों स्वप्न सुनाकर विलासवती को आनंदित किया।

[५८]

कुछ दिनों के बाद देवता की कृपा से रानी विलासवती ने गर्भ धारण किया। इससे वे अत्यंत सुशोभित लगने लगीं। गर्भ के व्याज से राजा का प्रतिबिंब रानी के भीतर संक्रांत हुआ। शनैः शनैः दिन-प्रतिदिन गर्भ बढ़ने लगा और समुद्र का जल पीकर मंथर बनी हुई मेघावली के समान रानी की गति में मंदता आ गई। उन्हें बार-बार जँभाइयाँ आने लगी उनके नेत्र कुछ टेढ़े हो गए तथा अलसाकर श्वास लेने लगीं। गर्भ के बढ़ते हुए लक्षणों से और उनकी पीली देहकांति से परिजनों ने जान लिया कि रानी गर्भवती हुई और तदनुसार वे अनेक वांछित रसों से युक्त पान और भोजन बिना कहे ही उन्हें निवेदित करने लगे।

[५९]

उनके सब परिजनों में प्रधान और राजकुल में रहने से चतुर कुलवर्धना नाम की

महत्तरिका[1] ने सायंकाल के समय राजा के पास जाकर उनके कान में रानी के गर्भवती होने का हाल कहा। राजा उस समय अभ्यंतरास्थान-मंडप में बैठे हुए थे। सुगंधित तेल के सहस्रों दीप वहाँ जल रहे थे। उनके साथ कुछ चुने हुए और मूर्धाभिषिक्त राजा थे। परिजन लोग पास में खड़े थे और बराबर में ऊँचे वेत्रासन पर धुले हुए वस्त्र पहने मंत्री शुकनाश राजा के साथ उन-उन कथाओं में संलग्न थे।

[६०]

उस अश्रुतपूर्व वचन ने जैसे राजा के सर्वांग शरीर में अमृत का रस निचोड़ दिया। उनका शरीर हर्ष से रोमांचित हो गया और आनंद से खिलकर तत्क्षण उनकी दृष्टि मंत्री शुकनाश के मुख पर पड़ी। मंत्री ने राजा के मुख पर वैसा हर्ष पहले कभी न देखा था। उससे और कुलवर्धना की मुस्कान से वे सब समझ गए और अपना आसन राजा की ओर बढ़ाकर और निकट आकर धीमे से कहा—'देव क्या उस स्वप्न में कुछ सत्य है ? कुलवर्धना बहुत प्रसन्न दिखाई देती है। उसके प्रिय वचन सुनकर देव के नेत्र भी विकसित होते हुए महत् हर्ष का कारण सूचित करते हैं। मेरा मन भी उस आनंददायी कुतूहल को सुनने के लिये उत्सुक है। तो कृपाकर कहें क्या बात है।' राजा ने हँसकर कहा—'यदि इसका कहना सच है तो स्वप्न-दर्शन सच्चा हुआ। पर मुझे विश्वास नहीं होता। हमारा इतना भाग्य कहाँ ? ऐसे प्रिय वचन सुनने की पात्रता हममें नहीं। कुलवर्धना तो मिथ्यावादिनी नहीं,

---

१—अंतःपुर की समस्त स्त्री-प्रतिहारियों की अध्यक्षा महत्तरिका कहलाती थी। महत्तरिका का पद अंतःपुर में अति विशिष्ट माना जाता था। उसके गौरव का कुछ अनुमान कालिदास के वर्णन से किया जा सकता है। उसे दौवारिकी (रघुवंश ६।५६), प्रतिहाररक्षी (रघु० ६।२० प्रतिहार=द्वार उसकी रक्षिका), द्वार पालिका (राजकुल के द्वार की प्रधानाध्यक्षा या वहाँ की स्थिति के पूरे दायित्व की निर्वाहिका), प्रतिहार भूमौ नियुक्ता (६।३१, प्रतीहार पदवी पर नियुक्त), राज्यशासन से अधिकृत कहा गया है। अंतःपुर की सर्वविध रक्षा का भार उसी पर था, जैसा शुद्धांतरक्षी उसके इस विशेषण से सूचित होता है। वह राजकुमारी की धात्री (रघु० ६।८२) होती थी। मल्लिनाथ ने धात्री का अर्थ उपमाता किया है जिससे उसके पद का गौरव सूचित होता है। उसे जन्या (रघु० ६।३०) भी कहा है जिसका पर्याय मातृ-सखी था, अर्थात् कुमारी के लिए वह उसकी माता के समान आदरणीया होती थी। किंतु जन्म से साथ रहने के कारण वह कुमारी से इतनी हिल जाती थी कि आपस में हास परिहास कर सकती थी, जैसा कवि ने सुनंदा के विषय में लिखा है—तथा गतायां परिहासपूर्व सख्या सखी वेत्रभृदाबभाषे (रघु० ६।८२)। वह कुमारी के सब कार्यों में सच्चे अर्थों में उसकी सखी या सहचरी होती थी। उसे वेत्रग्रहण में नियुक्त (६।२६) या वेत्रभृत् सखी भी कहा गया है (६।८२)। वेत्र उसके अधिकार का प्रतीक थी जिसे अन्तःपुर के लिए राजदंड का प्रतिनिधि माना जाता था। शुद्धांत या अन्तःपुर के भीतर कोई भी व्यक्ति महत्तरिका की आज्ञा का उल्लंघन न कर सकता था।

किंतु मैं अपने लिये ऐसा कल्याण असंभव ही देखता हूँ, इसलिये लगता है उसने विपरीत कहा हो। तो उठिए, स्वयमेव जाकर 'सत्य क्या है' यह देवी से पूछकर जाना जाय।' यह कह उन्होंने राजाओं को बिदा किया और अपने शरीर के आभूषण उतार कर कुलवर्धना को दिए। राजा का प्रसाद पाते ही उसने भूमि में मस्तक टेककर राजा को प्रणाम किया। तब राजा शुकनास के साथ उठकर हर्ष के साथ शीघ्रता से कुछ बहुत ही चुने हुए परिजनों से अनुगत संचारिणी प्रदीपिकाओं के आलोक में अंतःपुर में आए।

[६१]

वहाँ वास-भवन में उन्होंने गोरोचना से चित्रित अति श्वेत दुकूल वस्त्र पहने हुए रानी विलासवती को देखा। चूने की नई पुताई से वह भवन धवलित था। उसमें मंगल प्रदीप का प्रकाश था। द्वार के दोनों पार्श्व भागों में पूर्णकलश स्थापित थे। भित्तियाँ नवीन मांगल्य चित्रों के आलेखन से उज्ज्वल और मनोहर दिखाई दे रही थीं। श्वेत चंदोवा ताना गया था जिसके सिरे पर चारों ओर मोतियों के लटकन लगे हुए थे। वास-भवन के भीतर मणिदीपों का प्रकाश भर रहा था। रानी गर्भावस्था के उपयुक्त पलंग पर लेटी हुई थी। पलंग के चारों ओर रक्षा के लिये शृंगार रचना युक्त पत्रलताओं के अलंकरण लिखे गए थे।[1] सिरहाने की ओर श्वेत निद्रा-मंगलकलश रखा हुआ था। पलँग में अनेक प्रकार की औषधियाँ और यंत्र बाँध दिये गए थे। उसके दोनों ओर रक्षा के लिये देवी के गंडे रक्खे हुए थे (रक्षा शक्तिवलय) इधर-उधर पीली सरसों छितराई गई थीं। बालों की बटी हुई डोरियों में गुँथे हुए पीपल के चंचल पत्ते पलंग से लटकाए गए थे। नीम के हरे पत्ते उसमें खोंसे हुए थे। ऊँचे पायों के नीचे पीढे या पड़वाए रखे हुए थे। पलँग पर उज्ज्वल चादर (प्रच्छदपट) बिछी हुई थी। कुलाचारों में कुशल अंतः पुर की वृद्धाएँ रानी के लिये अवतरणकमंगल[2] कर रही थीं। वे हाथों में सोने के पात्र लिए थीं।

१—भूतिलिखित पत्रलताकृतरक्षापरिक्षेपम्—भानुचंद्र ने इसका अर्थ भूति या ऐश्वर्य के लिए बनाए हुए पत्ते या लता ऐसा किया है, किंतु पत्रलता फूल-पत्तों के अलंकरण के लिये गुप्तकाल का पारिभाषिक शब्द था, जिसे पत्रलता, पत्रावली, पत्रांगुलि आदि भी कहा जाता था। गुप्त-कला में पत्रलता का अलंकरण बहुतायत से मिलता है। फर्श पर पत्रलता की सजावट के लिये चित्रकटावयुक्त छेद या खाकों (स्टेंसिल) की सहायता ली जाती थी। इन्हें पत्रच्छेद्य भी कहा जाता था। पत्रच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य (मेघदूत १।१९) में भूति=शृंगार रचना, सजावट।

२—अवतरणक-मंगल—इसे लोकाचार में उतारा कहा जाता है। जिसे स्त्रियों की धार्मिक क्रियाओं में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उतारे कई प्रकार के भिन्न-भिन्न अवसरों के अनुरूप होते हैं। कुछ उतारे मांगलिक और कुछ अशुभ फलवाले आभिचारिक होते हैं। यहाँ बालक होने से पहले के उतारे का वर्णन किया गया है। इसे पछाँह में उपरली व्याधा का उतारा कहते हैं अर्थात्-गर्भ-निष्पत्ति में जो कुछ ऊपरी बाधा हो वह

किसी में पाँच या सात जगह दही की फुटक रखी गई थी। किसी में सफेद चावल का भात रखकर उसपर जल का छींटा दिया गया था। कुछ स्त्रियाँ ऐसे पूर्णपात्र लिए हुए थीं जिनमें बिना गूँथे हुए फूल अंजलि भर-भर कर डाले गए थे कुछ पात्रों में बिना मुड़कटी समूची मछलियाँ थीं जिनके साथ टटके माँस के खँडरे भी मिले हुए थे। वे उनके पीछे-पीछे डरकौने[1] से अखंड जल की धार छोड़ती हुई चल रही थीं और लाल रंग के कपड़े से ढके हुए डोलों[2] में अनपकी मिट्टी के ठंडे दिये बालकर ले जा रही थीं। कोई गोरोचना मिली हुई पीली सरसों लिए थीं। इन सबके साथ चारों ओर जल के छींटे (जलांजलि) दिए जा रहे थे। धवलांबर का पवित्र वेश पहने हुए अंतःपुर के परिजन प्रसन्न मुख से मंगल भरी हुई बातचीत करते हुए रानी की सेवा में लगे थे। राजा देखकर समझ गए कि रानी के गर्भ रह गया है। रानी की शोभा उस पृथिवी के समान थी जिसके भीतर कुल-पर्वत छिपा हो; या उस मंदाकिनी के समान थी जिसके जल में ऐरावत निमग्न हो; या हिमालय की उस मेखला के समान थी जिसकी गुहा में सिंह बैठा हो; या दिन की उस शोभा के समान थी जिसमें मेघ सूर्य को छिपा लेते हैं; या रात की उस शोभा के समान थी जिसमें शशिमण्डल उदयगिरि से तिरोहित हो; या नारायण की उस नाभि के समान थी जिसमें ब्रह्मकमल निकलने वाला हो; या उस दक्षिण दिशा के समान थी जिसमें अगस्त्य का उदय होने वाला हो; या क्षीर-सागर की उस जलवृद्धि के सदृश थी जिसके भीतर दुग्ध फेन से भरा हुआ अमृत कलश हो।

राजा को देखकर रानी ने परिजन के हाथ का सहारा लेकर और अपने बायें घुटने पर हाथ टेककर हड़बड़ी में उठना चाहा। राजा ने तुरन्त कहा—'देवि मेरा सम्मान हो गया। उठने का कष्ट न करो। यह कहकर उसी के पास पलँग पर बैठ गए। शुकनास भी सोने के चमकते हुए पाए और सफेद चादर युक्त दूसरे पलँग पर पास में ही बैठे।

[६२]

उन्हें प्राप्तगर्भा देखकर राजा ने प्रसन्न मन से कुछ हँसी में पूछा—'देवी, शुकनास पूछ रहे हैं कि कुलवर्धना जो कह आई है क्या वैसा ही है।' सुनकर रानीके कपोल, अधर

उतारे के प्रभाव से दूर हो जाय। यह बालक होने से कुछ दिन पूर्व किया जाता है। इसे बड़ी-बूढ़ियाँ बहू-बेटी के ऊपर उतारकर किसी को दे देती हैं। इस सूचना के लिए निजगृह-पुरंध्री का अनुगृहीत हूँ।

१—डरकौना=लौंग के जोड़े, गुड़, पानी आदि से भरा हुआ पात्र या लोटा।

२—पटलक प्रज्ज्वलितैश्च शीतलप्रदीपैः—पटलक=रक्तवस्त्रनिर्मित गृह (भानुचन्द्र)। इसे आजकल की भाषा में डोला कहते हैं। शीतल=अपक्व, अर्थात् जो आँच में न पकाए गए हों, कच्चे। हर्षचरित में 'शीतल शाराजिर' की व्याख्या करते हुए शंकर ने 'शीतलमपक्वम्' लिखा है (हर्षचरित पृ० १४२)।

और नेत्र मंद स्मित से भर गए पर लज्जा से वे कुछ न बोलीं और नीचे देखने लगीं। जब राजा ने बार-बार हठ-पूर्वक पूछा तो रानी ने कहा—'क्यों मुझे लज्जित करते हैं ? मैं बिलकुल नहीं जानती[1]।' यह कहकर पुतली को नेत्रों के कोने में ले जाकर उन्होंने मुँह नीचा कर लिया और कुछ असूया के भाव से राजा को देखने लगीं। राजा ने फिर मंद हँसी के साथ कहा—'सुतनु यदि मेरे कहने से लजाती हो तो लो मैं चुप हो गया। पर इन्हें कैसे छिपाओगी जो यह खिले हुए चंपा पुष्प और कुंकुम राग के सदृश तुम्हारा पांडुवर्ण है, जो स्तन-वृन्तों पर बढ़ती हुई श्यामता है मानों नीलोत्पल लिये हुए चक्रवाक हों, या तमाल पत्र से ढके हुए कनक-कलश हों, या जैसे उनपर काले अगुरू से पत्रलता की पहली टिपाई की गई हो, अथवा यह जो प्रतिदिन बढ़ता हुआ तुम्हारा मध्यभाग है जिसकी रशना प्रतिदिन कसती जाती है और त्रिवली रेखा छिपती जाती है ?' इस प्रकार कहते हुए राजा को अपनी हँसी छिपाकर शुकनास ने रोका 'देव, देवी को खेद हो रहा है। वे तो इसकी चर्चा से भी लज्जा का अनुभव कर रही हैं। कुलवर्धना की कही हुई बात से संबंधित चर्चा छोड़िए।' इस प्रकार का परिहास करते हुए देर तक वहाँ रहकर शुकनास अपने भवन को चले गए और राजा ने रात्रि रानी के साथ वहीं वास-गृह में बिताई।

[६३]

तब यथेच्छ गर्भ-दोहद[2] की पूर्ति से प्रसन्न हुई रानी ने गर्भ का समय पूरा होने पर पवित्र दिन में पुत्र को जन्म दिया। उस समय ज्योतिषी घर के भीतर पानी टपकाती हुई नाड़िका से काल की एक एक कला की गणना कर रहे थे और बाहर धूप में शंकु की छाया नापकर समय का हिसाब लगा रहे थे। तत्काल उन्होंने उस पुण्य मुहूर्त की लग्न साध ली। उस समय राजकुल में उस सौभाग्य-वृद्धि के कारण बड़ी चहल-पहल होने लगी। परिजन हड़बड़ी से इधर-उधर आने-जाने लगे। सब कंचुकी राजा की ओर ही बढ़ने का प्रयत्न करते हुए भीड़ के कारण विफल-गति हो रहे थे। अंतःपुर के कुब्ज वामन किरात जन-संमर्द के कारण पिसे जाते थे। अंतःपुर की स्त्रियों के आभूषणों की उठती हुई मनोहर झंकार बढ़ रही थी। पूर्णपात्र[3] के प्रसंग में खींचे जाते हुए वस्त्रों और गहनों का

१—रानी के कथन का तात्पर्य यह है कि कुलवर्धना ने आपसे जाकर क्या कहा मैं उसे नहीं जानती। गर्भ के विषय में निराकरण करना उनका भाव न था।

२—गर्भ-दोहद का यहाँ संकेत मात्र है। हर्षचरित में विस्तार से उन्हें गिनाया है (हर्षचरित पृ० १२७)।

३—भानुचंद्र ने इसका उपयुक्त अर्थ इस प्रकार दिया है—उत्सवों में मित्र लोग बल-पूर्वक खींचकर जो गहना, कपड़ा आदि ले लेते हैं (उत्सवेषु सुहृद्भिर्यद्बलादाकृष्य गृह्यते तत् पूर्ण पात्रम्)। वस्त्र और आभूषण के लेने पर भी कोई किसी से बुरा न मानता

पता नहीं चल रहा था। उस समाचार से नगर में भी हलचल मच गई। सारी प्रजाएँ हर्ष से उन्मत्त होकर नाचने लगीं। बड़ी राज-दुंदुभी गंभीर ध्वनि से बजाई जाने लगी। मृदंग, शंख, काहल (तुरही)[1] और आनक (एक प्रकार के पटह) का सुकुमार निनाद भरने लगा। मंगल पटह (नौबत खाने का नक्कारा) जोर से बजाया जाने लगा और सहस्रों जनों के कल-कल सहित उत्सव का कोलाहल चारों ओर छा गया। सामंत, राजा, अंतःपुर के लोग, प्रजाएँ, राज-सेवक, वार-वनिताएँ, बच्चे-बूढ़े, ग्वाल-बाल तक सभी आनंद-विभोर हो नाचने लगे। राजपुत्र का जन्म-महोत्सव दिन-दिन बढ़ने लगा। राजकुलों में पुत्र-जन्मोत्सव के अवसर पर जैसी चहल-पहल और आनंद की गमक रहती थी उसका बहुत ही सटीक और विस्तृत वर्णन हर्षचरित में किया गया है (सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ६५–६८)।

[६४]

यद्यपि राजा के मन में पुत्र का मुख देखने की लालसा थी, तो भी मौहूर्तिकों ने दिन साधकर जो शुभ मुहूर्त निकाला उसी दिन शुकनास के साथ वे सूतिकागृह देखने आए। परिजनों का आना-जाना बिलकुल रोक दिया गया।

इसके बाद बाण ने सूतिका गृह का बड़ा विशद वर्णन किया है। उसके द्वार-देश के दोनों पार्श्वों में दो मंगल कलश पधराए हुए थे। बहुत से बच्चों से घिरी हुई बहुपुत्रिका नामक देवी की आकृति द्वार के ऊपर बनाई गई थी[2]।

था और सब इसे साझे का आनंद मानते थे। हर्षचरित की टीका में शंकर ने पूर्णपात्र के विषय में लिखा है—

आनंददो हि सौहार्दादेत्य वस्त्रादिकं बलात्।
अजानतो हरत्येव पूर्णपात्रं तु तत्स्मृतम्॥

१—काहली नाम से अभी तक एक बाजा प्रचलित है जो लगभग दो फुट लंबा, सुनार की फुँकनी की तरह का होता है और उसके निचले हिस्से में कुप्पीनुमा फूल होता है। कभी-कभी दो काहलियाँ एक साथ भी फूँकी जाती हैं। काहल के बजाने से फूँकने की सी पतली आवाज निकलती थी जैसा हर्षचरित में सैनिक प्रयाण के वर्णन में आया है (कूजत्काहले, हर्ष० पृ० २०४)।

२—इस देवी को जातमातृ देवता अर्थात् बच्चों की मातृदेवी (जात = बच्चा) भी कहते थे जैसा शंकर ने हर्षचरित में सूचित किया है—

जातमातृदेवता मार्जारानना बहुपुत्रपरिवारा सूतिकागृहे स्थाप्यते (हर्षचरित) पृ० १२६)। तिलकमंजरी में भी इसका उल्लेख है—आलिखित जात मातृ पटलम्, सूतिका गृह के द्वार पर आज भी उसका चित्र लिखा जाता है।

इस देवी को बिल्ली के मुखवाली भी कहा गया है (मार्जारानना)। नानार्थार्णव संक्षेप कोश के अनुसार इसी का दूसरा नाम चर्चा था (चर्चा मार्जारकर्णिका संज्ञक देवी,

भाँति-भाँति के नव-पल्लव द्वार के चारों ओर लगाए गए थे। सोने का बना मूसल और जुआ द्वार के आसपास रखे गए थे। दूब के नाल और फूलों की छीदी गुथी हुई मालाएँ लटकाई गई थीं। पूरा बावम्बर भी टाँगा गया था। तोरण पर बंधी हुई बंदनमालाओं के बीच-बीच में घंटियाँ लगी हुई थीं। लोकाचार में निपुण बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ द्वार के पक्खों पर गोबर से सथियों की भाँति बना रही थीं जिनपर चित दाँव कौड़ियाँ लगाई जा रही थीं और बीच-बीच में भाँति-भाँति के रंगों से रँगे हुए कपास के गुल्ले चिपकाए जा रहे थे (कर्पास कुसुम लेश)[१]। कुसुम और केसर की लाल-लाल बुँदकियों से गोमय की लेखाएँ सुहावनी लग रही थीं। हल्दी से रँगे हुए पीले वस्त्र पहने हुए भगवती षष्ठी देवी की मूर्ति एक ओर और दूसरी ओर पूँछ फैलाए हुए मोर पर बैठे हुए हाथ में शक्ति और दंड लिये हुए लाल झंडे वाले कार्तिकेय की मूर्ति बनाई गई थी। दोनों पार्श्वों में सूर्य और चंद्र की आकृतियाँ बनाई गई थीं। उनके बीच में आलते के थापों से अलंकृत कपड़े चिपकाए गए थे जिनसे उनका वह भाग लाल दिखाई देता था[२]।

नानार्थ० १।४००)। स्कंद पुराण के काशीखंड में चर्चिका देवी के मंदिर का उल्लेख है जिसकी पूजा काशी में होती थी (काशी खंड अध्याय ६७)। परमार नरेश नरवर्मदेव के भिलसा-लेख में चर्चिका देवी की स्तुति आई है। वह परमार-वंश की कुलदेवी थी। लेख में उसके लिये मंदिर निर्माण का कथन है (भंडारकृत लेख सूची, संख्या १६५८)।

१--कपास की रुई के गुल्ले लगाने का हर्षचरित में भी उल्लेख आया है (अभिन्नपुटकर्पासतूलपल्लवान्)।

२—इस संबंध में पटल शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसके पाँच प्रयोग और उनके अर्थ विचारणीय हैं—१. कादंबरी में ऊपर अवतारणक-मंगल का वर्णन करते हुए कहा है कि शीतल दिये पटलक में जलाए गए थे (पटलक प्रज्वालितैः शीतल प्रदीपैः, अनु० ६१); २. यहीं आलते के थापे लगे हुए पटल का वर्णन है; ३. हर्षचरित में राज्यश्री के विवाह की तैयारियों के वर्णन में विन्यस्तालक्तक पाटलाश्च उद्वाहवितर्दिकास्तंभान् ऐसा उल्लेख आया है (हर्षचरित पृ० १४२); ४. हर्षचरित के उसी प्रसंग में मूल अभिन्न पुट का अर्थ करते हुए शंकर ने टीका में लिखा है—अभिन्नपुटो वंशादिमयश्चतुष्कोणः पाटलाकृतिः बालकैः क्रियते। ५. कादम्बरी में सितांशुकोपच्छद पटलके गृहीतम् में पटलक आया है। पटल शब्द के मेदिनी कोश में दो विशेष अर्थ दिये है--पिटक और परिच्छद या वस्त्र। ऊपर के पांचों प्रयोगों में यही दोनों अर्थ संगत बैठते हैं—१, ४, ५, में पिटक वाला अर्थ एवं २, ३ में परिच्छद या वस्त्र वाला अर्थ। कादंबरी के पहले प्रयोग में भानुचंद्र ने पटलक को रक्तवस्त्रनिर्मितगृह कहा है। उसका अर्थ छोटी पिटारी ही है जिसमें दीपक रखकर उतारे के साथ ले जाया जाता है। प्रयोग संख्या २ में पटल का अर्थ परिच्छद या वस्त्र है जैसा ऊपर लिखा गया है। प्रयोग संख्या ३ और ४ में दोनों जगह पाटल

गाढ़े कुंकुम से रँगी हुई मिट्टी की गुरियों की मालाएँ शोभा के लिये द्वार के दोनों ओर टाँगी गई थीं। उन गुरियों को सजाने के लिये ऊपर की ओर सुनहले जौ खोंसे गए थे और बीच-बीच में पीली सरसों के दाने चिपकाए गए थे जिसके कारण ऐसा लगता था मानों उन गुरियों पर हल किया हुआ सोने का पानी चढ़ाया गया हो[१]। सूतिका-गृह की भीतों के ऊपरी भाग को चंदन-जल से पोतकर उनपर पीले ऐंपन से अंकित वर्धमान लटकाए गए थे जिनमें पंचरंगी रंगों से रंगे हुए अतएव विचित्र (रंग-बिरंगे) वस्त्र के चीरों के कलावे या गुच्छे बँधे हुए थे[२]। इस प्रकार और भी प्रसूति-गृह के

पाठ है और फ्यूरर के संस्करण में कोई पाठांतर भी नहीं दिया गया है। फिर भी अर्थ की दृष्टि से पाटल यहाँ असंगत है और यह मानने पर बाध्य होना पड़ता है कि हर्षचरित के मूल प्रयोग में और शंकरकृत अभिन्नपुट की टीका में भी शुद्ध पाठ पटल ही था। इसके दो हेतु दिये जा सकते हैं। एक तो पाटल शब्द का परिच्छद या पिटक इन दोनों में से कोई भी अर्थ कोशों में नहीं है जो प्रयोग संख्या ३ और ४ में संगत बैठता हो। दूसरे स्वयं बाण ने कादंबरी में विन्यस्तालक्तकपटल और हर्षचरित में विन्यस्तालक्तकपाटल लिखा हो यह संभाव्य नहीं। दोनों जगह उनका अभिप्राय 'पटल' या आलता लगे हुए कपड़े से ही था। सूर्य-चंद्र की आकृति पर ऐसा वस्त्र खंड उनको वेश पहनाने के लिये चिपकाया जाता था और विवाह-मंडप के खंभों के प्रसंग में कपड़े पर समान दूरी पर थापे लगाकर उसे खंभे के चारों ओर लपेटा जाता था, जैसा आज भी किया जाता है। शंकर ने प्रयोग संख्या ४ में अभिन्नपुट को बाँस का चौकोर पिटक ही माना है। अतएव 'पटलाकृतिः' यही व्याख्या उन्हें इष्ट थी 'पाटलाकृतिः' नहीं। 'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' में मैंने तब इस शब्द पर विशेष ध्यान न देकर और पाटल पाठ को ही शुद्ध मानकर यह अर्थ किया था कि आलते से ही लगाए गए थापों से मंडप के खंभे लाल हो रहे थे। किंतु लकड़ी के खंभों पर सीधे थापे नहीं लगाए जाते बल्कि थापे लगा हुआ कपड़ा ही उनपर लपेटा जाता है अतः 'विन्यस्तालक्तकपटलान्' पाठ मानकर वहाँ अर्थ शुद्ध कर लेना चाहिए, जैसा ऊपर लिखा है।

१—कांचनरसखचिताम्—हर्षचरित में इसे ही चामीकर रस कहा गया है (चामीकररसवेत्रपंजर)। सोने का द्रव बनाने की विधि या सोने की हलकारी की प्रक्रिया कष्टसाध्य मानी जाती है किंतु उस समय इसका आविष्कार हो चुका था। महाव्युत्पत्ति में सुवर्ण द्रव का उल्लेख है (२३४।१६)। निशीथ-चूर्णि में भी सुवर्ण-द्रुति से सूत रँगने का उल्लेख आया है (मोतीचंद्र, भारतीय वेश-भूषा, पृ० १५१)।

२—पंचरंगविचित्रचेलचीरकलापचिह्नाम्—इसमें कलाप शब्द पारिभाषिक है। आज भी हिंदी में इस तरह के रंग बिरंगे सूती लच्छों को या वस्त्रों के चीरों को कलावा कहते हैं और सभी मांगलिक अवसरों पर विशेषतः विवाहों में कलावों का बहुत चलन है। विवाहों में गठरियों कलावे लिए दिए जाते और बाँटे भी जाते हैं।

योग्य वर्धमान एवं अन्य मंडन या सजावट का मांगलिक आयोजन किया जा रहा था।[1] द्वार के पास एक ओर सुगंधित फूल-मालाओं से अलंकृत बुड्ढा बकरा बाँधा गया था।

सूतिका-गृह के भीतर श्वेत पलँग के सिरहाने अक्षत चावल बिछाकर उनके ऊपर बीच में देवी आर्यवृद्धा की मूर्ति स्थापित की गई थी।[2]

१—वर्धमान मांगलिक चिह्न समझा जाता था। शराव-संपुट को वर्धमान कहते थे; मथुरा के आयागपट्टों पर अष्ट-मांगलिक चिह्नों के अंकन में यह भी दिखाया गया है। चरक में भी वर्धमान मंगल का उल्लेख है। बाण ने हर्षचरित में शीतलशाराजिरश्रेणी का राज्यश्री के विवाह की सजावट के संबंध में उल्लेख किया है। शाराजिर का अर्थ मिट्टी की सरैया है। जब कुम्हार इस प्रकार की हजारों सरैया बनाकर आँगन में बालू छिड़ककर उसपर उन्हें सुखाता है तो उसका आँगन शबलित दिखाई देता है। इसीलिये सरैयों के लिये यह शब्द प्रचलित हुआ। दो सरैयों को मिलाकर एक संपुट होता है। इस तरह के तीन संपुट ऊपर नीचे रखकर और सबके नीचे केवल एक सरैया लगाकर, उन सबको बाँधकर और एक रस्सी में पिरोकर यह मांगलिक चिह्न आज भी बनाया जाता है और सूतिकागृह में या विवाह के अवसर पर कौतुकगृह में उसे टाँगते हैं। क्रमशः नीचे ऊपर की ओर बढ़ने के कारण इसी का वर्धमान नाम पड़ा। वस्तुतः एक भाँति या अलंकरणात्मक आकृति को जिसमें कई बार दुहराया जाय, उस चिह्न के लिये वर्द्धमान उपयुक्त नाम था। (रिपीट मोटिफ)। काशी की ओर पाँच या सात बड़े-छोटे भांडों को नीचे ऊपर रखकर भँड़ेहर बनाते हैं जिसके रंगीन खिलौने मेलों में दिखाई पड़ते हैं। वह वर्धमान का ही रूप है।

१ आर्यवृद्धा देवी का उल्लेख आर्या और वृद्धिका के नाम से वनपर्व में भी आया है (२१७।६,२२०।१६)। आर्या को शिशुमाता कहा है। कुषाणकाल के लगभग इस देवी का पद अत्यंत उच्च था—पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथा आर्या प्रमदास्वपि। आर्या माता कुमारस्य पृथक्कामार्थ मिज्यते (२१६।४०)। मथुरा-कला में कंकाली टीले से देवी आर्यवती की शिलाफलक पर उत्कीर्ण पत्थर की बड़ी मूर्ति मिली है (स्मिथ-जैन स्तूप, फलक १४) आयवती प्रतिथापिता आर्यवती अर्हत पुजाये, अर्थात् आर्यवती की स्थापना की गई, आर्यवती की पूजा का फल अर्हत पूजा के लिये अर्पित हो। इस मूर्ति को अब तक रानी की मूर्ति कहा जाता रहा है, किंतु अभय मुद्रा में खड़ी हुई यह मूर्ति उसका देवी होना सूचित करती है। आर्यवती की मान्यता सभी धर्मों में समान रूप से रही होगी। यहाँ जैन उपासकों ने उसकी स्थापना की है। आर्यवती और आर्यवृद्धा देवी एक ही होनी चाहिए। यह देवी कौन सी थी, इसके उत्तर में यह संभावना प्रतीत होती है कि जिसे आजकल लोक में बिहाई (वृद्धाआर्या) या बीमाता (सं० वृद्धिकामाता) कहते हैं और बच्चों के जन्म संबंधी पूजा-पाठ में जिसका विशेष स्थान है वही आर्यवृद्धा होनी

साँप की केंचुली के साथ मेढ़े की सींग घी में पीसकर उसका मावा निरन्तर अग्नि में जलाया जा रहा था। नीम के पत्ते आग में जलाने से उठते हुए धुएँ की गंध फैल रही थी। ब्राह्मणों द्वारा मंत्र पढ़ा हुआ शांतिजल छिड़का जा रहा था। नए चित्रित मातृपट की पूजा में धात्रियाँ लगी हुई थीं।[1]

अनेक बड़ी-बूढ़ियाँ मिलकर सोहर के मंगल-गीत (सूतिकामंगलगीतिका) गा रही थीं। स्वस्त्ययन-वाचन किया जा रहा था। शिशु की रक्षा के लिये बलि का विधान किया जा रहा था। सफेद फूलों की सैकड़ों मालाएँ गूँथकर टाँगी जा रही थीं। विष्णु सहस्रनाम का निरन्तर पाठ हो रहा था।[2] सोने की छड़ों के ऊपर लगे हुए सैकड़ों मंगल-प्रदीप जल रहे थे। नंगी तलवार हाथ में लिये हुए रक्षापुरुष चारों ओर पहरे पर नियुक्त थे। यह सब देखकर राजा ने जल और अग्नि का स्पर्श किया और सोहर के भीतर प्रविष्ट हुए।

(६५)

राजा ने भीतर जाकर विलासवती की गोद में आह्लाद के जनक पुत्र का दर्शन किया। प्रसव के कारण रानी कृश हो गई थी। उसका शरीर पीला लग रहा था। शिशु की अपनी कांति के फैलते हुए समूह से सूतिका-गृह के दीपक फीके पड़ रहे थे। गर्भ की लाली के कारण बालक उदयकाल के सूर्य सा लाल जान पड़ता था, या सायंकाल के समय निकलते हुए चंद्रमा के समान लोहित लगता था। तपाये हुए सोने जैसी चमकती उसकी देह-कांति वास-भवन में भर रही थी। वह महापुरुष के लक्षणों से युक्त था। राजा एकटक नेत्रों से बार-बार देरतक उसे देखते रहे। उन्होंने अपने को धन्य माना। शुकनास ने क्रम-

चाहिए। लोक में विश्वास है कि बीमाता बच्चे को देखने के लिये छठी पूजन की रात में अवश्य आती है और उसके भाग्य का शुभाशुभ फल लिख जाती है। इसीलिये उस रात में जागरण आवश्यक माना जाता है। उसे ही षष्ठीजागर कहा है।

वृद्धाआर्या — वृद्धाआर्यिका > विद्धाइया > बीधाइआ > बीहाई > बिहाई।

वृद्धा — वृद्धिका (वनपर्व २२०।१६) > विद्धिआ > बिहिआ > बिही > बिई > बी।

बिहाई और बी एक ही देवी के दो नाम हैं। सायंकाल के समय माता के सिरहाने दाहिने पाए के पास चावल बिछाकर उनपर बीमाता की मूर्ति रखकर पूजी जाती है। प्रायः यह मूर्ति गोबर की बनती है और धाई द्वारा बनाकर लाई जाती है। सोहर के गीत पछाँह में बिहाई के गीत ही कहलाते हैं।

१ — अभिनवलिखितमातृपटपूजाव्यग्रधात्रीजनम्। मातृपट से तात्पर्य कपड़े पर रंगों द्वारा चित्रित पट से है। मातृका पूजन छठी के उत्सव का आवश्यक अंग है।

२ — अविच्छिन्नपठ्यमाननारायणनाम सहस्रम् — श्री बहादुर चंद छाबड़ा ने अंतःसाक्षी के आधार पर विष्णुसहस्रनाम को गुप्तकालीन रचना माना है जो बाण के इस उल्लेख से बहुत संभाव्य प्रतीत होता है।

क्रम से कुमार के अंग-प्रत्यंग को देखकर प्रसन्न हो राजा से कहा—'देव, देखिए कुमार के शरीर में चक्रवर्ती के चिन्ह दिखाई पड़ रहे हैं। इसके ललाट पर सूक्ष्म ऊर्णा का चिन्ह है। खिले हुए कमल के समान श्वेत बड़े नेत्रों की बरौनियाँ झुकी हुई हैं। नासिका ऊँची और लंबी है। अधर[1] का सामने लटकता हुआ भाग रक्त-कमल की कलिका के समान सुशोभित है। शुभ रेखाओं से लांछित हाथों में शंख चक्र के चिन्ह हैं। पैरों में ध्वजा, रथ, तुरग छत्र और कमल के लक्षणों की शोभा है।'

(६६)

शुकनास यह कह ही रहे थे कि मंगल नाम के पुरुष ने भीतर आकर चरणों में प्रणाम करके विनती की—'देव, आप बड़भागी हैं। आपकी कृपा से आर्य शुकनास की ज्येष्ठ ब्राह्मणी मनोरमा ने भी पुत्र को जन्म दिया है।'

(६७)

अमृततुल्य उस वचन को सुनकर राजा ने प्रसन्न होकर कहा - 'वाह ! क्या एक के बाद एक कल्याण सामने आ रहे हैं। लोगों का यह कहना ठीक है कि बिपत में बिपत और संपत में संपत आती है। हम दोनों को विधाता ने सुख दुःख का समान अनुभवी बनाया है।' यह कहकर हँसते हुए स्वयं राजा ने पूर्णपात्र के रूप में शुकनास का उत्तरीय खींच लिया। प्रिय समाचार लानेवाले उस पुरुष को भी उचित पारितोषिक दिया। तब वे उठकर राजभवन में उत्सव करने वाले अंतःपुरिकाजन, राज-परिजन और चारणों को लिये हुए शुकनास के भवन में गए और वहाँ और भी दूना उत्सव कराया। अंतःपुर की स्त्रियाँ पैरों के संचालन से झंकृत नूपुरों द्वारा दिशाओं को मुखरित करने लगीं।

१—रक्तोत्पलकलिकाकारमुद्वहतीव चास्याधर रुचकम्—इस वाक्य में बाण ने गुप्त-कालीन सौंदर्य के आदर्श की एक विशेषता का उल्लेख किया है। अजंता के चित्रों में अधरोष्ठ को कुछ नीचे लटका हुआ दिखाया जाता है (औंधकृत अजंता फलक ३३,६१, ७८)। यह सुंदरता की निशानी समझी जाती थी। रुचक शब्द के यद्यपि कई अर्थ हैं तथापि अधर-रुचकम् में केवल निष्क (अशरफी जैसा सोने का गोल सिक्का) यही अर्थ संगत बैठता है। मेदिनी कोश में रुचक का यह अर्थ दिया हुआ है (रुचको बीजपूरे च निष्के दंतकपोतयोः)। महाभाष्य पस्पशाह्निक में निष्क के अर्थ में रुचक का प्रयोग आया है। वराह के अधर-भाग की गोल आकृति को हरिवंश पुराण में अधर रुचक कहा गया है (हरिवंश १।४१।३४, ३।३४।४०)। गुप्तकाल में शंख, कमल आदि के मुख से सुवर्ण मुद्राएँ निकलती हुई दिखाई जाती थीं। वह लक्षण भाग्य सूचक समझा जाता था। अतएव चित्रों में अधर की निष्काकृति सूचित करती थी मानों व्यक्ति के मुख से सौभाग्य सूचक मुद्राएँ निकल रही हों।

उसमें से कुछ बजने वाले कंकणों से युक्त भुजाओं को ऊँची करके उसकी हथेलियों से मानों आकाश में कमलिनी की आकृति बना रही थी। परस्पर रगड़ती हुई भुजाओं के भुजबंदों की नोक से कुछ के रेशमी उत्तरीय नुच गए थे। कुछ के शरीर का अंगराग स्वेद जल से नए वस्त्रों में लग गया था। कुछ के शरीर पर तमालपत्र के अतिरिक्त और कोई आभूषण न बचा था। कुछ वार विलासिनियों के साथ हास-परिहास में मग्न थीं। वेग से देह झटकाने के कारण कुछ के कंठहार स्तनों को आहत कर रहे थे। कुछ का सिंदूरिया तिलक अलकों में पुँछ गया था। कुछ के केशों को मुट्ठी भर-भर कर उड़ाई हुई पटवास की धूलि रक्त-पीत बना रही थी। उनके आगे अंतःपुर के कलमूक, कुब्ज, किरात, वामन, बधिर, जड़ जन नाच कूदकर लीला दिखाते हुए चल रहे थे। कुछ अपना रेशमी उपरना बूढ़े कंचुकियों की गर्दन में लपेट कर उन्हें खींच रही थीं।[1] वीण बाँसुरी मृदंग और मंजीरों की लय पर मधुर गान करती हुई हर्ष भरी स्त्रियाँ मतवाली सी बन गई थीं। राजकुल के नौकर चाकर भी नाच में सम्मिलित होकर अपने पैरों की थाप से धरती को कँपा रहे थे। उनके सिर का शेखर अस्तव्यस्त हो गया था और फूलों की वैकक्ष्यक माला इधर से उधर हिल रही थी। भेरी, पखावज, माँदल और नगाड़े की ध्वनि के साथ बजती हुई काहली और शंख से उनके नृत्य का विचित्र समा बँध रहा था। चारण लोग भी अपनी टोली में पढ़ते गाते और मुखवाद्य बजाते राजा के पीछे चलते हुए मंत्री शुकनास के भवन में पहुँचे।

(६८)

छठी पूजन की रात बीतने पर जब नामकरण का दिन आया तो राजा ने कोटि-कोटि सुवर्ण ब्राह्मणों को दान दे अपने पुत्र का नाम चन्द्रापीड रक्खा क्योंकि स्वप्न में उसे माता के मुख में प्रविष्ट होता हुआ चन्द्रमा दिखाई पड़ा था। अगले दिन शुकनास ने भी राजा की अनुमति से अपने पुत्र का नाम वैशम्पायन रक्खा। क्रमशः चूड़ाकरण आदि सब संस्कार किए गए और चंद्रापीड बाल्यकाल बिताकर कौमार अवस्था को प्राप्त हुआ।

(६९)

पुत्र का चित्त इधर उधर न जाय, इसलिये राजा ने नगर से बाहर शिप्रा के किनारे आधी कोस भूमि परकोटे से घिरवा कर और चारों ओर खाई खुदवा कर उसके भीतर एक विद्या मंदिर बनवाया और उसका महाद्वार दृढ़ कपाटों से बन्द करा दिया। आने जाने के लिये एक छोटा प्रवेश द्वार खुला रक्खा गया। उसके भीतर एक ओर घोड़े और बहली

१—कंचुकी के साथ इस प्रकार की चुहल करती हुई रानी के अंकन का दृश्य मथुरा कला के गुप्त कालीन मृण्मय फलक में पाया गया है। मथुरा संग्रहालय मूर्ति सं० २७६५। इसके सचित्र वर्णन के लिये दे० इण्डिया सोसाइटी आफ ओरियंटल आर्ट की पत्रिका, १९४२, पृ० ६९–७३।

आदि सवारियों का स्थान बना था। अपेक्षाकृत कुछ नीची भूमि में व्यायामशाला बनाई गई। वह सारा स्थान देवगृह जैसा लगने लगा।

(७०)

शुभ मुहूर्त में चन्द्रापीड़ और उसके साथ वैशम्पायन को वहाँ प्रविष्ट करके उन्हें सब विद्याओं का दान देने के अधिकारी आचार्यों को सौंप दिया। उन्हें बाहर आने की आज्ञा न थी। आचार्यों के कुल पुत्र ही उनके साथी-संगी थे। चित्त की एकाग्रता के लिये बालकों की क्रीड़ाओं को वहाँ स्थान न था। ऐसे स्थान में पुत्र को रखकर राजा स्वयं रानी के साथ वहाँ प्रतिदिन जाकर पुत्र को देख आते थे।

(७१)

चन्द्रापीड ने भी अनन्य हृदय से कुछ ही दिनों में आचार्यों से सब विद्याएँ सीख लीं। आचार्य लोग कुमार की योग्यता से प्रेरित होकर बड़े उत्साह से विद्या सिखाने में अपना कौशल दिखाने लगे। जैसे निर्मल मणिदर्पण में परछाईं पड़ती है ऐसे ही समस्त कलाएँ भी कुमार को आ गईं।

यहाँ बाण ने उस समय के साहित्य और कला प्रधान पाठ्यक्रम का विस्तार से उल्लेख किया है जिसे हम कुछ इस प्रकार जान सकते हैं। व्याकरण, मीमांसा, न्यायशास्त्र, धर्मशास्त्र ये शास्त्रीय शिक्षाक्रम के आवश्यक अंग थे। श्यूआनचुआङ् ने नालन्दा के पाठ्यक्रम में इनका उल्लेख किया है। राजनीति शास्त्र का भी इसके बाद उल्लेख है। गुप्त युग की ज्ञान-साधना में कौटिल्य, बृहस्पति, शुक्र आदि के प्राचीन राजशास्त्रों का सविशेष पठन-पाठन होता था। उनके आधार पर नवीन ग्रन्थों की रचना भी की गई। अर्थशास्त्र के प्रतिसंस्कृत रूप में कामन्दक का नीतिसार उसी युग में तैयार किया गया। विष्णुशर्मा ने सब राजशास्त्र और नीतिशास्त्र के तन्त्रों के निचोड़ के रूप में अपना पंचतंत्र नामक महान् ग्रन्थ गुप्तयुग में ही रचा। व्यायाम विद्या की शिक्षा का भी उल्लेख है जिसमें मल्लविद्या की साधना आवश्यक थी। प्रत्येक राजकुल में व्यायाम भूमि का पृथक् प्रबंध रहता था जिसमें व्यायाम के लिये उपयोगी सब साधन रक्खे जाते थे (समुपाहृत समुचित व्यायामोपकरण, अनु० १३)। धनुष, चक्र, ढाल, तलवार, शक्ति, भाला, फरसा, गदा आदि आयुधों की शिक्षा भी दी गई। दंडायुध और पाण्यायुध दो प्रकार के हथियार होते थे। छत्तीस आयुधों की जो सूची[1] बाद के ग्रंथों में आती है वह गुप्तकाल में कहाँ तक निश्चित हो चुकी थी नहीं कहा जा सकता। समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में फरसा, बाण,

१—पृथ्वी चन्द्र चरित पृ० १३७; वर्णरत्नाकर पृ० ५; और भी मानसोल्लास, भाग २, पृ० १६०।

सांगी, शक्ति, भाला, तलवार, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच, नावक के तीर (वैतस्तिक) का वर्णन है। यहाँ रथचर्या का सविशेष उल्लेख है, यद्यपि उस युग की युद्ध विद्या में रथों का उपयोग शकों की तेज घुड़सवार सेनाओं के बाद से घटता जा रहा था। हाथी और घोड़ों पर विशेष बल दिया जाता था (गजपृष्ठेपु तुरंगेषु), जैसा कि हर्षचरित में दर्पशात और कादम्बरी में इन्द्रायुध के वर्णन से प्रकट होता है। हस्तिशिक्षा (हाथियों को युद्ध के लिये सिखाना) और घोड़ों के लक्षण (तुरंगवयोज्ञान) भी जानना राजकुमारों के लिये आवश्यक था। संगीत में निपुणता गुप्तयुग के नागरिक की विशेषता थी। वीणा, बाँसुरी, मृदंग, मंजीरे, दर्दुर (घटवाद्य) आदि वाद्यों में, भरत आदि के नृत्त शास्त्रों में, एवं नारद आदि के गान्धर्व वेद में कुमार को अभ्यास कराया गया। सर्व शिल्प और कलाओं का सामान्य उल्लेख किया गया है। विशेष शिल्पों में वास्तु विद्या, और दारुकर्म, दन्त व्यापार (हाथी दाँत का काम) और यंत्र प्रयोग के नाम हैं। उस युग की वास्तु विद्या का उत्कृष्ट उदाहरण मानसार ग्रन्थ है जिससे वास्तु और स्थापत्य शिल्प की समृद्ध शब्दावली और प्रयोगों का पता चलता है। मानवीय हाथों से साधारणतः जो काम और जितना काम होना संभव है उससे अधिक कार्य कराने की युक्तियाँ सोचकर निकाली जाती थीं और उन सबको यंत्र प्रयोग कहते थे। उदाहरण के लिये रहट जलघटी यंत्र कहा जाता था। फव्वारा धारा यंत्र था। उज्जयिनी के भवनों में यन्त्रधारा गृहों का उल्लेख आया है (मेघ० १।६१),।

चित्रकर्म या चित्रकला की साधना उस युग में सर्व व्यापक थी। उज्जयिनी के महाभवन चित्रशाला कहे जाते थे। काव्य नाटकों से सूचित होता है कि सभी सुसंस्कृत स्त्री-पुरुष चित्रकर्म सीखते थे। चित्र को आलेख्य या आलेखन कहा जाता था। चित्र से अलग लेख्य शब्द का अर्थ विचारने योग्य है। बृहत्संहिता के एक ही श्लोक में आलेख्य और लेख्य दोनों का परिगणन हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि दोनों के अर्थ भिन्न थे। लेख्य शब्द का गुप्तयुग में प्रचलित अर्थ लेखपत्र था। ये लेख्य दो प्रकार के होते थे राजकीय जैसे शासन-पत्र और जानपद, जैसे ऋणी द्वारा धनिक के प्रति लिखा हुआ ऋण-पत्र (मिताक्षरा २।८४)। बृहत्संहिता से ज्ञात होता है कि उस समय लेख्य-विद्या का बहुत प्रचार था और इसके जानने वाले लेखवित् कहलाते थे (१५।१२, १९।१०)। विष्णु-स्मृति में एक प्रकरण ही लेख्य के विषय में है (विष्णु०, जौली, अ० ७) जिसके अनुसार राजाधिकरण में निबद्ध और अध्यक्ष द्वारा चिह्नित लेख्य राजसाक्षिक कहलाते थे। सब प्रकार के लेख्यों के विषय में पूरा परिचय राजा के लिये आवश्यक था और इसीलिये लेख्यकर्म उसकी शिक्षा का अंग था। रतितंत्र या कामशास्त्र की शिक्षा भी राजकुमारों को दी जाती थी। पुस्तक व्यापार शब्द नया है। यद्यपि गुप्त संस्कृत में सुन्दर सचित्र ग्रंथ लिखवाने की प्रथा का भी अनुमान किया जा सकता है, जैसा मध्य एशिया, काश्मीर आदि में मिली हुई उस युग की पुस्तकों से विदित होता है, पर अनुमान है कि यहाँ पुस्तक व्यापार का अभिप्राय पुस्तक-कर्म या मिट्टी के खिलौनों से है (पुस्त एव पुस्तक, व्यापार

कर्म)। हर्षचरित में इसका उल्लेख है—पुस्तकर्मणां पार्थिव विग्रहः (पुस्तकर्म या मिट्टी के खिलौने)। बाण की मित्र मंडली में कुमारदत्त पुस्तकर्म में उस्ताद था। पुस्त का शब्दार्थ लेप्य था और ज्ञात होता है कि पुस्तकृत् ही लेप्यकार भी कहा जाता था, जैसा राज्य श्री के विवाह के अवसर पर मिट्टी की मछली, कछुए, मगर, फल, वृक्ष आदि बनाने के लिये 'लेप्यकार' बुलाए गए थे।[1] गुप्त युग में मृण्मय कला के द्वारा ही सौन्दर्य की अनुभूति समाज के सभी स्तरों में इतनी व्यापक बनाई जा सकी थी। मिट्टी के खिलौने घर घर में भर गए थे और फूल-पत्तों की सजवाली ईंटों से ही भीतों की चुनाई होने लगी थी। गुप्त युग की यह सामग्री इतनी अधिक मिली है कि उसे मृण्मय प्रतिमाओं का युग ही कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। अतएव पुस्तक व्यापार या पुस्तक कर्म संभ्रान्त कुलपुत्रों की शिक्षा का आवश्यक अंग समझा जाता हो इसमें आश्चर्य नहीं। रतितंत्र से कामशास्त्र का अभिप्राय था और यह वात्स्यायन कृत ग्रन्थ ही होना चाहिए। दत्तक आदि आचार्यों के और भी विशेष ग्रन्थ थे। सुरुंगोपभेद शब्द महत्त्वपूर्ण है। सुरंग का भेदन युद्ध-विद्या से संबंध रखता है। उस समय जो पहाड़ी दुर्ग होते थे उनमें बाहर की परिखा, उन पर बने हुए संक्रम या पुल और परकोटे (प्राकार) को पार करके पहले कई लंबे-चौड़े चौक (अजिर) मिलते थे जिनमें हाथी, घोड़े और फौज के रहने के लिये विस्तृत भूमि रहती थी। फिर एक छोटे दरवाजे से जिसमें एक ही आदमी बैठकर एक बार में घुस सके एक अँधेरा रास्ता कुछ दूर तक जाता था जिसमें ऊपर की ओर रक्षापुरुष बैठाए जाते थे और अन्त में एक चक्करदार रास्ता जिसे गरेरी सीढ़ी कहते थे, पहाड़ काटकर बनाया जाता था। उसके ऊपरी सिरे पर लोहे का तवा रखकर उसे युद्ध समय में गरम करते थे। यही मार्ग सुरुंगा या सुरंग कहलाता था। दुर्ग को जीतने के लिए इसका तोड़ना आवश्यक था। सुरंग के बाद पहाड़ी की पठारनुमा चोटी पर लंबे-चौड़े मैदान में राजप्रासाद बनाया जाता था। युद्धकाल में उस गढ़ को आवश्यक सामान से ऐसा संचाकर रखते थे कि दस पाँच वर्ष तक भी वह घटे नहीं। सुरंग का यह वर्णन यादवकालीन देवगिरि के वर्तमान दुर्ग के आधार पर लिखा गया है, किंतु अनुमान है कि सुरंग की यह परंपरा पुरानी थी, और भी इसके अभ्यंतर भेद हो सकते थे। जायसी ने लिखा है कि सिंहल गढ़ की सुरंग का निचला मुँह पानी की खाई में छिपा रहता था।

उज्जयिनी के वर्णन में वहाँ के नागरिकों को सब देश भाषा और सब लिपियों को जानने वाला कहा गया है। अवश्य ही इन विषयों की शिक्षा का प्रबंध तत्कालीन पाठ्यक्रम में रहता होगा जिसका यहाँ उल्लेख है। तभी व्यापार और राजनीति के संबंध दूर देशों के साथ जुड़े रहते थे। सर्वदेश भाषासु के साथ सर्व संज्ञासु का तात्पर्य उन भाँति-भाँति

१—लेप्यकार कदम्बक्रियमाणमृण्मय मीनकूर्ममकरनारिकेलकदलीपूगवृक्षकम् (हर्ष पृ० १४२)।

की संज्ञालिपियों से है जिनमें गुप्त संदेश आते या भेजे जाते थे। संज्ञालिपियों का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी आया है। साहित्य के क्षेत्र में कथा, नाटक, आख्यायिका, काव्य, महाभारत,[1] पुराण, इतिहास, रामायण की शिक्षा दी जाती थी जिनकी साधना राजसभा में सम्राट् और उनकी पंडित-मंडली करती थी। गंधर्वकला (पाठांतर गंधर्वशास्त्र) का गंधर्व वेद से अलग उल्लेख द्यूतकला के साथ किया गया है। संभवतः यह शास्त्र गंधर्व कही जाने वाली गणिकाओं के विषय में विविध जानकारी से संबंध रखता था, क्योंकि उस युग में वेश का महत्त्वपूर्ण स्थान था जैसा चतुर्भाण, मृच्छकटिक, कालिदास और बाण के उल्लेखों से ज्ञात होता है। मंदिरों में, राजदरबारों में वार-विलासिनी वनिताओं के नृत्य और कई प्रकार की परिचर्या का उल्लेख आता है यह एक संस्था ही बन गई थी जिसके बड़े सूक्ष्म नियम थे। उनके विषय में जानकारी नागरिकों की शिक्षा का अंग थी। ज्योतिष, आयुर्वेद, रत्नों की परीक्षा, पुरुषों के लक्षण, घोड़े हाथियों के लक्षण, विष उतारना, तैरना, कूदना, वृक्षादि पर चढ़ना ये भी व्यावहारिक जीवन की शिक्षा के आवश्यक अंग होने से राजकुमारों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किए जाते थे।

(७२)

विद्याभ्यास के समय से ही चन्द्रापीड की जन्मसिद्ध महाप्राणता या विशिष्ट साहस-शक्ति प्रकट होने लगी थी। खेलते हुए वह हाथियों के बच्चों के कान दबोच लेता तो वे कदम भी न उठा पाते थे। तलवार का ऐसा हाथ मारता कि ताड़ का पेड़ कटकर ढेर हो जाता। उसके बाण चट्टान को भी छेद देते। दस मल्ल भी जिसे न उठा सकें ऐसे लोहे के मुगदर से कसरत (श्रम) करता था। वैशम्पायन महा साहस के कर्म छोड़कर और कलाओं में उसका साथ देता। चन्द्रापीड भी वैशम्पायन को अपना हृदय ही मानता

१ – बाण ने महाभारत का विशेष रूप से कई स्थलों पर उल्लेख किया है। महाकाल के मंदिर में महाभारत की कथा बाँची जाती थी (अद्य तु चतुर्दशीति भगवंतं महाकालमर्चितुमितो गतया तत्र महाभारते वाच्यमाने श्रुतम् अनु० ५४)। हेमकूट में कादंबरी के सौध में भी महाभारत की कथा स्वयं कादंबरी के समक्ष होती थी। (पठ्यमाने च सर्वमंगलमहीयसि महाभारते दत्तावधानाम् अनु० २०५)। विद्यामंदिरों के पाठ्यक्रम में भी महाभारत को स्थान दिया जाता था जैसा यहाँ कहा है। हर्षचरित के आरंभिक श्लोकों में बाण ने कहा है कि उनके समय में महाभारत की कथा तीनों लोकों में फैल गई थी—

किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तांत गामिनी।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम्॥

बाण के समकालीन युग का यह ऐतिहासिक तथ्य था कि महाभारत की कथा का न केवल इस देश में किंतु बृहत्तर भारत के द्वीपांतरों में भी उसका प्रचार हो गया था।

था। दोनों एक साथ धूल में खेले और साथ ही पढ़े। क्षण भर भी वह उसके बिना न रह सकता और यही दशा उसके लिये वैशम्पायन की थी।

(७३)

इस प्रकार सब विद्याओं का अभ्यास करते हुए चंद्रापीड के शरीर में यौवन ने प्रकट होकर उसकी सुंदरता को और दुगुना कर दिया। अवसर पाकर नये सेवक की भाँति कामदेव भी उसके निकट आया। उसका वक्षस्थल चौड़ा हो गया, दोनों उरुदंड भर गए, मध्यभाग कृश हो गया, भुजाएँ लंबी हो गईं, नेत्र और चरित्र एक साथ धवलता को प्राप्त हुए, भुज-शिखर और आज्ञा दोनों में गौरव आ गया, हृदय और स्वर दोनों में एक साथ गंभीरता उत्पन्न हो गई।

(७४)

इस प्रकार यौवन में आरूढ़ होने पर जब वह सब विद्याएँ पढ़ चुका, सब कला और विज्ञानों का अभ्यास कर चुका और आचार्यों ने उसे लौटने की आज्ञा दे दी, तो राजा ने बहुत सी अश्व और पदाति सेना के साथ बलाहक नामक अपने बलाधिकृत को उसे लिवा लाने के लिये भेजा। उसने विद्यागृह में जाकर द्वारपालों से सूचना कराई और भीतर जाकर भूमि में सिर झुकाकर प्रणाम किया और राजकुमार के पास ही उसकी अनुमति से आसन पर बैठ गया। कुछ देर में बलाहक ने विनय पूर्वक कहा—'कुमार, महाराज का आदेश है कि हमारे मनोरथ पूर्ण हुए, आपने शास्त्र पढ़ लिए और सब कलाएँ सीख लीं। शस्त्रविद्या में भी आप पारंगत हो गए। सब आचार्यों ने आपको विद्यागृह से बाहर आने की अनुमति दे दी है। अब प्रजाएँ भी आपका दर्शन प्राप्त करें। उनके चिरकाल से उत्कंठित नेत्र भी सफल हों। आपको देखने के लिये अंतःपुर भी समुत्सुक है। आपको विद्यागृह में निवास करते हुए दस वर्ष पूरे हुए। छह वर्ष की आयु में आप यहाँ प्रविष्ट हुए थे। यों अब आप सोलह वर्ष के हुए। अब चलकर उत्कंठित माताओं को दर्शन दें और गुरुओं का अभिवादन करें, एवं नवयौवन के योग्य राज्य-सुखों का यथेच्छ अनुभव करें। राजाओं को सम्मान दें, विप्रों का पूजन करें, प्रजाओं का परिपालन करें और बंधुवर्ग को आनंदित करें। महाराज ने आपके लिये गरुड़ जैसा वेगवान इन्द्रायुध नाम का अश्व भेजा है जो द्वार पर खड़ा है। पारसीक देश[1] के राजा ने इसके चमत्कारी प्रभाव के कारण हमारे महाराज के योग्य जानकर इसे भेंट में भेजा है। यह अयोनिज ही समुद्र के जल से उत्पन्न हुआ है। लक्षण जानने वालों ने इसे देखते ही कहा—'देव, उच्चैःश्रवा के जो लक्षण सुने जाते हैं वे इसमें हैं। ऐसा तुरंग न हुआ, न होगा।' तो आप इस पर सवार होने की कृपा करें। और भी, मूर्धाभिषिक्त राजाओं के विनयी, शूर, सुन्दर एक सहस्र कुलीन अश्वारोही राजकुमार परिचर्या के लिए द्वार पर खड़े हुए प्रणाम की लालसा से आपकी प्रतीक्षा में हैं।'

१—उस युग में भारत, चीन और ईरान के सम्राट् जगत्प्रभु माने जाते थे और परस्पर उनमें दूत संबंध था जिनके द्वारा उपहारों का आदान-प्रदान होता रहता था। बाण के समय में भारत में हर्ष, चीन में थाङ् और ईरान में सासानी वंश का राज्य था।

[७५]

जब वह यह कहकर चुप हो गया तो चंद्रापीड़ ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर बाहर चलने की इच्छा से कहा—'इंद्रायुध को भीतर ले आओ।'

[७६]

आज्ञा होते ही इंद्रायुध भीतर लाया गया और चंद्रापीड़ ने उसे देखा। दोनों ओर दो पुरुष लगाम की सुनहली कड़ियाँ पकड़े हुए पद-पद पर उसे खींचकर रोकने का प्रयत्न कर रहे थे। वह प्रमाण में बहुत बड़ा था। कोई पुरुष हाथ उठाकर ही उसकी पीठ तक पहुँच सकता था। उसकी गंभीर हिनहिनाहट का शब्द भुवन में भर जाता था। वह कभी सिर को नीचे करता, कभी ऊँचे उठाता और वेग रुकने के कारण क्रुद्ध होकर नाक से घुर घुर शब्द कर रहा था। उसके शरीर पर इन्द्रधनुष जैसी रंगबिरंगी रेखाएँ झलकती थीं, मानों विचित्र रंगों की पलान डाली गई हो (आस्तीर्णविचित्रवर्णकम्बल)। वह घनीभूत वेग की मूर्ति था। थूथड़े को बार बार इधर से उधर चलाकर सूँ-सूँ शब्द कर रहा था, मानों नाक से भीतर गई हुई वायु बाहर फेंक रहा हो। उसके कड़वे स्वभाव को वश में लाने के लिये जो लोहे की कँटीली लगाम लगाई गई थी उसके क्षोभ से उसके मुख से अधिक फेन गिर रहा था। उसका लंबा मुँह मांस कम होने से पत्थर में उत्कीर्ण सा जान पड़ता था। मस्तक पर खड़ी कनौतियों के बीच में पद्मराग मणि लगी थी जिसकी किरणें लाल चँवर सी लगती थीं। गले में चमकती हुई सुनहली जंजीर की रस्सी कई बार घुमाकर लपेटी गई थी। गर्दन के पीछे लाल अयाल के बाल सुशोभित थे। वह सुनहली कुटिल पत्रलता के भंगुर, रत्नमालाओं से झंकृत, और बड़े बड़े मोतियों से जड़ाऊ अश्वालंकार पहने था, जिसमें पन्ने भी जड़े थे। इस आभूषण को अमरकोश में अश्वाभरण और भांड कहा गया है। पिछला शब्द बाण के ग्रंथों में प्रायः प्रयुक्त हुआ है। इसकी पहचान घोड़े के कंठे से की जा सकती है जिसमें जड़ाऊ टिकरे और रत्नों के लटकन, मोती आदि लगे रहते हैं। यह सामने सीनेबंद तक लटकता हुआ मुख्य आभूषण होता है। चंचलता के कारण उसके बैंगनी खुरों की टाप बार बार धरती पर पड़ती हुई मृदंग सी बजती थी। पार्श्व भाग खराद पर उतारा हुआ, पिंडलियाँ टाँकी से उत्कीर्ण, छाती चौड़ी, गर्दन लंबी, मुँह पतला, जघन भाग दोहरा था। उसके शरीर पर अशोक के झुग्गों जैसी ललाई झलक रही थी। मुँह पर श्वेत टीका (सितपुंड्रक) था, मानों भस्म लगाए कोई व्रती हो।[1] वह चक्रवर्ती नरेश का वाहन होने योग्य था।

१—व्रतियों का यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। यह शैवों का महाव्रती नामक संप्रदाय था जिसका उल्लेख कुमारदास (बाण के लगभग समकालीन सातवीं शती) ने भी किया है—स धातुकूटं धृतविश्वसंपदः शिवोपभोगप्रणयस्य भाजनम्। इमं तपस्विद्धि गुणाय बृण्वते श्मशानकल्पं व्रतिनो विरागिणः ॥ जानकीहरण २० । २६

बाण के इस वर्णन को हर्षचरित की राजमंदुरा के वर्णन के साथ मिलाकर पढ़ने से और भी कई बातें ज्ञात होंगी। वहाँ कहा है कि हर्ष की राजमंदुरा में पारसीक देश के घोड़े भी थे।

[७७]

उत्तम घोड़ों के सब लक्षणों से युक्त उस अश्व का सुन्दर रूप देखकर चंद्रापीड़ का मन भी विस्मय से भर गया। वह सोचने लगा—'वासुकि और मंदराचल से समुद्र को मथकर यदि सुरासुरों को यह अश्वरत्न न मिला तो और रत्न निकालने से भी क्या लाभ? इसके पृष्ठारोहण के बिना इन्द्र ने त्रिलोकी के राज्य का क्या फल पाया? समुद्र ने इंद्र को उच्चैःश्रवा से लुभाकर ठग लिया। ज्ञात होता है इतने काल तक भगवान् नारायण की दृष्टि भी इस पर नहीं पड़ी, नहीं तो गरुड़ को अपने वाहन-रूप में क्यों रक्खे रहते। अहो, पिता की राज्य-लक्ष्मी स्वर्ग की राज्य-समृद्धि से भी बढ़कर है।[१] तभी तो त्रिभुवन के लिये दुर्लभ नाना रत्न यहाँ के उपभोग्य बने हुए हैं (सकलत्रिभुवदुर्लभानि रत्नानि उपकरणतामागच्छन्ति)। इसकी महाप्राणता और तेज को देखकर यह कोई देवता जान पड़ता है जिससे इस पर आरोहण करते हुए मन सकुचाता है। कहते हैं मुनियों के शाप से देवता शरीरांतर में आ जाते हैं। पहले स्थूलशिरा नाम के ऋषि ने भुवनसुंदरी रंभा को शाप दे डाला था। उसने स्वर्ग लोक से आकर अश्व के हृदय में अपना प्राण डाल दिया और अश्वहृदया नाम की बड़वा बनकर मृत्तिकावती नगरी में शतधन्वा राजा के यहाँ बहुत काल तक रही। और भी महात्मा मुनिजनों के शाप से अपनी महिमा खोकर अनेक रूपों से इस लोक में जन्मे हैं। अवश्य इसे भी किसी ने शाप दिया है। मेरे अंतःकरण में इसकी दिव्यता का बोध हो रहा है।'

इंद्रायुध के विषय में चंद्रापीड के ये उद्गार अत्यंत हार्दिक हैं और इनका मर्म कादंबरी की अध्यात्म मीमांसा के प्रसंग में हम देखेंगे। वस्तुतः इंद्रायुध शापग्रस्त था और चंद्रापीड़ ने अपनी अंतःकरण प्रवृत्ति से ठीक ही उसकी दिव्यता को पहचान लिया।

इससे विदित होता है कि महाव्रती लोग तपस्सिद्धि के लिये श्मशान का सेवन करते थे। हर्षचरित में उल्लिखित कार्पटिक साधुओं को टीकाकार शंकर ने व्रतिनः कहा है। इन विविध संप्रदायों के आचार और सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन अभी अनुसंधान का विषय है।

१—अतिशयितत्रिदशराज्यसमृद्धिरियं तातस्य राजलक्ष्मीः—इस वाक्य में कवि ने उस युग के भारतवर्ष का तथ्य ही रख दिया है। अदः हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः—यही भारत के लिये कालिदास ने लिखा था।

[७८]

इस प्रकार विचार करते हुए उस पर आरोहण करने की इच्छा से वह उठ खड़ा हुआ और मन से उसका यों संबोधन किया—'महात्मन् अश्व, तुम जो हो सो हो। तुम्हें प्रणाम है। मेरे इस आरोहण द्वारा अपनी महिमा के अतिक्रमण को सर्वथा क्षमा करना। बिना परिचय के देवता भी अनुचित अनादर के भागी बन जाते हैं।' इंद्रायुध ने मानो उसका अभिप्राय समझ लिया हो इस मुद्रा से उसने अयालों के आगे गिरने से पुतली कुछ तिरछी करके चंद्रापीड़ को देखा और दाहिने पैर से पृथिवी पर टाप मारकर जैसे चंद्रापीड़ को आरोहण का निमंत्रण देते हुए नासिका की घरघर ध्वनि के साथ हिनहिनाहट का शब्द किया। इस शब्द को उसकी अनुमति जानकर कुमार उस पर सवार हुआ। उसकी पीठ पर बैठकर चंद्रापीड़ को त्रिलोकी प्रादेश मात्र ज्ञात हुई और विद्यागृह से बाहर आकर उसने दूरतक फैली हुई अश्व सेना को देखा। उस अश्व सेना में भी चंद्रापीड़ के दर्शन से ऐसे ज्वार आ गया जैसे चंद्रदर्शन से समुद्र में। प्रणाम के लिये एक दूसरे से होड़ करते हुए राजपुत्रों ने उसे घेर लिया। बलाहक ने नाम से एक-एक का परिचय कराया और प्रत्येक ने किरीटयुक्त मस्तक नीचे झुकाकर प्रणाम किया।

[७९]

उन सबका यथोचित संमान करके चंद्रापीड़ घोड़े पर चढ़कर नगर की ओर चला और वैशम्पायन भी सवार होकर पीछे-पीछे चलने लगा। उसके मस्तक पर सोने के दंड वाला छत्र लगा हुआ था मानों राजलक्ष्मी के निवास के लिए श्वेत पुंडरीक खिला हुआ हो। छत्र के ऊपर केसरी सिंह का चिन्ह बना हुआ था और किनारे पर बड़े मोतियों के जाले लटकाए गये थे[1]। उसके दोनों ओर चँवर ढालते हुए परिजन थे और आगे सहस्रों की संख्या में 'जयजीव' कहते हुए तरुण और सुगठित शरीरवाले मंगलपाठक बंदीजन स्तुति करते हुए पैदल चल रहे थे।[2]

[८०]

क्रम से बढ़ते हुए जब चंद्रापीड़ नगर-मार्ग पर आए तो प्रजाएँ हर्षित हो उठीं जैसे चंद्रोदय से कुमुदवन खिल गया हो। सब अपना-अपना काम छोड़कर मूर्तिमंत कामदेव के

१—दे० अजंता चित्रों से लिये गए एक दिव्य राजछत्र का रेखाचित्र, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, चित्र ८५। उस युग के एक भव्य राजछत्र का वर्णन कवि ने हर्षचरित में दिया है। उस काल के समृद्ध जीवन की प्रतिनिधि वस्तुओं के वर्णन कहीं न कहीं दोनों काव्यों में बहुत करके आ गए हैं।

२—'जयजीव' कहकर स्तुति-पाठ करनेवाले पुरोपायिमंगल-पाठकों का पहले भी उल्लेख आया है (अनु० १२)।

सदृश उनके रूप को देखने लगे। नगर के लोग झुक-झुककर कुमार को प्रणाम करने लगे। वे कहते थे—'इन कुमार के होते हुए कार्तिकेय के लिये कुमार शब्द नहीं जँचता, क्योंकि कई मुखों के होने से उनका रूप बिगड़ा हुआ है। अहो, हम बड़भागी हैं जो हृदय की प्रीति के रस को नेत्रों में ढालकर इनकी दिव्य आकृति को बेरोक-टोक देखने का लाभ पा रहे हैं। हमारा जन्म लेना आज सफल हुआ। साक्षात् कमलनयन कृष्ण ही चंद्रापीड़ के रूप में दिखाई दे रहे हैं। इन्हें प्रणाम है। समस्त नगर के सहस्रों वातायनों के कपाट खोल दिये गए मानों कुमार दर्शन के लिए नगर ने नेत्र खोले हों।

सब विद्याएँ प्राप्त कर चंद्रापीड़ विद्यागृह से लौटकर यहाँ आ रहे हैं, यह समाचार जैसे ही फैला दर्शन के लिये उत्कंठित स्त्रियाँ नगर भर में हाथ के कामों को अधूरा छोड़कर अपने-अपने कोठों पर चढ़ गईं। कोई प्रसाधन करती हुई बाएँ हाथ में दर्पण लिये हुए ही आ गई थी। कोई एक ही पैर में गीला आलता लगाये दौड़ पड़ी थी। हड़बड़ी में उठ दौड़ने के कारण किसी की मेखला पूरी न बँधने से खिसककर पैरों में लिपट कर उसे रोक रही थी, जैसे सीकड़ में बँधी हुई मन्द संचरण करनेवाली हथिनी हो। कोई इंद्र धनुष के समान रंग-बिरंगी धारियों का एक ही वस्त्र[1] पहने थी और उसका उत्तरीय पीछे छूट गया था। कोई एक ही पैर में पहने हुए झंकारते नूपुरों से धीरे-धीरे चरण-विन्यास करती करती हुई घर के कलहंसों को जैसे अपने पास खींच रही थी। किसी की स्थूल हारयष्टि गले तक न पहुँच कर हाथ में ही थी। कोई अपनी मुक्तावली कंठ में न पहन पाई थी और वह खिसकर स्तनों के बीच में आ रही थी।[2] किसी ने भाँति-भाँति की मणियों का नूपुर गूँथा था किंतु शीघ्रता में उसके असमाप्त रह जाने से उसके मनके पीछे टपकते आ रहे थे, मालूम होता था कि रंग-बिरंगे पंखों वाली घर की मोरनियाँ पीछे पीछे आ रही हों। कोई पीते-पीते अपना मणि-चषक बीच में ही रख आई थी, अतएव जान पड़ता था कि लाल अधर पल्लवों से मधुरस छन रहा हो। कोई मरकत के गवाक्ष-जालों से बाहर की ओर देख रही थी।[3]

१—इंद्रायुध जैसे रंग बिरंगे वस्त्रों का प्रत्यक्ष दर्शन अजंता के चित्रों में किया जा सकता है। अनुच्छेद १८२ में इंद्रायुध के रंग की छटा वाले रेशमी उत्तरीय का उल्लेख आया है (इंद्रायुधजालवर्णांशुकोत्तरीयम्)।

२—प्रसाधन की इस मुद्रा का यथावत् अंकन प्राचीन कपिशा से प्राप्त एक हाथी दाँत के फलक पर देखा जाता है (कपिशा के दंतफलक, १६३६, चित्रफलक सं० २६)।

३—कुमारस्वामी, इंडियन और इंडोनेशियन आर्ट, चित्र १५४, अजंता गुफा १६ का मुख भाग जिसमें झाँकते हुए स्त्री-मुखों से युक्त गवाक्ष-जालों की पंक्तियाँ अंकित की गई हैं। पुर-सुंदरियों के इस प्रकार के वर्णन की साहित्य में एक परिपाटी ही बन गई थी। अश्वघोष और विशेषतः कालिदास में उनका हृदयग्राही वर्णन पाया जाता है (रघुवंश ७.५–१२; कुमार संभव ७.५६–६४)। ये अभिप्राय इतने रूढ़ हो गए थे कि कालिदास जैसे महाकवि ने भी रघुवंश में अपने कुमारसंभव वाले श्लोक ही रख लिए।

[८१]

हड़बड़ी में की हुई इस प्रकार की विविध चेष्टाओं से उत्पन्न पुरनारियों के आभूषणों की निनाद-ध्वनि हर्म्य-कुक्षियों में गूँजने लगी। वीणा का मधुर एवं शब्द, गृह-सारसों, भवन-मयूरों एवं चकित कलहंसों का शब्द उसके साथ मिलकर उसे और भी बढ़ा रहा था मानों कामदेव ने विजय यात्रा की घोषणा की हो।[1] कुमार के अवलोकन के लिये उत्सुक स्त्रियाँ अपने-अपने घरों के जिस भाग में एकत्र हुई थीं उसे हर्म्यकुक्षि कहा गया है। उनमें वातायन या गवाक्ष बने थे। ठीक इसी विशेषता को लिये हुए महाप्रासाद की कुक्षियों का उल्लेख उज्जयिनी में तारापीड़ की क्रीड़ाओं के प्रसंग में आ चुका है। वहाँ यह भी कहा है कि वातायनों में किवाड़ लगे रहते थे जो इच्छानुसार विघटित या खोल दिये जाते थे (अनु० ५०)। यहाँ भी स्त्रियाँ वातायन-कपाट खोलकर कुमार को देखती हैं।

[८२]

उस समय कुछ देर के लिये उन युवतियों के घने समूह से प्रासाद जैसे नारीमय लगने लगे। उनके आलता लगे पैरों की छाप के रूप में क्षितितल पर जैसे किसी ने पल्लव बिछा दिए थे। उनकी देहकांति से जैसे सारा नगर ही लावण्य में डूब गया था। अनेक मुखों से आकाश में जैसे चंद्रमा भर गए थे। धूप से बचने के लिये उठाई हुई हथेलियों से जैसे दिशाओं में कमल-वन खिल उठा था। चमचम करते आभूषणों की रंग-बिरंगी किरणों से मानों धूप में इंद्र-धनुष दिखाई देने लगा था। उनके कजरारे लोचनों की रश्मियों के फैलने से नीले कमल की श्रेणियाँ सी उत्पन्न होती जान पड़ रही थीं। विशाल खुले हुए नेत्रों से एकटक देखती हुई उन नारियों के दर्पण से स्वच्छ हृदयों में चंद्रापीड़ की आकृति प्रवेश कर गई।

आलोकन के लिये उत्कंठित पौरांगनाओं की अधबिच में छूटी हुई चेष्टाओं के साथ-साथ उनकी बातचीत (श्रोत्रसुख कथा) के वर्णन का अभिप्राय भी साहित्य में मान्य था।[2] कालिदास ने भी इसका वर्णन किया है (रघुवंश ७।१३–१६)। वासवदत्ता में भी

१—मकरध्वजविजयघोषणानुकारी—तुलना कीजिए—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा बिस्व विजय कहुँ कीन्हीं॥
(तुलसीदास)

और भी—

कंकण किंकिणि नेउर कलयल मुहलम् (हेमचंद छंदोनुशासन टीका)।

२—बाण में पाँच जगह आलापों का वर्णन आया है—हर्ष चरित में सैनिक-प्रयाण के समय सैनिकों के आलाप (उच्छ्वास ७, पृ० २१०); मरणासन्न राजा प्रभाकर वर्धन के आलाप (उच्छ्वास ५, पृ० १६०); रानी यशोवती के साथ सती होने वाली रानियों के

प्रमदाओं के रमणीय आलापों का वर्णन किया गया है (जीवानंद संस्करण, पृ० १०६–१११) स्त्रीजन सुलभ जो हास-परिहास, हड़बड़ी, ईर्ष्या, वितर्क, कामभाव और स्पृहा आदि की विशेषताएँ या चुहलबाजी होती हैं उनकी पूरी छटा कवि ने इस प्रसंग में प्रस्तुत की है, जैसे—'ओ उतावली करने वाली, मुझे भी ले चल। अरी, आँख सेकने के लिये पगली, उपरना तो सँभाल ले। ओ भोली, मुँह पर बिखरी लटें तो उठा ले। अरी, तेरे माथे की चंद्रलेखा सरक गई है उसे ठीक कर ले। अरी, लाड़ की मारी, उपहार कुसुमों पर पैर फिसलने से गिर मत जाना। ओ, मुई-मतवाली, बिखरे जूड़े को समेट ले। ओ चंद्रापीड़ के दर्शन में लवलीन हुई, करधनी ऊपर कर ले। ओ निगोड़ी, गाल पर झूलते हुए कान के पल्लव को ऊपर सरका ले। अरी अचेत, गिरा हुआ दंतपत्र उठा ले। ओ यौवन की उन्मादिनी, लोग देख रहे हैं, छाती ढक ले। अरी निर्लज्ज, दुकूल कसकर बाँध ले। ओ भोली छलिया, फुर्ती से आ। ओ अभिलाखा वाली, मुझे भी देखने दे। अरी बेसबर, कबतक देखे जायगी? अरी चित्तडोलनी, संगी-साथियों को भी तो देख ले। ओ पिशाचिन बाला, तेरी ओढ़नी गिर गई है, लोग हँस रहे हैं। अरी नेह से चर्बी छाई आँखों वाली, सखियों को भी नहीं देखती? ओ जी की गाँठ-गँठीली, बेबात मन को दुःख से थका रही है। ओ लाज की फरफंदिन, झाँसे से क्या देखती है? आँख भर कर देख। ओ नई पट्ठी, क्या तू जोबनों के भार से मुझे कुचल डालेगी? अरी झूँझलमाई, आगे होकर देख। ओ आप-स्वार्थिन, क्यों अकेले ही सारी गोख छेक रही है? अरी प्रीति की मारी, मेरे रेशमी उपरने को अपनी ओढ़नी बनाए लेती है। ओ राग की छकी, कुछ तो अपने को रोक। अरी बेचैन, क्यों गुरुजनों के सामने हो रही है? ओ भावचढ़ी, ऐसी क्यों अधीर हो उठी है? ओ भोली मोधू, काम-संताप की थरहरी को कुछ तो छिपा। ओ पत खोई हुई, क्यों ऐसी निढाल हुई जा रही है? ओ बेकल, अंगों को तोड़-मोड़कर क्यों मँझलेट को व्यर्थ दुःख दे रही है? अरी अनचेत, क्या नहीं जानती कि तू अपने घर से बाहर आ गई है? अरी चावचढ़ी, साँस लेना भी भूल गई? अरी, मनचीते सुख के रस में आँख क्या मींच रही है? देख, वे निकले जाते हैं। अरी कामबाण से अचेत, सिर पर उपरने को खींचकर सूर्य किरणों से अपने आपको बचा। अरी सतीव्रत लेकर बैठी हुई, क्यों तू देखने योग्य को न देखकर अपनी आँखों से ठगौरी कर रही है। अरी अभागी, पराए पुरुष को न देखने का व्रत लेकर तू ने सत्यानाश कर लिया। ओ प्यारी, उठ, देख रति के

आलाप (उच्छ्वास ५, पृ० १६४); यहाँ आलोकनोत्कंठित पौ वनिताओं के आलाप; कादम्बरी के कुमारी अन्तःपुर में कन्याओं के आलाप। इनके मनोभावों में अन्तर होते हुए भी साहित्यिक शैली एक जैसी है। आलाप का यहाँ विशिष्ट अर्थ है—चिड़ियों के चहचहाने की भाँति उत्तर की आकांक्षा किए बिना किसी घटना पर बहुत से व्यक्तियों का अपने-अपने मनोभावों की तात्कालिक प्रतिक्रिया प्रकट करना। तिलक मंजरी (पृ० ३७२–३७६) में भी आन्तर्वेशिक जनों के आलापों का वर्णन है।

बिना साक्षात् भगवान् कामदेव आए हैं। वह देख, उनके श्वेत छत्र के नीचे भौंराले बालों पर मालती के फूलों की माला ऐसी लग रही है जैसे चंद्रमा ने तिमिर जाल पर अपनी किरणें बखेर दी हों। यह इनके गाल पर कर्णफूल के पन्ने की किरणें छिटकी हुई हैं, मानों कान में सिरस का कर्णफूल पहन लिया हो। हार में गूँथी हुई पद्मराग मणियों की लाली ऐसी लग रही है, मानों नये यौवन का राग हृदय में प्रवेश करने की इच्छा से बाहर ही झुक रहा है। यह देखो, वे चौरियों के बीच में से इसी ओर देख रहें हैं। वैशम्पायन के साथ कुछ बात मिलाकर दाँतों की धवल कांति बखेरते हुए मुस्करा रहे हैं। अब वे अपने हरे रेशमी उपरने के पल्ले से बालों की धूल पोंछ रहे हैं। अब उन्होंने सुकुमार तलवेवाला अपना पैर उठाकर घोड़े के कंधे पर तिरछा रखलिया है। अब उन्होंने कमल कोश सा सुहावना अपना हाथ पान लेने के लिये बढ़ाया है। वह धन्य होगी जो कमल को जीतने वाली इनकी हथेली को अपने हाथ में लेकर लक्ष्मी के समान पृथिवी की सपत्नी बनेगी। धन्य हैं देवी विलासवती जिन्होंने समस्त पृथिवी का भार उठाने में समर्थ इन्हें अपने गर्भ में धारण किया।'

कवि ने प्रमदाओं के इन रमणीय आलापों के व्याज से स्त्रियों के भाँति-भाँति के स्वभावों का भी संकेत से चित्रण किया है।

(८४)

वे इस प्रकार के तथा और भी अनेक वचन कह रही थीं कि चंद्रापीड राजकुल के समीप आ पहुँचे। पौरांगनाएँ मानों अपने नेत्रों से उन्हें पी रही थीं, आभूषणों के शब्दों से बुला रही थीं, हृदय से अनुगमन कर रही थीं, नवयौवनों की बलि चढ़ाकर पूज रही थीं और शिथिल होकर नीचे गिरी भुजाओं से सरकी हुई शंख की चूड़ियों के रूप में मानों पद-पद पर कुसुम मिश्रित लाजांजलि बखेर रही थीं। वे क्रमशः राजद्वार के समीप आकर घोड़े से उतर पड़े। राजद्वार पर पहरे के हाथियों की पंक्तियाँ[१] खड़ी थीं और द्वीपांतरों से आए हुए सैकड़ों राजदूत एकत्र थे।[२]

१—राजद्वार पर पहरे के लिये हाथियों की नियुक्ति की जाती थी और तीन-तीन घंटे बाद वे बदल दिये जाते थे। हर्षचरित और कादम्बरी दोनों में इनका उल्लेख आया है। कादम्बरी से इतना विशेष ज्ञात होता है कि राजद्वार के बाहर और उसके भीतर भी कक्षा या आँगन में पहरे की हथिनियाँ नियत की जाती थीं। उन्हें यामकरेणुका कहते थे।

२—राजद्वार के सामने के मैदान का जो विस्तृत उल्लेख हर्षचरित में आया है उसमें अन्य अधिकारी और अतिथियों के अतिरिक्त देशांतरों से आए हुए दूत-मंडलों का भी उल्लेख है जैसा यहाँ आया है।

(८५)

बाण ने राजद्वार और राजकुल का वर्णन विस्तार से किया है और इस संबंध में हर्षचरित और कादम्बरी के वर्णन एक दूसरे के पूरक हैं। हर्षचरित में द्वार के बाहर का ठाट-बाट, वहाँ की भीड़-भाड़ और उर्दू बाजार में लगाए हुए अनेक डेरे-तंबुओं का अच्छा वर्णन है। कादंबरी में उसे दोहराना कथा-प्रसंग की दृष्टि से अनुचित होता अतएव पूर्व के अनुच्छेद में उसका संकेत भर कर दिया है। राजद्वार राजकुल का सबसे बड़ा फाटक होता था जिसे महाद्वार कहा गया है। उसके किवाड़ महाकपाट कहलाते थे। हर्षचरित में राजद्वार को देखते हुए जब बाण भीतर गए तो उन्होंने पहली कक्ष्या का वर्णन विस्तार से किया है और उसमें राजवल्लभ तुरंगों की मंदुरा (राजा के खासा घोड़ों का अस्तबल) और राजा की निजी सवारी के दर्पशात नामक खासा-हाथी का और उसके अवस्थान मंडप (इभधिष्ण्यागार) का ब्यौरेवार चित्र खींचा है। किंतु पहली कक्ष्या के बाद राजकुल की क्या छटा थी और कैसे ठाट-बाट थे इसका वर्णन वहाँ उन्होंने नहीं किया। हर्षचरित के चौथे उच्छ्वास में राजकुल का बहुत पल्लवित वर्णन आया है, किंतु उसमें केवल राज्यश्री के ब्याह से पूर्व की तैयारियाँ बताई गई हैं। ऐसे विशेष अवसर पर राजकुल का जो कायाकल्प स्वाभाविक था उसके सच्चे समृद्ध वर्णन से कवि ने पाठक का मन प्रफुल्लित किया है। इसी प्रकार सातवें उच्छ्वास में सैनिक प्रयाण के सिलसिले में राजद्वार का वर्णन ७८ समासों की सहायता से किया गया है जिसमें राजकीय छावनी की सैनिक हलचल का चित्र खींचा है। किंतु उस कमी को पूरी करने के लिये कादंबरी में इस सुअवसर का समुचित उपयोग पाया जाता है। कादंबरी को यदि एक महाप्रासाद की वास्तु-रचना की दृष्टि से देखा जाय तो शूद्रक की राजसभा उसका मुखमंडप है और उज्जयिनी से लेकर राजकुल तक का वर्णन उसके रंगमंडप के स्थान में आता है। जिस महाभवन में चंद्रापीड़ रूपी दिव्य ज्योति ने जन्म लिया हो उसके वर्णन में कवि का इतना उत्साह उचित ही है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्थापत्य, शासन-प्रबंध, अंतःपुरिकाजनों के रहन-सहन और राजभवन की श्री-समृद्धि एवं आचार-विशिष्टता के विषय में यह वर्णन चित्रपट के समान क्रम से अनेक दृश्य उपस्थित करता हुआ चलता है। इसमें समासों की संख्या सौ से अधिक है। इस राजकुल में सात कक्ष्याएँ थीं। मानसोल्लास के अनुसार राजकुल की पहली कक्ष्या बहुत लंबी-चौड़ी होती थी और उसके बाद की कक्ष्याएँ क्रमशः घटती जाती थीं। कवि के वर्णन भी इस विशेषता के अनुकूल हैं। दूसरी बात यह है कि राजद्वार से आरंभ करके कक्ष्याओं के क्रम से ही यह वर्णन किया गया है, जैसा कवि ने अनेक प्रकार से सूचित किया है।

सबसे पहले राजद्वार पर द्वारपाल नियुक्त थे। तोरण के खंभों के पास उनकी नियुक्ति थी। वे हाथ में सोने की वेत्रलताएँ लिए थे। वेत्रलता मूल में यद्यपि बेंत की होती थी पर अब यह शब्द रूढ़ हो गया था और प्रतिहारियों के अधिकार-दंड के लिये प्रयुक्त होने लगा था। द्वारपालों की पूरी वर्दी सफेद रंग की थी। सिर पर श्वेत उष्णीष बँधा था।

उस पर श्वेत पुष्पों का शेखर था। वारबाण या लंबा कंचुक भी श्वेत रंग का था। सफेद वर्दी (सितवेष) के कारण कवि की उत्प्रेक्षा है कि मानों उन्होंने श्वेतद्वीप में जन्म लिया था।

इसके बाद राजद्वार के भीतर एक व्यापक दृष्टि डालते हुए कवि ने अनेक संख्यक महाप्रासादों का उल्लेख किया है जिनमें नीचे के तल्ले में संजवन या चतुःशाल एवं ऊपर के तल्ले में चंद्रशालिकाएँ बनी थीं और आवश्यकता के अनुसार जहाँ-तहाँ विटंक-वेदिकाएँ ऊँचे चबूतरे बने हुए थे। उनके शिखर प्रमुखता से दिखाई दे रहे थे। वे श्वेत गचकारी के काम से अलंकृत थे (अमलसुधावदातैः) और उनके आपस में सटे हुए आकाश को छूनेवाले अनेक मस्तक और कलश कैलास की चोटियों के समान लगते थे। प्रासादों के बहुसंख्यक वातायन भी कुछ दूर से दिखाई पड़ रहे थे। खिड़कियों की पंक्ति के समीप ही शोभा के लिये सोने की जंजीरों के जाल या संतानक लटकाए गए थे। जैसे महल के भीतरी भाग की छतों में मोतियों के झुग्गे (मुक्ताप्रालंब) और मंडपों में मुक्ता-जाल टाँगे जाते थे वैसे ही दीवारों के बाहर की ओर कनक-शृंखलाओं के जालक लटकाए जाते थे। गुप्तकालीन मिट्टी की अलंकृत ईंटों पर और शिल्प में भी इस प्रकार के कनक शृंखलाजालों की अनुकृति पाई जाती है। क्रम की दृष्टि से राजभवनों का उल्लेख अभी कुछ देर बाद होना चाहिए था किंतु पहली कक्ष्या में खड़े होकर उनका जैसा बाह्यरूप दूर से दिखाई पड़ रहा था उसका वर्णन यहीं आवश्यक था। आगे पास पहुँचने पर तो उनके भीतरी दृश्यों का वर्णन ही उपयुक्त होगा। पहली कक्ष्या में ही गहरी और शस्त्रों से भरी हुई आयुधशालाएँ बनी हुई थीं जो पाताल की गुफाओं सी लगती थीं। ये आयुधशालाएँ अवश्य ही प्रथम कक्ष्या के चारों ओर बने हुए अनेक कमरों के और द्वार-प्रकोष्ठों के, जिनमें सैनिक रहते थे, नीचे की भूमि खोदकर बनाई गई होनी चाहिएँ। आजकल के महलों में भी शस्त्रागार या सिलहखाने कुछ कुछ इसी ढंग के बनाए जाते हैं।

इसके बाद पहली कक्ष्या में पहरे पर नियुक्त यामकरेणुकाओं का एवं राजा के खासा हाथी और खासा अस्तबल का वर्णन किया गया है। राजद्वार के बाहर नियुक्त यामकुंजरों का उल्लेख ऊपर आ चुका है। हर्षचरित में भी राजद्वार के वर्णन प्रसंग में यामस्थापित गजेंद्रों का उल्लेख है (पृ० ५८), किंतु यहाँ बाण ने स्पष्ट रूप से कक्ष्या के भीतर भी हाथियों के पहरे का वर्णन किया है (यामकरेणुकाभिः अशून्यकक्ष्यांतरम्)।

जैसे हर्ष के राजमहल में पहली कक्ष्या में ही उनके दर्पशात हाथी के रहने का प्रबंध था वैसे यहाँ भी कक्ष्या के एक भाग में गंधमादन नाम के गंधगज का अवस्थानमंडप बनाया गया था। वह अपने आलान-स्तंभ के समीप खड़ा था। यहाँ यह विचित्र उल्लेख आया है कि मद की अवस्था में गंधमादन को शांत करने के लिये बराबर संगीत का प्रबंध चल रहा था जिसे वह नेत्रों को अधूरा मूंदे हुए सुन रहा था। संगीत में वीणा, वेणु, मृदंग, घर्घरिका (घुँघरूदार लेजिम) बजाए जा रहे थे। उसकी सूँड बाएँ दाँत की नोक

पर टिकी हुई थी। कानों का हिलना डुलना बंद था। शरीर के दोनों ओर लाल झूलें लटक रही थीं। बीच-बीच में आधोरण (महावत) के गीत से आनंदित होकर अपने कंठ से भी वह मंद गर्जन करता था। कान के पास शंख और कानों के ऊपर अंकुश लटके हुए थे एवं कानों के नीचे की ओर चँवर झूल रहे थे। उसका आगे का भाग लंबा-चौड़ा और पीछे का अपेक्षाकृत सँकरा था। गले में अर्धचंद्राकृति टिकरे के साथ नक्षत्रमाला नाम का आभूषण था। पैरों में सिक्कड़ (त्रिपदी)[1] पड़े हुए थे। दांतों पर नाहरमुखी कड़े पहनाए गये थे।[2] गंधमादन की अपेक्षा राजकुंजर दर्पशात का वर्णन अत्यंत विशद हुआ है।

प्रथम कक्ष्या में दूसरी ओर राजवल्लभ तुरंगों की मंदुरा थी जिसमें अनेक जाति के कीमती घोड़े बँधे हुए थे। घोड़ों की पीठों पर श्वेत रंग के पट्टकंबलों की बनी हुई जीनें पड़ी हुई थीं। गले में मधुर शब्द करनेवाली घंटियों की चौरासियाँ (कंठे) बँधी थीं। कंधोंपर अयाल के बाल मँजीठी लाल रंग के थे। सामने रक्खे हुए घास के ढेर पर मंदुरापाल बैठे हुए थे। गुड़-मिली खीलों के लड्डू घोड़ों के गालों में भरे थे। सुकुमार स्वभाव के वे घोड़े कनौतियाँ खड़ी करके मंगल-गान की ध्वनि सुन रहे थे।

पहली कक्ष्या में दो स्थान और थे, एक न्यायालय के लिये अधिकरण मंडप और दूसरा राजकीय शासन-संबंधी अधिष्ठानाधिकरण या सचिवालय। दोनों ही सार्वजनिक स्थान थे अतः पहली कक्ष्या में ही उनका होना आवश्यक था, क्योंकि वहाँ तक प्रायः सभी जनता बिना रोकटोक आ जा सकती थी। चुने हुए महापुरुष ही धर्माधिकारी होते थे। उनके बैठने के लिये और कार्यालयों की अपेक्षा अधिक ऊँचे वेत्रासनों का प्रयोग किया जाता था। सरकारी अधिकरण में लेखक यथास्थान बैठे हुए थे। वे सहस्रों की संख्या में भाँति भाँति के शासन या राजादेश-पत्र लिख रहे थे। वहाँ हरेक गाँव और नगर के नामों की पूरी सूची थी और उनके पोथों में सभी जगह के हिसाब-किताब, पैदावार, भूमि, लगान वसूल-

१--यह शब्द अमरकोश में होना चाहिए था, किन्तु नहीं है। रघुवंश में इसका प्रयोग हुआ है--नास्त्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि (४।४८); त्रिपदी पादशृंखलम् (मल्लिनाथ)।

२--लग्नसिंहमुख प्रतिमेन। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि शेर के मुँह की हूबहू प्रतिमा बनाकर दाँतों के बीच में माथे पर लगाई गई थी। इसमें प्रतिमा शब्द पारिभाषिक है। मौनियर विलियम्स और आप्टे ने हाथियों के दाँतों के बीच के मत्थे को प्रतिमा कहा है। यह अर्थ उन्होंने बौटलिंक के बड़े कोश से बिना परखे ही ले लिया। जर्मन कोश में मेदिनी का प्रमाण दिया है। मेदिनी में प्रतिमा का अर्थ दंतबंध है। हाथी के दाँतों में शोभा के लिये कड़े या कंगन सदा से पहनाए जाते रहे हैं। जायसी ने भी उनका उल्लेख किया है। (सोनै मेलि कै दाँत सँवारे, पदमावत ५१४।५) कड़ों के सिरों पर शेर या मगर आदि के मुँह बनाये जाते थे। आज भी स्त्रियों के कड़ों के सिरों पर ग्राहमुखी और नाहरमुखी अलंकरण बनते हैं।

यत्री, आदि से संबंधित पूरे ब्योरे का इंदराज था, जैसे धर्मराज की नगरी में संसार भर के किए धरे का पूरा हाल लिखा जाता है। वहीं बैठे बैठे उनकी निगाह सब लोगों को देखती थी।[1]

इसके बाद का वर्णन राजप्रासाद की दूसरी कक्ष्या से आरंभ होता है। दूसरी कक्ष्या की सबसे बड़ी विशेषता वहाँ का आस्थानमंडप या दरबार आम था जिसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। इस कक्ष्या में आस्थानमंडप के बाहर नियुक्त बहुत से सेवक जन थे और आस्थानमंडप के भीतर बैठे हुए सामंत लोग थे। सेवक एक ही जगह भीड़-भाड़ न करके व्यवस्था के अनुसार जगह-जगह तैनात किये गए थे (स्थान स्थानेषु बद्धमंडलेन)। अभी तक राजा भीतर से निकलकर बाहर नहीं आए थे, अतएव सेवक लोग उनके आने की बाट देखते हुए चौकन्ने खड़े थे। उनकी चमड़े की ढालें सैकड़ों सुनहरे चाँद और बुँदकियों से अलंकृत थीं (कनकमयार्धचंद्रतारागणशतशबलैश्चर्मफलकैः)। चमकती तलवारों की किरणें धूप में चमचमा रही थीं। सेवकों के एक कान में हाथीदाँत का श्वेत आभूषण था, सिर पर मौलि बँधी हुई थी, और भुजदंड और उरुदंड चंदन-चर्चित थे।[2]

उनके कटि प्रदेश में कटारें (असिधेनुका) खोसी हुई थीं। बहुत करके वे आंध्र, द्रविड और सिंहल निवासी पुरुषों में से चुने गए थे।

राजा के आने से पहले ही सामंत लोग आस्थान मंडप में आकर अपने-अपने स्थानों पर बैठ गए थे (आस्थानमंडपगतेन च यथोचितासनोपविष्टेन)। ज्ञात होता है कि

१—अधिगत सकल ग्राम नगर नामभिः एकभवनमिव जगदखिलमालोकयद्भिः आलिखित सकलभुवन व्यापारतया धर्मराजनगरव्यतिकरमिव दर्शयद्भिः अधिकरणलेखकैः आलिख्यमान शासन सहस्रम्। व्यतिकर=काम की भीड़भाड़। शासन—भूमिदान संबंधी राजादेश विशेषतः शासन कहलाते थे (त्वां शासन शतेन योजयिष्यामि (पञ्चतंत्र)। अन्य प्रकार के आदेश भी शासन हो सकते थे (याज्ञवल्क्य २।२६५, ऊनं वाभ्यधिकं वाऽपि लिखेद्यो राजशासनम्, राजदत्तभूमेः निबंधस्य वा।

२—इससे सूचित होता है कि उनकी वर्दी आधी बाहों की थी और नीचे घुटन्ना घुटनों से कुछ ऊपर तक था। आधी बाँह और पूरी बाँह के कूर्पासक अजंता के चित्रों में दिखाए गए हैं। कूर्पासक का पहनावा गुप्तकाल में खूब प्रचलित था और कुछ भेद से स्त्री और पुरुष दोनों ही इसे पहनते थे। प्रायः यह पहनावा कटि से ऊँचा रहता था। इसका विशेष वर्णन हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन में पृष्ठ १५२–५३ पर दिया है और फलक २० के चित्र ७५ में उनके तीनों प्रकार दिखाए गए हैं। पुरुष और स्त्रियों के घुटन्ने का भी रिवाज था जिसे सतुला कहते थे। उसका अंकन भी फलक २४ चित्र ७१ में दिया गया है। कवि ने यह ध्वनित किया है कि सेवकजन वर्दी में ऊपर कूर्पासक और नीचे सतुला पहने हुए थे।

सामंत राजसभा में आकर कई प्रकार के क्रीड़ा विनोदों में भाग लेते थे जिनसे राजा का भी मनोविनोद होता था। यहाँ उस प्रकार के विनोदों की सूची बाण ने दी है, जैसे द्यूतक्रीड़ा चौपड़ का खेल, वीणा बजाना, चित्र फलक पर राजा की प्रतिकृति का आलेखन करना, बिंदुमती या केवल बिंदु रूप में लिखी हुई लिपि की खोज निकालना, पहेली बूझना, राजा के रचे हुए श्लोक और सुभाषितों का अर्थ विचारना, त्रिपदी पाठ करना, कवियों की कविता में से उनके गुण बताना, पत्रभंग या चित्र बनाने के खाके काटना (उत्किरता पत्रभंगान्), वार विलसिनीजन से आलाप (छींटाकशी और चुस्त जबानी) करना वैतालिकों के गीत सुनना आदि। इस प्रकार भाँति-भाँति की गोष्ठियों और फुटकर विनोदों द्वारा राजा और उसके सदस्य समय बिताते थे। ये सामंत मूर्धाभिषिक्त राजा थे जो मस्तक पर किरीट और उष्णीषपट्ट बाँधते थे। सम्राट् आस्थानमंडप में पधार चुके थे और ये विनोद उन्हीं की उपस्थिति में हो रहे थे। जब राजा दरबार से उठ खड़े हुए तो फर्श पर बिछे हुए कालीन एवं रत्नासन वहाँ से समेट दिये गए। बड़े फर्शी कालीनों को गोल लपेटकर आस्थानमंडप के किनारे पर कर दिया गया और रंग-बिरंगे रत्नासनों को भी उठा-उठाकर सभा के पर्यंत भाग में ढेर कर दिया गया (उत्थित भूमिपाल संवर्तितानां च कुथानां रत्नासनानां च राशिभिरनेकवर्णैर्विराजित सभा-पर्यंतम्)। इनके विषय में दरबारों की यह प्रथा आज तक चली आई है। रत्नासन का तात्पर्य रत्नजटित सिंहासन या चौकी से था जिनके ऊपर डहडहे रंगों के श्रेष्ठ आस्तरण बिछाए जाते थे।[1]

दरबार की भूमि का फर्श चिकना और चमकदार था और उस पर बीच बीच में खिले हुए कमल पुष्पों की सजावट की गई थी (विकच कमल पुष्पप्रकर)।

दरबार के साथ वारविलासिनी स्त्रियों का उल्लेख प्रायः आता है जैसा शूद्रक के दरबार में और यहाँ भी है। दरबार की समाप्ति पर इधर-उधर जाने-आने से उनके नूपुर, कंकण और करधनी की झंकार हो रही थी और वे सुनहली डंडी के चँवर कंधे पर रखे हुए थीं।

इसके बाद राजकुल में पाले जाने वाले कई प्रकार के पशु-पक्षियों का वर्णन आता है। मृच्छकटिक में वसंतसेना के अष्ट प्रकोष्ठ या आठ चौक वाले भवन में इस तरह के पशु दूसरे प्रकोष्ठ में और पक्षी सातवें प्रकोष्ठ में थे। किंतु यहाँ पशु-पक्षी दोनों का वर्णन साथ ही है। इस बात की पूरी संभावना है कि राजकुल की सात कक्ष्याओं में से तीसरी कक्ष्या में ही भवनोद्यान के भीतर पशु-पक्षी पाले जाते थे, क्योंकि वहाँ रानियाँ भी उन्हें देखकर अपना मन बहला सकती थीं। तीसरी कक्ष्या से ही अंतःपुर शुरू होता था और इस वर्णन में अंतःपुर के सौध और अंतःपुरिका जन, दोनों का उल्लेख आया है।

धवलगृह की देहली में प्रवेश करते ही ऊपर जाने के लिये सोपान बने होते थे जैसा हर्षचरित में कहा जा चुका है और यहाँ भी उल्लेख है। सूचित होता है कि यहाँ से

१—परार्ध्य वर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान् रत्नवदासनं सः। (रघुवंश ६।४)

तीसरी कक्ष्या का वर्णन आरंभ किया गया है। उसके एक भाग में सोने की जंजीर में बँधे हुए कुत्तों का समूह दिखाई पड़ता था। कस्तूरिया हिरन इधर-उधर छुट्टा फिर रहे थे। अनेक किरात, वर्षवर (हिजड़े), बहरे, बौने, गूँगे नौकर महल के उस भाग में आते-जाते दिखाई पड़ रहे थे। एक ओर किन्नर-मिथुन और दूसरी ओर बनमानुस लाकर रखा गया था। अंतःपुर की स्त्रियाँ मेढे, मुर्गे, भुजंगे, बटेर, क्रौंच, और लवे लड़ा रही थीं। चकोर, कोयल, हरियल और कादंब (एक प्रकार का नील वर्ण हंस) कूज रहे थे। शुक-सारिकाएँ चुहल भरे आलाप सुना रही थीं। एक ओर पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले शेर पकड़कर लाए गए थे और पिंजड़ों में बंद (पंजरकेसरिभिः) करके रखे हुए दहाड़ रहे थे। भवन मृगों के झुंड दूर तक चौकड़ी भर रहे थे। मरकत के फर्श पर मोर कूक रहे थे। गृह-सारस चंदन-वृक्षों के नीचे ऊँघ रहे थे। अंतःपुर की बालिकाएँ गेंद और गुड़ियों से खेल रही थीं। झूले के सिरे पर घंटियाँ बँधी थीं। झूलते समय उनकी मधुर झंकार उठ रही थी। सौधों के शिखर पर कपोतपालिका के चारों ओर कबूतर बैठे हुए थे और जब बीच-बीच में वे नीचे उड़ कर धरती पर आ बैठते थे, तो ऐसी शोभा होती थी मानों नीली कमलिनियों का वन हो। अंतःपुर की स्त्रियाँ राजा के चरित्र का अनुकरण करके भाँति-भाँति की क्रीड़ाएँ कर रही थीं। पहली कक्ष्या में जो अश्वमंदुरा थी उसके साथ ही बंदर भी पाले गए थे, किंतु किसी प्रकार उनमें से कुछ वहाँ से भागकर उद्यान में पहुँच गए थे और वहाँ के दाड़िम फल खाकर, आँगन के सहकार के पल्लवों को तोड़कर और वामन, कुब्ज, किरातों को घुड़ककर उनके हाथ से हार आदि आभूषण छीनकर उत्पात मचा रहे थे। पाली हुई शुक-सारिकाएँ गुप्त भेद खोलकर अंतःपुर की स्त्रियों को लज्जित कर रही थीं। धवल गृह के भीतर प्रासाद सोपान पर समारोहण करती हुई स्त्रियों के मणिमय नूपुरों की झंकार कलहंसों की किलकारी के साथ मिलकर पद-पद पर दूनी हो रही थी। अंतःपुर की तीसरी कक्ष्या में ही स्वर्णदंड लिए हुए और श्वेत वस्त्र पहने हुए अनेक बूढ़े कंचुकी नियुक्त थे। वे सिर पर उष्णीष बाँधे थे। उनके सिर के बाल श्वेत हो गए थे। वे स्वभाव के धीर और आकृति से गंभीर जान पड़ते थे।

अब अंतःपुर के भीतरी भाग में पहुँचकर (समुपेताभ्यन्तर) कवि वहाँ के विभिन्न स्थानों का परिचय कराने लगता है। यहाँ के समास हलके फुलके हैं। उनके द्वारा कवि प्रत्येक देखने योग्य वस्तु का सन्निधि-चित्र खींच रहा है। उसकी दृष्टि कभी इस वस्तु पर और कभी उस वस्तु पर पड़ती है और वह प्रत्येक को शब्दमय चौखटे में जड़कर सजाता है। भुक्त्वा-स्थान मंडप में काले अगुरू का धुआँ छाया हुआ था।[1] वहाँ यामकुंजर पहरे पर तैनात थे।

१—मूल में यहाँ केवल अगुरू के धुएँ का उल्लेख है किंतु शूद्रक के भुक्त्वास्थान मंडप में अगुरू धूप की सुगंधि जलाने का वर्णन आ चुका है (विराजमानमतिबहलागुरु धूप परिमलम्)। इससे यह निश्चित अनुमान होता है कि यहाँ सम्राट के भीतरी आस्थान मंडप का ही संकेत किया गया है।

जैसे राजद्वार और प्रथम कक्ष्या में वैसे ही अंतःपुर के भीतर भी इस प्रकार की व्यवस्था की जाती थी। भवन में तमाल की वीथियों और रक्ताशोकों की शोभा थी। आभ्यंतरास्थान मंडप की छत से मुक्ता-कलाप लटक रहे थे।[1] स्नान भूमि में धारागृह बने हुए थे। पास में सोने की यष्टियाँ थीं जिनपर भवन-मयूर संध्या के समय बैठते थे। धवलगृह के ऊपरी भाग में चंद्रशालिका के खंभों पर उत्कीर्ण शालभंजिकाओं की मूर्तियाँ गृहदेवता सी जान पड़ती थीं। हर्षचरित में कहा है कि रानी यशोवती गर्भ के दिनों में चंद्रशालिका में बैठकर वहाँ की शालभंजिकाओं को देखा करती थी। राजा रानी के निजी आवास के द्वार पर दंडपाणि प्रतिहारी नियुक्त थे। राजकुल के वस्त्रकर्मांत (तोशखाना) आदि भांडारों के लिए नाना श्रेणियों में काम करने वाले शिल्पी अनेक प्रकार की नई-नई वस्तुएँ बनाकर लाते थे और वे भांडागर के संचय में रखी गई थीं। धवलगृह के आँगन की वीथियों में सुन्दर नृत्य के प्रयोग किये जा रहे थे। भवन-पुष्करिणी के कमलों की सुगंधि फैल रही थी। दान-शाला में याचकों को संपत्ति बाँटी जा रही थी।[2] नाट्यशाला में पताका और अंकों से समन्वित नाटकों का आयोजन हो रहा था। उसमें एक स्थान पर बाण-विद्या के अभ्यास के लिये योग्या[3] भूमि बनी हुई थी। कोशगृह में नाना स्थानों से संचित किया हुआ कोश यथा-विभाग रक्खा गया था। रत्नालय में अनेक रत्नों का संचय था जिसके लिए राज्य में सहस्रों प्रकार के छोटे-छोटे कर लगाए गये थे।[4] वहाँ निरंतर महादान देने का उपक्रम

१—मुक्ताकलाप या मोतियों के झुग्गे जिन्हें मुक्ताप्रालंब भी कहा जाता था कहाँ लटकाए गये थे इसका स्पष्ट संकेत नहीं है, किंतु अनुमान है कि अंतःपुर में सम्राट के बैठने के आभ्यंतरास्थान मंडप नामक विशेष स्थान में जो दुकूल-वितान था उसी की छत में ये लटकाए गए थे। ज्ञात होता था कि छत में चमकते हुए तारे लटक रहे हैं। शूद्रक के बाह्यास्थान मंडप के दुकूल-वितान के वर्णन में अवलंबित स्थूल मुक्ताकलाप का उल्लेख किया गया है। उस आधार पर यह भी अनुमान करना संगत है कि भुक्तास्थान मंडप में भी सम्राट के लिए उसी प्रकार के चंदोवे का प्रबंध रहता था जैसा बाह्यास्थानमंडप में। सम्राट के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति के लिए दुकूल-चंदोवे का उपयोग विहित न था।

२—निजलक्ष्मीकृतकमलोपकारम्। इसमें कमल शब्द पर श्लेष है—(१) पद्म, (२) याचक। कमल शब्द का यह दूसरा अर्थ जो यहाँ एकदम संगत होता है मौनियर विलियम्स या अन्य कोषों में मुझे नहीं मिला, लेकिन आप्टे ने दिया है।

३—योग्या=शस्त्राभ्यास-भूमि।

४—मृदुकर सहस्र संवर्धित रत्नालयम्। मृदुकर सहस्र का अर्थ छोटे-छोटे बहुत से विशेष करों से ज्ञात होता है। इन करों का और राजगृह में रत्नों के संचय का क्या संबंध था यह ध्यान देने योग्य है। व्यंजना यह है कि विशेष जाति के महँगे रत्नों का क्रय करने के लिये राजा की ओर से प्रजापर विशेष कर लगा दिए जाते थे। उन्हें ही मृदुकर कहा है। एक ओर तो भूमि की उपज का षष्ठांश राज्य भाग के रूप में लिया

हो रहा था।[1] प्रजाओं के व्यवहार या न्यायसंबंधी विवादों का निपटारा करने के कारण राजकुल में बहुत सा सुवर्ण संचित हो गया था। द्वार-प्रकोष्ठ पर सैकड़ों महाभोगी (राज्य की ओर से भोग या गुजारा पाने वाले) एकत्र थे। वहाँ वे अनेक प्रकार के गीतों का आनंद उठा रहे थे। पुश्त दरपुश्त से चले आते हुए बहुत से शूर वीर जो समय पड़ने पर भयंकर कार्य कर सकते थे, प्राण देकर भी राजकुल की रक्षा के लिये नियुक्त थे। राजा के यहाँ उत्तम, मध्यम, अधम आदि अनेक प्रकार के पुरुष थे। वे राजा का आदेश पालन करने के लिए सदा तैयार रहते थे। उनके लिये विशेष व्यय का प्रबंध किया जाता था और वह ठीक समय पर उन्हें मिलता रहता था।[2] बहुत से राजा भयवश अंतःपुर में आकर शरण लेते थे। धवलगृह की

जाता था। वह पुश्त दर पुश्त के लिये नियत होता था और राजा भी उसमें अपने मन से वृद्धि न कर सकता था। दूसरे शुल्क (चुंगी), आकर (खान) आदि पर नियत कर थे जिन्हें धर्म्य कहा जाता था। उनमें भी घटा-बढ़ी संभव न थी। तीसरे प्रकार के छोटे छोटे फुटकर कर समय समय पर लगाए जाते थे और इन्हें राजा अपनी इच्छा से किसी भी विशेष अवसर पर कार्य वश लगा सकता था। इन करों की प्रथा बहुत पुरानी थी। पाणिनि ने 'कारनाम्नि च प्राचां हलादौ' सूत्र (६।३।१०) में इन्हें 'कार' कहा है। काशिका ने इनके चार उदाहरण दिये हैं, जैसे मुकुटेकार्षापणं, एक-एक पगड़बंद व्यक्ति के पीछे एक-एक कार्षापण का कर आदि (पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० ४१०-११)। एक जातक में आया है कि किसी राजा ने राजकुमार के जन्म के समय खीरमूल कहापण नामक कर लगा दिया और हर घर से प्रजा एक-एक कार्षापण राजमहल के आँगन में डाल गई। मालवा में इस तरह के करों को बराड़ कहा जाता था और उसके बहुत से रूप सुने जाते हैं, जैसे शादी बराड़ (राजा के यहाँ शादी के समय देय कर), हलबराड़, बागदुम बराड़ (घुड़चढी करने के लिये राजा को कुछ देय कर) आदि। वर्णक समुच्चय में १८ प्रकार के कर लिखे हैं, जैसे वर्षापन, दान, पुच्छी, भेंट आदि (सांडेसरा-वर्णक-समुच्चय, पृ० १७०)। पाग, ताग (तगड़ी पहनने वाले प्रति व्यक्ति पर कर), पुच्छी (पशुओं पर कर), घर-दुआरी आदि इसी तरह के मृदु कर थे। श्रीजी की दमड़ी—इस नाम से एक दमड़ी तक का कर लगाया जा सकता था।

१—गुप्तकाल की संस्कृति का यह विशेष अंग था। द्वीपांतरों से जो संपत्ति एकत्र हुई उसी के साथ महादानों की कल्पना का समाज में जन्म हुआ। मत्स्य-पुराण में षोडश महादानों की सूची में ब्रह्मांड दान, धरित्री दान, कल्पवृक्षदान, सप्तसागर महादान आदि सोलह महादानों का उल्लेख है।

२—व्याकरणमिव प्रथम मध्यमोत्तम पुरुष विभक्ति स्थितानेकादेशकारका ख्यातसंप्रदान क्रिया व्यय प्रपंच सुस्थितम्—पुरुष, विभक्ति, कारक, क्रिया, अव्यय आदि के प्रपंच से युक्त व्याकरण के समान, राजकुल सुस्थित था।

चित्रशालिकाओं में जो भित्तिचित्र थे उनमें मानों सारी त्रिलोकी ही अंकित कर दी गई थी।[1] अंतःपुर के मध्यभाग में पुराण पुरुष अर्थात् वृद्ध कंचुकी और वामन पुरुष या बौने विविध कार्यों के लिए नियुक्त थे। वहाँ बड़ा श्वेत चँदोवा तना हुआ था। कुछ राजकन्याएँ बाल-अवस्था से ही राजकुल के अंतःपुर में प्रतिपालित होती थीं और उन्हें गांधर्व-विद्या का विशेष अभ्यास कराया जाता था। उनकी व्युत्पत्ति और कला देखने के लिये राजकुल विशेष उत्कंठित रहता था। राज्याभिषेक के समय अनेक व्यक्तियों को नाना प्रकार के उपहारों का वितरण किया जाता था। विविध प्रकार के आसवों को भरकर रखने और पान करने के लिये भाँति-भाँति के बरतन और विशेष चषक आदि का संग्रह किया गया था।[2] आभूषणगृह में बहुसंख्यक नक्षत्रमाला नामक हार संगृहीत थे।[3] राजपरिवार से एक बार जिनका संबंध जुड़ जाता था उनके साथ पूर्व जैसा ही भाव बरता जाता था और राजकुल के कारण उनका नित्य अभ्युदय होता रहता था। मार्जनगृह में स्नान, चूर्ण, धूप, विलेपन, अंग-राग आदि तैयार रहते थे। ताम्बूल भवन में लवली (हरफारेवरि), लवंग, इलायची, कंकोल का संग्रह किया गया था। वहाँ अनेक प्रकार के चाटु संलापों और सुभाषितों का रसास्वादन किया जाता था और उनमें प्रसन्नता प्रकट करने के लिए ताली बजाई जाती थी। राजकुल के रत्नालय से मणियों के जड़ाऊ सैकड़ों-हजारों गहने अंतःपुर में रानियाँ आवश्यकतानुसार लेती रहती थीं और वे लेख्यपत्र में लिख लिये जाते थे। अलंकार-आभूषणों के लिये विशेष प्रकार से शुद्ध किये हुए श्रृंगी कनक नामक सोने का भंडार रक्खा गया था। (अंतःस्थितापरिमाणश्रृंगि हेमकूटम्)। संगीत-भवनों में अनेक मृदंगों का संग्रह था। वहाँ अन्य राजाओं के ग्रहण और मोक्ष की नीति की व्याख्या होती थी और राजधर्म[4] के

१—चित्रलेखा दर्शित विचित्र सकल त्रिभुवनाकारम्। उज्जयिनी के वर्णन में भी चित्रभित्तियों को दर्शित विश्वरूपा कहा जा चुका है।

२—हर्षचरित में मधु-चषक, मसार-गल्वर्क के रत्न पात्र, हेमकलश, मुक्ता, शैलशिला—चषक, राजहंस की आकृति के चाँदी के पात्रों का उल्लेख आया है। ललित-विस्तार में सोना, चाँदी, वैदूर्य, स्फटिक, मसारगल्ल, सर्वरत्न और शिला के बने पात्रों का उल्लेख है (ललित विस्तर पृ० ३८२-८३)। प्राचीन भारतवासियों को सुंदर आकृति के मूल्यवान् पात्रों का बहुत शौक था और समृद्ध घरानों में तो वे विशेष रूप से संगृहीत किए जाते थे। सलिल-भांड, गोरस-भांड, पाचन-भांड, पान-पात्र, रत्नपात्र, मृत्पात्र आदि कितने ही प्रकार के पात्र प्रसिद्ध थे।

३—सत्ताइस मोतियों से बनाई जानेवाली एकावली या इकलड़ी माला नक्षत्र-माला कहलाती थी। उसके बीच में नीलम की गुरिया पोह दी जाती थी। यह गुप्तकाल का विशेष आभूषण था।

४—नारदीयमिव वर्ण्यमान राजधर्मम्। यहाँ सभापर्व में आई हुई नारद राजनीति का स्पष्ट उल्लेख है। वह प्रकरण कुषाण-काल के लगभग जोड़ा गया होना चाहिए क्योंकि उसमें प्रतिक नामक चालू सिक्के का उल्लेख आया है जो पहली दूसरी शती के लगभग लोक में प्रचलित कार्षापण की संज्ञा थी।

विशेष अंगों का वहाँ वर्णन होता रहता था। कादंबरी नामक सुरा के रसास्वादन का विशेष वर्णन किया जा रहा था।[1]

कक्ष्याओं की दृष्टि से तीसरी कक्ष्या के अनंतर चौथी कक्ष्या में संगीत, नाटक, वाद्य आदि की व्यवस्था रहती थी। ऊपर के वर्णन में नृत्यारंभ, नाट्य-प्रदर्शन, मृदंग-वादन आदि के जो बिखरे हुए उल्लेख हैं उनका संबंध उसी कक्ष्या से समझना चाहिए।

वसंतसेना के भवन में पाँचवें प्रकोष्ठ में महानस का वर्णन किया गया है। यहाँ भी स्नान-धूप, विलेपन, गंधिक-भवन, तांबूल-भवन, आसव-गृह, धारागृह अभिषेक आदि से संबंधित जो वर्णन आया है उनका संबंध अंतःपुर के उसी भाग से था।

वसंत सेना के छठे प्रकोष्ठ में सोने और रत्नों के तोरण थे। वहाँ शिल्पी (वैकटिक) रत्न तराशने के संबंध में आपस में विचार कर रहे थे, सोने के गहने गढ़े जा रहे थे, पटुए लाल डोरों में मोती गूँथ रहे थे और पद्मराग मणियों को सोने में जड़ा जा रहा था। बिल्लौर का घिसना, शंखों का छेदना, गंध युक्तियों का सँजोना और मदिरा-पान का संबंध इसी प्रकोष्ठ से था। ऊपर राजकुल के वर्णन में कोष का संग्रह, हिरण्य का संचय, शृङ्गीकनक का अपरिमित भंडार, मणियों के शत-सहस्र आभूषण, रत्नालय, नक्षत्रमाला संज्ञक इकलड़े हार एवं श्रीरत्नों का संग्रह, पद्मराग मणियों का प्रभापूर्ण संचय इत्यादि के उल्लेख राजकुल की छठी कक्षा से ही संबंध रखते हैं।

बाण ने राजकुल के प्रसंग में नग्न लोक के वहाँ आकर फेरा करने का भी उल्लेख किया है (भ्रमन्नग्नलोकम्)। ये नग्नाटक संप्रदाय के साधु ज्ञात होते हैं जो अपनी टोली में घूमते थे। अजंता के एक भित्तिचित्र में इनका अंकन पाया गया है।

[८६]

राजकुमार को आया हुआ देखकर प्रतिहारियों की टोलियों ने शीघ्र आगे बढ़कर प्रणाम किया और मार्ग दिखाया। राजा लोग पहले से ही उसके स्वागत के लिये खड़े थे। उन्होंने मौलि की चूड़ामणि से पृथिवी का स्पर्श करते हुए सादर प्रणाम किया और प्रतिहारों ने प्रत्येक का परिचय दिया। अंतःपुर की वृद्धा स्त्रियाँ बाहर आकर अवतरण मंगल करने लगीं (दे० अनु० ६१)। सात कक्ष्याओं को क्रमशः पार करते हुए चंद्रापीड़ ने आठवीं कक्ष्या में पिता को हंस-धवल पलंग पर बैठे हुए देखा। शरीर रक्षा में नियुक्त अधिकारी पुरुष

१—कादंबरी नाम की उत्कृष्ट सुरा का उल्लेख गुप्तकाल के साहित्य में आने लगता है। सबसे पहले कालिदास ने शकुंतला में इसका उल्लेख किया है (कादम्बरी साक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते, अंक ६)। यह विशेष सुरा कदंब के पुष्पों से तैयार की जाती थी। जैसा बाण के पुत्र ने उत्तर-भाग के भूमिका-श्लोकों में लिखा है—'कादंबरी के रस से छका हुआ व्यक्ति फिर और किसी सुरा की अभिलाषा नहीं करता।'

सम्राट चारों ओर खड़े थे जिनके हाथों में शस्त्र पकड़ने से घट्टे पड़ गये थे। हाथ, पैर और नेत्रों को छोड़कर उनके सारे शरीर लोहे के छल्लों से बने हुए कवचों से ढके थे। वे पीढ़ी दर पीढ़ी से राजसेवा में नियुक्त और कुलीन एवं राजभक्त थे। राजा के दोनों पार्श्वों में वार-विलासिनियाँ श्वेत चँवर ढाल रही थीं।

[८७]

प्रतिहारों द्वारा 'आलोकय' इस प्रकार संकेत करते ही तत्काल चंद्रापीड ने नीचे तक सिर झुकाकर प्रणाम किया। पिता ने दूर से 'आओ, आओ' कहते हुए भुजाएँ बढ़ाकर शयन-तल से कुछ उठते हुए कुमार का आलिंगन किया। फिर चंद्रापीड पिता के चरणपीठ के पास भूमि में ही बैठ गया। उसकी तांबूल-करंक-वाहिनी ने उत्तरीय तह करके आसन की तरह बिछा दिया किंतु 'इसे हटा दो' कुमार ने धीरे से यह कहते हुए पैर के अग्रभाग से उसे एक ओर कर दिया। वैशम्पायन भी उनके पास ही बिछे हुए आसन पर बैठा। कुछ देर बाद राजा ने कहा—'वत्स, अब जाकर माता का दर्शन करो।' तब चंद्रापीड वैशम्पायन के साथ अंतःपुर में प्रवेश करने के अधिकारी परिजनों द्वारा दिखाए हुए मार्ग से धवलगृह के भीतर प्रविष्ट हुआ। इससे अनुमान होता है कि चंद्रापीड ने पिता का का दर्शन भुक्त्वास्थान मंडप में किया था जो कि धवलगृह के ठीक पीछे होता था जैसा कि हर्षचरित में राजकुल के वर्णन में आया है (देखिए, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, फलक २६)।

[८८]

धवलगृह के शुद्धांत भाग में पहुँचकर चंद्रापीड ने आगे बढ़कर माता को प्रणाम किया। रानी के चारों ओर अंतःपुर के आभ्यंतर प्रतिहार जो शुद्धान्तावंशिक भी कहलाते थे धवल केंचुक पहने हुए सैकड़ों की संख्या में नियुक्त थे। समीप में अति प्रशांत मुद्रा वाली वृद्ध परिव्राजिकाएँ लाल वस्त्र पहने हुए अनेक पुण्यकथाएँ सुनाकर पुस्तकें लिए हुए धर्मोपदेश कर रही थीं[1]। रानी के समीप कुछ वर्षधर भी नियुक्त थे जिन्होंने स्त्रियोचित वेश और भाषा अपना रक्खी थी और शरीर को कुछ भोंड़े ढंग से अलंकृत कर रक्खा था। कुछ स्त्रियाँ चँवर डुला रही थीं और कुछ वस्त्र-आभूषण, पुष्प, पटवास

१—ये परिव्राजिकाएँ किस संप्रदाय की थीं इसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किंतु अनुच्छेद २०५ में कादंबरि के प्रसंग में चार प्रकार की परिव्राजिकाओं और तापसियों का वर्णन किया गया है—पाशुपतव्रतधारिणी, रक्तपटव्रतधारिणी, श्वेतपटव्यंजना और वर्णियों के चिह्नों वाली तापसी। इनका संबंध क्रमशः पाशुवत बौद्ध जैन और नैष्ठिक वर्णी संप्रदायों से था। यद्यपि पाशुपत और बौद्ध दोनों संप्रदायों की परिव्राजिकाएँ लाल वस्त्र पहने हुए थीं किंतु यहाँ विलासवती के समीप पाशुपतव्रतधारिणी परिव्राजिकाओं की ही संभावना ज्ञात होती है।

चूर्ण, ताम्बूल, तालवृंत्त, अंगराग और भृंगार (झारी) लिए थीं। रानी उस समय सुंदर मोतियों की माला पहने हुए थीं[1]।

[८६]

रानी ने अति शीघ्रता से उठकर परिजनों के होते हुए भी अपने ही हाथ से अवतरणक मंगल किया और अत्यंत स्नेह से द्रवीभूत होकर सैकड़ों मंगलों की कामना करते हुए उसका मस्तक सूँघकर आलिंगन किया। फिर वैशम्पायन को छाती से लगाया और चंद्रापीड़ को उसकी इच्छा न रहते हुए भी खींचकर अपनी गोद में बिठा लिया। वैशम्पायन परिजनों से बिछाए हुए आसन पर बैठा और विलासवती ने चंद्रापीड़ को बार-बार छाती से लगाकर उसके मस्तक और कंधों पर हाथ फेरते हुए, कहा—'वत्स, तुम्हारे पिता का हृदय कठोर है जो उन्होंने इतने दिनों तक तुम्हें ऐसे क्लेशों का उपभोग कराया। किसी प्रकार तुमने गुरुजनों की इस यंत्रणा को सह लिया। बालपन से ही तुममें बड़ा धैर्य रहा है। उस समय भी बालकों के खेल में तुम्हारा मन न था। अहो, गुरुजनों में तुम्हारी असामान्य भक्ति है। जैसे पिता के अनुग्रह से तुम्हें सब विद्याओं से युक्त देख रही हूँ, ऐसे ही शीघ्र ही तुम्हें अनुरूप वधू से युक्त देखना चाहती हूँ। यों कहकर कुछ लजाए हुए पुत्र का चुंबन किया। फिर चंद्रापीड़ सब अंतःपुर को अपने दर्शन से आनंदित करता हुआ राजकुल के द्वार पर खड़े हुए इंद्रायुध पर चढ़ कर शुकनास को देखने गया[2]।

१—पयोधरावलंबितमुक्तागुणाम्। कालिदास ने भी मुक्तागुण का उल्लेख किया है और उनके वर्णन से यह भी विदित होता है कि मोतियों की उस माला के बीच में नीलम की बड़ी गुरिया होती थी (एकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्, मेघदूत १।४६; और भी, प्रागेवमुक्ता नयनाभिरामा प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम्, रघुवंश १६।६६)।

२—यह ध्यान देने योग्य है कि राजकुल के भीतर राजा के सिवाय और कोई वाहन का सेवन न करता था, यहाँ तक कि राजकुमार भी अपनी सवारी राजद्वार के बाहर ही छोड़ देते थे। हर्ष ने भी पिता के रहते हुए अपना वाहन बाहर ही छोड़ दिया था। अयोध्याकांड में अवश्य यह आया है कि पाँच कक्ष्याओं वाले दशरथ के राजकुल में तीन कक्ष्याओं के भीतर तक राम रथ पर चढ़ कर गए और फिर दो कक्ष्याओं तक पैदल चलकर गए (१२।२०)। संभवतः उस पुरानी परंपरा में गुप्तयुग के बाद और कड़ाई आ गई थी। रामचंद्र के भवन में वसिष्ठ का रथ तीसरी कक्ष्या के भीतर तक चला गया था जो उनके पद को देखते हुए उचित ही था (तिस्रः कक्ष्याः रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः अयोध्या० ५।५)।

[६०]

मंत्री शुकनाश का भवन भी मानों दूसरा राजकुल ही था। उसके द्वार पर याम-कुंजरों का समूह खड़ा था और अनेक सवार पहरे पर थे। वहाँ सहस्रों मनुष्यों की भीड़ थी। एक स्थान पर अनेक कार्यार्थी दर्शन के लिये उत्सुक खड़े थे। कभी चीवर पहने हुए शाक्यमुनि के शासन-पथ में धुरीण बौद्ध भिक्षु[१], कभी लाल वस्त्र पहने हुए पाशुपत भिक्षु[२] और कभी ब्राह्मण उनसे मिलने के लिये आते रहते थे। दर्शनार्थी सामंत भीतर गए हुए थे और जिन हथिनियों पर चढ़कर वे आए थे वे गृहद्वार से बाहर खड़ी थीं। उनके पृष्ठभाग पर बैठे हुए सेवकों ने सामंतों के मूल्यवान् आसनों को दोहरा करके अपनी गोद में रख लिया था। महावत बहुत देर तक प्रतीक्षा करते रहने के कारण ऊँघ रहे थे।

द्वार पर नियुक्त प्रतिहारों ने आगे बढ़कर कुमार का स्वागत किया। किसी के निषेध न करने पर भी राजकुल के शिष्टाचार का निर्वाह करते हुए चंद्रापीड़ बाह्यांगण[३] में ही घोड़े से उतर गए।

घोड़े को बाहर छोड़कर चंद्रापीड़ ने वैशम्पायन के साथ भीतर प्रवेश किया। लोगों को हटाते हुए प्रतिहार सामने चल रहे थे। सेवा के लिए समुपस्थित राजा उठ-उठकर प्रणाम करने लगे। उस समय दर्शन के लिये उत्कंठित लोगों की आगे बढ़ती हुई

१—चीवरच्छद्मना विनयानुरागिभिर्धर्मपटैरिवावगुंठितैः। बौद्ध भिक्षुओं ने जो चीवर पहन रखा था वही मानों उनका धर्मपट था जो उन्होंने विनय या आचार-संबंधी नियमों से प्रेम होने के कारण पहन रखा था। विनय और धर्मपट दोनों पारिभाषिक शब्द हैं। बौद्ध-भिक्षुओं के लिये विनय पिटक के नियम प्रसिद्ध हैं। धर्मपट को महाव्युत्पत्ति में बोधिसत्त्व के अष्टादश आवेणिक धर्मों में गिनाया है (महाव्युत्पत्ति २६।१८; २४५।७६१), अर्थात् वे धर्म या विशेषताएँ जिनसे बोधिसत्त्व की पहचान होती है। ऐसे ही बुद्ध के भी १८ आवेणिक (आवेदनीय) धर्म कहे जाते हैं। धर्मपट के विषय में लिखा है—सर्वधर्मपट्टावबद्धाभिषेकप्राप्तिबुद्धधर्मसंघपर्येष्टिसंदर्शनानिवृत्ताः, अर्थात् सब धर्मों के पट्टबंध (सेहरा बाँधे जाने) के साथ अभिषेक की प्राप्ति से बुद्ध, धर्म और संघ के विषय में प्रयत्न (पर्येष्टि) एवं शिक्षण (संदर्शना) की आवश्यकता से भी जो निवृत्त हो चुके हैं, या उस विषय में जिन्हें कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहा है। जैसे चीवर कई वस्त्र खंडों को जोड़कर बनाया जाता था ऐसे ही १८ आवेणिक धर्मों से मानों पूरा धर्मपट तैयार होता था।

२—अनुच्छेद २०५ और ८८ से निश्चित ज्ञात होता है कि पाशुपत संप्रदाय के परिव्राजक और परिव्राजिकाएँ रक्त वस्त्र धारण करती थीं।

३—राजद्वार के बाहर की खुली हुई भूमि को ही बाह्यांगण कहा गया है। हर्ष-चरित में उसे अजिर कहा है।

भीड़ को रोकने के लिये प्रतिहारों को कुछ उग्र उपाय काम में लाना पड़ा। उनकी प्रचंड हुंकार से परिजन सन्नाटे में आ गए। भीड़ को रोकने के लिये प्रतिहारों को वेत्रलता का प्रयोग भी करना पड़ा जिससे घबरा कर उपस्थित सामंत एक ओर हट गए। इस प्रकार महल की कक्ष्याओं को देखते हुए राजकुमार ने अनेकसंख्यक नए पुते हुए प्रासादों से भरे हुए शुकनाश के भवन में भीतर प्रवेश किया और वहाँ राजाओं के मध्य में बैठे हुए मंत्री को दूर से ही मस्तक झुकाकर प्रणाम किया।

[६१]

शुकनास संभ्रम के साथ उठ खड़े हुए। उनके साथ राजा लोग भी उठ पड़े। तब उन्होंने सटाकर दो-चार पैर रखे और खुले हुए नेत्रों में आनंदजल के कुछ कण भरते हुए प्रेम से चंद्रापीड़ और वैशम्पायन को गले लगाया। उसके बाद चंद्रापीड़ सादर दिया हुआ रत्नासन हटाकर धरती पर ही बैठा और उसके पास ही वैशम्पायन भी। राजकुमार के इस प्रकार बैठने पर शुकनास के अतिरिक्त सब राजा भी पृथिवी पर बैठ गए। क्षण भर चुप रहकर शुकनास ने कहा—

[६२]

'तात चंद्रापीड़, आज आपको विद्या-समाप्ति के बाद यौवन में पदार्पण किये हुए देखकर देव तारापीड़ को बहुत दिन बाद विश्व के राज्यफल की प्राप्ति हुई है। आज गुरुजनों के आशीर्वाद सच्चे हुए हैं। आप जैसे पुत्रों का जन्म बिना पुण्य के नहीं होता। कहाँ यह थोड़ी अवस्था और कहाँ यह अमानुषी शक्ति और कहाँ ये सब विद्याएँ प्राप्त कर लेने की सामर्थ्य? प्रजाओं का धन्य भाग जो आपने भरत, भगीरथ के समान उनके पालन-कर्ता के रूप में जन्म लिया है। पृथिवी ने किस पुण्य से आपको पति-रूप में पाया है? लक्ष्मी विष्णु के वक्षस्थल पर निवास का हठ करके अपने को वंचित कर रही है, यदि वह सशरीर आपके पास नहीं चली आती। भगवान् महावराह ने अपने दंष्ट्रावलय पर जैसे पृथिवी को धारण किया था, वैसे ही आप भी अपनी भुजाओं पर पिता के इस भार को सँभालिए।' यह कहकर आभरण, वस्त्र और अंगराग से स्वयं कुमार की पूजा करके उसे बिदा किया। फिर कुमार उठकर अंतःपुर में गए और वैशम्पायन की माता मनोरमा से मिलकर इंद्रायुध पर सवार हो कुमार-भवन में आ गए।

राजा ने पहले से ही यह भवन कुमार के लिये तैयार करा रक्खा था। वह राजकुल की प्रतिमूर्ति (प्रतिच्छंदक) था। उसके द्वार पर सफेद पुते हुए पूर्ण-कलश रखे थे और हरी बंदनवारें बँधी हुई थीं। ऊपर पताकाएँ फहरा रही थीं और संगीतशाला से मंगल वाद्यों की ध्वनि उठ रही थी। फर्श पर जगह-जगह खिले हुए कमल पुष्पों के सुहावने ढेर बिखरे थे। वहाँ थोड़ी ही देर-पहले अग्निहोत्र किया गया था। श्वेत रंग की नई वर्दी पहने हुए परिजन अलग-अलग खड़े थे। कुमार-भवन प्रायः राजकुल से पृथक् बनाया जाता था।

कादंबरी के लिये भी सात कक्ष्याओं वाले पृथक् कन्यान्तःपुर का उल्लेख आया है (अनु० १८५)। युवराज अवस्था में राम का भवन दशरथ के भवन से अलग था, पर उसका सन्निवेश बहुत कुछ राजभवन के ढंग पर ही था। (राजभवनप्रख्यात् तस्माद्रामनिवेशनात् अयोध्या ५।१५); उसमें तीन कक्ष्याएँ थीं (अयोध्या, ५।५)। चंद्रापीड़ के कुमार-भवन में दो भाग मुख्य थे—एक श्रीमंडप और दूसरा शयनीयगृह जो भीतरी भाग में होता था (अभ्यंतरे च स्वशयनीयगृहे)। यद्यपि यहाँ श्री मंडप में भी शयन का उल्लेख किया गया है, किंतु वह केवल बैठने के काम में आता था (श्री मंडपावस्थिते शयने मुहूर्तमुपविश्य)। कुमार-भवन में आस्थानमंडप की आवश्यकता न थी। वह तो राजकुल का अंग था। उसी की जगह यहाँ श्रीमंडप होता था जो लोगों से मिलने-जुलने का स्थान था। कादंबरी के अंतःपुर में भी श्रीमंडप का उल्लेख आया है (अनु० १६०, १९१)।

कुमार-भवन की तीन कक्ष्याओं का क्रम इस प्रकार समझना चाहिए। सबसे पहले द्वार-देश पड़ता था जिसे रामायण में द्वारपद कहा है (अयोध्याकांड १५।४५)। यह राजकुल के राजद्वार से मिलता था। पहली कक्ष्या के भीतर उसी प्रकार राजवल्लभ अश्व और गज अर्थात् युवराज के निजी हाथी घोड़ों के लिये एवं दूसरे लवाजिम के लिये स्थान था। दूसरी कक्ष्या में जहाँ राजकुल में आस्थान - मंडप होता था वहीं कुमार-भवन में श्रीमंडप बनाया जाता था। उसके भीतर की तीसरी कक्ष्या में निजी शयनीय गृह होता था जिसे रामायण में राम-सीता का निजी वासगृह कहा है (प्रविविक्त कक्ष्या)। युवराज हर्ष का कुमार-भवन भी सम्राट् प्रभाकर वर्द्धन के प्रासाद से अलग था।[1]

स्नान से लेकर आहार तक की समस्त दिनचर्या चंद्रापीड़ ने अपने साथी राजपुत्रों के साथ पूरी की। जैसा आगे (अनु० ९७) कहा है, जो आभूषण, वस्त्र, और अंगराग की सामग्री कुमार के लिये आई थी उसमें से उन्होंने औरों को भी यथायोग्य भाग दिया। इंद्रायुध के लिये पहली कक्ष्या में प्रबंध न करके, जैसा प्रायः नियम था, कुमार ने उसके रहने का प्रबंध अपने शयनीय गृह की तीसरी कक्ष्या में ही कराया।[2]

[६३]

इस प्रकार की चर्या में वह दिन समाप्त हुआ। सूर्यमंडल ऐसा दिखाई पड़ा जैसे आकाश से उतरती हुई दिनलक्ष्मी के पैर का पद्मराग मणि नूपुर खिसककर गिर गया हो। सूर्य का आलोक पश्चिमी दिशा में सिमिट गया। दिवस ने मानों अपनी सूर्यरूपी लाल

१—कुमार-भवन को आजकल राजस्थान में कँवरपदी के रहवास कहा जाता है।

२—अभ्यंतरे च स्वशयनीयगृह एव इंद्रायुधस्य अवस्थानमकल्पयत् (अनु० ६२)। घोड़े और हाथियों के रहने की जगह को आस्थान न कहकर अवस्थान या अवस्थानमंडप कहा जाता था। हर्षचरित में दर्पशात कुंजर के स्थान को भी अवस्थान मंडप कहा है (हर्षचरित, पृ० ६४)।

हथेली से कमलों की लाली पोंछ ली थी। चकवा-चकई एक दूसरे से बिछुड़ गए। सूर्य के बिंब पर कलौंस आ गई मानों आकाश यात्रा की थकावट से उसने अपने लाल आतप का वमन कर दिया हो।

[६४]

इस अनुच्छेद में कवि ने रात्रि के कंबल में क्रमशः लिपटते हुए राजभवन का बहुत ही सटीक चित्र राजकुल में होनेवाले विविध घटना-परिवर्तनों के रूप में प्रस्तुत किया है। सूर्य लोकान्तर में चले गए और संध्या की तिमिर लेखाएँ काले अगुरु की पत्रलताओं के समान दिशाओं में छिटकने लगीं। अंधकार ने संध्या की लाली को हटाकर सर्वत्र आतप का पीछा किया और कमलिनी के पेट में से भी उसको निकाल बाहर करने के लिये भौंरों को वहाँ भेजा। संध्या की ललाई जब बिलकुल मिट गई तो संध्याकालीन देव पूजा के बलिपिंड दिशाओं में यत्र-तत्र डाल दिए गए। अंधकार उन मयूर-यष्टियों के सिरे पर जा पहुँचा जो अब मोरों से रहित थीं। गवाक्ष-रंध्रों में बैठे हुए कबूतर ऐसे सुहावने लगते थे मानों प्रासाद लक्ष्मी के कानों के नीले कमल हों। अंतःपुर में हिंडोलों के सुनहले पीढ़े बिलकुल ठप हो गए थे और उनकी घंटियाँ मूक बनी हुई थीं। भवन सहकार की डालों में शुक सारिकाओं के पिंजड़े लटके हुए थे, पर उनका आलाप बंद था। वीणाओं का संगीत भी बंद हो चुका था। अब न युवतियों के नूपुर झंकार रहे थे और न दीर्घिकाओं में पाले हुए राजभवन के कलहंस बोल रहे थे। सोने से पूर्व हाथियों के कर्णशंख, चँवर और नक्षत्र-मालाओं के अलंकार उतार कर रखे जा रहे थे। रात के पहले पहर में चौकी देनेवाली गज-घटाएँ आ रही थीं। स्वस्त्ययन-वाचन करके पुरोहित राज मंदिर से बाहर निकल रहे थे। राजाओं के बिदा हो जाने के बाद कक्ष्याओं में परिजन बहुत कम रह गए थे। इससे ऐसा लगता था मानों कक्ष्याएँ विस्तार में बढ़ गई हों। सहस्रों दीपिकाओं की परछाईं मणियों के चमकते फर्श पर पड़ रही थी मानों चंपा के उपहार कुसुम फर्श पर बिथुराए गए हों। राजकुल की दीर्घिकाओं में दीपों की परछाईं पड़ रही थी मानों सूर्य के विरह में दुःखी कमलिनी का मन बहलाने के लिये बाल सूर्य की धूप आई हो। पिंजड़ों में बन्द केसरी ऊँघने लगे थे। धनुष बाण लिए हुए राजकुल के प्रहरी पहरा देने लगे थे। यों प्रदोष समय में चंद्रापीड़ राजकुल में पिता के पास आए और थोड़ी देर ठहरकर फिर माता विलासवती से मिलकर अपने भवन को लौटे जहाँ वे विश्राम के लिये शयन-तल पर लेट गए।

[६५]

रात्रि बीतने पर झुटपुटे अँधेरे में ही वे उठे और पिता की आज्ञा लेकर मृगया का नया चाव पूरा करने के लिए इंद्रायुध पर चढ़कर सूर्योदय से पहले जंगल की ओर चले। आगे आगे धनुर्धारी शिकारी (श्वपोषक) गधे जैसे कद्दावर कुत्तों को सोने की जंजीरों में बाँधकर ले चल रहे थे। उनके कंचुक काली काली धारियों वाले बाघंबर के साथ मिलने से चितकबरे दिखाई दे रहे थे। उनके सिर पर मौलि के रूप में रंग-बिरंगे वस्त्रों की

चीरिकाएँ बँधी हुई थीं। भरे हुए गलगुच्छों से उनके चेहरे और भी रोबदार लग रहे थे। एक कान में सोने का तरौना (हेमतालीपुट) पहने थे और कमर पर कसकर फेंटा बाँध रक्खा था। श्रम करने के कारण पिंडलियाँ भरी हुई थीं। दम-बदम शोर मचाकर दौड़ते हुए वे कुमार के उत्साह को दूना बढ़ा रहे थे। साथ में हाथी, घोड़े और पैदलों का ठट्ट चल रहा था। वन में जाकर कुमार ने खिले नील कमल की पंखड़ी जैसे नीलवर्ण भालों से और मत्त गजेंद्रों के गंडस्थल फाड़ने में समर्थ नाराचों से अनेक जंगली सूअर, शेर, शरभ, चौंरी गाय और हिरनों का शिकार किया और कितनों को तो अपनी बढ़ी हुई शारीरिक शक्ति से जीवित ही पकड़ लिया।

[६६]

जब सूर्य सिर पर आ गए तो राजपुत्रों के साथ शिकार की बातचीत करते हुए इंद्रायुध पर सवार कुमार अपने भवन को लौट आए। घोड़े की देह से पसीना चू रहा था और बार बार दाँतों को रगड़ने से उसकी कँटीली लगाम खनखन बज रही थी। थकान के कारण मुँह से फेन बह रहा था जिसके साथ लगाम से निकले हुए रक्त की बूँदें गिर रही थीं। मुँह के झाग उड़कर पलान तक आ रहे थे। वन-यात्रा के चिह्नस्वरूप उसके कानों में फूल-पत्तों का गुच्छा लगा था। चंद्रापीड़ के कवच पर मंडल[1] अर्थात् सूर्य के अलंकरण बने हुए थे। शरीर के भीतर से पसीना चूने के कारण कवच पर बने हुए अलंकरण भी गीले हो गए थे। उनके ऊपर मृग-रुधिर के छींटे पड़ने से ऐसा ज्ञात होता था मानों शतबिंदु अलंकरण बन गए हों जिनसे कवच की शोभा दुगुनी हो गई थी। बाण का यह वाक्य सांस्कृतिक सूचना की दृष्टि से अत्यंत सारगर्भित है। गुप्तकाल में कवचों पर सजावट के लिये जो अलंकरण बनाए जाते थे उनका यहाँ कवि ने उल्लेख किया है। महाभारत के विराटपर्व में तनुत्र या कवचों पर बनाए जाने वाले अलंकरणों के ये नाम आए हैं—

शतसूर्यं शतावर्तं शतबिन्दु शताक्षिमत्।
अभेद्यकल्पं मत्स्यानां राजा कवचमाहरत्॥

(विराटपर्व ३०।१२)।

१—मंडल—सूर्य और चंद्र के गोले को गुप्तकालीन संस्कृत में मंडल कहा जाता था। अमरकोश में मंडल शब्द का एक अर्थ परिवेष, परिधि या उपसूर्यक (=सूर्य की प्रतिकृति, क्षीरस्वामी) दिया है। कालिदास में मंडल शब्द का प्रयोग चंद्रमा की गोल आकृति के लिए भी है (रघुवंश १६।२७, तेनातपत्रामलमंडलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम्। बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः॥ मालविकाग्निमित्र ४।१६, अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमंडला विभावरी कथय कथं भविष्यति)। सूर्य और चंद्र के मंडलों की बूटियों से छपे हुए या कढ़े हुए वस्त्रों के लिए वर्णरत्नाकर में सूर्यमंडल, चन्द्रमंडल, नाम आए हैं (वर्णरत्नाकर पृ० २२)। तारामंडल नाम भी था जिस का उल्लेख जायसी ने भी किया है (पद्मावत १८४।३, तारामंडल पहिरि भल चोला)।

यहाँ शतसूर्य, शतावर्त, शतबिंदु और शताक्षि ये चार पारिभाषिक शब्द सजावट में प्रयुक्त चार प्रकार की भाँतों के नाम हैं। इस तरह के अलंकरण गुप्तकाल में राजाओं के कवच कंचुकों पर बनाए जाते थे।[1]

यहाँ शतसूर्य और शतबिंदु इन दो भाँतों का काव्यमय युक्ति से उल्लेख किया गया है। कवच पर बनाई जानेवाली शतावर्त भाँति का भी उल्लेख आगे आया है (अनु० १३१)। कवि का अभिप्राय यह है कि चंद्रापीड़ के कवच पर पहले केवल मंडल या सूर्य की आकृतियाँ बनी हुई थीं जो पसीने के कारण वस्त्र के भीग जाने से और स्फुट लग रही थीं। उसी कवच पर शिकार के समय मृगों के रुधिर से जो छींटे पड़े (मृगरुधिरलवशत शबलेन) तो श्वेत रंग की 'शतसूर्य' भाँति पर लाल रंग की 'शतबिंदु' (लवशत=शतबिंदु) भाँति की नई आकृतियाँ बन गईं जिनके कारण वारबाणों की शोभा पहले से दुगुनी हो उठी।

अनेक पशुओं के पीछे भागने की हड़बड़ी में छत्रधारक कहीं छूट गया था अतएव धूप रोकने के लिये नए पल्लवों का छत्र सा बना दिया गया था। घोड़े की टापों से उठी हुई धूलि ललाट के श्वेत बिंदुओं पर ऐसी दिखाई दे रही थी, मानों वन-कुसुमों के पराग से धूसरित वसंत हो। पदाति परिजनों के भी पीछे रह जाने से अब कुमार के सामने कोई न चल रहा था। केवल साथ में तेज घोड़ों पर सवार कुछ राजपुत्र 'नाहर यों थे, सूअर ऐसे थे जंगली भैंसे यों थे, हिरन ऐसे थे' इस प्रकार शिकार का हाल सुनाते हुए चल रहे थे।

[९७]

स्व-भवन में घोड़े से उतर कर कुमार ने परिजनों द्वारा लाए हुये आसन पर बैठकर पहले वारबाण उतारा और तब घुड़सवारी के समय आवश्यक अन्य वेश और सामग्री भी उतार कर रख दी। कुछ देर पंखे की हवा में विश्राम करके वह स्नान-भूमि में पहुँचा। वहाँ सोने का पीढ़ा लगा हुआ था और मणि, चाँदी और सोने के सैकड़ों कलश जल से भरे हुए रक्खे थे। कुमार ने स्नान करके धुले हुए वस्त्र से शरीर पोंछा और स्वच्छ दुकूल से मौलि-बंधन किया। फिर वस्त्र पहनकर देवार्चन करने के पश्चात् वह अंगराग-भूमि में गया। वहाँ महाप्रतीहार की अध्यक्षता में राजकुल की परिचारिकाएँ, कुलवर्धना की अध्यक्षता में

१—मथुरा की गुप्तकालीन कला में सूर्य और उनके पार्श्वचर दंड और पिंगल की जो मूर्तियाँ मिली हैं उनपर सासानी वेष-भूषा का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार की भाँति विशेषतः सासानी राजाओं की वेश-भूषा में और उनके समकालीन चित्रों में बहुतायत से मिलती हैं जैसा सेंट्रल एशियन एंटिक्विटीज़ म्यूज़ियम के भित्तिचित्रों में स्पष्टतः देखा जा सकता है। शतबिंदु, शतसूर्य आदि भाँतों को समझने के लिए उस युग की सासानी कला और उसकी भारतीय अनुकृतियों से सहायता मिलती है।

विलासवती की दासियाँ एवं अंतःपुर की रानियों द्वारा भेजी गई अंतःपुर की परिचारिकाएँ विविध आभूषण, माल्य, अंगराग और वस्त्रों की पिटारियाँ लिए हुए उसके सामने आई और रखकर हट गई। उसने उनमें से बारी-बारी से सामग्री लेकर पहले वैशम्पायन के शरीर में और फिर अपने शरीर में अंगराग लगाया और उसके बाद पास में उपस्थित औरों को भी यथायोग्य दिया। जैसा पहले कहा जा चुका है स्नान से लेकर आहार तक की सब क्रियाएँ राजकुमार अपने सखा राजपुत्रों के साथ सम्पन्न किया करते थे (अनु० ९२)। तब कुमार आहार मंडप में गए। वहाँ मणियों के सहस्रों भाजनों की शोभा अति आकर्षक लग रही थी मानों आकाश में तारे चमक रहे हों।

[९८]

वहाँ दोहरे बिछे हुए कुथासन (कालीन) पर बैठकर पास में बैठे हुए वैशम्पायन और अन्य राजकुमारों के साथ कुमार ने रुचिपूर्वक भोजन करके अन्त में हाथ-मुँह धोकर ताम्बूल लिया। तब इंद्रायुध के समीप जाकर कुछ देर वहाँ खड़े रहकर इंद्रायुध के गुणों की प्रशंसा की और उस पर मुग्ध होकर पास में परिजनों के होते हुए भी अपने हाथ से ही उसके सामने चारा डाला। फिर राजकुल में आकर राजा के दर्शन किए और अपने भवन में लौटकर रात बिताई।

[९९]

दूसरे दिन प्रातः काल ही उसने राजा के अत्यंत प्रिय ओर अंतःपुर के प्रधान कैलास नाम के कंचुकी के पीछे-पीछे आती हुई एक कन्या को देखा। यह कन्या यौवन में पदार्पण कर चुकी थी। राजकुल में रहने से यद्यपि वह प्रगल्भ हो गई थी तथापि उसने विनय न छोड़ी थी। उसके मस्तक पर बीर-बहूटी जैसे लाल रंग का अंशुक था और वह अपने अंग-लावण्य की कांति का प्रवाह उस भवन में अमृत-रस की नदी के समान भर रही थी। चंद्रमंडल को छोड़कर मानों उसकी ज्योत्सना पृथिवी पर उतर आई थी, या वह मूर्तिमती राजकुल की देवता थी। उसके पैरों में मणि-नूपुर झंकार रहे थे। कटिप्रदेश में सोने की मूल्यवान मेखलाएँ थीं। हार-लताओं की छिटकती हुई किरणों में उसका शरीर डूबा जा रहा था मानों क्षीरसागर में उन्मग्नमुखी लक्ष्मी हो। बहुत पान खाने से अधर पर काली रेखा (कृष्णिका) पड़ गई थी। उसके कानों में मणियों के मकर-कुंडल थे जिनके पत्रभंग की कोर से निकली हुई किरणें कपोल पर पड़ रही थीं। उसके अधिकांश आभूषण मोतियों के थे। शरीर में अंगराग लगा हुआ था। सुकुमार अंगलेट नई वनलेखा सी सुहावनी थी।

(१००)

कंचुकी ने प्रणाम करके पृथिवी पर दाहिना हाथ टेककर विनती की—'कुमार, महादेवी विलासवती का आदेश है। महाराज ने पहले कुलूत देश की राजधानी को जीता था।

तब कुलूतेश्वर की पुत्री पत्रलेखा नाम की बालिका को बंदी करके लाए थे और अंतःपुर की परिचारिकाओं में उसे रख दिया था। मैंने उसे अनाथ राजपुत्री समझते हुए स्नेह पूर्वक इतने दिनों तक पुत्री की तरह पालकर बड़ा किया है। इस समय इसे तुम्हारे योग्य तांबूल-करंक-वाहिनी समझ कर भेज रही हूँ। इसको परिजन मत मानना किंतु बाला[1] के समान इसके साथ व्यवहार करना। अपनी चित्तवृत्ति के समान इसे भी चपलता से दूर रखना और शिष्या की भाँति इसे देखना। मित्र की भाँति सब गुप्त बातों में इसे अपने विश्वास में लेना। मैं इसे निज पुत्री की भाँति मानती रही हूँ। इसके प्रति मेरा बहुत ही स्नेह और पक्षपात है। यह महाकुलीन राजवंश में जन्मी है, अतः यह ऐसे ही के व्यवहार के योग्य है। यह अपने विनय से कुछ ही समय में कुमार को प्रसन्न कर लेगी। बहुत दिनों से इसके प्रति मेरा अधिक प्रेमभाव है और कुमार इसके शील से अभी अपरिचित हैं, इसलिये संदेशरूप में इतना कहती हूँ। सब प्रकार ऐसा प्रयत्न करना कि यह शीघ्र तुम्हारी योग्य परिचारिका बन जाय।' इतना कहकर कैलाश चुप हो गया तथा पत्रलेखा ने बड़े आभिजात्य से कुमार को प्रणाम किया। चंद्रापीड़ एकटक देर तक उसकी शोभा देखते रहे। फिर 'माता की जैसी आज्ञा' यह कहकर कंचुकी को भेज दिया।

(१०१)

दर्शन के बाद से ही पत्रलेखा के मन में कुमार के प्रति सेवा की रुचि उत्पन्न हो गई वह दिन में, रात में, सोते-जागते, बाहर भ्रमण करते हुए या राजकुल में गए हुए कुमार का कभी साथ न छोड़ती थी। चंद्रापीड़ के मन में भी उसके प्रति स्नेह उत्पन्न हो गया और वह दिन-प्रतिदिन उस पर अधिक अनुग्रह करने लगा। रहस्य की बातों में भी वह उसे अपने हृदय की तरह मानता था।

(१०२)

यों कुछ दिन बीतने पर राजा ने चंद्रापीड़ का यौवराज्याभिषेक करने की इच्छा से प्रतीहारों को आवश्यक सामग्री संग्रह करने का आदेश दिया। यौवराज्याभिषेक की तैयारी के दिनों में चंद्रापीड़ शुकनास के दर्शन के लिये गया। उस समय उसे विनय की शिक्षा देने के विचार से शुकनास ने विस्तार से इस प्रकार कहा—

(१०३)

'तात, चंद्रापीड़, जो जानना था तुमने जान लिया। सब शास्त्र भी पढ़ लिए। इसलिए तुम्हें कुछ भी बताना नहीं है। किंतु यौवन में स्वभावतः एक ऐसा अन्धकार उत्पन्न

१—स्पष्ट ही बाला यहाँ पारिभाषिक शब्द है। बाला के सम्मानपूर्ण पद और उसके प्रति किये जाने वाले व्यवहार का सुंदर उल्लेख यहाँ बाण ने किया है। अमरकोश में बाला और वासू को पर्याय कहा है। रामश्रमी टीका के अनुसार बाला कुमारी रहती थी।

होता है जो न सूर्य से हटता है और न रत्न और दीपों के प्रकाश से दूर होता है। लक्ष्मी का मद दारुण है, वह अंत में शांति खो देता है। ऐश्वर्य के कारण आँखों में ऐसा अँधेरा छा जाता है जो किसी अंजन से नहीं हटता। दर्प की जलन से ऐसा तीव्र ज्वर चढ़ता है कि किसी भी शीत उपचार से शांत नहीं होता। विषय-विष के चखने से ऐसा मोह चढ़ता है कि मंत्र और औषध से भी नहीं हटता। रागरूपी मल का ऐसा गाढ़ा लेप चढ़ता है कि स्नान से भी शुद्ध नहीं होता। राज्य-सुख समूह की ऐसी घोर निद्रा होती है कि रात्रि बीतने पर भी नहीं छूटती। जन्मसिद्ध ऐश्वर्य, अभिनव यौवन, अनुपम रूप और असाधारण शक्ति, ये एक से एक बढ़कर अनर्थ हो सकते हैं। इनमें से एक-एक भी सब अविनयों के लिये पर्याप्त हैं, सबके समूह का तो कहना ही क्या ? शास्त्र के जल से धुली हुई निर्मल बुद्धि भी यौवन चढ़ने पर कल्मष में सन जाती है। युवक के नेत्रों में ऊपरी धवलता भले ही रहे पर उसमें राग की लाली छा जाती है। जैसे बवंडर सूखे पत्ते को उड़ा ले जाता है, वैसे ही यौवन में मनुष्य का स्वभाव उसे रजोगुण के चक्कर में दूर खींच ले जाता है। भोगों की मृगतृष्णा इन्द्रियरूपी हिरनों को लुभाती रहती है, उससे पार पाना कठिन है। नव-यौवन आत्मा में ऐसा कषाय घोलता है कि विषयों में और मिठास भर जाता है, जैसे कसैली हरड़ का फल खाकर पीया हुआ जल अधिक मीठा लगता है। विषयों में अधिक आसक्ति पुरुष को कुपथ में ले जाकर नष्ट कर डालती है। आप जैसों में ही यौवन के उपदेश ठहरते हैं। मैल से रहित चित्त में ही शिक्षा सुख से प्रविष्ट होती है जैसे निर्मल स्फटिक में चन्द्रमा की किरणें पड़ती हैं। अशिष्ट के कान में पड़ा हुआ निर्मल गुरु-वचन भी शूल उत्पन्न करता है। वही साधु को दिया हुआ उसके सौभाग्य को बढ़ा देता है। गुरु का उपदेश मलिन दोषों को हृदय से ऐसे हटा देता है जैसे सायंकाल का चन्द्रमा अंधकार को। इससे भी अधिक वह शांति प्रदान कर दोषों को गुणों में बदल डालता है। वही उपदेश का समय है जब तक विषय रस का स्वाद न चक्खा हो। कामदेव के बाणों से छिदे हुए हृदय में उपदेश जल की भाँति बह जाता है। दुरात्मा व्यक्ति में उच्च वंश या विद्या भी विनय का कारण नहीं बनती। क्या चंदन से उत्पन्न अग्नि जला नहीं डालती ? क्या शांतिकारक जल से भी बड़वानल और अधिक भभक नहीं उठती ? गुरुजनों का उपदेश मनुष्य के लिये बिना जल के मैलों को धोनेवाला स्नान है। यह ऐसा गौरव है जिसमें शरीर पर चर्बी नहीं चढ़ती। यह ऐसा बुढ़ापा है जिसमें बाल नहीं पकते। यद्यपि यह सोने से नहीं बना तो भी अतीव सुन्दर कर्ण-भूषण है। यह ऐसा प्रकाश है जिसकी चमक सूर्य, चन्द्रादि ज्योतियों से बढ़कर है। यह ऐसा जागरण है जिससे शरीर को थकान नहीं होती। राजाओं के लिये तो विशेष रूप से ऐसा है, क्योंकि उन्हें उपदेश देने वाले बहुत कम होते हैं। लोग तो भय से राजा की आज्ञा के अनुकूल ही करने लगते हैं, उन्हें उपदेश देने का साहस नहीं करते। राजा लोग पहले तो उपदेश सुनते ही नहीं, फिर सुनकर भी आँखें मींच लेते हैं और हित की बात कहने वाले गुरुओं के मन में संताप पैदा करते हैं। राजा की निजी प्रकृति अहंकार रूपी सरसाम से खोई रहती है। धन से मिथ्या अभिमान का उन्माद उत्पन्न होता है। राज्य-लक्ष्मी राज का विष चढ़ाकर भोगों की तंद्रा उत्पन्न करती है।

(१०४)

आप कल्याणवती बुद्धि से युक्त हैं। तो पहले लक्ष्मी की ही परीक्षा करके देखें पूर्वकाल में जब समुद्र से इसका जन्म हुआ तभी क्षीरसागर के पारिजात पल्लवों से राग, चंद्रमा की कोर से टेढ़ापन, उच्चैःश्रवा से चंचलता, कालकूट से मोहनशक्ति, मदिरा से मद, कौस्तुभ मणि से कठोरता लेकर उन-उन वस्तुओं के विरह में अपना जी बहलाने के लिये उनके चिह्नों के साथ यह बाहर आई। यह किसी की जान पहचान नहीं मानती। मिल जाय तो भी इसका रखना कठिन है। गुणों के दृढपाशों में बाँधने पर भी भाग जाती है। बाँकुरे महाभटों की चमचमाती तलवारों के पिंजड़ों में यह बंद कर दी जाय तो भी निकल जाती है। कैसी ही याम-गज-घटाओं के चौकी-पहरे में इसे रखो निकल भागती है। न जान पहचान मानती है, न कुल देखती है, न रूप पर ध्यान देती है, न कुल मर्यादा मानती है। शील, पांडित्य, विद्या, धर्म, त्याग विशेषज्ञता किसी का विचार नहीं करती। आचार का यह क्या पालन करे[1] ? सत्य को यह क्या समझे ?[2] लक्षण का यह क्या प्रमाण माने ?[3] यह तो आकाश में बननेवाले गंधर्व नगर के चित्र की भाँति देखते-देखते ओझल हो जाती है। मंदराचल के घूमने से क्षीरसागर के जल में जो भँवर इसके जन्मकाल में उत्पन्न हुआ था उसके चक्कर का संस्कार इसमें आज भी बचा है। तभी तो यह घूमती रहती है। कमलिनी में निवास करते समय उसके नाल के जो काँटे[4] इसके पैरों में गड़े उनके कारण आज भी कहीं टिककर पैर नहीं रखती। रईसों के घरों[5] में बड़े प्रयत्न से रखी जाती है, फिर भी

१—नाचारं पालयति—शीलवती स्त्री की भाँति इसे एक पति के ही साथ रहना चाहिए, पर यह इस आचार का पालन नहीं करती।

२—मैं तुम्हारे पास रहूँगी, इस वचन की सचाई यह कुछ नहीं समझती।

३—इस प्रकार के लक्षण सम्पन्न पुरुष के साथ रहूँगी, इस नियम को नहीं मानती।

४—कमल के काँटों के विषय में यह सुभाषित प्रसिद्ध है—

शशिनि खलु कलंकः कण्टकं पद्मनाले
युवतिकुचनिपातः पक्वता केश जाले।
जलधि जलमपेयं पंडिते निर्धनत्वम्,
वयसि धनविवेको निर्विवेको विधाता॥

५—अतिप्रयत्नविधृतापि परमेश्वरगृहेषु विविध गंधगजगण्डमधुपानमत्तेव परिस्खलति-परमेश्वर का एक अर्थ राजा है जिनके यहाँ स्वभावतः हाथी रहते थे। परमेश्वर का दूसरा अर्थ पारिभाषिक है—जिन्हें प्राचीनकाल मे श्रेष्ठी या इभ्य कहते थे, उन्हें ही यहाँ परमेश्वर शब्द से अभिहित किया गया है। निगम सभा (आजकल का सराफा) के सदस्य समाज में सबसे अधिक सम्मानित समझे जाते थे। राजा के अतिरिक्त केवल उन्हीं को हाथी की सवारी का अधिकार था। प्रजा में जो चाहे अपने घर हाथी बाँध ले, ऐसी बात न थी।

उनके हाथियों के गंडस्थलों से चूआ हुआ मद पी कर यह गिर-गिर पड़ती है। निष्ठुरता सीखने के लिए ही मानों तलवार की धार में बसती है। विश्वरूप रखने के लिए ही मानों इसने नारायण मूर्ति का आश्रय ले रक्खा है।[1] इसका कोई भरोसा नहीं। मूल, दण्ड, कोश और मंडल का संग्रह करनेवाले राजा को भी छोड़कर गुंडों के[2] पास भी चली जाती है जैसे लता कुत्सित विटपों पर चढ़ जाती है। वह रत्नों को उत्पन्न करनेवाली है किंतु तरंग और बुद्बुद नामक मणि दोषों के कारण उसका कुछ भरोसा नहीं।[3] स्वल्प स्वत्व वाले व्यक्तियों को यह उन्मत्त कर डालती है। जिसके पास सरस्वती है उस व्यक्ति को ईर्ष्या से छूती भी नहीं। गुणवान से ऐसे दूर भागती है जैसे अशुचि वस्त्र से। कुलीन को साँप की तरह लाँघ कर चली जाती है। शूर को काँटे की तरह बचा जाती है। दाता को दुःस्वप्न की तरह भुला देती है। विनीत को पापी समझकर उसके पास नहीं आती। मनस्वी को पागल जानकर उसका उपहास करती है। यों इसने अपने विरोधी चरित्र का एक इंद्रजाल ही जगत् में प्रकट कर रखा है। जल से उत्पन्न हुई है पर तृष्णा बढ़ाती है।

हाथी रखने का जिन्हें अधिकार था वे ही इभ्य कहलाते थे। जिन्हें पाली साहित्य में अड्ढ (सं० आढ्य) कहा गया है वे ही इभ्य थे। उन्हीं की ओर यहाँ संकेत है। निगम सभा के सदस्यों की संख्या नियत होती थी और उनका चुनाव सर्वसम्मति से किया जाता था। नैगम श्रेष्ठियों को ही कालान्तर में महाजन कहा जाने लगा।

१—नारायण विष्णु की विश्वरूप मूर्ति की व्याख्या पहले की जा चुकी है (अनु० २)। यहाँ विश्वरूप मूर्ति के उस स्वरूप का संकेत किया गया है जिसमें विष्णु के साथ लक्ष्मी भी बनाई गई हों।

२—विटपक—विट=भुजंग या गुंडा। विटपक = विटों का स्वामी मुख्य विट या महाविट।

३—यह कल्पना उस युग के वैकटिक या वेगड़ी लोगों के रत्न तराशने की कला से ली गई है। वसु, तरंग, बुद्बुद और चंचल, ये चारों शब्द पारिभाषिक थे। वसु का विशेष अर्थ रत्न है (वसू रत्ने अमर०)। तरंग रत्न में पड़े हुए बाल को कहते हैं जिसे बृहत्संहिता में केश कहा गया है और जो हीरे का एक दोष माना जाता था। बुद्बुद (छाला) भी रत्नों का एक दोष था। अमरकोष में बुद्बुद को ही पुलक कहा है। बृहत्संहिता ८०। १५-१६ में काकपद, मक्षिका, केश, बुद्बुद ये हीरे के दोष कहे हैं। सान पर रखने से पहले चतुर वेगड़ी ध्यान से अनगढ़ रत्न की परीक्षा करता है। यदि उसमें बाल (तरंग) या छाला (बुद्बुद) ये दोष हुए तो उसे आशंका रहती है कि कहीं तराशने में रत्न टूट न जाय। यदि तराशने का काम पूरा उतर गया तो उस क्रिया से रत्न तैयार हो जाता है (वसुजननी)। अन्यथा बाल या छाले पर से टूटने के कारण उसमें जो लागत लगी है वह भी चली जाती है। रत्न बनने से पूर्व खड़ पत्थर में जो लक्ष्मी है या तो वह उसे मूल्यवान् रत्न बना देती है या रही सही भी चली जाती है (चंचला)।

ज्यों ज्यों उन्नत होती जाती है स्वभाव में नीचता लाती है। अमृत की सहोदरा है, पर फल इसका कड़वा है। जहाँ रहती है विग्रह उत्पन्न करती है। स्वल्प जन इसे विशेष प्रिय हैं। कैसी भी स्वच्छ हो यह कालुष्य उत्पन्न करती ही है।

(१०५)

यह चंचला ज्यों ज्यों अधिक चिलकती है त्यों त्यों दीप-शिखा की भाँति इसमें से काजल सा मलिन कर्म ही निकलता है। यह तृष्णा की विषबेल को बढ़ानेवाली जलधारा है; इंद्रिय रूपी हिरनों को फँसाने के लिये अहेरी का गान है; सच्चरित्र रूपी चित्र को छिपाने वाली धूमलेखा है; मोह की गाढ़ी निद्रा के लिये हिंडोला (दोलाशय्या) है; धनमद की पिशाची के लिये घर की टूटी अटारी है; शास्त्र-चक्षु के लिए रतौंधी है; सब प्रकार के अविनय के आगे फहरानेवाली झंडी है (पुरःपताका); विषयों के मद की आपान भूमि है; भ्रू-विकारों के अभिनय की संगीतशाला है; शिष्टाचार को दूर भगाने की उत्सारण वेत्रलता है, लोकापयश रूपी फोड़ों को फैलाने के लिए सूखी खुजली का स्थान है; कपट नाटक की प्रस्तावना है; कामरूपी हाथी की पताका है, और धर्म रूपी चंद्रमा को ग्रसने के लिये राहु-जिह्वा के समान है।

(१०६)

ऐसा कौन है जिसे इस अपरिचिता नवेली[1] ने कसकर आलिंगन न दिया हो या ठगा न हो? चित्र में लिखी हो तो भी यह चंचलता दिखाएगी। मिट्टी की पुतली[2] के रूप में हो तो भी कुछ इंद्रजाल करेगी। पत्थर में उत्कीर्ण हो तो भी ठगौरी किये बिना न रहेगी। कान से इसका नाम मात्र सुन लिया जाय तो भी फुसलाती है। इसका विचार-

---

१—वह जिसका स्वभाव अभी पुरुष को ज्ञात नहीं है, अतएव वह जिसके आलिंगन पाश में फँस जाता है। जब वह अपने को उसका प्रियपात्र मानने लगता है तभी वह उसे छोड़ देती है।

२—पुस्तमयी अपि इन्द्रजालमाचरति। यहाँ बाण का मूल पाठ पुस्तमयी था जिसका अर्थ है मिट्टी की स्त्री-मूर्ति, पुतलो या गुजरिया। भानुचंद्र की टीका में 'पुस्तकमयी' पाठ करके अर्थ गड़बड़ा दिया है। वैद्य ने भी पुस्तकमयी पाठ रखा है जो अशुद्ध है। करमकर के संस्करण में मूल में 'पुस्तकमयी' पाठ है किंतु टिप्पणी में 'पुस्तमयी' पाठान्तर है जो वस्तुतः शुद्ध पाठ था। पुस्तमय शब्द का प्रयोग बाण में कई स्थानों पर आया है यहाँ के आलेख्यगता, पुस्तमयी और उत्कीर्ण के समकक्ष आगे भी स्तंभित, लिखित, उत्कीर्ण, पुस्तमय—इन चार शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनसे क्रमशः वास्तु, चित्र, शिल्प और मिट्टी के खिलौनों की कला का ग्रहण किया गया है। (अनु० २६३; और भी अनु० १४४, १५९)।

मात्र किया जाय तो भी वंचना फैलाती है। यह दैववश राजाओं को ग्रसकर दुःखी कर डालती है और वे बहुत प्रकार की अविनय का अधिष्ठान बन जाते हैं। अभिषेक के समय जब यह आती है तभी मंगल-कलशों के जल से राजा का दाक्षिण्य धुल जाता है। फिर अग्निहोत्र के धूम के साथ ही शुद्ध हृदय मलिन हो आता है। कुश सम्मार्जनी मानों क्षमा को दूर कर देती है। उष्णीष-पट्ट बँधा नहीं कि वृद्धावस्था के आगमन की याद चली जाती है। छत्र लगा नहीं कि परलोक दिखाई देना बंद हो जाता है। चँवर डोलते ही सत्यवादिता हवा हो जाती है। वेत्रदंडों के द्वारा उत्सारण के साथ ही गुण भी हटा दिए जाते हैं। राजा के लिये जैसे ही जय शब्द की कलकल मचती है उसी के साथ सज्जनता की वाणी तिरस्कृत हो जाती है। ध्वजपटों की फहरान कीर्ति को पोंछ डालती है। कोई संपत्तियों के प्रलोभन से, रागावेश से, विविध विषयों की भोग-लालसा से और आकुल मन से विह्वल बने रहते हैं, मानों दुष्ट ग्रहों ने पकड़ा हो, भूत बाधा लगी हो, मंत्रों का आवेश हुआ हो, किसी यक्ष ने जकड़ा हो, वायु ने सताया हो या पिशाचों ने ग्रसा हो। काम बाणों से मर्माहत होकर वे तरह तरह का मुँह बनाते हैं। धन की गर्मी उन्हें झुलसाती रहती है। अधर्म से डगमग चाल होने पर पंगु की तरह दूसरे का सहारा लेते हैं। झूठ बोलने के आदी हो जाने के कारण उनकी बोलती बंद हो जाती है जैसे रोग से मुँह पक गया हो। सप्तपर्ण की वृक्ष की तरह अपने रजोगुणी विकारों से पास के लोगों में शिरः शूल उत्पन्न करते हैं।[1] वे अपने सगे संबंधियों को भी नहीं पहचानते, मानों मृत्यु निकट हो। वे तेजस्वियों के सामने आँख नहीं मिलाते मानों आँखें उठ आई हों। महामंत्रों से भी नहीं जागते मानों काल ने डसा हो। लाख से बने आभूषणों की भाँति वे किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं सह सकते जिसमें अपनी कुछ गर्मी हो। अहंकार रूपी खंभों से बँधे हुए दुष्ट हाथी के समान वे उपदेश (मंत्र एवं शिक्षा) ग्रहण नहीं करते। तृष्णारूपी विष चढ़ने से मूर्च्छित होकर वे हर वस्तु को सोने की बनी हुई देखने लगते हैं। मदपान से स्वभाव को और तेज़ बनाकर दूसरों के बहकाने से नाश के काम में लग जाते है, मानों सान पर चढ़े हुए शत्रु के बाण हों। अपने से दूर भी महाकुलों पर वे ऐसे चोट करते हैं जैसे डंडा फेंककर फलों को झाड़ते हैं। अकाल में निकले हुए फूलों की भाँति लोक का नाश करने पर उतारू हुए रहते हैं। श्मशान की अग्नि की भाँति उनकी संपत्ति भी भयंकर होती है। जिनके नेत्रों में अँधेरा छा जाता है (तैमिरिकाः) उनकी तरह वे बहुत दूर नहीं देख पाते। उनके घरों में वेश्याओं का प्रवेश हो जाता है जैसे बुरे शकुन के रूप में शहद की मक्खियों

१—सप्तपर्ण या सतौने की गंध बड़ी उग्र होती है। उससे सिर की पीड़ा उत्पन्न होती है। अतएव इस पेड़ का घर के पास होना अच्छा नहीं समझा जाता, जैसा जायसी ने लिखा है—आकर छतिवनु बाहर छावा। सो उजार घर को रे बसावा॥ (पदमावत ५६२।३)।

ने घर में छत्ता रख लिया हो।[1] ऐसे व्यक्तियों के विषय में सुन लेने से ही मन में उद्वेग होता है, जैसे प्रेत के नगाड़े सुनाई पड़े हों। उनके विषय में सोचना ही उपद्रव के लिये पर्याप्त है, जैसे महापातक का विचार उठा हो। रात-दिन पापों से भरने के कारण उनकी देह फूल जाती है। उस अवस्था में सैकड़ों व्यसन उन्हें अपना निशाना बना लेते हैं। बाँबी की घास से गिरे हुए जलबिंदु की तरह वे अपने पतन को भी नहीं जान पाते।

(१०७)

स्वार्थ सिद्ध करने वाले, धन पर गिद्ध की तरह टूटनेवाले, एवं आस्थान मंडप रूपी पुष्करिणी में बगुले की भाँति घुसकर गुणों को भी दोष बताने वाले ठग रईसों को भाँति-भाँति से ठगते हुए कहते हैं—'जुआ विनोद है। परस्त्रियों का साथ चातुर्य है। मृगया व्यायाम है। मद्यपान विलास है। नशे में चूर रहना शूरवीरता है। निज स्त्री का परित्याग यही अनासक्ति है। गुरु-वचनों का उल्लंघन स्वाधीनता का सूचक है। भृत्यों से काम लेने में ढिल्लड़पन ही अपनी सिधाई है। नृत्य, गीत, वाद्य और वेश्या में आसक्ति, रसिकता है। बड़े अपराधों के विषय में चर्चा महानुभावता है। अपमान सह लेना क्षमा है। प्रभुत्व स्वच्छंदता से है। देवताओं का अपमान महाप्राणता है। बंदियों द्वारा प्रशस्ति यश है। चपलता से कभी कुछ, कभी कुछ करना ही उत्साह है। किसी बात को विशेष रूप से न जानना, यही सबमें समान दृष्टि है।' धूर्त लोग ऐसा कहते हुए स्वयं ही हँसी उड़ाते हैं और प्रशंसा के ऐसे पुल बाँधते है, मानों देवताओं के लिये कह रहे हों और सुनने वाले भी धनमद से बेहोश अपने को वैसा ही मानने लगते हैं और यह समझकर कि हम किसी देवता के अवतार हैं वैसी ही हरकतें करने लग जाते हैं। लक्ष्मी से मदमत्त कुछ लोग अपने ही नौकरों से अपनी प्रशंसा सुनना पसंद करते हैं। वे सचमुच मन में ऐसा समझने लगते हैं कि देवता की चतुर्भुजी मूर्तियों की तरह हमारी इन्हीं दो भुजाओं के भीतर दो और छिपी हैं।[2] कुछ ये समझते हैं कि हमारे ललाट में त्वचा के नीचे तीसरा नेत्र छिपा

१—उपसृष्टा इव क्षुद्राधिष्ठितभवनाः। हर्षचरित में जो बीस उपलिंग या अपशकुनों की सूची है उसमें आँगन में मधु के छत्तों से उड़कर मधुमक्खियों का घर में भर जाना भी एक बुरा निमित्त है (हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १३४)। क्षुद्रा शब्द वेश्या और मधुमक्खी, दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है जो अमरकोश में हैं।

२—अंतः प्रविष्टापर भुजद्वयमिवात्मबाहु युगलं सम्भावयन्ति—यहाँ गुप्तकालीन उन विष्णु मूर्तियों की ओर संकेत है जिनके कंधे से कोहनी तक केवल दो भुजाएँ दिखाई जाती है और शेष दो कोहनी के पास से निकलती हुई बनाई जाती है। उनके पीछे यही भावना रहती थी कि कंधे से कोहनी तक के भाग में दो भुजाओं के भीतर दो और छिपी हुई है। मथुरा संग्रहालय में इस प्रकार की कई मूर्तियाँ हैं [दे० ई० ६ विष्णुमूर्ति]।

है।[1] कुछ लोग दर्शन देने को ही बड़ा अनुग्रह मानते हैं। किसी की ओर आँख भरकर देख लिया तो समझते हैं उस पर उपकार कर दिया। संभाषण को पारितोषिक के समान मानते हैं। आज्ञा कर दी तो समझते हैं वर दे दिया। झूठे बड़प्पन के घमंड में भरे हुए न देवताओं को प्रणाम करते हैं, न ब्राह्मणों को पूजते हैं, न मान्यों का आदर करते हैं, न अभिवादन योग्य व्यक्तियों का अभिवादन करते हैं और न गुरुओं को उठकर सम्मान देते हैं। विद्वानों पर यह कहकर हँसते हैं कि इन्होंने झूठे ही अपने आराम में खटखटा लगा लिया। वृद्धों की शिक्षा को बुढ़भस समझते हैं। मंत्रियों का उपदेश सुनकर खीझते हैं कि इससे हमारी प्रज्ञा का अपमान हो रहा है। जो हित की बात कहे उससे कुढ़ते हैं। जो और सब छोड़कर उनकी बड़ाई के गीत गाता रहे उसे ही पास में रखते हैं, उसे ही मित्र समझते हैं, उसीके वचन सुनते हैं, उसी पर कृपा दृष्टि करते हैं, उसी पर बरसते हैं और उसीको अपना विश्वासपात्र मानते हैं।

[१०८]

'ऐसे राजाओं में उचित अनुचित का विवेक कहाँ, जो अत्यंत निष्ठुर उपदेश देनेवाले कौटिल्य के शास्त्र[2] को प्रमाण मानते हैं, अभिचार-क्रिया करने वाले क्रूर पुरोहितों को अपना गुरु मानते हैं, दूसरों को धोखा देनेवाले मंत्री जिनके उपदेष्टा हैं, पूर्व राजाओं से भोगकर छोड़ी हुई लक्ष्मी में ही जिनकी एकमात्र आसक्ति है, मार-काट के शास्त्रों में ही जिनका लगाव है और सहज स्नेही भाइयों को भी उखाड़ने के लिये जो तैयार रहते हैं?

[१०९]

'हे कुमार, इस प्रकार की अति कुटिल और कष्टदायक सहस्रों चेष्टाओं से भयंकर बने हुए राज्यतंत्र के विषय में और अतिशय मोह उत्पन्न करने वाले इस यौवन में इस प्रकार व्यवहार करना कि लोग तुम पर हँसे नहीं, साधु निंदा न करें, गुरुजन धिक्कारें नहीं, मित्र उलाहना न दें और विद्वान् शोक न करें। और भी इस प्रकार से बरतना कि विट लोग हँस न सकें, चालाक तुम्हें ठग न सकें, भुजंग (गुंडे) तुम्हें नोच न खायँ, नौकर रूपी भेड़िये चबा न लें, धूर्त छल न लें, स्त्रियाँ लुभा न लें, लक्ष्मी तुम्हारा रूप न बिगाड़ दे, मद

१—त्वगन्तरित तृतीय लोचनं स्वललाटम्—यह शिव की उन मूर्तियों की ओर संकेत है जिनमें तीसरा नेत्र नहीं बनाया जाता और समझा जाता था कि वह त्वचा के भीतर छिपा है।

२—गुप्तयुग में कौटिल्य शास्त्र का अत्यधिक प्रचार था। दंडी ने उसका उल्लेख किया है और उसके कुछ संदर्भों का उद्धरण भी दिया है। कामंदक नीतिशास्त्र उसी पर आधारित था। उसी युग में विरचित याज्ञवल्क्य स्मृति में भी उसकी सामग्री से लाभ उठाया गया है।

तुम्हें नचाए नहीं, काम उन्मत्त न कर दे, विषय तुम्हें फँसा न लें, राग अपनी ओर खींच न ले और सुख की अभिलाषा तुम्हें पथभ्रष्ट न कर दे।

मैं यह जानता हूँ कि तुम स्वभाव से ही धीर हो और पिता ने बड़े प्रयत्न से तुममें संस्कार डाले हैं। धन तो चंचल-हृदय और अचेत को मतवाला बनाता है। तो भी तुम्हारे गुणों से संतुष्ट होकर ही मैंने इस प्रकार कहा है और फिर यही बार बार कहता हूँ कि यह बेढकरी लक्ष्मी विद्वान को भी, महासत्व को भी, कुलीन धीर को भी, प्रयत्नशील को भी खल बना देती है। तुम्हारे पिता जो तुम्हारा यौवराज्याभिषेक रच रहे हैं, उसका अनेक कल्याणों के साथ तुम उपभोग करो। पुरखों ने जिसका वहन किया है और कुलक्रम से जो प्राप्त हुआ है उस राज्य भार को तुम भी ले चलो। शत्रुओं को नीचा करो, बंधुवर्ग को उन्नत करो, अभिषेक के बाद सप्तद्वीपा वसुंधरा की जिसे तुम्हारे पिता वश में कर चुके हैं पुनः विजय करो। अपने प्रताप की धाक बैठाने के लिये तुम्हारा यही समय है। जो राजा अपने प्रताप की स्थापना कर सका उसी की आज्ञाएँ सिद्ध होती हैं।' इतना कहकर मंत्री शुकनास चुप हो गए।

(११०)

मंत्री के इस प्रकार कह चुकने पर चंद्रापीड़ ने अनुभव किया मानों उन निर्मल उपदेश वाक्यों से वह धुल गया हो, चमका दिया गया हो या जैसे स्नान के बाद वह अंगराग और अलंकारों द्वारा अधिक पवित्र और उद्भासित हो गया हो। तब वह प्रसन्न चित्त से अपने भवन में लौट आया।

(१११)

कुछ दिन बीतने पर राजा ने शुभ मुहूर्त में अपने कुल पुरोहित से राज्याभिषेक संबंधी सब मंगल कार्य कराए और स्वयं अपने हाथ से एवं शुकनास की सहायता से मांगलिक जलों से परिपूर्ण कलश के मंत्रपूत जल की धार छोड़ते हुए आनन्द गद्गद हृदय से चंद्रापीड़ का अभिषेक किया। उस अवसर पर सब तीर्थों से, सब नदियों से, सब समुद्रों से जलों का संग्रह किया गया। साथ ही प्राचीन वैदिक प्रथा के अनुसार सब प्रकार की ओषधियाँ और फल, सब स्थानों की मिट्टियाँ और सब भांति के रत्न राष्ट्र-शरीर के प्रतिनिधि रूप में एकत्र किये गए। उस समय राजलक्ष्मी तारापीड़ के शरीर का परित्याग किये बिना ही चंद्रापीड़ के शरीर में इस प्रकार संक्रांत हो गई जैसे एक वृक्ष पर लिपटी हुई वनलता वहाँ से दूसरे वृक्ष पर फैल जाती है। रानी विलासवती ने चंद्रापीड़ के शरीर में धवल चंदन का अनुलेपन लगाया, सिर पर नए खिले फूलों का शेखर पहनाया, शरीर पर गोरोचना से विलेपन किया और कान में दूब के नाल पहनाए। तब कुमार ने बिना धुला हुआ श्वेत दुकूलों का जोड़ा धारण किया। पुरोहित ने हाथ में कंगन बाँधा। फिर

वक्षस्थल पर हार और घुटने तक लटकती हुई श्वेत पुष्पों की वैकक्षक[१] मालाएँ पहनकर कुमार ने सभामंडप में जाकर स्वर्ण के सिंहासन पर आरोहण किया। उस विशेष अवसर पर स्वयं राजा तारापीड़ ने हाथ में नेत्रदंड लेकर उसके लिये समुत्सारण कर्म किया।

(११२)

उसके सिंहासन पर विराजमान होते ही सब राजाओं ने सम्मान प्रदर्शित किया और फिर दिग्विजय यात्रा की सूचक प्रस्थान-दुंदुभि धीरे धीरे गंभीर ध्वनि से सोने के मुड़े हुए डंडे (कनककोण) से बजाई जाने लगी। वह ध्वनि सारे भुवनों में फैल गई। दिग्गज उसके संत्रास से चक्कर काटने लगे। जय-जय की घोषणा के साथ वह सिंहासन से उठा और आस्थान मंडप से बाहर आया।

(११३)

बाहर सब प्रकार के मांगल्य अलंकारों से सजाई हुई हथिनी पहले से महावतों ने तैयार कर रखी थी। उसके पृष्ठ भाग में पिछले आसन पर पत्रलेखा पहले से चढ़कर बैठी हुई थी। चंद्रापीड़ उस पर सवार हुए और उनके सिर पर शत-शलाकाओं से युक्त एवं मुक्ताफल के जालों से अलंकृत बड़ा छत्र लगाया गया। उन्होंने भीतर से ही राजद्वार की ओर दृष्टि डालकर उपस्थित राजाओं और जन समूह को देखा।

(११४)

राजा लोग आदर से मौलि और मुकुट झुकाकर प्रणाम करने लगे। सेनापति ने नाम ले लेकर उनका परिचय दिया। कुमार के पीछे राजकुंजर गंधमादन चल रहा था जिसके मस्तक पर श्वेत पुष्पों से शृंगार किया गया था। उसके दोनों कानों में बड़े बड़े मोतियों की मालाएँ पृथिवी तक लटक रही थीं। आगे सुनहले अलंकारों से और कुंकुम के थापों से सजा हुआ इंद्रायुध था। इस प्रकार युवराज ने सर्व प्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया।

(११५)

उनके पीछे पीछे समस्त सेना भी अद्भुत कलकल नाद के साथ चली।

(११६)

चंद्रापीड़ के चलने पर वैशम्पायन भी शीघ्रता से चलती हुई हथिनी पर सवार होकर अपने भवन से कुमार के समीप सेना में आया और उनके साथ हो लिया। अनेक

१—वे लंबी मालाएँ जो बाएँ कंधे से दाहिनी ओर एवं दाहिने कंधे से बाईं ओर जाती हुई बीच में स्वस्तिकाकार दिखाई देती है।

दिशाओं से राजा सामने आ-आकर प्रणाम करने लगे। उनके चूलिका-युक्त[1] मणि-मुकुटों से और पत्रभंग-युक्त केयूरों से नाना रत्नों की रश्मियाँ दिशाओं में फैलकर रंग-बिरंगी शोभा उत्पन्न कर रही थीं। राजाओं के छत्र यद्यपि श्वेत थे, किंतु चूडामणि की रत्न-रश्मियों से वे मायूरातपत्र के समान लग रहे थे।[2]

बात की बात में महीतल घोड़ों से, दिशाएँ हाथियों से और अंबर ध्वजाओं से भरा हुआ लगने लगा। वायु में गजों की मद-गंध भर रही थी। प्रजाओं में राजा ही राजा दिखाई पड़ते थे। नेत्र-दृष्टियों में आभूषणों की रंग बिरंगी किरणें मिली हुई जान पड़ती थीं। दिन का प्रकाश जैसे किरीटों के प्रकाश से ही बना था और सारा त्रिभुवन जयकार के शब्द से ही भर गया था।

उस समय महाप्रलय के जैसा भयंकर दृश्य दिखाई देने लगा। धमाके से चलते हुए मत्त हाथी जैसे धसमसाते हुए कुलपर्वत थे। हिलते-डुलते अस्थिर छत्र भयंकर उत्पातों के सूचक चंद्रमंडल से लगते थे। दुंदुभी से निकली हुई गंभीर ध्वनि प्रलयांत के सर्वांतक मेघों के भयंकर गर्जन सी जान पड़ती थी। हाथियों के गंडस्थलों से झरते हुए मद बिंदु टूटते हुए तारों के समान लगते थे। हवा और धूल के उठते हुए बगूले (अवनिरजोदण्डक) ही मटमैले धूमकेतु थे। हाथियों की चिंघाड़ें गिरती हुई उल्काओं की डरावनी ध्वनि थी। गजेन्द्रों के मस्तक की सिंदूरधूलि रक्तवर्षा के समान थी। घोड़ों की पंक्तियाँ इस प्रकार आगे बढ़ रही थीं मानों झकोला खाते हुए समुद्र की चंचल लहरें हों। निरंतर बहते हुए मदजल की धारा से दिन में ही अँधेरा छा गया मानों प्रलय काल के समय दिशाएँ गुप्प अंधकार में डूब गई हों। भुवनों के भीतर एकमात्र प्रचंड कलकल शब्द ही भर रहा था।

दिग्विजय यात्रा के आरंभ में यह विकराल वर्णन कवि की अपनी शैली है। हर्ष-चरित में भी हर्ष के सैनिक-प्रयाण की भूमिका के रूप में ऐसा ही भयंकर वर्णन किया गया

१—चूलिका=कर्ण का मूल भाग। (कर्णमूलं तु चूलिका, अमर)। यहाँ मणि-मुकुटों का वह भाग अभिप्रेत है जो कानों के पीछे नीचे तक आया रहता था।

२—मायूरातपत्र का उल्लेख हर्षचरित में भी आया है (पृ० ६०, २०७)। इस प्रकार के छत्र का घेरा नाचते हुए मोर के रंग-बिरंगे पंखों की भाँति का होता था जिसमें अनेक रंग की मणियों का जड़ाव किया जाता था और बीच में मोर का शरीर और मुड़ी हुई गरदन बनाई जाती थी। प्रायः सिंहासन का पृष्ठभाग छत्र की आकृति का बनाया जाता था जैसा कालिदास ने लिखा है (रघुवंश ४।५)। गुप्तकाल में दो प्रकार के छत्रों का उल्लेख आता है—पद्मातपत्र और मायूरातपत्र और इन्हीं की भाँत का अनुकरण करके सिंहासन का पृष्ठ भाग भी दो प्रकार का बनाया जाता था जिनमें से पद्मातपत्र की भाँत अजंता के चित्रों में उपलब्ध है। मयूरातपत्र भाँत का सिंहासन मध्यकाल में तख्त ताऊस कहा गया।

है (हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०१)। आगे आनेवाले भीषण युद्धों की परछाईं मानों इन वर्णनों में साकार हुई है।

(११७)

चारों ओर धवल ध्वजाओं के समूह से दिशाएँ छिप गईं मानों सेना के भयंकर कोलाहल से डरकर कहीं भाग गई हों। हाथियों के कर्णाभरणों से रूँधकर आकाश और ऊँचे पर हट गया मानो रजोमलिन पृथिवी के स्पर्श से डर गया हो। सूर्य की किरणें सामने का भाग छोड़ गईं, जैसे उद्दण्ड वेत्रधारियों की वेत्र लताओं ने उन्हें हटा दिया हो, या घोड़ों की टापों से उठी हुई धूल से मटमैली हो जाने से डरकर स्वयं हट गई हों। दिन की धूप छत्रों से ढक जाने के कारण नष्ट हो गई मानों हाथियों के मदजल से बुझ जाने के डर से कहीं भाग गई हो। सेना के भार से जर्जर और हाथियों के पैरों से सन्ताड़ित भूमि से भयंकर ध्वनि उठ रही थी मानो कूच की दूसरी भेरी बज रही हो। हाथियों के मद और घोड़ों के फेन की कीचड़ में पदाति पद पद पर फिसल रहे थे। गजमद की उग्र गंध नाक में ऐसी भर रही थी कि और गंध सूझती ही न थी। कूच करती हुई सेना के सामने भागती हुई भीड़ का कोलाहल, तुरही बाजों का चीरता हुआ ऊँचा उठता शब्द, घोड़ों की टापों और हिनहिनाने का शोर, हाथियों की चिंघाड़, उनके गले की सिक्कड़ किंकणी और घंटों का शब्द, मंगल शंख, कूच के समय के नगाड़े और इधर उधर पीटी जाती हुई डुग्गी का शब्द—इन सबके मिलने से उठे हुए कोलाहल से कान के पर्दे फटे जाते थे।

यहाँ कवि अधिकांश में सैनिक प्रयाण से संबंधित साहित्यिक रूढ़ियों का पालन कर रहा है। उसी के अंतर्गत अगले तीन अनुच्छेदों में कूच करती हुई सेना से उठी हुई धूल का भी वर्णन है।

[११८-१२०]

सेना की धूल का वर्णन काव्य की रूढ़ि बन चुकी थी। कालिदास ने रघुवंश में अति संक्षेप में केवल तीन श्लोकों में सैनिक-धूलि का वर्णन किया है (रघु० ४।२९-३१; और भी रघु० ७।३९-४०)। वही माघ, भारवि, बाण में विस्तार से किया गया है। अनुच्छेद ११८ में कवि ने उस रेणु के धूसर वर्ण का कई उपमा और उत्प्रेक्षाओं से चित्र खींचा है। फिर अनुच्छेद ११९ में उस रेणु के त्रिभुवन में छा जाने और अनुच्छेद १२० में उस के कारण पृथिवी और आकाश के बीच की वस्तुओं में परिवर्तन होने का चित्र है। राजाओं के मुकुटों में मणियों की पत्रभंग-मकरिकाओं का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। मकरिका या सीमंत-मकरिका या पत्रभंग-मकरिका का बाण में प्रायः उल्लेख आया है। गुप्तकालीन मूर्तियों में मकरिका का चित्र भी मिलता है (हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, चित्र २; चित्र ६२ में भद्रासन के पृष्ठ भाग में भी मकरिकाओं का चित्रण है)। अनुच्छेद ११९ में 'अधर्म-कालोपस्थितभूमिगृह' का तात्पर्य उस भुइँहरे से है जो ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड गर्मी से बचने के लिये बनाया जाता है। पहले प्रायः प्रत्येक बड़े घर के साथ भुइँहरे होते थे। अनुच्छेद

१२० में धूल के ब्याज से पृथिवी के आकाश में उठ जाने की कल्पना रघुवंश ४।२६ से मिलती है[1] 'कुछ देर में ऐसा जान पड़ा कि पृथिवी प्रलय सागर के जल में प्रविष्ट हो गई एवं दिन मृण्मय और दिशाएँ पुस्तमय हो गईं।' यहाँ मृण्मय और पुस्तमय में अंतर किया गया है, यद्यपि अन्यत्र पुस्तकर्म को भी मिट्टी से बनाए जाने वाले खिलौनों से संबंधित कहा है (पुस्तकर्मणां पार्थिव विग्रहाः, हर्षचरित, पृ० ७८)।

[१२१]

दंतियों के मदजल और तुरंगों के फेन से कुछ समय बाद सेना की धूल शांत होने पर अपरिमित सैनिक-समूह को देखकर वैशम्पायन ने चंद्रापीड़ से कहा—

[१२२]

'युवराज महाराजाधिराज देव तारापीड़ ने क्या विजित नहीं कर लिया जिसे आप वश में करेंगे? कौन सी दिशाएँ या दुर्ग या द्वीपांतर उन्होंने आत्मसात् नहीं कर लिए? कौन से रत्नों का उपार्जन नहीं कर लिया? कौन से राजा उनके सामने नहीं झुक गए? किसने उन्हें मस्तक झुकाकर सेवांजलि नहीं समर्पित की? किसने हेमपट्ट-युक्त अपना मस्तक उनके सामने सभा-भवन में नहीं टेका? किसने अपनी चूड़ामणि से उनके पादपीठ का स्पर्श नहीं किया? किसने हाथ में वेत्रलता लेकर उनके यहाँ प्रतिहार का कार्य नहीं किया? किसने उनके ऊपर चँवर नहीं डुलाया? किसने जय शब्द का उच्चारण नहीं किया? किसने अपने मकरालंकृत किरीटों को उनके चरणों में नहीं झुकाया?

यहाँ बाण ने इन प्रश्नों के ब्याज से महाराजाधिराज और उसकी अधीनता स्वीकार करने वाले राजाओं के बीच में भिन्न-भिन्न स्तर पर आठ प्रकार के संबंधों का उल्लेख किया है। हर्ष-चरित में प्रतिपादित सम्राट की दिग्विजय के प्रसंग में भी इनका उल्लेख किया गया है। ये उस युग की सांधिविग्रहिक नीति के तथ्यात्मक प्रकार थे। चंद्रापीड़ की यह विजय-यात्रा 'कृत्स्न पृथिवी जयार्थ' दंड यात्रा करने वाले विजिगीषु सम्राटों की विजय-यात्रा के समान है। समुद्र गुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में सर्व पृथिवी-विजय के सिलसिले में राजाओं के साथ बरती जाने वाली कई नीतियों का उल्लेख किया गया है, जैसे करदान आज्ञाकरण, प्रणामागमन, प्रसभोद्धरण, परिचारिकीकरण, कन्योपायनदान आदि। इनमें से परिचारिकीकरण के तीन दर्जे यहाँ कहे हैं—(१) चँवर डुलाना या सेवा चामर अर्पित करना। हर्ष के राज द्वार में उपस्थित भुजनिर्जित महासामंतों को भी सेवा चामर अर्पित करते हुए कहा गया है (हर्ष० पृ० ७)। (२) हाथ में वेत्रयष्टि लेकर दरबार में प्रतीहार का काम करना (कैर्न प्रतिपन्ना वेत्रलता, गृहीतां दिशश्चामराणि वा, हर्ष०, पृ० १६४)। (३) जय-जय शब्द का उच्चारण करते हुए सम्राट् के आगे चलने वाले मंगलपाठक भृत्यों का

१—भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम्। धरती के आकाश में उठ कर चले जाने की कल्पना पदमावत में भी आती है (दे० पदमावत—संजीवनी व्याख्या २४-४)।

कार्य करना (कैर्नोच्चारिता जयशब्दाः)। इस परिचर्या का उल्लेख हर्षचरित की सूची में नहीं है (हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १२६)।

प्रणामागमन के भी पाँच प्रकार थे—(१) केवल प्रणत-भाव प्रकट करना या सिर झुकाकर प्रणाम करना जो अभिवादन का सबसे सम्मानित ढंग था जिसे हर्षचरित में नमन्तु शिरांसि कहा है। (२) सम्राट् के सम्मुख सिर झुकाकर अंजलिबद्ध प्रणाम करना (कैर्न विरचितः शिरसि सेव्वांजलिः)। अभिवादन का यह प्रकार केवल प्रणाम की अपेक्षा कुछ हीन कोटि का था, किंतु आगे कहे हुए तीन प्रकारों की अपेक्षा अधिक सम्मान-युक्त था। (३) सिर झुकाकर सम्राट् के चरणों का स्पर्श करना।[1] सम्राट् के चरणों तक मस्तक झुकाने की अनुमति, यह उनसे मिला हुआ बड़ा अनुग्रह समझा जाता था, जैसा रघुवंश में कहा है (सम्राजश्चरण युगं प्रसादलभ्यम्, रघु० ४।८८)। (४) सिर झुकाकर पादपीठ का स्पर्श करना। यह पहले की अपेक्षा कुछ हीन स्थिति थी (कैर्न घृष्टाः पादपीठे चूडामणयः)। इसे ही हर्षचरित में निर्जित सामंतों द्वारा सम्राट् के चरणों की धूलि मस्तक पर चढ़ाना लिखा है। (५) सम्राट् के पादपीठ के समीप पृथिवी पर सिर टेककर प्रणाम करना (कैर्नमसृणीकृताः प्रतिबद्धहेमपट्टैः ललाटैः सभाभुवः)। यह भी सम्राट् की चरण-धूलि को प्रणाम द्वारा मस्तक पर चढ़ाने का ही प्रकार था। हर्षचरित में संख्या ४ और ५ को अलग-अलग न कहकर 'शेखरीभवन्तु पादरजांसि' वाक्य में ही दोनों का समावेश कर लिया है।

'चार समुद्रों के जल में अवगाहन करनेवाले कुलाभिमानी, सोमपायी, मूर्धाभिषिक्त ये राजा आपके चरणों की रज अपने मस्तक पर रक्षा की भभूत की भाँति धारण करते हैं। आज तो देखो हर एक दिशा में रसातल से, पृथिवी से, दिशाओं से और आकाश से जैसे सैनिक ही सैनिक निकलते दिखाई पड़ रहे हैं। महाभारत के युद्ध में पृथिवी का जो हड़कम्प हुआ था उसीका स्मरण आज फिर भूमि को आ रहा होगा। यह आश्चर्य है कि जब कुल-पर्वतों के जोड़ भी कटक-दल के धक्के से ढीले पड़ रहे हैं तो धरती टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाती? अथवा पृथिवी के अतिरिक्त इतना और अधिक बोझ सँभालने के कारण शेषनाग के फन मसमसा क्यों नहीं जाते?'

[१२३]

वैशम्पायन से इस प्रकार बात करते हुए युवराज चंद्रापीड़ अवास-भूमि या सेना के

१—केषां न पीताः किरीटपत्रमकरैः सलिलधारा इव निर्मलास्तच्चरणनख मयूख राजयः (का०)। इसे ही हर्षचरित में यों कहा है—सुदृष्टः क्रियताम् आत्मा मञ्जरणनखेषु।

लिये नई बनाई हुई छावनी में आ गए जहाँ सैकड़ों सफेद तम्बू (धवलपटमंडप) और सहस्रों फूँस के बँगले छाकर उनके चारों ओर परकोटा बना दिया गया था।[1]

वहाँ उसने राजोचित सब क्रियाएँ कीं एवं राजा और अमात्यों के साथ कथाओं का सुख लेते हुए दिन का अवशिष्ट भाग व्यतीत किया। यहाँ 'राजवत् सर्वाः क्रियाः' यह वाक्य साभिप्राय है। बाण ने उन क्रियाओं का ब्यौरा यहाँ नहीं दिया, किंतु हर्षचरित में सातवें उच्छ्वास के आरंभ में उनकी लंबी सूची दी हुई है। दिग्विजय के लिये प्रयाण करने से पूर्व जो विधि-विधान किया जाता था, राजोचित क्रियाओं से उसीका तात्पर्य है; जैसे सम्राट् ने सब शस्त्रों की पूजा की, अपने शरीर पर धवल चंदन का लेप किया, दुकूल वस्त्रों का जोड़ा और विविध आभरण धारण किए, हाथ के मणिबंध प्रदेश में मंगलप्रद कंकण पहना और शासन वलय धारण किया। पुरोहितों ने उसके ऊपर शांति-जल छिड़का। सहयोगी-राजाओं के लिये कीमती सवारियों और जड़ाऊ गहनों के उपहार भेजे गए। इस अवसर की प्रसन्नता के उपलक्ष्य में कारागृह से बंदियों को छोड़ा गया और जो लोग किसी कारणवश सम्राट् की कृपा से वंचित कर दिए गए थे उन्हें पुनः प्रसाद-दान दिया गया।

रात में एक ओर शयन पर वैशम्पायन और दूसरी ओर धरती पर कालीन (कुथ) बिछाकर पत्रलेखा ने विश्राम किया। कुमार को माता और पिता से नये वियोग के कारण सोच में कुछ ऐसी ही नींद आई। प्रातःकाल उठकर उसी क्रम से फिर कूच किया गया। हर एक प्रयाण के साथ सैनिक-दल अधिक-अधिक बढ़ता ही जाता था। शनैः शनैः स्वेच्छा से उसने समुद्रपर्यन्त पृथिवी का विचरण किया। दिग्विजय यात्रा करते हुए जो राजा उन्नत थे उन्हें झुका दिया, जो उसके सामने प्रणत भाव से आए उन्हें ऊपर उठा दिया, जो डरे थे उन्हें आश्वस्त किया, जो शरण में आ गए उन्हें वैसे ही रख लिया, जो कुछ अकड़े उन्हें उखाड़ दिया,[2] जो राष्ट्र के कंटक[3] थे उन्हें जड़ से नष्ट कर दिया।

१—समुच्छ्रितानेक तोरणाँ तृणमयप्राकारमंदिरसहस्रसम्बाधाम् उल्लासित धवलपटमंडपशतशोभिनीम् आवासभूमिम्। हर्षचरित में भी जब हर्ष दिग्विजय-यात्रा के लिये अपने भवन से बाहर आया तो सरस्वती नदी के किनारे उसके लिये अनेक ऊँचे तोरणों से युक्त फूँस का एक बड़ा मंदिर (बँगला) छा दिया गया (हर्षचरित, २०३)। राजभवन से उठकर आवास-भूमि या छावनी में आना यही पहले दिन का प्रयाणक या प्रस्थान समझा जाता था।

२—उन्मूलयन्विटपकान्—विटपक यहाँ उन राजाओं के लिये आया है जो शरारत या गुंडई के काम करते रहते थे। अनुच्छेद १०४ में भी विटपक का यह अर्थ है।

३—कंटक उन डकैतों आदि के लिये परिभाषिक शब्द था जो राज्य की शांति में विघ्न डालते थे। लब्ध-राज्य का परिपालन करने वाले राजा के लिये कंटकोद्धरण या कंटक-शोधन करना आवश्यक था (मनु० ९।२५२-२५३)।

स्थान-स्थान पर राजपुत्रों का अभिषेक करके नए राज्यों की स्थापना की। अनेक रत्नों का संग्रह किया। बहुत से उपहार बाँटे एवं कर-संग्रह करते हुए देश-व्यवस्था और शासन-प्रबंध किया। पुनः उन-उन राज्यों में अपने चिह्नों की स्थापना की जिनमें विजय के सूचक विजय-स्तंभ भी सम्मिलित थे। पुनः देव-मंदिरों का निर्माण कराया (कुर्वन् कीर्तनानि) और शासन या दानपत्र लिखवाए। ब्राह्मणों की पूजा की एवं मुनियों को प्रणाम किया। साथ ही जो विद्या और धर्म के आश्रम थे उनकी पालना के लिये आवश्यक प्रबंध किया।

यहाँ आश्रम, शासन और कीर्तन ये तीन परिभाषिक शब्द हैं। आश्रम का तात्पर्य दिवाकर मित्र के आश्रम जैसे महान् धार्मिक केंद्रों से था जो कि साथ ही विद्या के केंद्र भी थे। नालंदा जैसे महाविहार विद्या के आश्रम ही थे जिनके लिये सब प्रकार का प्रबंध करना राजा अपना कर्तव्य समझते थे। शासन भारतीय पुरातत्त्व का प्रसिद्ध शब्द है जो राजा द्वारा दान में दी हुई भूमि या ग्राम के लिये प्रयुक्त होता था (राजदत्तोर्व्याम्, मेदिनी)।[1] इस संबंध के कितने ही ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। उन्हें धर्म शासन शब्द से भी बाण ने अभिहित किया है और उनमें पिरोए हुए कड़ों को धर्मशासन-कटक कहा है। राजा अपनी देश-विजय के सिलसिले में इस प्रकार के भूमिदान या ग्रामदान के पट्टे लिखवाते चलते थे।[2] 'कुर्वन् कीर्तनानि' का कीर्तन शब्द अपरिचित है। यह संस्कृत साहित्य में प्रासाद या देव मंदिर के लिये प्रयुक्त होता था और वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। अग्नि पुराण के 'देवालय निर्माण, शीर्षक अध्याय में 'कीर्तनानि च कारयेत् (३८।२६) का अर्थ मंदिर या प्रासाद निर्माण से ही है। आर्यशूर कृत जातक माला में कीर्तन शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (श्रीमंति कीर्तनशतानि निवेशितानि, जातकमाला, पृ० २१९)। इलोरा के

१—निर्णय सागर से प्रकाशित कादंबरी की टिप्पणी में 'शासनानि' का पाठांतर 'पूर्वाः प्रशस्तीः है। वस्तुतः 'पूर्वाः' अत्यंत क्लिष्ट पाठ था और गुप्तकालीन भाषा में वह प्रशस्ति का पर्याय ही हो गया था। पूर्वा शब्द के इस अर्थ का पुनरुद्धार श्री बहादुर चंद छाबड़ा ने अपने 'पूर्वा' शीर्षक लेख में किया है (नागरीप्रचारिणी पत्रिका)। राजा के शासन या लेख के आरंभिक भाग में जो उसकी वंशावली रहती थी उसे 'पूर्वा कहा जाता था। पूर्वा शब्द प्रशस्ति का पर्याय बन गया था। ज्ञात होता है कि 'लेखयन् पूर्वाः' यही मूल पाठ था। उस क्लिष्ट पाठ को सरल करने के लिये 'शासनानि' पद रख दिया गया। 'पूर्वा' स्वयं विशेष्य शब्द था। पूर्वाः प्रशस्तीः कहने की आवश्यकता न थी। 'पूर्वाः' का 'प्रशस्तीः' अर्थ किसी टीकाकार ने लिखा होगा जो मूल पाठ में सम्मिलित कर लिया गया।

२—शासन, ताम्रशासन पत्रक, ताम्रशासन, ताम्रपट्ट, ताम्रपट्टिका, ताम्रफली, ये सब पर्याय थे। शासन का अर्थ जहां एक ओर राजकीय शासन पत्र से था वहाँ दान में प्रदत्त ग्रामों के लिये भी वह प्रयुक्त होने लगा था, जैसे पंचतंत्र में—तदाहं त्वां शासनशतेन योजयिष्यामि (बहादुरचंद्र छाबड़ा डिप्लोमैटिक आव संस्कृत कापर प्लेटग्राण्ट्स, पृ० ३)।

कैलास-मंदिर को उसके शिलालेख में 'कीर्तन' कहा है।[1] वस्तुतः सातवीं शती में न केवल देव-मंदिर के लिये बल्कि किसी भी प्रकार के धर्मार्थ बनवाए हुए सार्वजनिक शिल्प या वास्तु के कार्य को कीर्तन कहा जाता था। कादम्बरी उत्तर भाग में अन्न सत्र, कुएँ, प्याऊ, मंदिर, तडाग, बगीचे के लिये कीर्तन शब्द का प्रयोग किया है (सत्रकूप प्रपाप्रासाद तडागारामादिभिः कीर्तनैरलंकृता मेदिनी, कादंबरी, अनुच्छेद २६६)।

चंद्रापीड़ ने पहले पूर्व और फिर पश्चिम दिशा की विजय करते हुए तीन वर्ष में अशेष द्वीपांतर युक्त सब महीमंडल को आत्मसात् कर लिया। फिर पृथिवी की प्रदक्षिणा करके वह कैलास के समीप हेमकूट में निवास करनेवाले किरातों के सुवर्णपुर नामक नगर में जा पहुँचा और उसे जीतकर अपने वश में कर लिया। वहीं सेना को विश्राम देने के लिये उसने कुछ दिनों के लिये पड़ाव डाल दिया।

[१२४]

एक बार इंद्रायुध पर सवार हो वह मृगया के लिये वन में गया। तब पर्वत की चोटी से नीचे आया हुआ एक किन्नर-मिथुन अकस्मात् दिखाई पड़ा। पहले कभी न देखने के कारण कुमार के मन में कुतूहल उत्पन्न हुआ और उसने उसे पकड़ने की इच्छा से सँभालकर उसकी ओर घोड़ा बढ़ाया। उस किन्नर-युगल ने भी पहले कभी मनुष्य का दर्शन न किया था, अतएव वह डर कर भागा। चंद्रापीड़ ने दूने वेग से घोड़ा दौड़ाया और यों वह अपनी सेना से बहुत दूर निकल गया। अब पकड़ा, अब पकड़ा—इसी धुन में वह घोड़े की फुर्ती से थोड़ी ही देर में पंद्रह योजन भूमि पारकर गया तथा यह किन्नर-मिथुन उसके देखते-देखते सामने आए हुए पहाड़ की चोटी पर चढ़ गया।

[१२५]

उसके इस प्रकार चढ़ जाने पर कुमार ने उसका अनुसरण करती हुई अपनी दृष्टि को उसके ओझल हो जाने पर उधर से हटा लिया। चट्टानी ढोकों से उसकी अपनी गति भी अवरुद्ध हो रही थी। इसलिए कुछ रुककर उसने देखा कि इन्द्रायुध और वह स्वयं पसीने से लथपथ हो गए हैं। वह मुस्कराकर सोचने लगा—'मैंने व्यर्थ ही अपने आपको बच्चे की तरह इस झंझट में डाला। यह किन्नरों का जोड़ा पकड़ लिया जाता तो क्या

---

१ कर्ताऽपि यस्य खलु विस्मयमाप शिल्पी तन्नाम कीर्तनमकारयत् येन राज्ञा। श्रीहुल्श ने इस शब्द का ठीक अर्थ पहचान लिया था (इंडियन एंटिक्वेरी २२।२२८-२२९)। इधर श्री बहादुर चंद छाबड़ा ने कीर्ति और कीर्तन इन दोनों शब्दों के परिभाषिक अर्थों की ओर विशेष ध्यान दिलाया है (सिद्ध-भारती, १।३८-४२)। कीर्तन शब्द का यह अर्थ क्यों हुआ इसके लिये देखिए मेरा लेख 'कीर्ति, कीर्तिमुख और कीर्ति स्तम्भ (नागरी-प्रचारिणी पत्रिका संवत् २०१३, पृ० ६४-७०)।

और न पकड़ा गया तो क्या ? मेरी मूर्खता का भी कोई ठिकाना है ? बेकार की बात के लिए क्यों इतनी परेशानी उठाई ? मैंने बिलकुल बालकों जैसा काम किया। दिग्विजय की ऐसी सफल मेहनत इससे व्यर्थ हो गई। जो आवश्यक काम आरंभ कर रखा था वह इससे विफल हो गया। मित्रों का जो कार्य बन रहा था वह भी बीच में ही रुँध गया। राजधर्म भी पूरा न हुआ। गुरुओं का कार्य भी अधूरा रहा। विजिगीषु कर्म का प्रयत्न भी सिद्ध नहीं हुआ। क्यों मैं अपने सब संगी साथियों को छोड़कर इतनी दूर निकल आया, जैसे कोई मेरे सिर आ गया हो ? क्यों निष्प्रयोजन मैंने इस किन्नर मिथुन का पीछा किया ? मेरा अपना आपा ही मुझपर हँस रहा है। न जाने पीछे आनेवाली सेना मुझसे कितनी दूर रह गई है। फुर्तीला इन्द्रायुध पल मात्र में बहुत दूर निकल जाता है। जल्दी में आते हुए इस सघन वन में रास्ते की पहचान भी मैंने नहीं की जो लौटकर जा सकूँ। इस प्रदेश में ढूँढ़ने पर भी मनुष्य का मिलना कठिन है जो सुवर्णपुर का रास्ता बता सकता। मैंने कितनी बार सुना है कि भारत[1] के सब जनपदों की उत्तरी सीमा सुवर्णपुर है। उससे आगे निर्जन वन है और उसे पार करने पर कैलास पर्वत आता है। यह सामने कैलास है तो अब अपने आप अटकल से दक्षिण दिशा पकड़ कर लौटना चाहिए। अपने किये हुए दोषों का फल अपने को ही भोगना पड़ता है। यह निश्चय करके उसने बाएँ हाथ से रास खींचकर इंद्रायुध को मोड़ लिया।

[१२६]

घोड़ा लौटाकर वह फिर सोचने लगा—'भगवान् सूर्य अब आकाश के मध्य भाग में हैं। इंद्रायुध थककर चूर हो गया है। तो पहले इसे कुछ दूब खिलाकर किसी सरोवर, झरने या नदी में स्नान कराऊँ और जलपान एवं विश्राम से इसका और अपना भी श्रम दूर करूँ। तब जाना उचित होगा।' यह सोचकर जल की खोज में चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर एक ओर मार्ग दिखाई दिया जिसपर हाथियों के पैरों से लिथड़ी हुई कीचड़ जहाँ-तहाँ बिखरी हुई थी। कमल वन में स्नान करके लौटते हुए उन्होंने अपनी सूँड़ों में लाए हुए कमल खंड जहाँ तहाँ गिरा दिये थे और सिरवाल एवं कीचड़ में सनी हुई कमल-ककड़ियाँ भी बिखेर दी थीं। तुरत के तोड़े हुए तमाल पल्लवों के रस में मिला हुआ उनका मद वहाँ टपका हुआ था जिसकी सुगंधि से आकृष्ट भौंरे हवा में गुंजार रहे थे।

(१२७)

उसने सोचा कि इधर कोई जलाशय होना चाहिए। अतएव जिधर से मार्ग आया था उसी ओर लौटते हुए कैलास की तलहटी में कुछ दूर जाकर उसी पर्वत के पूर्व-उत्तर की

१—सुवर्णपुर सीमान्तलेखा पृथिव्याः सर्वजपदानाम्। यहाँ मूल में पृथिवी शब्द है जो भारत के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

दिशा में लंबे चौड़े वृक्षों की बन-खंडी देखी। सामने से आती हुई शीतल, मंद, सुगंध वायु और कमलों के मधुपान से मत्त कलहंसों के कोलाहल से आकृष्ट होकर उसने उसमें प्रवेश किया। उस बन-खंडी में कहीं देवदार, साखू और सलई के घने पेड़ थे, पर शाखाएँ कम होने के कारण वे विरल जान पड़ते थे। कहीं लाल रंग की मोटी बालू बिछी हुई थी और चट्टानों के कारण घास भी कम थी। कहीं जंगली हाथियों से खूँदी हुई मैनसिल के कारण भूमि लाल हो रही थी। कहीं पाषाणभेद लता की टेढ़ी-मेढ़ी मंजरी ढोकों के बीच में से निकलती हुई उन पर फैल गई थी मानों कुटिल पत्रभंग के अलंकरण उत्कीर्ण किए गए हों। कहीं गूगुल के वृक्षों का द्रव चट्टानों पर टपक रहा था। कहीं पर्वत के शिखर पर से बहकर आया हुआ शिलाजीत का रस पत्थरों को गीला कर रहा था। कहीं घोड़ों की टापरूपी टाँकियों से उठी हुई हरताल की धूल जमी हुई थी। कहीं चूहों से खोदा हुआ सोने का चूर्ण बिलों के बाहर बिखरा हुआ था। कहीं चौंरी गाय और कस्तूरिया हिरन के खुरों की छाप बालू पर लगी थी। कहीं रंकु और रल्लक हिरनों के रोएँ झरकर गिरे थे। कहीं चकोरों के जोड़े ऊंचे नीचे पत्थरों पर बैठे हुए थे। कहीं बनमानुसों के जोड़े गुफाओं के मुँह के पास सटकर बैठे थे। कहीं गंध पाषाण की तीव्र महक उठ रही थी और कहीं वेत्रलताओं के कुंजों में बाँस उग रहे थे।

(१२८)

वहाँ प्रवेश करके कुमार ने बन खंड के मध्यभाग में एक अति मनोहर और आह्लाद-दायक सरोवर देखा जिसका नाम अच्छोद था। यहाँ कवि ने अच्छोद सरोवर का उदात्त वर्णन किया है। कादंबरी के कथा विकास में अच्छोद सरोवर मध्य में विराजमान दिव्य विश्राम स्थल के समान है। कथा के समस्त पात्र यहीं शनैः शनैः एकत्र हो जाते हैं। अच्छोद के शीतल, स्वच्छ, अमृत जलका प्रभाव समस्त वातावरण पर पड़ता हुआ दिखाई देता है, मानो कथा के पात्रों के सुख और दुःख को देखने वाला दिव्य लोक का चक्षु हो। अच्छोद सरोवर के विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ को हम आगे देखेंगे।

वह सरोवर ऐसा आभायुक्त था मानों पृथिवी देवी ने अपने निवास के लिये स्फटिक का भूमिगृह रच रखा हो। वह ऐसा गंभीर था मानों समुद्रों ने पाताल से ऊपर आने का मार्ग बनाया हो। वह क्षितिज के छोर तक फैला हुआ था मानों दिशाओं के भीतर से उनका रस चूकर एकत्र हो गया हो। वह इतना विस्तृत था मानों आकाश का अंशावतार हो। उसके जल की शुभ्रता ऐसी थी मानों रजताद्रि कैलास ही द्रवित हो गया हो। वह ऐसा शीतल था मानों तुहिनाद्रि हिमालय ही गला हो उसका जल ऐसा अमृतमय था मानों चंद्रमा की ज्योत्स्ना जल रूप में परिवर्तित हुई हो। उसकी धवलता से ज्ञात होता था मानों शिव का अट्टहास ही जल बन गया हो। वह ऐसा सुखदायक था मानों त्रिभुवन का पुण्य सरोवर के रूप में मूर्त हो उठा हो। उसकी नीली आभा से ऐसा लगता था मानों वैदूर्य पर्वत सलिल के रूप में दिखाई पड़ रहा हो। उसकी उज्ज्वलता ऐसी थी मानों शरदा-काश की मेघमाला गलकर पृथिवी पर आ गई हो। प्रतिबिंब ग्रहण करने की स्वच्छता

के कारण वह वरुण के दर्पण जैसा प्रतीत होता था। किसी ने मुनियों के मन की, सज्जनों के गुणों की, हिरनों की नेत्र कांति की, एवं मोतियों की स्वच्छता लेकर उसका निर्माण किया था। भरा हुआ होने पर भी उसके भीतर की सब वस्तुएं दिखाई पड़ती थीं मानों वह रीता ही हो। उसके ऊपर वायु जल-तरंगों के जो छींटे उड़ा रही थी उन पर पड़ती हुई सूर्य की किरणों से ज्ञात होता था मानों सहस्रों रंग-बिरंगे इंद्र-धनुष उसकी रक्षा कर रहे हों। बीच में खिले हुए कमलों से और चारों ओर के शैल वन एवं आकाश के नक्षत्र और ग्रहों की जल-मध्य में पड़ती हुई परछाईं से वह त्रिभुवन को उदर में रखने वाले नारायण के समान जान पड़ता था। पास में स्थित कैलास से भगवान् शिव अनेक बार स्नान के लिये वहाँ आते थे। उस क्षोभ से हिले हुए चंद्रमा का अमृत-रस और उनकी देह के वामार्ध भाग में स्थित पार्वती के कपोल से धुला हुआ लावण्य मानों उसके जल में मिल गए थे। किनारे के तमाल--वनों की परछाईं के अंधकार के बीच-बीच में जो जल के प्रदेश थे वे ऐसे लगते थे मानों रसातल में प्रवेश करने के द्वार हों। वहाँ नील-कमल के अनेक वन थे। ब्रह्मा ने बारंबार अपना कमंडलु भरकर उस जल को पवित्र किया था। इस कारण वह ब्राह्मसर के समान था। बालखिल्य ऋषि कितनी ही बार संध्योपासन के लिये उसके तट पर आए थे। अनेक बार भगवती सावित्री ने उसके जल में उतरकर देवार्चन के लिये कमलों का चयन किया था। कितनी ही बार सप्तर्षि अपने अभिषेक से उसे पवित्र कर चुके थे। सिद्धांगनाएँ अपना कल्पलता-दुकूल सदा उसके पवित्र जल में धोने के लिये आती थीं। कुबेर की अंतःपुर-कामिनियां वहाँ जलक्रीड़ा के लिये आती रहती थीं। उसके किसी प्रदेश में वरुण देवता का हंस कमल-वन का मकरंद पान करने आता था। कहीं दिशाओं के हाथी अपने मज्जन से उसके मृणाल-दंडों को जर्जरित करते थे। कहीं भगवान् शिव के नंदी वृषभ ने अपने सींग की कोर से हूसा मारकर किनारे का शिलाखंड तोड़ डाला था। कहीं यमराज के महिष ने सरोवर के फेन को अपने सींगों की चोट से छितरा दिया था। कहीं ऐरावत ने अपने स्थूल दाँतों की चोट से उसके किनारे के कुमुद-वन को मथ डाला था। कहीं उसमें तरंगें उठ रही थीं।[1] कहीं क्रौंचवनिताएँ कलरव कर रही थीं। कहीं धार्तराष्ट्र नामक पाण्डु वर्ण के हंस पानी में पंख फड़फड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर बैठकर मोर जल में चोंच डुबो रहे थे। कहीं बंदर तट के कदंबों की शाखाओं से जल में कूद-कूदकर क्रीड़ा कर रहे थे। कहीं अनंत शतपत्र और पुंडरीक खिले हुए थे जिन पर उड़ते हुए भ्रमर-कुल संगीत की तान छेड़ रहे थे। कहीं क्रीड़ा के लिये आए हुए हाथी सूंडों में जल भर कर उंडेल रहे थे।

[१२९]

उसे देखते ही चंद्रापीड का श्रम मिट गया और उसने मन में सोचा--'अहो, किन्नरों

१--यौवनमिवोत्कलिकाबहुलम्। उत्कलिका=तरंग। समास-बहुल शैली को भी उत्कलिका कहा जाता है जिसमें समासों की पंक्तियाँ एक दूसरे के बाद उठती हुई लहरियों सी जान पड़ती हैं (हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ४)।

के पीछे भाग कर किया हुआ मेरा निष्फल श्रम भी इस सरोवर को देखकर सफल हो गया। आज नेत्रों ने पूरा दर्शन-फल पा लिया। इस सरोवर के सलिल को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने पुनः अमृत रच कर अपनी सृष्टि में पुनरुक्ति की। यह भी अमृत के समान सब इंद्रियों को आह्लादित करने में समर्थ है। इसकी अति स्वच्छता नेत्रों को, शिशिरता स्पर्श को, कमलों की सुगंधि नासिका को, हंसों की मुखरता कानों को और जल का स्वाद रसना को आनंदित कर रहा है। अवश्य इसी को देखने की लालसा से भगवान् उमापति अपना कैलास का रहना नहीं छोड़ते। पर भगवान् नारायण को क्या सूझी जो इसका अमृतरसपूर्ण जल त्यागकर लवण-समुद्र के जल में जाकर सोए हैं। अवश्य ही यह सरोवर उस पूर्व-युग में न था जब प्रलय-वराह की थूथड़ी के आघातों से घबराकर धरती उस उथले समुद्र में जा छिपी थी जिसे अगस्त्य ने सोख लिया। यदि वह इस महासरोवर के पाताल सदृश अगाध जल में छिपी थी होती तो एक क्या सहस्रों वराह भी उसे न ढूंढ़ पाते। अवश्य इसी के जल के घूंट पी-पीकर महाप्रलय के मेघ प्रलयान्त के दिन दिशाओं में उमड़कर भुवनों को जल में डुबा देते हैं। मैं समझता हूँ कि सृष्टि के बाद ब्रह्मांड जलमय ही था। उसी का रूप सिमिटकर यह सरोवर बना है।'

[१३०]

यह सोचते हुए वह सरोवर के दक्षिणी तट पर अपने घोड़े से उतर पड़ा। उतर कर उसने इंद्रायुध की पीठ से पलान भी उतार दिया। छूटते ही इंद्रायुध ने पहले धरती पर लोटनी ली, फिर उठकर घास में कुछ मुँह मारे और तब सरोवर में उतरकर इच्छानुसार जलपान और स्नान किया। चंद्रापीड़ ने उसे बाहर निकाला तथा मुँह से लगाम हटाकर और पैरों में सोने की खटकेदार शृंखला बाँधकर[1] पास के वृक्ष की छाया में उसके सामने कटारी से काटी हुई कुछ दूब डाल दी और स्वयं भी जल में उतरा।

उसने दोनों हाथ धोकर पहले जल से आचमन किया। फिर कुछ मृणाल के टुकड़ों को दाँत से चबाया। पुनः शीतल कुमुदों को उँगलियों से छुआ। फिर जलतरंगों की वायु का आलिंगन किया। पुनः कमलिनी के हरे पत्तों को छाती से लगाया और अंतमें जल की बूँदे टपकाते हुए कमल हाथ में लेकर वह सरोवर के सलिल से बाहर निकला। फिर लतामंडप की शिला पर जलकणों से भरे हुए कमलिनी के शीतल पत्ते बिछाकर वह उस पर बैठ गया और लपेटा हुआ उत्तरीय सिर पर रख लिया। मुहूर्त भर विश्राम करके उसने किसी

१—हस्तपाशशृंखलया कनकमय्या चरणौ बद्ध्वा—यह वस्तुतः ऐसी जंजीर थी, जिसके दोनों सिरों पर हथकड़ी जैसे कड़े लगे हुए थे। उसे ही दोनों पैरों में इस प्रकार पहना दिया जैसे गधे के पैरों में धगना बाँधकर उसे चरने छोड़ देते हैं। हर्षचरित में भी जंजीर और निगडतालक या तालेदार कड़ी से घोड़ों के पैर बाँधने का उल्लेख है (पृ० २०४)।

अमानुषी कंठ से आती हुई वीणा की झंकार से मिश्रित गीत की ध्वनि सुनी। उससे पहले ही सरोवर के उत्तरी किनारे पर चरता हुआ इंद्रायुध घास खाना छोड़कर कनौती निश्चल करके उसी ओर मुंह उठाए ग्रीवा ऊँची करके वही गीत ध्वनि सुन रहा था। उसे सुनकर चंद्रापीड़ के मन में उत्कंठा हुई कि इस निर्जन प्रदेश में यह गीत की ध्वनि कहाँ से आ रही है, और वह कमल के पत्तों की साथरी से उठकर उसी दिशा की ओर देखने लगा जिधर से वह ध्वनि आ रही थी। वह स्थान अति दूर था, अतएव प्रयत्न करने पर भी वह कुछ न देख सका। केवल गीत का शब्द ही बराबर सुनाई पड़ रहा था। कुतूहलवश गीत की ध्वनि का उद्गम जानने की इच्छा से वहाँ जाने के लिये वह पलान डालकर इंद्रायुध पर सवार हो गया और सरोवर के पश्चिमी तट की ओर होता हुआ उधर ही चला जिधर से गीत का शब्द आ रहा था।

[१३१]

क्रमशः आगे बढ़ते हुए उसने सरोवर के पश्चिमी किनारे पर कैलास की तलहटी के चन्द्रप्रभ नामक स्थान में समभूमि पर बना हुआ भगवान शिव का एक शून्य मंदिर (सिद्धायतन) देखा उस प्रदेश में अनेक प्रकार के वृक्ष भरे हुए थे। उसके सामने की ओर से कैलास की आनन्ददायिनी पवित्र वायु स्वच्छ हिम के जलकणों से शीतल एवं भूर्जवृक्षों के वल्कलों से रुक-रुककर आ रही थी। उसके कारण कक्कोल के वृक्ष हिल रहे थे और नमेरु के वृक्षों की धूलि बिखर रही थी। उस प्रदेश में पहुँचकर चन्द्रापीड़ ने अनेक प्रकार के वृक्षों की शोभा देखी। कहीं मरकत के समान हरे वृक्षों पर हारिल पक्षी कलरव कर रहे थे। कहीं उड़ते हुए भृंगराज पक्षी तैयार कलियों को नखों से कुतर कर गिरा रहे थे। कहीं कोयलें सहकार के कोमल पल्लवों को चोंथ कर खा रही थीं। कहीं उन्मद भौंरे आम की खिली हुई मञ्जरियों पर गूँज रहे थे। कहीं ढीठ चकोर मरिच वृक्ष के अङ्कुर चाट-चाट जाते थे। कहीं चम्पा के पराग से सने हुए कपिंजिल पक्षी पीपल के फल खा रहे थे। कहीं फलों के भार से झुके अनार के वृक्षों पर रखे हुए घोसलों से कलविङ्क पक्षियों के बच्चे बाहर आ रहे थे। कहीं चपल कपि क्रीड़ा करते हुए अपने हाथों से ताड़वृक्ष के पत्तों को हिला रहे थे। कहीं आपस में लड़ने से कुपित कपोत फड़फड़ाते पंखों से फूलों को गिरा रहे थे। कहीं फूलों के पराग से शबलित सारिकाएं पेड़ों की चोटी पर बैठी हुई थीं। कहीं तोते चोंच और नखों से फलों के कुतरने में लगे थे। कहीं तमालों के झुरमुट में मेघजल के प्यासे भोले चातक जल न पाकर रट लगा रहे थे। कहीं लवली (हरफारेवरि) की लताओं के पल्लवों को हाथियों के बच्चों ने काटकर छितरा दिया था। कहीं नवयौवन से मदमत्त बने हुए कबूतर अपने पंखों को फड़फड़ाते हुए उन्हीं पुष्प गुच्छों को बिथुरा रहे थे, जिनमें वे बसेरे के लिये रहते थे। कहीं मन्द पवन सुकुमार कदली के पत्तों को हिला-हिलाकर पंखा-सा झल रही थी। कहीं नारियल के वृक्ष फलों से लदकर झुक गए थे। कहीं सुपारी के सुकुमार पत्ते वाले वृक्षों की झुरमुट थी।

कहीं पक्षी अपनी टोंट से पिण्ड खजूरों के फल बेरोकटोक काट कर गिरा रहे थे। कहीं कुंजों में मद-मुखर मोरनियाँ मीठी केका ध्वनि कर रही थीं। कहीं असंख्य कलियां वृक्षों पर लदी हुई थीं। बीच-बीच में कैलास से बहकर आते हुए गधेरों ने[1] तलहटी की भूमि में बालू छोड़ दी थी जिस पर लहरों के निशान बने थे। कहीं वृक्ष लाल लाल सुकुमार किसलयों से लदे थे मानों वन देवताओं की हथेलियाँ हों या आलता मिले हुए जल के छींटों से सींचे गए हों। कहीं गठिवन (ग्रन्थिपर्णक) के खाने से प्रसन्न चौंरी गाएं वृक्षों के नीचे बैठी हुई थीं। वहाँ कपूर और अगरु के वृक्ष अनेक थे। सूर्य किरणों का प्रवेश न होने के कारण झुरमुटों का भीतरी भाग शीतल था। किनारों पर अंजन के समान नीले नरसल के झुण्ड लगे थे। उनमें अनेक पारावत[2] भरे हुए थे मानों कपोत-पालिकाओं से युक्त प्रासादों के शिखर हों। बेंत और असना के झुंड एक दूसरे के पास थे मानों वेत्रासन युक्त गृहतापस[3] हों। सरोवर के चारों ओर मणिलताओं की बाड़ें बनी हुई थीं मानों नागों के कायबन्धन से युक्त रुद्रों की मूर्तियाँ हों। वे रंग बिरंगी बुँदकियों से चित्रित पक्षियों से भरे हुए थे मानों अनेक वर्णों के चित्र, पत्रलता और पक्षियों से सुशोभित चित्रशालाएँ हों[4]। उनके आसपास बहुत तरह की झाड़ियाँ (गुल्म) लगी हुई थीं मानो सावधान राजाओं ने अपने राज्य के पर्यंत भाग में अनेक सैनिक चौकियाँ स्थापित कर रखी हों।[5]

पुन्नाग वृक्षों की सुगंधि से भौंरे (शिलीमुख) ऐसे खिंचे आ रहे थे जैसे युद्ध में हरा

१—छोटी पहाड़ी धाराओं को गढ़वाली भाषा में गधेरे कहते हैं। गधेरों के सूख जाने पर उनकी बालू जहाँ तहाँ दिखाई पड़ रही थी जिस पर लहरों के निशान थे।

२—**प्रासादैरिव सपारावतैः**—प्रासाद या महल के पक्ष में परावत का अर्थ कपोतपालिका या कयवाली है। उसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है (अनु० २४, पृ० ३६)।

३—**भवनतापसैरिव सन्निहितवेत्रासनैः**—भवनतापस का तात्पर्य वैखानस संप्रदाय के गृहस्थ भिक्षुओं से है। इस उल्लेख से सूचित होता है कि वे वेत्रासन का उपकरण रखते थे। हर्ष चरित में इन्हें ही 'गृह मुनयः' कहा है (पृ० ३६)। बाण के पूर्वज गृहतापस ही थे।

४—**आलेख्यगृहैरिव बहुवर्ण चित्र पत्र शकुनिशत संशोभितैः**—आलेख्य गृह या चित्रशालाओं का यह उल्लेख ध्यान देने योग्य है।

५—**अप्रमत्तपार्थिवैरिव पर्यन्तावस्थित बहुगुल्मकैः**—इसमें गुल्म शब्द महत्त्वपूर्ण है। रक्षा के लिये चौकी या थाने जो राज्य की ओर से विशेषतः निर्जन स्थान या जंगलों में स्थापित किये जाते थे गुल्म कहलाते थे। गुल्म के विशेष विवरण के लिये देखिए—पाणिनिकालीन भारतवर्ष (पृ० ४०६)। मृच्छकटिक में सावधान दौवारिकों द्वारा गुल्मस्थानों की रक्षा का उल्लेख आया है (मृच्छ० अंक ६)।

वल दस्ते के हाथी शिलीमुखों को खींच लेते हैं।[१] कुछ अन्य वृक्षों पर भौंरों के समूह इस प्रकार चिपटे हुए थे मानों कवचों से शरीर ढके हुए सैनिक हों।[२] कहीं वृक्षों पर चढ़े हुए बन्दर गुंजाफलों को तोड़ कर गिरा रहे थे जैसे कूच के लिये तैयार व्यक्ति छोटे सैनिकों से गुंजा नामक वाद्य बजवा रहे हों।[३] कुछ वृक्षों के नीचे शेर के पंजों के निशान थे मानों

१—महासमरमुखैरिव पुंनागसमाकृष्टिशिलीमुखैः—महासमर के मुखभाग अर्थात् युद्धभूमि की प्रथम पंक्ति में गज सेना रक्खी जाती थी। उसके सिखाए हुए हाथी अपनी सूंडों से पाश या कमन्द फेंककर शत्रु पक्ष के शिलीमुखों को खींच लेते थे। शिलीमुख का अर्थ बाण, भौंरा या तलवार कोशों में दिया है, पर यहाँ यह पारिभाषिक शब्द जान पड़ता है। गुप्तों की समकालीन सासानी सेना तीन प्रकार के विध्वंसक साधन काम में लाती थी—बैटेरिंग रैम, बैलिस्टा, मूविंग टावर। इनमें मूविंग टावर को हर्षचरित से 'संचारि कूटाट्टालक' कहा गया है। बैटेरिंग रैम हुड़का था। बैलिस्टा पत्थर के ढोके फेंकने के काम में आता था और वही शिलीमुख ज्ञात होता है। सधे हुए हाथी इन्हें खींचकर गिरा लेते थे। इसे ही बाण ने दर्पशांत हाथी के वर्णन में हस्तपाशाकृष्टि (हर्ष० पृ० ६८; हस्त=सूंड, पाश=कमन्द) कहा है।

२—दंशितैरिव भ्रमर संघातकवचावृतकायैः—यहाँ बाण ने श्लेष से दो अर्थ सूचित किये हैं, एक वृक्षों के पक्ष में दूसरा सैनिक पक्ष में। सैनिक पक्ष में अर्थ की व्यंजना गूढ़ और क्लिष्ट है। कवचधारी सैनिक के लिए गुप्तकाल में 'दंशित' शब्द का प्रयोग होता था (अमरकोश २।८।६६, दंशित=व्यूढकंकट, वर्मित)। कवच पक्ष में भ्रमर शब्द का अर्थ आवर्त या भँवर है। भ्रमर संघात कवच उस प्रकार का कवच था जिसके ऊपर अनेक आवर्तों के रूप में शतावर्त नामक अलंकरण बना रहता था। महाभारत विराट पर्व में शतसूर्य, शतबिंदु, शताक्षि और शतावर्त इन चार भाँति के अलंकरणों से युक्त कवचों का उल्लेख आया है (विराट पर्व ३०।१८)। इनमें शतसूर्य और शतबिन्दु भाँतों का उल्लेख चंद्रापीड़ के वर्णन में पहले आ चुका है (अनुच्छेद ६६) और शतावर्त का उल्लेख यहाँ किया गया है। भ्रमर=भँवर या आवर्त; संघात=समूह; भ्रमरसंघात = शतावर्त।

३—प्रयाणाभिमुखैरिव वानरकरांगुलिस्पृष्टगुंजैः—इसका प्रमाणाभिमुख पाठ अपपाठ है। निर्णयसागर संस्करण की पाद टिप्पणी में दिया हुआ प्रयाणाभिमुख पाठान्तर ही वस्तुतः शुद्ध पाठ है। हर्षचरित में प्रयाण-गुञ्जा या सैनिक प्रयाण के समय बजाए जानेवाले गुञ्जा नामक वाद्य का स्पष्ट उल्लेख आया है (सप्रयाण गुंजा इव, हर्षचरित पृ० ४८; गुञ्जत् गुंजे, वही पृ० २०४; हर्षचरित अध्ययन, पृ० १४०)। गुञ्जा किस तरह का बाजा था इसमें मतभेद है। स्वयं टीकाकार शंकर ने उसे एक बार ढक्का और दूसरी बार एक प्रकार का शंख कहा है जिसके पिछले भाग में लाख लगी रहती थी और जिसे लोक में सन्ना कहते थे। मैंने हर्षचरित की टीका में उसकी पहचान लेजिम से की थी, पर पीछे भट्टिकाव्य में गुंजा शब्द का उल्लेख मिला जिसमें गुंजा को हाथ से बजाया जाने वाला

वे उन राजपर्यंकों के समान थे जिनके पायों के निचले भाग में शेर के पंजों की आकृति बनी रहती है (अवनिपालशयनैरिव सिंहपादांकिततलैः)। कुछ वृक्षों पर ऊँची शिखाओं वाले मोर मण्डली बनाकर बैठे हुए थे मानों पंचाग्नि तापन करने वाले मुनि जलती हुई पाँच अग्नियों के मध्य में विराजमान हों[1] अन्य वृक्षों में जटाओं और थावलों के मंडल दिखाई पड़ते थे मानों जटायुक्त केश और कमंडलु धारण करनेवाले वृद्ध गृहमुनि हों। वे ऐंद्र-जालिकों की भाँति नेत्रधारी (नेत्राभिराम या दृष्टि बाँधनेवाले) थे।

(१३२)

चन्द्रापीड़ ने वहाँ प्रवेश करके स्फटिक के चार खंभों के छोटे मंडप के नीचे विराजमान चराचर गुरु भगवान् शिव के दर्शन किए[२] चतुर्मुखी शिवलिंग श्वेतमुक्ता शैल का बना हुआ था।[3] मंदाकिनी के तट के श्वेत पुंडरीक पुष्पों से किसी ने शिव की पूजा की थी। उनके दलों से जल की बूँदें टपक रही थीं। ज्ञात होता था कि वे पुंडरीक नहीं किसी ने चन्द्रमण्डल के ऊपर उकेरी करके पत्ते निकाल दिए थे, या शिव के निजी अट्टहास के ही पुंज बिखरे हुए थे, या क्षीरसागर के हृदय पुण्डरीक के रूप में प्रकट हो गए थे, या मोतियों का मुकुट पहने हुए पाञ्चजन्य के सहोदर थे। मन्दिर के चारों ओर केतकी की बाढ़ लगी थी जिसकी वायुप्रेरित धूलि कुमार को धवलित करती हुई मानों शिवपूजा का व्रत ग्रहण करने के लिये उनके शरीर को भस्मांकित कर रही थी।

वाद्य कहा है (गुंजा जुगुंजुः करघट्टिताः, भट्टिका० १४।२)। जयमंगला टीका में गुंजा को उँगलियों से बजाया जानेवाला वाद्य कहा है (गुञ्जाः समरवादना करघट्टिताः अंगुलिघृष्टाजुगुंजुः)। बाण ने भी यहाँ इसे हाथ की उंगलियों से छूकर बजाया जानेवाला वाद्य कहा है। वानर का अर्थ छोटी आयु के बालक होना चाहिए। प्रायः जुलूसों में आगे चलते हुए इस प्रकार के बालकों को अभी तक लोक में बानरी सेना कहा जाता है।

१—आरब्ध पंचतपःक्रियैरिवोच्छिखिमंडलपरिवृतैः—पञ्चाग्नि तापन का उल्लेख कालिदास ने पार्वती तपश्चर्या के प्रसंग में किया है (कुमार० ५।२०)। ऐसे तपस्वियों को बौद्ध संस्कृत में पञ्चातपिक कहा जाता था (एजर्टन, बौद्ध संस्कृत कोष पृ० ३२५)।

२—चतुःस्तम्भ स्फटिक मण्डपिका तल प्रतिष्ठितं चतुर्मुखं त्र्यम्बकम्—अवश्य ही यह चतुर्मुखी शिवलिंग का उल्लेख है जो कि चार छोटे खंभों की मण्डपिका के नीचे बने हुए चबूतरे पर प्रतिष्ठित था। चतुर्मुखी शिवलिंग गुप्तकला की विशेषता थी।

३—बाण ने हर्षचरित में भी मुक्ताशैल के बने हुए चषक का उल्लेख किया है (हर्ष० पृ० २५८)। मुक्ताशैल का तात्पर्य श्वेत रंग के हकीक पत्थर से ज्ञात होता है। प्रायः उसके शिवलिंग आज भी बनाए जाते हैं और उनकी आभा मुक्ताशुक्ति जैसी होती है।

(१३३)

चन्द्रापीड़ ने शिव के दाहिने मुख[१] के सामने ब्रह्मासन (ध्यानासन) में बैठी हुई दिव्य आकृतिमयी एक कन्या को देखा। उसकी देहकान्ति से धवलित वह प्रदेश ऐसा लगता था मानों हाथीं दाँत से रचा गया हो। अति दीर्घकाल से संचित उसकी तपोराशि ही मानों चारों ओर फैली हुई थी, या स्वर्ग गंगा का प्रवाह वृक्षों के बीच से बहता हुआ उस प्रदेश को भर रहा था। वह अपनी श्वेत कांति से कैलास को भी भिन्न प्रकार की धवलता प्रदान कर रही थी। देह के चारों ओर उज्ज्वल प्रभा के वितान से ज्ञात होता था मानों वह स्फटिक गृह में बैठी थी, या क्षीर समुद्र में स्नान करके आई थी, या झीने श्वेतांशुक से ढकी हुई थी। पंच महाभूतों की द्रव्यात्मक सामग्री छोड़कर जैसे केवल धवल गुण से ही विधाता ने उसे रचा था। शिव की आराधना करती हुई वह रति के समान जान पड़ती थी जिसने कामदेव के शरीर को पुनः प्राप्त करने की अभिलाषा से शिव को प्रसन्न करने का व्रत लिया था। उद्धत गणों के उत्पात से डरकर दक्ष की अध्वर क्रिया ही मानों शिव की शरण में आ गई थी। वह क्षीर समुद्र की लक्ष्मी के समान जान पड़ती थी जो सहोदरा चंद्रलेखा के दर्शन की उत्कंठा से वहाँ आई थी; अथवा उस चंद्रमूर्ति के समान थी जो राहु से भयभीत होकर शिव की शरण में आ गई थी; या इन्द्र के श्वेत ऐरावत की शरीर कान्ति के समान थी जो शिव की गजचर्म ओढ़ने की चिन्ता को मिटाने के लिये वहाँ विद्यमान थी; या भगवान पशुपति के दक्षिण मुख से निकले हुए मन्द स्मित की शोभा-राशि संचित हो गई थी। उसके स्वरूप में शिव की विभूति मानों शरीरिणी बन गई थी; अथवा शिव-कंठ की नीलिमा मिटाने के लिए चन्द्रज्योत्स्ना ही प्रकट हुई थी; या पार्वती के मन की शुद्धि ने ही प्रत्यक्ष रूप ग्रहण किया था; या कार्तिकेय के अखंड ब्रह्मचर्य व्रत की मूर्तिमयी साधना थी; अथवा शिव के कैलास-धवल वृष की देह कान्ति ही पृथक् दर्शन दे रही थी; या उस सिद्धायतन के पुष्पों की समृद्धि शिवार्चन के लिये स्वयं उठकर चली आई थी; अथवा ब्रह्मलोक से ब्रह्मा की तपः सिद्धि पृथिवी पर उतर आई थी; अथवा स्वयंभू प्रजापति की यशोराशि सातों लोकों में घूमने से थककर वहाँ स्थित हो गई थी; अथवा कलियुग में धर्म का ह्रास देखकर त्रयी विद्या ने बनवास ले लिया था; या आनेवाले सतयुग की बीजकला स्त्री रूप में विराजमान थी; या मुनियों की ध्यानसंपदा देह धारण किए हुए थी। रावण द्वारा रजताद्रि कैलास के उन्मूलन से क्षुब्ध मानों उसकी लक्ष्मी वहाँ गई थी; या श्वेत द्वीप की लक्ष्मी और द्वीपों को देखने की इच्छा से वहाँ चली आई थी; या शुक्ल पक्ष के दिन दिन बढ़ते हुए प्रकाश की राशि

१—चतुर्मुखी शिवमूर्तियों में दक्षिणमुख उमा का बनाया जाता था, जैसा ऐलीफेंटा की प्रधान शिवमूर्ति के दक्षिण भाग वाले मुख की आकृति में स्पष्ट है (देखिये श्री जितेन्द्र नाथ बनर्जी, हिन्दू प्रतिमाशास्त्र का विकास, पृ० ४७६, फलक ४०, चित्र १; एन्शेन्ट इंडिया संख्या २, फलक ७)। महाश्वेता उसी उमा मुख के सामने ध्यान में लीन थी।

एकत्र दिखाई पड़ रही थी; या मानों सब हंसों ने अपनी धवलता उसे बाँट दी थी; या उसने धर्म के हृदय से जन्म लिया था; या शंख को उकेर कर निर्मित हुई थी; या मुक्ताफलों से उनकी प्रभा को किसी ने अलग निकाल लिया था। उसकी धवलिमा देखकर ऐसा लगता था मानों उसके अवयव मृणालखंडों से या हाथी दाँत के श्वेत दलों से रचे गए थे; या चंद्ररश्मियों की तूलिका से प्रक्षालित किए गए थे; या वर्णसुधा की छटाओं का पोत उनपर दिया गया था; या अमृत के फेन-समूह से उन्हें श्वेत किया गया था; या पारद की रस धाराओं से धोया गया था, या चाँदी के द्रव से ओप दिया गया था। वह ऐसी कमनीय थी जैसे साक्षात् चंद्रमंडल से ही उत्कीर्ण की गई हो; या कुटज, कुंद और सिंधुवार के श्वेत पुष्पों की शोभा उसके रूप में हुलस रही हो। उसकी देहप्रभा धवलता की परम अवधि ही जान पड़ती थी।

उसके सिर पर शोभायमान जटाएँ कंधों तक लटक रही थीं। वे चमचमाती हुई बिजली के समान ताम्रवर्ण थीं। तत्काल स्नान करने के कारण उनमें पानी की बूँदें कहीं कहीं दिखाई दे रही थीं, मानों पशुपति के चरणों में प्रणाम करने से उनकी विभूति लग गई हो। उसके शिर पर जटाओं में शिव की मणिमय पादुकाएँ थीं जो 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र से अंकित थीं। ललाट पर भस्म लेखाएँ विरचित थीं। अतुलित भक्ति से नेत्रों को एकटक किए वह भगवान् शिव की ओर देख रही थी मानों श्वेत कमलों की दूसरी माला अर्पित कर रही हो। निरंतर स्तुति गान करते हुए उसके दाँतों की श्वेत रश्मियाँ मानों शिव को पुनः स्नान करा रही थीं। उसके कंठ में स्थूल मुक्ताफलों की माला थी जो मानों वेदों के निर्मल अर्थ या साक्षात् ब्रह्मा के मुख से निकली हुई गायत्री के अक्षरों को गूँथ कर बनाई गई थी; अथवा भगवान् विष्णु के नाभिकमल के बीजों से पोही गई थी; या उसके हाथ के स्पर्श से पवित्र होने के लिये मानों सप्तर्षि ही नक्षत्रों का रूप रखकर उस माला में आ गए थे।

अपने मुख के चारों ओर छिटकते हुए प्रभामंडल से वह उस पौर्णमासी रात्रि के समान जान पड़ती थी जिसमें चंद्रमा कुंडली के बीच में बैठा हो।[1] उसके दोनों स्तनों की शोभा ऐसी थी मानों मोक्षपुरी के द्वार के पार्श्व भाग में दो पूर्ण कलश स्थापित हों, या आकाश गंगा में हंस युगल सुशोभित हों। कल्पलता दुकूल के उत्तरीय को उसने स्तनों के

१—परिवेश परिगत चंद्रमंडलामिव पौर्णमासीनिशाम्—इसी प्रकार की कल्पना पद्मावती के विषय में यह है—चाँद सँपूरन जनु होई तपी। पारस रूप दरस दै छपी॥ (पदमावत-५७१।६), पद्मावती की झाँकी ऐसी थी मानों संपूर्ण चंद्रमा तपस्वी के रूप में पारस या तेजमंडल के बीच में अपने रूप का दर्शन देकर छिप गया हो। पारस=वह तेजोमय वृत्त या मंडल जो चंद्रमा के चारों ओर कभी दिखाई देता है। यही संस्कृत परिवेश है। चंद्रमंडल=महाश्वेता का मुख; पूनों की रात=शरीर की श्वेत प्रभा।

बीच में गाती (गात्रिकागंथि) के रूप में बाँध रक्खा था।[१] उसके शरीर पर पवित्र यज्ञोपवीत सुशोभित था मानों भगवान् शिव से प्रसाद रूप में प्राप्त उनके शिरः स्थित चंद्रमा का रश्मिजाल हो।[२] उसके मध्यभाग का श्वेत दुकूल पद्मासन में ऊपर आए हुए तलवों की ललाई से कुछ लाल हो रहा था। समय से आया हुआ यौवन किसी निर्विकार सुविनीत शिष्य की भाँति उसकी सेवा में निरत था। उसका लावण्य किसी पुण्यात्मा के स्वच्छ मन के समान था और उसका नयनाभिराम रूप उस सिद्धायतन के चपलताहीन आश्रम मृग सा जान पड़ता था। वह अपने दाहिने हाथ से हाथी दाँत की बनी हुई बीणा बजा रही थी। अंगुलियों में शंख की छोटी मुद्रिकाएँ थीं और हाथ के मणिबंध में शंख खंड[3] बँधा हुआ था। वह मूर्तिमती गंधर्व विद्या के समान थी। मंडपिका के मणि स्तंभों में पड़ती हुई उसकी छायामूर्ति ऐसी लगती थी मानों बीणा बजाती हुई आत्मानुरूप सहचरी सखियाँ हों मुक्ताशैल निर्मित शिवलिंग का अभिषेक कराते समय उसका जो प्रतिबिम्ब पड़ा था मानों भक्ति से प्रसन्न होकर शिव ने उसे अपने हृदय में स्थान दिया था। वह बीणा पर शिव के लिए ध्रुवा गीति का गान कर रही थी। उस गीति में अनेक भावनाएँ भरी हुई थीं, वह ताल समन्वित थी, उसमें मन्द और तार स्वरों का उतार चढ़ाव था, उसके वर्णों में राग था और वह आलाप (कंठ योग) से युक्त थी[४]। उसके अतिमधुर गीत स्वर से

१—स्तनयुगलमध्यनिबद्धग्रंथिना कल्पतरुलतावल्कलेन कृतोत्तरीयकृत्याम्—यहाँ उसी प्रकार की स्वस्तिकाकार बाँधी हुई गाती से तात्पर्य है जैसा हर्षचरित में सावित्री के वर्णन में कहा गया है—उन्नत स्तन मध्य बद्ध गात्रिकाग्रंथिः। गाती के लिये देखिए—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, फलक १, चित्र संख्या ३ तथा ३ अ।

२—हर्षचरित में इसी प्रकार सरस्वती को 'ब्रह्मसूत्रेण पवित्री कृत कायां' कहा गया है। वस्तुतः कादंबरी के अध्यात्म स्वरूप में महाश्वेता सर्व शुक्ला सरस्वती की प्रतीक है। हारीत के अनुसार स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। ब्रह्मवादिनीके लिये उपनयन, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और स्वगृह में भैक्षचर्या विहित है।

३—महाश्वेता को पाशुपतव्रत धारिणी के रूप में चित्रित किया गया है। हर्षचरित में पाशुपत भैरवाचार्य के हस्त प्रकोष्ठ को भी शंखखंड से अलंकृत कहा है।

४—प्राप्त कंठ योगया—भानुचंद्र के अनुसार कंठयोग रागों के अवस्थान विशेष की संज्ञा थी।

ध्रुवाप्रतिबद्धा गीति—ध्रुवा एक विशिष्ट प्रकार की गीति होती थी। ध्रुवा गीति के पाँच भेद थे—प्रावेशिकी, नैष्क्रमिकी, आक्षेपकी, आन्तरा, प्रासादिकी। ये गीतियाँ वर्ण्य वस्तु को प्रतीक या अन्योक्ति द्वारा प्रकट करती थी। ध्रुवा गीतियाँ प्रायः प्राकृत भाषा में होती थीं। हर्षचरित में भी सरस्वती के द्वारा शिवपूजन के समय ध्रुवागीति के गान का उल्लेख है। (हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २२४)।

मीमांसयेवानेकभावनानु विद्धया—मीमांसा पक्ष में भावना पारिभाषिक शब्द है,

आकृष्ट वन्य पशु चारों ओर एक टक बैठे हुए मानों ध्यानलीन होकर वीणा का घोष सुन रहे थे। वह आकाश से पृथिवी पर उतरी हुई स्वर्ग की गंगा के समान थी, या यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति की संस्कारवती वाणी के सदृश पवित्र थी।[1] वह मानों शंकर की तेजोमयी बाण-शलाका थी और अमृत का पान करके सब तृष्णाओं से अतीत हो चुकी थी। उसका राग शान्त हो चुका था और अन्तःकरण प्रसन्न था। वह सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ गई थी,[2] और चित्रलिखित की भाँति निश्चल मुद्रा में बैठी हुई थी। मुनिजनोचित दण्ड कमण्डलु आदि सामग्री उसके सामने रखी हुई थी। अन्तःकरण और इन्द्रियों को सब भाँति वश में करके वह केवल जल के आहार से शरीर रक्षा कर रही थी। उसकी देह के चारों ओर प्रभावली प्रकाशित थी, मानों वह सीता के समान ज्योतिर्मंडल में लीन हो गई थी। अपने दिव्यरूप से वह काल के चिह्नों को जीत चुकी थी, फिर भी उसकी आयु अठारह वर्ष के लगभग ज्ञात होती थी। ममता, अहंकार, मत्सर आदि को वश में करके वह पाशुव्रत का पालन कर रही थी।

(१३४)

तब घोड़े से उतर कर चंद्रापीड़ ने उसे वृक्ष की छाया में बाँध दिया। आगे बढ़कर पहले उसने भगवान् शिव को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया एवं फिर उसी दिव्य रूप को देखने लगा। उसकी रूप-संपत्ति, प्रभा और शान्ति से विस्मित होकर वह सोचने लगा--'अहो संसार में अतर्कित कितने ही विषय अनुभव में आ जाते हैं। मृगया के प्रसंग से व्यर्थ ही किन्नर मिथुन का पीछा करते हुए मैं इस दिव्य प्रदेश में आ पहुँचा जहाँ मानवों का प्रवेश नहीं है। यहाँ जल की खोज में यह दिव्य सरोवर मुझे दिखाई पड़ा। उसके तीर पर विश्राम करते हुए पहले मुझे वह दिव्य गीत सुनाई पड़ा और फिर उसी का अनुसरण करते हुए यह दिव्य कन्या दिखाई दी।

इसकी आकृति ही इसकी अमानुषता का अनुमान कराती है और फिर इस प्रकार का मधुर संगीत कहाँ संभव है? यदि यह दृष्टिपथ से ओझल न हो गई, या कैलास

आर्थी और शाब्दी दो प्रकार की भावना होती है। लौगाक्षिभास्कर के अनुसार भावना व्यक्ति की वह सचेष्ट क्रिया शक्ति है जिसके द्वारा वह वस्तु की सिद्धि प्राप्त करता है (भवितुर्भवनानुकूलो भावयितु र्व्यापार विशेषः भावना)।

१--दीक्षितवाचमिव अप्राकृतम्--दीक्षित व्यक्ति के लिये यज्ञभूमि में संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत भाषा विहित न थी।

२--असमस्तपदवृत्तिमिव अद्वन्दाम्--यहाँ श्लेष से उस गद्यशैली की ओर संकेत किया गया है जिसमें समास न हों। अल्प समासयुक्त शैली चूर्णक दीर्घ समासों वाली उत्कलिका और समास रहित आविद्ध कहलाती थी।

के शिखर पर चली गई, तो मैं इससे पूछूँगा—'तुम कौन हो? तुम्हारा क्या नाम है? प्रथम यौवन में यह व्रत क्यों साध रही हो? यह सब देखकर मैं आश्चर्यचकित हुआ हूँ।' यह सोचकर वह स्फटिक मण्डपिका के एक स्तम्भ के सहारे बैठ गया और गीति-समाप्ति की प्रतीक्षा करने लगा।

(१३५)

गीत के अन्त में वीणा की ध्वनि शान्त होने पर उस कन्या ने पहले शिव की प्रदक्षिणा करके उन्हें प्रणाम किया। फिर चन्द्रापीड़ की ओर घूमकर वह उनसे कहने लगी, मानों तीर्थ जल से उन्हें स्नान कराकर और तपोबल से अधिक पवित्र कर रही थी—'हे महाभाग अतिथि! आपका स्वागत है। आप कैसे इस स्थान में आ निकले? आइए, आतिथ्य ग्रहण कीजिए।' उसके इतना कहने पर चन्द्रापीड़ ने अपने को धन्य माना और उठकर भक्ति से उसे प्रणाम किया। 'आपकी जो आज्ञा' यह कह कर विनीत शिष्य की भाँति उसके पीछे पीछे हो लिया और सोचने लगा[1]—'अहो, यह मुझे देखकर अदृश्य नहीं हो गई, अतएव मेरे मन में प्रश्न पूछने का कुतूहल हो रहा है। जैसे इसमें तपस्वियों के लिये भी दुर्लभ रूप-सौन्दर्य है वैसे ही इसका व्यवहार भी दाक्षिण्य और आभिजात्य से युक्त दिखाई पड़ता है, अतएव मैं समझता हूँ कि प्रार्थना करने पर अवश्य यह अपना वृत्तान्त मुझसे कहेगी।'

यह सोचकर वह लगभग सौ पैर ही गया होगा कि उसने वृक्षों की झुरमुट में एक गुफा देखी। उसके सामने तमाल वृक्ष लगे थे, चारों ओर निकुञ्ज-लताओं के खिले हुए फूलों पर भौंरे गुंजार रहे थे। धवल शिलाओं पर ऊँचे से झरते हुए झरने जो नुकीली चट्टानों की कोरसे कई भागों में फटकर कलकल शब्द कर रहे थे और बर्फीले जल की शीतल फुहारों से चारों ओर कुहरा जैसा फैला रहे थे। गुफा के दोनों ओर दो छोटी श्वेत जलधाराएँ उतर रही थीं जैसे द्वार पर दो चौरियाँ लटकाई गई हों। गुफा के भीतर मणि कमंडलु रक्खे थे। एक ओर योगपट्टिका[2] टँगी हुई थी। बैसाखी के सिरे पर नारियल की जटाओं की धुली हुई चप्पलों का जोड़ा लटका हुआ था[3]। एक ओर भस्म से धूसरित वल्कल का शयनीय

१—समर्थयामास=हेतु और युक्ति से निश्चय करने लगा। विराटपर्व ४।१८ में इसी अर्थ में समर्थना शब्द का प्रयोग हुआ है। सम्प्रधारणा तु समर्थनम्—अमरकोश २।८।२६

२—विशाखिकाशिखरनिबद्धनालिकेरीफलवल्कलमयधौतोपानद्युगोपेताम् — यहाँ बाण ने पाशुपत संप्रदाय के साधुओं के वेश का यथार्थ चित्र खींचा है। हर्षचरित में भैरवाचार्य के शिष्य और स्वयं भैरवाचार्य के वेष का वर्णन करते हुए योगपट्ट, गाती, भिक्षा कपाल, कमंडलु, विशाखिकादंड, धौत पादुका युगल का उल्लेख आया है (हर्ष चरित पृ० १०१, १०४; हर्ष चरित, सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ५७, चित्र ३०)

३—सावित्री के वेष-वर्णन में भी योगपट्ट का उल्लेख आया है। योगपट्टक वह वस्त्र था जिसे योगी शरीर का ऊपरी भाग ढकने के लिये रखते थे (देखिए हर्षचरित सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १५)।

बिछा था। दूसरी ओर शंख का बना हुआ गोल भिक्षापात्र रक्खा था मानों चंद्रमा के गोले को टाँकी से गहरा करके बनाया गया हो। पास ही भस्म भरी हुई तूँबी रखी हुई थी। चंद्रापीड़ गुफा के द्वार के पास की शिला पर बैठ गया। कन्या ने भीतर जाकर वल्कल शयन के सिरहाने वीणा रख दी और फिर उसके लिये पत्तल के दोने में निर्झर का अर्घजल ले आई। चंद्रापीड़ ने उससे कहा—'कृपया अतिकष्ट न करें, इस प्रकार की कृपा ही पर्याप्त हुई। हे भगवती, कृपाकर यह अतिशय आदर रहने दें। आपका तो दर्शन ही सब पापों को शांत करनेवाला एवं अघमर्षण मंत्र के समान पवित्र करने के लिये पर्याप्त है। कृपया बैठिए।' फिर उसके आग्रह करने पर चंद्रापीड़ ने विनयपूर्वक सिर झुकाकर वह सब आतिथ्य स्वीकार किया।

(१३६)

आतिथ्य करने के बाद वह स्वयं भी दूसरी शिला पर बैठ गई और क्षण भर चुप रह कर उसने चंद्रापीड़ से उसका परिचय पूछा। उत्तर में कुमार ने दिग्विजय से लेकर किन्नर-मिथुन का पीछा करते हुए अपने वहाँ आने तक का सब हाल कहा। उसे सुनकर वह उठी और भिक्षा पात्र लेकर आश्रम वृक्षों के नीचे फिर आई। वृक्षों ने स्वयं फल टपकाकर तत्काल उसका भिक्षापात्र भर दिया। लौटकर उसने चंद्रापीड़ से खाने के लिये कहा। वह सोचने लगा—'तप के लिये कुछ भी कठिन नहीं है। इससे बढ़कर और क्या अचरज होगा कि ये जड़ वृक्ष सचेतन की भाँति फल देकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं? ऐसा अचरज मैंने पहले नहीं देखा।' इस प्रकार आश्चर्य से भरकर वह उठा और इंद्रायुध को वहीं ले आया और साज खोलकर उसे पास में ही बाँध दिया। स्वयं निर्झर के जल में स्नान करके स्वादिष्ट फल खाकर जल पिया और आचमन करके एकांत में बैठकर प्रतीक्षा करने लगा। इसी बीच में उस कन्या ने भी फलमूल और जल से आहार किया।

(१३७)

जब वह आहार एवं संध्याकाल की अन्य क्रियाओं से निवृत्त हो चुकी तब शिला तल पर शांतिपूर्वक बैठ गई। चंद्रापीड़ ने पास जाकर एवं निकट बैठकर कुछ देर बाद विनय पूर्वक कहा—'हे भगवती, आपने जो प्रसन्नता प्रकट की है उससे उत्साहित होकर मुझे कुछ पूछने का कुतूहल हुआ है। प्रभु की थोड़ी कृपा से ही अधीर स्वभाव का व्यक्ति प्रगल्भ हो जाता है। थोड़ा देर का साथ भी परिचय बढ़ा देता है। स्वल्प भी शिष्टाचारपूर्ण व्यवहार का अनुभव करके स्नेहपूर्वक कुछ पूछने का मन हो उठता है। यदि अतिकष्ट न हो तो कृपाकर अपना हाल कहकर मुझे अनुगृहीत करें। आपके दर्शन के बाद से ही मुझे इस विषय में उत्कंठा हुई है। देवता, ऋषि, गंधर्व, यक्ष, अप्सरा—इनमें आपका जन्म किस कुल में हुआ है? क्यों इस फूल से सुकुमार अभिनव वय में यह व्रत लिया है? कहाँ यह आयु, कहाँ यह आकृति, कहाँ यह अतिशय लावण्य, और कहाँ यह इंद्रियों

का संयम ? मुझे एक से एक अधिक आश्चर्य लग रहा है। किस कारण से सिद्ध साध्यों से भरे हुए अनेक दिव्याश्रमों को छोड़कर इस वन में अकेली रह रही हो ? इसमें क्या हेतु है कि सर्वसाधारण के जैसे पंच महाभूतों से निर्मित शरीर में ऐसी धवलता है ? मैंने पहले यह नहीं देखा सुना। कृपाकर मेरे कौतुक के निराकरण के लिये सब वृत्तांत कहें।' मेरे इतना पूछने पर वह मन के भीतर कुछ सोचने लगी। थोड़ी देर चुप रहकर वह गहरी साँसें छोड़ते हुए मानों हृदय की शुद्धि को बाहर उँड़ेल कर और नेत्रों की धवलिमा को जैसे जलरूप में परिणत करके मोटे मोटे आँसू बहाकर चुपचाप रोने लगी।

(१३८)

उसे रोती हुई देखकर चंद्रापीड़ उसी क्षण सोचने लगा—'आह ! दुखों का होना भी कैसा अमिट है जो इस प्रकार की पीड़ा के अयोग्य आकृति को भी वे अपने वश में कर लेते हैं ? ऐसा नहीं है कि दुख किसी शरीरधारी को भी बिल्कुल अछूता छोड़ दें। सुख-दुख आदि द्वन्दों की प्रवृत्ति बड़ी हठीली है। इसके रोने से मेरे मन में और भी अधिक कुतूहल उठ खड़ा हुआ है। इसके शोक के पीछे कोई भारी कारण होना चाहिए।' उसके शोक को हरा करने में अपने आपको ही कारण मानकर चंद्रापीड़ ने अपराधी की भाँति उठकर अंजलि में झरने का जल लेकर उसे मुख प्रक्षालन के लिये दिया। उसका अनुरोध मानकर उस कन्या ने रोने से लाल हुए अपने नेत्रों को जल से धोया और वल्कल से मुँह पोंछकर लंबी गरम साँसें लेते हुए धीरे से बोली—'राजपुत्र, निष्ठुरहृदया अभागिनी मुझ पापिनी के जन्म से लेकर आजतक के वैराग्यजनक वृत्तान्त को सुनकर आप क्या करेंगे ? यह सुनने योग्य नहीं है तो भी यदि आप बहुत उत्सुक हैं तो कहती हूँ, सुनिए।

[१३९]

मंगलाभिलाषी आपने संभवतः यह सुना ही होगा कि स्वर्ग में अप्सरा नाम की कन्याएँ हैं। उनके चौदह कुल हैं—उनमें से एक ब्रह्मा से, एक वेदों से, एक अग्नि से, एक वायु से, एक अमृत से, एक जल से, एक सूर्य रश्मियों से, एक चन्द्ररश्मियों से, एक भूमि से, एक विद्युत से, एक मृत्यु से और एक कामदेव से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार ये बारह कुल हुए। दक्ष प्रजापति की अनेक पुत्रियों में मुनि और अरिष्टा नाम की दो कन्याएँ थीं। उनका गंधर्वों के साथ विवाह होने से दो कुल और उत्पन्न हुए। यों सब मिलाकर चौदह कुल हुए। गन्धर्वों के द्वारा उत्पन्न उन दो कुलों में से मुनि की सन्तति में चित्रसेन आदि पन्द्रह भाइयों के अतिरिक्त सोलहवाँ चित्ररथ गन्धर्व हुआ। उसका पराक्रम तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गया और इंद्र ने उसे अपना सुहृत् मानकर उसके प्रभाव को और भी अधिक बढ़ाया। तब वह बालपन में ही सब गन्धर्वों का राजा नियुक्त हुआ। यहाँ से कुछ ही दूर पर भारतवर्ष के उत्तर में किम्पुरुष नामक वर्ष के अन्तर्गत हेमकूट नाम का जो वर्ष पर्वत है वही उस चित्ररथ की निवास भूमि है। वहाँ उसकी रक्षा में अनेक

गन्धर्व रहते थे। उसने ही चैत्ररथ नामक यह सुंदर वन और अच्छेद नामक महासरोवर बनवाया है। यहाँ भगवान्-शिव की प्रतिष्ठा भी उसी ने कराई है।

अरिष्टा की सन्तति में तुम्बुरु आदि छह पुत्र हुए। उन सगे भाइयों में सबसे बड़ा हंस था। जिसका राज्याभिषेक दूसरे गंधर्व कुल में गंधर्वराज चित्ररथ ने स्वयं अपने हाथ से किया और यों वह भी बालपन में राजपद का अधिकारी हुआ। अनेक गन्धर्वों के साथ वह उसी पर्वत पर रहता है। चंद्रमा की किरणों से उत्पन्न जो अप्सराओं का कुल था उसमें मानों चंद्रमा के संपूर्ण विगलित लावण्य से निर्मित त्रिलोकी के नेत्रों को सुख देने वाली गौरी नाम की गौर वर्ण की कन्या उत्पन्न हुई। दूसरे गन्धर्व कुल के अधिपति हंस ने उसे अपनी प्रियकारिणी पत्नी बनाया। वह भी हंस के साथ समागम से अतीव प्रसन्न हुई और उसके समस्त अंतःपुर की स्वामिनी बनी।

[१४०]

ऐसे उन महात्मा माता-पिता के यहाँ पुत्री रूप में मैंने जन्म लिया। सब लक्षणों से हीन मैं अनेक दुःख उठाने के लिए और उन्हें शोक पहुँचाने के लिये ही जन्मी। पिता के और कोई सन्तान न थी, अतएव उन्होंने पुत्र जन्म से भी बढ़कर मेरा जन्म महोत्सव मनाया और दसवें दिन 'महाश्वेता' यह योग्य नाम रखा। मधुर स्वर से कूजने वाली वीणा की भाँति मैंने अपने पितृ भवन में गन्धर्वों के मध्य एक की गोद से दूसरे की गोद में सुख का अनुभव करते हुए बालापन व्यतीत किया। जैसे वसन्त में मधुमास, मधुमास में नव पल्लव, नव पल्लवों में कुसुम, कुसुमों में मधुकर और मधुकरों में मद की शोभा प्रकट हो जाती है, ऐसे ही मेरे शरीर में नवयौवन ने क्रमशः पदार्पण किया।

[१४१]

एक बार जब वन में वसन्त की शोभा छाई हुई थी, मैं अपनी माता के साथ अच्छोद सरोवर में स्नान के लिये आई। नये कमलों के वन खिल रहे थे। नई आम्रमंजरी कामियों के मन में गुदगुदी उत्पन्न कर रही थी। वसंत का मन्द मलयानिल कामदेव की ध्वजा फहरा रहा था। मौलश्री के वृक्ष खिलने के लिए पुलकित हो उठे थे। कालेय चन्दन के पुष्पों की कलियों पर भौंरों के समूह चिमट रहे थे। अशोक का दोहद पूर्ण करने वाली रमणियाँ उन वृक्षों के नीचे अपने नूपुर झंकार रही थीं। सहकार वृक्षों के खिलते हुए मुकुलों पर भौंरे गुंजार रहे थे। फूलों का पराग पुलिनों पर बिछ गया था। मधुपान से मत्त भौंरे लताओं के हिंडोलों में झूम रहे थे। लवली के नये पल्लवों में छिपी हुई मत्त कोकिलें उनके मधुबिन्दु बाहर बिथुरा रही थीं। पलाश वृक्षों के गिरे हुए पुष्पों को देखकर ज्ञात होता था मानों प्रोषितपतिका नारियों के जीवन का अपहरण करके कामदेव ने अपनी टंकार से उनके पतियों के हृदय विदीर्ण कर उनका रक्त टपकाया था।

निरन्तर उड़ते हुए तोतों के पंख फड़फड़ाने से दिशाएँ बहिरी हुई जा रही थीं।[1] चारों ओर फैली हुई मधुमास की शोभा सबके हृदयों में आनन्द भर रही थी।

मैं सखियों के साथ घूम-घूमकर वसंत की छवि देखने लगी। कभी स्नान के लिये आई हुई पार्वती द्वारा सरोवर की तट-शिलाओं पर लिखे हुए शिव के चित्रों की वंदना करती। कभी फूलों से बिछे हुए धरातलयुक्त लतामंडपों को देखती। कभी कोयल के नख की कोर से विदीर्ण कुड्मल वाली एवं मधुधार बहाते हुए सहकार वृक्ष की मंजरी का दर्शन करती। कभी नाचते हुए मोरों से सुशोभित शीतल चंदनवीथी का आनंद लेती। कभी लताओं के उन झूलों को देखती जहाँ वन देवियों ने हिंडोले डालकर खिले पुष्पकुंजों को नीचे गिरा दिया था। कभी सरवर तीर पर बिछे हुए पुष्पों के परागपटल पर अंकित कलहंसों के पैरों की छाप का आनन्द लेती।

(१४२)

वहाँ तत्काल एक प्रदेश में अद्भुत पुष्प-सुगंधि मेरे सूँघने में आई। वैसी गंध मैंने कभी पहले न सूँघी थी। यद्यपि वन में अनेक पुष्प महमहा रहे थे पर उसने सबकी गंध को जीत लिया। वह सुगंधि किसी दिव्य लोक से आई हुई जान पड़ती थी। वह कहाँ से आ रही है, यह जानने के कुतूहल से मैं आँख मूँदे हुए उस गंध से भौंरी की भाँति खिंची हुई कुछ ही दूर गई थी कि मैंने स्नान के लिये वहाँ आए हुए एक अति तेजस्वी मुनि कुमार को देखा। वे ऐसे जान पड़े जैसे शिव द्वारा भस्म किए हुए कामदेव का मित्र वसंत तपस्या कर रहा हो, या शिव का चंद्रमा संपूर्णता प्राप्त करने के लिये स्वयं नियम साध रहा हो। उसके शरीर का तेज दूर तक चमकता हुआ उस प्रदेश को जैसे सुवर्णमय बना रहा था। उसके सिर पर सुकुमार पिंगल जटाएँ थीं और माथे पर भस्म लगी हुई थी। दोनों भ्रूलताएँ भवन तोरण के समान टेढ़ी थीं। लोचन बड़े बड़े थे। नासावंश लंबा और ऊँचा था। लटकता हुआ अधर लाल था मानों नवयौवन ने हृदय में प्रवेश न पाकर अपने राग से बाहर

१—अविरतपतत्कुसुमशरपतत्रिपत्रसूत्कारबधिरीकृतदिङ्मुखेषु—बाण का यह वाक्य क्लिष्ट है जिसके अर्थ के विषय में टीकाकारों में मतभेद है। करमारकर—काम के बाणों (अरविन्द, अशोक, सहकार, नवमल्लिका, नीलोत्पल) के पत्तों के गिरने का शब्द दिशाओं में भर रहा था। कले-काम के बाणों का शब्द दिशाओं को बधिर बना रहा था। हमने जो ऊपर अर्थ दिया है वही अधिक संगत है। पतत् = उड़ते हुए। कुसुमशर = काम। पतत्रि= पक्षी। काम का पक्षी शुक है, जो उसका वाहन है। सूत्कार=फड़फड़ाहट का शब्द। कवि का आशय यह है कि वृक्षों की पत्तियों में छिपे हुए तोते निरन्तर उड़ते हुए पंखों के शब्द से दिशाओं में शोर कर रहे थे।

का अधर ही रँग दिया हो।[1] मुख पर अभी मसों का भीनना आरंभ न हुआ था।[2] वक्षःस्थल पर यज्ञोपवीत की शोभा अनंग धनुष की प्रत्यंचा के समान या तपः सरोवर की कमलिनी के मृणाल की भाँति जान पड़ती थी। वह एक हाथ में कमंडलु[3] और दूसरे में स्फटिक की अक्षमाला लिये हुए था। नाभि मुद्रा ऐसी थी मानों विद्यारूपी नदियों के संगम पर भँवर पड़ रहा हो। उदर की सूक्ष्म रोमावली ऐसी थी मानों अंतर्ज्ञान से बाहर निकला हुआ मोहांधकार अपने पैरों की छाप छोड़ गया हो।[4] कटि प्रदेश में मूंज की मेखला बँधी हुई थी और शरीर पर मंदार का दुकूल वल्कल था। उसके साथ समवयस्क एक दूसरा तापस कुमार देवार्चन के लिये पुष्प चुनता हुआ आ रहा था।

(१४३)

उसके ही कानों में यह अपूर्व कुसुम मंजरी मुझे दिखाई पड़ी। उसकी शोभा ऐसी थी मानों वसंत दर्शन से आनंदित वनलक्ष्मी की मंद हँसी हो, या मलयानिल के स्वागत में मधुमास ने लाजाञ्जलि छितराई हो, या पुष्पलक्ष्मी तरुणाई में आकर क्रीड़ा कर रही हो। इसी के परिमल ने और पुष्पों की गंध को फीका कर दिया है—यह सोचकर मैं उस तपोधन युवा मुनिकुमार को देखती हुई विचारने लगी—अहो, ब्रह्मा के पास भी सौंदर्य के निर्माण की सामग्री का कैसा अथाह कोष है जो त्रिभुवन में अद्भुत रूपराशि भगवान् कामदेव को रचने के बाद वैसा ही फिर यह दूसरा मुनिरूपी कामदेव बना डाला। ज्ञात

१—पाटलीकृताधर रुचकम्—शिशु चंद्रापीड के वर्णन में अधर रुचक का उल्लेख ऊपर आया है, वहीं उसकी व्याख्या की गई है (अनु० ६५, पृ० ८२)। गुप्तकालीन पद्मप्राभृतकं नामक भाण में भी ओष्ठरुचक पद आया है (पद्म० पृ० ६)।

२—अनुद्भिन्नश्मश्रुत्वात्। भोजपुरी पाम्ही भीनना।

३—सनातन बकुल फलाकारं कमंडलु—लंबी गर्दन वाले और लंबोतरे चपटे कमंडलु की उपमा डंठलयुक्त मौलसिरी के फल से अत्यंत सटीक है। हर्षचरित में उसे पुंडरीक मुकुल के समान कहा गया है और कादंबरी में (अनु० ३४) उद्ग्रीव बलाका से उसकी तुलना की गई है।

४—अंजनरजोलेखाश्यामलांतनीयसी रोमराजिम्—अर्थात् रोमावली अंजन रज या काजल की धूलि की पतली रेखा की तरह श्यामल थी। यह उत्प्रेक्षा बारीक पिसे हुए कोयले की धूल से खाका झाड़कर बनाई हुई रेखाचित्र की पहली टिपाई से ली गई है। चित्र बनाने के लिये पत्ते या कागज में सुई से महीन-महीन छेद करके खाका बनाया जाता था और कोयले की गर्द छिड़ककर चित्र की काली रेखा बना ली जाती थी। इसे खाका झाड़ना कहते थे। इस प्रकार के बने हुए चित्र में फिर रंग भर दिए जाते थे। अनुच्छेद ६२ में भी काले रंग से चित्र की पहली टिपाई का उल्लेख आया है—(सकृदिवालिखितकृष्णागुरुपंक पत्रलतयोः)।

होता है कि चंद्रमा या लक्ष्मी के आवास भवन कमल को बनाने से पूर्व ब्रह्मा ने अभ्यास के लिये इसके मुँह का नमूना तैयार किया था, नहीं तो कई सदृश वस्तुएँ क्यों बनाता ? यह कहना मिथ्या है कि सूर्य अपनी सुषुम्णा नाम की रश्मि से कृष्ण पक्ष में चंद्रमा की सब कलाओं को पी लेता है क्योंकि वे कलाएँ तो निश्चय इसी के शरीर में आकर प्रविष्ट हुई हैं, अन्यथा इस तप के साथ इतना लावण्य कैसे संभव था ।' इस प्रकार मैं सोच रही थी कि नव यौवन में सुलभ कामदेव ने गुण दोष का विचार किए बिना मुझे पराए वश में कर डाला ।

(१४४)

गहरी साँस लेती हुई मैं पलक मारना भूलकर देर तक उसे एकटक देखती रह गई । मैं जैसे उससे कुछ माँग रही थी, जैसे कह रही थी कि तेरे वश हो चुकी हूँ, अपना हृदयही सन्मुख जैसे उसे दे रही थी, जैसे सर्वात्मा उसमें प्रविष्ट हो जाना चाहती थी, या जैसे कह रही थी कि काम की मारी मैं तुम्हारी शरण हूँ मुझे बचाओ । हा, कुलकुमारियों के लिये यह क्या अनुचित लज्जाजनक मैंने कर डाला—यह जानकर भी इंद्रियों पर मेरा वश न चलता था । उस समय जैसे मैं किसी महल के खंभे के समान विजड़ित हो गई थी (स्तम्भिता इव), या चित्रलिखित की भाँति हो गई थी (लिखिता इव), या शिल्प में उकेरी हुई मूर्ति की भाँति निश्चेष्ट (उत्कीर्णा[1] इव) बन गई थी । न जाने उस समय उसकी रूप संपदा ने, या मेरे मन ने या मनसिज ने या अभिनव यौवन ने या अनुराग ने — किसने मुझे क्या सिखा दिया था, कुछ कहा नहीं जाता । यद्यपि मेरा प्रयत्न शिथिल हो गया था तो भी किसी प्रकार मैं अपने आपको उस समय रोके रही । तब जैसे काम को भीतर अवकाश देने के लिये मैं लंबी साँसें छोड़ने लगी । मेरे कुच स्फुरित होकर मानों हृदय की अभिलाषा प्रकट करने लगे । मेरे शरीर में स्वेद हो आया मानों लज्जा को उसने धो बहाया । मेरी गात्रयष्टि काँपने लगी जैसे कामदेव ने अपने तीक्ष्ण बाणों का प्रहार किया हो । कितना सुंदर है, यह देखने के लिये मानों आलिंगन के लिये उत्सुक अंगों से रोमांच फूटकर बाहर आ गए । पैरों का आलता राग स्वेद जल से धुलकर मानों हृदय में जा पहुँचा । मैं सोचने लगी—'सब सुरत की बाधाओं से दूर इस शांत आत्मा के वश में मुझे फेंककर इस निगोड़े काम ने यह कैसा अनुचित किया । स्त्रियों का हृदय भी कैसा मूढ़ होता है कि वह प्रेम की योग्यता का विचार नहीं करता । कहाँ तेज और तप का यह अति-भास्वर धाम और कहाँ साधारण जनों को प्रिय काम की चेष्टाएँ ? अवश्य मुझे काम से इस प्रकार ठगी हुई जानकर यह मेरे ऊपर हँसता होगा । यही अचरज है कि सब कुछ जानती बूझती भी अपने विकार को रोक नहीं पा रही हूँ । और कन्याएँ लज्जा को परे रखकर स्वयं पतियों के पास गई हैं । औरों को भी इस दुर्विनीत काम ने उन्मादिनी बनाया है । पर मैं अकेली जैसी

१—बाण को ये उत्प्रेक्षाएँ अति प्रिय हैं, अनुच्छेद १०६, १५६, २६२ में भी ये आई हैं ।

हुई हूँ वैसी कोई न हुई होगी। कैसे क्षणमात्र में उसे देखते ही मेरा अंतःकरण ऐसा पराधीन बन गया? समय पाकर कामदेव बिल्कुल दुर्निवार्य बन जाता है। तो जब तक मेरे होश हवाश ठीक है या यह मुझे मेरी मदनावस्था को पहचान नहीं जाता, उससे पूर्व ही यहाँ से चले जाना ठीक है। ऐसा न हो कि मेरे काम विकार से रुष्ट होकर यह शाप दे डाले, क्योंकि मुनियों के स्वभाव में क्रोध पास ही रहता है। यहाँ निश्चय करके मैं वहाँ से हट जाने के लिये तैयार हुई। पर यह सोचकर कि मुनिजन सबके पूजनीय हैं मैंने भी उसे प्रणाम किया। मेरी दृष्टि उसके मुख की ओर आकृष्ट थी और बरौनियाँ एकटक थीं। दृष्टि भूतल की ओर प्रवृत्ति न थी। कर्ण पल्लव कपोलों से ऊपर की ओर खिंच गए थे और मणिकुंडल कंधे पर झूल आए थे।[1]

(१४६)

जब मैंने उसे प्रणाम किया तो भगवान् कामदेव के अलंघ्य शासन ने उस पर भी प्रभाव डाला और कामदेव ने उसका धैर्य खोकर मेरे मंद भाग्य से उसे भी चंचल बना डाला, क्योंकि यह सब होनहार होने को थी और इस प्रकार का क्लेश मेरे भाग्य में लिखा था। उसे भी रोमांच होकर उच्छ्वास की गति गंभीर हो गई, शरीर के काँपने से हाथ की अक्षमाला काँपने लगी, कान की कुसुम मंजरी के पास स्वेद बिंदुओं का जाल दिखाई देने लगा। मुझे देखने के लिये बार बार फैलाए हुए उसके नेत्रों के तारे ऐसे लगते थे मानों उस जगह श्वेत कमल बिखर गए हों। उसके उस विकार को देखकर मेरा मदनावेश दूना हो उठा और उस क्षण में न कहने योग्य किसी विचित्र अवस्था को प्राप्त हो गई और सोचने लगी—'सुरत समागम रूपी लास्य लीलाओं का उपदेश करने वाले नृत्याचार्य भगवान् कामदेव स्वयं ही सब चेष्टाएँ सिखा देते हैं, नहीं तो विविध रसों की असक्ति से युक्त ऐसे शृंगार भाव को बिल्कुल न जानने वाले इनमें कैसे इस प्रकार की दृष्टि उत्पन्न हो गई जो ऐसे रति रस की वृष्टि कर रही है और भौंहों को चंचल बना रही।[2] कहाँ

१—अंसदेशदोलापितमणिकुंडलं प्रणामं अकरवम्—यहाँ बाण ने महाश्वेता की दोलायमान अवस्था का चित्रण किया है। एक ओर वह प्रणाम करना चाहती थी दूसरी ओर आँख भरकर पुंडरीक का रूप देख लेना चाहती थी। प्रणाम के लिये सिर नीचे झुकना चाहिए था किंतु पृथिवी की ओर न देखना कर्णपल्लवों का कपोल छोड़कर कुछ ऊपर हो जाना कुसुमावतं का अलकों में जा उलझना ये तीन बातें उसकी रूप निहारने की चेष्टा सूचित करती हैं। अंत में उसे प्रणाम की मुद्रा में आना ही पड़ा जो मुद्रा असंदेश दोलायित मणिकुंडल इस पद से सूचित की गई है।

२—यहाँ बाण ने कामविकार से प्रेरित सात प्रकार की दृष्टियों का उल्लेख किया है—(१) रतिरस का निष्पंद करनेवाली, (२) अमृत का वर्षण करनेवाली, (३) मंद से मुकुलित (४) रतिखेद से अलस, (५) निद्रा से जड़, (६) अतिशय आनंद के कारण जिसमें पुतलियाँ उपर नीचे हो रही हो और (७) जिसमें भौंहें चंचल हो उठी हों।

से यह निपुणता प्राप्त हुई कि केवल नेत्र से ही हृदय की सारी अभिलाषा बिना कहे प्रकट कर दी।

[१४७]

अवसर पा मैंने आगे बढ़कर साथी मुनिकुमार को प्रणाम करके पूछा—'भगवन्, इन तपोधन युवक का क्या नाम है और ये किसके पुत्र हैं ? इनके कान की यह कुसुममंजरी किस वृक्ष की है ? इसकी अपूर्व सुगंधि से मेरे मन में बड़ा कुतूहल हो रहा है।' उसने कुछ हँसकर कहा—'ऐ बाला, इस प्रश्न से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? पर यदि कुतूहल है तो कहता हूँ सुनो।'

[१४८]

दिव्यलोक में भगवान् श्वेतकेतु नाम के महामुनि रहते थे उनका यश त्रिलोकी में प्रसिद्ध था और सुर असुर सिद्ध सब उनकी चरण वन्दना करते थे। वे अत्यंत रूपवान थे। एक बार वे देवार्चन के हेतु कमल पुष्प लेने के लिये मंदाकिनी के जल में उतरे। वहाँ कमल वन में निवास करनेवाली सहस्रों खिले हुए पुंडरीकों पर विराजमान देवी लक्ष्मी ने उन्हें जल में उतरते हुए देखा। देखते ही उनकी रूपमाधुरी से उसके मन में काम विकार उत्पन्न हो गया। दर्शन मात्र से ही लक्ष्मी ने सुरत समागम का सुख प्राप्त कर लिया। जिस पुण्डरीक पर वह बैठी थी उसी के कोश में उसके गर्भित भ्रूण का संवर्धन हो गया।[१] उससे कुमार का जन्म हुआ। तब उसे गोद में लेकर लक्ष्मी ने कहा—'भगवन्, यह आपका पुत्र है, इसे लीजिए।' यह कह उसे श्वेतकेतु को दे दिया। ऋषि ने उसके सब संस्कार किए और पुंडरीक कमल में जन्म होने के कारण उसका नाम पुंडरीक रक्खा एवं उचित समय पर ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षित करके उसे समस्त विद्याओं में निष्णात बनाया। वही यह है।

[१४९]

देवता और असुरों ने जब क्षीर समुद्र का मंथन किया था तो उससे जिस परिजात वृक्ष का जन्म हुआ उसी की यह मंजरी है। इसके ब्रह्मचर्य व्रत के प्रतिकूल कैसे यह इसके कान में आई यह भी कहता हूँ। आज चतुर्दशी के दिन यह कैलासवासी शिव की उपासना के लिये मेरे साथ जा रहा था, तब नंदन कानन की वनदेवी ने इस पारिजात कुसुम मंजरी को हाथ में लेकर प्रणाम पूर्वक उससे कहा—'भगवन्' त्रिभुवन में सुंदर आपके इस रूप के सदृश ही यह मंजरी है, कृपया इसे अपने कान का अलंकार बनाकर पारिजात का जन्म

१—तस्मिन्नेवासनीकृते पुण्डरीके कृतार्थता आसीत्—कृतार्थता=सफलता-भानुचंद्र। इसका यही आशय ज्ञात होता है कि लक्ष्मी का गर्भित भ्रूण पुण्डरीक के कोष में संवर्धित होकर फल रूप में परिणत हो गया।

सफल कीजिए।' यह तो लजाकर चलने लगा पर मैंने उसे पीछे आते हुए देखकर इससे कहा—'मित्र, उसकी प्रार्थना पूरी करो। ऐसा करने में कोई दोष नहीं।' और यह कहकर इसकी इच्छा न रहते हुए भी मैंने वह मंजरी इसके कान में पहना दी। यह मंजरी है और जैसे यह इसके कान में आई इसकी पूरी कथा मैंने तुमसे कही।'

इसी प्रसंग में बाण ने नन्दन कानन की वन देवी का हृदयग्राही चित्र खींचा है—'वह वनदेवी नंदनवन से साक्षात् निकलकर बाहर आई। मधुमास की लक्ष्मी उसे हाथ का सहारा दिए हुए साथ थी। वह गूंथे हुए बहुल पुष्पों की मेखला पहने थी। भाँति-भाँति के वसन्त पुष्प और पल्लवों से घुटनों तक लंबी कंठमालाओं से उसका शरीर आच्छादित था। आम्र की नई मंजरी का कर्णपूर उसने कान में पहन रक्खा था। पुष्पों का आसव पान करने से वह कुछ मत्त दिखाई दे रही थी।

(१५०)

जब उसका साथी यह कह चुका तो उस तपस्वी मुनि कुमार ने भी कुछ मुस्कुरा कर मुझसे कहा—'ओ कुतूहल भरी, इन प्रश्नों से क्या? यदि इसकी सुगन्धि तुझे भली लगी है तो यह ले।' यह कहकर मेरे पास आकर उसने वह कुसुम मंजरी अपने कान से उतार कर मेरे कान में पहना दी। मुझे तो उस समय उसके हाथों के स्पर्श सुख से रोमांच हो आया। मेरे कपोल के स्पर्श सुख से उसके हाथों की उँगलियाँ भी चंचल हो गईं और हाथ की अक्षमाला नीचे गिर गई, पर उसे ज्ञात नहीं हुआ। वह अक्षमाला पृथिवी तक पहुँच भी न पाई थी कि मैंने उसे अपने हाथ में रोककर कंठ में पहन लिया।

(१५१)

यह घटना घटित होने पर[1] छत्रग्राहिणी[2] ने आकर मुझसे कहा—भर्तृदारिके, देवी स्नान कर चुकीं। घर चलने का समय हो चुका, तुम भी स्नान कर लो। उसके उस वचन से अनिच्छापूर्वक किसी भाँति वहाँ से अपने को हटाकर मैं स्नान के लिये चली। मेरे चलते समय दूसरे मुनिकुमार ने अपने मित्र को इस प्रकार धैर्यच्युत देखकर कुछ क्रोध प्रकट करते हुए स्नेहवश कहा—

(१५२)

'सखे पुंडरीक यह तुम्हारे अनुरूप नहीं। यह मार्ग क्षुद्रजनों का है। साधुजन तो संयम के धन से धनी होते हैं। वह पुरुष क्या जो सामान्य व्यक्ति के समान विकृत होते हुए अपने

१—इत्थं भूते च व्यतिकरे—व्यतिकर=परस्परानुरागातिशय, भानुचन्द्र। दो भावों के परस्पर सम्मिलन की संज्ञा व्यतिकर है।

२—छत्रग्राहिणी अबतक महाश्वेता की माता के साथ थी और उसी ने इसे ढूँढ़कर बुलाने के लिये भेजा था।

मनको न रोक सके ? तुम्हें आज पहली बार इंद्रियों का यह उपद्रव कहाँ से प्राप्त हुआ जो यह दशा हुई ? तुम्हारा वह धैर्य कहाँ गया ? वह इंद्रियजय, वह चित्त का संयम; वह प्रशान्ति, वह कुलक्रमागत ब्रह्मचर्य, सब कहाँ चले गए ? गुरुओं के वे उपदेश, वह ज्ञान, वह वैराग्य बुद्धि, वह तप का आग्रह, भोगों में वह उदासीनता, यौवन पर वह अंकुश, सब क्या हुआ ? तुम्हारी वह प्रज्ञा निष्फल हो गई, धर्मशास्त्रों का अभ्यास व्यर्थ गया, सब संस्कार निरर्थक रहे, गुरुओं के उपदेश का विचार कुछ काम न आया। ज्ञान से कुछ लाभ न हुआ जो तुम्हारे जैसे भी राग की आसक्ति से अपने चित्त को मैला कर लेते हैं और आचार की त्रुटियों से अभिभूत हो जाते हैं। हाथ से गिरी हुई उस अक्षमाला को भी तुम नहीं जान पाए। वह उसे ले गई। अहो, तुम्हारा अचेतपना, वह तुम्हारी माला सचमुच चली गई। कम से कम अपने हृदय को तो रोक लो। उसे भी वह अनार्या हरकर ले जा रही है[1]।

(१५३)

मित्र के ऐसा कहने पर मुनि कुमार ने कुछ लजाकर कहा—'सखे कपिंजल, मेरे विषय में कुछ और विचार न करो। अक्षमाली ले जानेवाली इस दुर्विनीता का अपराध मैं कदापि क्षमा न करूँगा।' यह कहकर उस मुनिकुमार ने मिथ्या कोप का आडंबर रचते हुए मुझसे कहा—'अरी चंचला, मेरी अक्षमाला दिए बिना यहाँ से एक पैर भी न हटना।' सुनते ही मैंने अपने कंठ की एकावली उतार कर शून्य हृदय उस मुनिकुमार के फैलाए हुए हाथ में काम के लीलानृत्य की पुष्पांजलि के समान रखते हुए कहा—'भगवन् यह लीजिए अपनी अक्षमाला। यह कहकर मैं स्नान के लिये चली आई और उसी विषय में सोचती हुई किसी प्रकार माता के साथ अपने भवन को लौटी।

कन्यान्तःपुर में जाकर तभी से मेरी दशा उसके विरह में खोई हुई सी हो गई। मैं आ गई हूँ या वहीं रह गई हूँ; अकेली हूँ, या सखियों के साथ हूँ, चुप हूँ या कुछ बोल रही हूँ, जागती हूँ या सो रही हूँ, रोती हूँ या नहीं रोती, दुख में हूँ या सुख में हूँ, उत्कंठा है या व्याधि है, व्यसन है या उत्सव है, दिन है या रात है, क्या सुंदर है क्या असुंदर है—यह कुछ भी मैं न जान सकी। मदन के वृत्तान्त से मैं अपरिचित थी इसलिये यह भी समझ में न आया कि कहाँ जाऊँ, क्या करूं, क्या सुनूं, क्या देखूं, किससे कहूँ, क्या कहूँ, और क्या उपाय करूं। तब कुमारीपुर प्रासाद के ऊपरी भाग में जाकर मैंने सखियों को बिदा करके द्वार के परिजनों तक का प्रवेश निषिद्ध कर दिया और सब काम छोड़कर अकेली मणिजाल गवाक्ष में मुँह करके उसी दिशा में देखने लगी और हिले डुले बिना वहीं बैठी रही। उससे सनाथ वह दिशा ही उस समय मेरे लिये अलंकृत, पुष्पित,

---

१—बाण ने ऊपर जिस शैली को समासरहित शैली कहा है (असमस्तपदवृत्ति, अनुच्छेद १३२) उसका यह बहुत अच्छा उदाहरण है।

महारत्नों के निधान से भरित एवं अमृरस से आप्लावित बन गई। उधर से आती हुई वायु से, वन-पुष्पों की सुगन्धि से, यहाँ तक कि पक्षियों की ध्वनि से भी उसका समाचार पूछना चाहती थी। उसके प्रेम के कारण तप का क्लेश भी मुझे उस समय सुहाता था। उसकी प्रीति से मैंने भी मौन व्रत ले लिया। यद्यपि मैं उससे दूर थी, पर जैसे कमलिनी सूर्य को, समुद्र की वेला चन्द्रमा को और मोरनी मेघ को देखती है, वैसे ही मैं उसके विरह में आतुर हो उस अक्षमाला को जो अब मेरे जीवन की रक्षावली[1] थी अपने गले में पहनकर और पारिजात मंजरी को ठीक उसी प्रकार कान में पहनकर उसका स्मरण करती हुई वहीं बैठी रही।

(१५४)

तरलिका नाम की मेरी तांबूलकरंक वाहिनी मेरे साथ ही स्नान के लिये गई थी। उसने कुछ देर बाद लौटकर मुझसे कहा—'भर्तृदारिके, जो दो तापस कुमार हमें अच्छोद सरोवर के तीर पर मिले थे उनमें से एक ने जिसने यह कुसुम मंजरी अपने कान से उतार कर तुम्हारे कान में पहना दी थी, अपने साथी से छिपाकर चुपचाप मेरे पास आकर तुम्हारे विषय में मुझसे पूछा—'हे बालिके, यह कन्या कौन है ? किसकी पुत्री है ? इसका क्या नाम है ? यह कहाँ जायगी ?' मैंने उससे कहा—'यह चंद्रमा की किरणों से संभूत गौरी नामक अप्सरा में उत्पन्न गंधर्वराज हंस की पुत्री महाश्वेता है जो गंधर्वों के वास स्थान हेमकूट पर्वत पर जा रही है।' मेरे इतना कहने पर उसने फिर कुछ सोचकर और मुझे एक मुझे देखते हुए प्रार्थना के रूप में कहा—'बालिके, तेरी इस सुन्दर आकृति से विदित होता है कि बालापन होते हुए भी तुझमें चपलता नहीं है। तो क्या तू मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करेगी ?' मैंने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा—'भगवन् आप ऐसा क्यों कहते हैं ? मैं क्या हूँ ? आप जैसे महात्मा विशेष पुण्य के बिना मेरे जैसों की ओर देखते भी नहीं, आज्ञा देने की तो बात ही क्या है। तो मुझे जो करना हो, निश्चिंत होकर आज्ञा दीजिए। आपकी मुझपर कृपा होगी।' तब उसने सस्नेह दृष्टि से मेरा अभिनंदन करके पास के तमालवृक्ष के पल्लवों का रस शिला पर निचोड़कर और अपने वल्कल में से एक पट्टिका फाड़कर कनिष्ठिका उँगली के नख की नोक से उसपर लिखकर मुझसे कहा—'यह पत्रिका उस कन्या को अकेले में तुम छिपाकर देना।' यह कहकर उसने वह पत्रिका मुझे दी। तब तरलिका ने तांबूल-भाजन में से निकाल कर वह पत्रिका मुझे दिखाई। उसके संबंध की बातचीत से ही मुझे जैसे उसके स्पर्श सुख का अनुभव हो गया। तरलिका के हाथ से वह वल्कल-पट्टिका लेकर उसमें यह आर्या मैंने पढ़ी—

दूरं मुक्तालतया बिससितया विप्रलोभ्यमानो मे।
हंस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वया नीतः॥

१—तद्विरहातुरजीवितोद्गमरक्षावलीं— रक्षावली=पिरोए हुए तावीज या रक्षाकरंडकों की माला जैसी कुषाणकाल की मूर्तियों में पाई जाती है।

कमल-सी श्वेत उस मुक्तावली से मेरे काम को लुभाकर तुम नई आशा दिखाकर उसे बहुत बढ़ा गई हो, जैसे मानसरोवर के हंस को कमलिनी से ललचाकर कोई दूर दिशा में ले गया हो ।

(१५५)

इस पत्रिका को देखकर मेरे कामातुर मन का विकार-दोष और बढ़ गया । मैं व्याकुल होकर एकदम अधिक विह्वलता को प्राप्त हो गई, जैसे नदी बाढ़ में हो जाती है । मैंने तरलिका को बड़भागी समझा जो वह दूसरी बार पुंडरीक का दर्शन पा सकी । यहाँ तक कि परिजन और स्वामी के संबंध को भूलकर मैं उसके कपोल और अलकावली का स्नेहपूर्वक स्पर्श करते हुए बार-बार उससे पूछने लगी—'अरी तरलिके, बता तूने उसे किस दशा में देखा ? उसने क्या कहा ? कितनी देर तू वहाँ रही ? वह कितनी दूर तक हमारे पीछे-पीछे आया ?' इसी प्रकार की बातचीत करते हुए मैंने वह सारा दिन प्रासाद में ही बिताया ।

[१५६]

फिर संध्या के समय जब सूर्य का लाल-लाल बिम्ब आकाश के छोर पर लटक आया, और दिन क्रमशः मेरु की गुफाओं में प्रविष्ट होने लगा, कमलिनियों ने अपने नेत्र बंद कर लिए और चकवा चकई एक दूसरे का हृदय लेकर विमुक्त होने लगे, तब छत्रग्राहिणी ने आकर मुझसे कहा—'भर्तृदारिके, उन दोनों मुनि कुमारों में से एक द्वार पर खड़ा है और कहता है कि अक्षमाला लेने के लिये आया हूँ ।'

[१५७]

मुनिकुमार का नाम सुनते ही मैंने दूसरे कंचुकी को बुलाकर कहा—'जाओ, उसे ले आओ ।' थोड़ी देर में मैंने देखा कि जरा-धवल कंचुकी के पीछे-पीछे वह कपिंजल नाम का ऋषिकुमार आ रहा है । पास आने पर मैंने उसके आकार से भाँप लिया कि वह जैसे व्याकुल है, विषाद-युक्त है, शून्यचित्त है और अपनी कोई अधूरी इच्छा पूरी कराने की याचना करना चाहता है । उठकर मैंने उसे प्रणाम किया और स्वयं अपने हाथ से आसन दिया । बैठ जाने पर उसकी इच्छा न रहते हुए भी मैंने उसके चरण धोए और अपने उत्तरीय से उन्हें पोंछा । फिर मैं उसके समीप धरती पर ही बैठ गई । थोड़ी देर बैठकर कुछ कहने की इच्छा से उसने मेरे पास बैठी हुई तरलिका की ओर देखा । मैंने उसकी दृष्टि का अभिप्राय समझकर कहा—'भगवन्, यह मेरे अपने शरीर से पृथक् नहीं है । जो कहना हो निःसंकोच कहिए ।'

[१५८]

मेरे ऐसा कहने पर कपिंजल ने उत्तर दिया—'राजपुत्री, क्या कहूँ ? मेरी वाणी लज्जा के कारण कुछ कह नहीं पाती । कहाँ कंद, मूल, फल खाने वाले शांत और वनवासी मुनिजन

और कहाँ राग से भरा हुआ यह सांसारिक प्रपंच जो अशांत-चित्त मनुष्यों के लिये ही ठीक है और जो विषयों की उपभोग की अभिलाषा से मलिन एवं काम की नाना चेष्टाओं से भरा हुआ है। देखो, दैव ने यह सब क्या अनुचित कर डाला ! ईश्वर सहज में ही मनुष्य को उपहासास्पद बना डालता है। न जाने इसका यह काम-विकार वल्कल के अनुरूप है, या जटाओं के योग्य है, या तप के अनुकूल है, या उसके धर्म-शिक्षण का भाग है। यह अपूर्व विडंबना है, पर कहना भी अवश्य है। दूसरा उपाय दिखाई नहीं देता। दूसरी प्रतिक्रिया भी प्राप्त नहीं होती। कोई शरण भी नहीं मिलती। और गति भी क्या है ? बिना कहे बड़ा अनर्थ हो जाने की संभावना है। अपने प्राण देकर भी मित्र के प्राण बचाने चाहिएं। इसलिये कहता हूँ। तुम्हारे सामने ही मैंने क्रोध प्रकट करके निष्ठुरता से उसे समझाया था और कहने-सुनने के बाद उसे वहीं छोड़कर मैं वहाँ से अन्यत्र चला गया था। तुम्हारे चले आने पर कुछ ठहरकर मैं इस विचार से लौटकर वृक्ष के पीछे छिपकर देखने लगा कि अब क्या करता है। पर जब उसे मैंने न देखा तो मेरे मन में विचार आया कि कहीं कामवश तुम्हारे ही पीछे न चला आया हो, या होश आनेपर लज्जा से मेरे सामने आने में सकुचा रहा हो, या वहीं कुपित होकर मुझे छोड़कर चल दिया हो, या किसी और स्थान में मुझे ही ढूंढ़ रहा हो। इस प्रकार के सोच-विचार में मैं कुछ देर तक रहा। जन्म से लेकर क्षण भर भी वह मेरी आँखों से ओझल न हुआ था। इसलिए दुःखी होकर फिर सोचने लगा— 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि इस प्रकार अपना संयम खो देने से लज्जित होकर वह कुछ अनिष्ट कर डाले ? ऐसी कौन सी बात है जो लज्जा से चाँपा हुआ व्यक्ति नहीं कर डालता ? इसलिये उसे अकेला छोड़ना ठीक नहीं। इस विचार से मैं लगकर उसे खोजने लगा। जब ढूंढ़ने पर भी वह मुझे न मिला तो मित्र स्नेह से कातर हुआ मेरा मन भाँति भाँति के अनिष्ट की आशंका करने लगा। तरुलताओं के झुरमुट में, चंदन-वीथियों में छाई हुई लताओं के मंडपों में, अच्छोद के तटोंपर उसे आँख गड़ाकर ढूँढ़ते हुए देरतक मैं इधर-उधर भटकता रहा।

[१५६]

तब अच्छोदसर के समीप ही एक मनोहर लताकुंज में बैठे हुए उसे मैंने देखा। वहाँ फूल ही फूल छाए थे, भौंरे गुंजार कर रहे थे, कोयलें कूक रही थीं, मोर नाच रहे थे, अतएव ज्ञात होता था कि वसन्त ने वहीं जन्म लिया था। सब काम छोड़कर बैठा हुआ वह ऐसा लगता था जैसे चित्र में लिखित हो, या शिल्प में उत्कीर्ण हो, या प्रासाद में स्तम्भ की भाँति विजड़ित हो, या गाढ़ निद्रा में सो गया हो, या योग समाधि में लीन हो गया हो। यद्यपि वह निश्चल था पर अपने आचार से विचलित हो चुका था, अकेला था पर काम ने उसे छोप लिया था। अनुराग से भरा हुआ होने पर भी पीला पड़ गया था, शून्यचित्त होने पर भी उसके हृदय में प्रिया का निवास था। बोलता न था पर काम-वेदना की कथा कहता हुआ जान पड़ता था। शिला पर बैठे हुए भी मरने चला था, कहीं यह शाप न दे दे इसलिये कुसुमायुध कामदेव बिना दर्शन दिए उसे जला रहा था।

उसकी इन्द्रियाँ उसे छोड़कर शरीर को सूना कर गई थीं, मानों हृदय में भरी हुई प्रिया को देखने के लिये वे सब अन्तःप्रविष्ट हो गई हों। उसके नत्रों से निरन्तर आँसू बह रहे थे। लाल लाल अधर की कांति ऐसी ज्ञात होती थी मानों हृदय को जलाते हुए कामाग्नि की लौ ऊपर लपक रही हो। बायाँ गाल हाथ पर रक्खे हुए था। ललाट पर चन्दन का तिलक लगा हुआ था जो नखों की किरणों से और उज्ज्वल लग रहा था। यद्यपि उसने पारिजात की कुसुममंजरी अपने कान से उतार कर रख दी थी, पर उसकी गंध से खिंचे हुए भौंरे कान के पास गुंजारते हुए कामसम्मोहन मंत्र-सा जप रहे थे और ऐसा जान पड़ता था मानों उसने नीलोत्पल अथवा तमाल पल्लवों से अपना कान सजाया हो। दाहिने हाथ में मुक्तावली उरःस्थल के पास लिए हुए था जो उसके अभिनय की पताका सी जान पड़ती थी। काम के वशीकरण चूर्ण के समान वृक्षों की पुष्प-धूलि उस पर पड़ रही थी। समीप में हिलते हुए अशोक पल्लव अपना राग उस तक पहुँचाने के लिए उसका स्पर्श कर रहे थे। नये फूलों के गुच्छों से मधु बरसाकर वनलक्ष्मी उसका अभिषेक कर रही थी। ऊपर गिरते हुए चम्पक पुष्पों के रूप में मानों कामदेव अपने बाणों से उस पर प्रहार कर रहा था। मलयानिल मत्त भौंरों की गुंजार से हुंकारता हुआ उसे डपट रहा था। मधुमास भी कोयलों की कूक द्वारा अपनी विजय सूचित करता हुआ उसे व्याकुल कर रहा था। उसका शरीर ग्रीष्मकालीन गंगा प्रवाह के समान कृश हो गया था। वह और का और ही हो गया था, पहचान में न आता था। विरह में जैसे आविष्ट, महाभूतों से अधिष्ठित, ग्रहगृहीत, उन्मत्त और दलित के जैसी उसकी अवस्था हो गई थी। कामावेश में अन्धे, बहरे, गूंगे की भाँति कुछ देखता, सुनता या बोलता न था। मनसा वाचा कर्मणा वह कंदर्पमय बन गया था। उसकी चित्तवृत्ति सर्वथा पराधीन हो गई थी।

(१६०)

उसे उस अवस्था में देखकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ और मेरा हृदय काँप गया। मैं सोचने लगा—'कामदेव सचमुच ऐसा ही है। उसका वेग इतना कठिन और असह्य होता है। तभी तो उसने क्षण भर में इसकी ऐसी अवस्था कर डाली। कैसे एक साथ ही इतनी ज्ञानराशि व्यर्थ चली गई यह बड़ा अचरज है। यह तो बालापन से ही बड़े धीर स्वभाव का था और इसकी चित्तवृत्ति भी कभी सखलित न होती थी। मैं और दूसरे मुनिकुमार इसके अनुकरणीय चरित से स्पृहा किया करते थे। आज तो अति साधारण व्यक्ति की भाँति इसके ज्ञान, तप और गाम्भीर्य को व्यर्थ करके कामदेव ने इसे जड़ बना डाला। ऐसा यौवन जो स्खलन से बचा रहे सर्वथा दुर्लभ है। तब मैंने उसके पास जाकर उसी शिलातल पर बैठते हुए उसके कंधे को हाथ से हिलाकर पूछा—'मित्र पुंडरीक, कहो, यह क्या है।' उसने मानों अपनी जुड़ी हुई बरौनियों को किसी तरह खोलकर रोने से लाल हुई और डबडबाई आँखों से देरतक मेरी ओर देखकर गहरी साँस लेते हुए लज्जा से टूटे फूटे अक्षर कहे—'मित्र कपिंजल, सब जानते हुए भी मुझसे क्या पूछते हो?' मैंने सुनकर समझ लिया कि इसके रोग की चिकित्सा नहीं; फिर भी मित्र का कर्तव्य है कि असत्

मार्ग में गए हुए अपने सखा को शक्ति भर बचाने का यत्न करे। यह सोचकर मैंने कहा--

[१६१]

'सखे पुण्डरीक, यह सब तो भली भाँति मुझे ज्ञात है। फिर भी यह पूछना है कि जो तुम करने लगे हो क्या गुरुओं ने यह सिखाया है, या धर्मशास्त्रों में पढ़ा है, या धर्मार्जन का उपाय है, या तप की कोई नई विधि ज्ञात हुई है, या यह स्वर्ग जाने का मार्ग है, या ब्रह्मचर्य व्रत की रहस्य विद्या है, या मोक्ष प्राप्ति की कोई युक्ति मिल गई है, या कोई नया नियम हाथ आ गया है। मन से भी क्या तुम्हें ऐसा करना उचित था। कहने और करने की तो बात ही क्या? क्या तुम नहीं समझ रहे हो कि इस पापी कामदेव ने तुम्हें कैसा उपहासास्पद बना दिया है? मूढ़ को ही इस तरह काम दबाता है इन विषयों से किस सुख की आशा करते हो? साधुजन तो विषयों को निन्दित ही कहते हैं, सामान्यजन उसे कितना ही मानते रहें। तुम निश्चय ही विष की बेल को धर्मबुद्धि से सींचने लगे हो, कमलों की वनमाला जानकर तलवार का आलिंगन करने लगे हो, काले अगुरु की धूमलेखा की भांति काले साँप को छाती से लगा रहे हो, जलते हुए अंगारे को रत्न के भ्रम से पकड़ रहे हो, दुष्ट हाथी के दाँत को मृणाल जानकर उखाड़ने लगे हो, यदि यों मूढ़ बनकर विषयों के उपभोग में तुमने सुख माना है। विषयों की असारता जानते हुए भी तुम अपने ज्ञान को दिन में खद्योत की ज्योति के समान निस्तेज क्यों बनाए हुए हो? क्यों उन्मार्ग में गई हुई इंद्रियों और मन को वश में नहीं करते? यह काम है ही क्या? धीरज धर कर इस दुष्ट को डपट दो।'

मैं यह कह ही रहा था कि उसने मेरी बात काटकर आँखों से आँसू पोंछते हुए मेरे हाथ का सहारा लेकर कहा—'मित्र, क्यों अधिक कहते हो? तुम सर्वथा स्वस्थ हो। काले नाग के विष की भांति भयंकर काम बाणों के शिकार अभी नहीं हुए। दूसरे को उपदेश देना सरल है। जिसके पास इंद्रियाँ हो, जिसका मन बचा हो, जो देखता हो, सुनता हो, या सुने हुए को समझता हो, या जिसे भले बुरे की पहचान हो, वही उपदेश के योग्य होता है। मेरी तो ये सब बातें दूर चली गईं। चित्त की वृत्तियों का निरोध, विवेक, इंद्रियों का संयम, अध्यात्मज्ञान मेरे लिये सब कुछ खो गया। प्राण अभी तक जैसे तैसे बचे हैं। उपदेश का समय दूर निकल गया, धैर्य का समय भी बीत चुका। धैर्य जब था तब था, अब नहीं है। अध्यात्मज्ञान जब था तब था आज नहीं है। चित्तवृत्तियों का निरोध जब था तब था अब नहीं है। तुम्हें छोड़कर दूसरा कौन अब मुझे उपदेश देगा या उत्पथ में जाने से रोकेगा और किसकी बात मैं मानूंगा? संसार में तुम्हारे समान मेरा हितू और कौन है? मैं अपने को सम्हाल नहीं पा रहा हूँ। बताओ क्या करूं? अभी क्षण भर में तुमने मेरी सारी बिगड़ी अवस्था देख ली है। तो अब जब तक साँस चलती है उससे पहले ही कल्पांत के बारह सूर्यों की तरह भस्म करने वाले इस काम सन्ताप का

कुछ प्रतिकार कर सकते हो तो करो। मेरी इन्द्रियाँ झुलस रही हैं, हृदय औंट रहा है, दृष्टि तप रही है, शरीर जल रहा है। ऐसे समय जो उचित समझो वह करो।' इतना कहकर वह चुप हो गया।

[१६२]

यह सुनकर भी मैंने उसे बार बार समझाया। जब शास्त्रों के उपदेश, दृष्टान्त और इतिहासयुक्त वचनों पर भी जो नम्रता के साथ मनाने के ढंग से मैंने कहे उसने कुछ कान न किया तो मैं सोचने लगा--'इसका रोग बहुत बढ़ चुका है, हट नहीं सकता। इस समय उपदेश व्यर्थ है। तो कम से कम इसके प्राण बचाने का यत्न करना चाहिए। यह सोचकर मैं उठा और सरोवर के पास जाकर वहाँ से सरस मृणालिकाएँ और कमलिनी के पल्लव एवं कुमुदिनी नीलोत्पल और कमलों के पुष्प लेकर मैंने वहीं लतागृह के शिलापट्ट पर उसके लिये शयन बना दिया। उससे उसे कुछ सुख मिला। तब पास के चन्दन वृक्षों के सुकुमार पत्रों का रस गारकर मैंने उसके माथे पर लगाया और पैरों तक सारे शरीर को उससे चर्चित किया। फिर पास में लगे कर्पूर वृक्ष की छाल पर जमा हुआ रस लेकर अपने हाथ से उसकी देह में मला और पसीने की बूँदों को सुखाने के लिये पानी में भीगे केले के पत्ते से पंखा झलने लगा। यों बारबार नए नए कमल के पत्ते बदल कर नई-नई चन्दन चर्चा करते हुए मेरे मन में यह चिन्ता उत्पन्न हुई—भगवान् कामदेव क्या नहीं कर सकते? कहाँ भोला भाला यह वनवासी मृग और कहाँ नाना कामविलासों की खान गन्धर्व-राजपुत्री महाश्वेता? काम के लिये जगत् में कुछ भी मिलाना, करना, वश में लाना कठिन नहीं। जो कठिन बातें हैं वह उन्हें और भी सरल समझता है? कौन उसका विरोध कर सकता है। सचेतन प्राणियों की तो बात क्या, अचेतनों का भी चाहे तो जोड़ा मिला देता है। उसकी आज्ञा हो तो सरवर की कुमुदिनी दिनकर से अनुराग करने लगे, कमलिनी भी चंद्रमा से द्वेष छोड़ दे, रात दिन से मिल जाय, चाँदनी अन्धकार के पीछे चलने लगे, छाया दीपक के सामने खड़ी हो जाय, चंचला बिजली भी बादल के साथ स्तब्ध हो जाय, और जरा अवस्था भी यौवन के साथ साथ चलने लगे।[1] जिसने इस अथाह गाम्भीर्य से समुद्र को तिनके जैसा हलका कर दिया उस काम के लिए और कुछ करना क्या कठिन है? कहाँ इसका वह प्रसिद्ध तप और कहाँ यह अवस्था

१—बाण ने यहाँ अचेतन वस्तुओं के सात जोड़े गिनाए हैं, किन्तु इन सबकी व्यंजना सचेतन प्राणियों में भी है, जैसे—

(१) कमलिनी और शशिकर—इसमें निशाभिसार करने वाली नायिका की ओर संकेत है।

(२) कुमुदिनी और दिनकर—इसमें दिवाभिसार करने वाली कामपीड़ित नायिका का संकेत है।

(३) रात और दिन का साथ—इसमें कामपीड़ित काली कलूटी नायिका का गोरे चिट्टे नायक के साथ लड़ मिलाने की ओर संकेत है।

यह ऐसा संकट आया है कि इसका उपाय नहीं दीखता। अब क्या करना चाहिए ? कौनसी युक्ति की जाय ? किस दिशा में चला जाय ? अब किसकी शरण ली जाय ? क्या उपाय हो जिससे इसके प्राण बचें ? किस कौशल और धैर्य से या किस प्रज्ञा और आश्वासन से यह जीवित रहेगा ? यों मेरा दुःखी मन बहुत से विचारों से भर गया। मैंने फिर सोचा—'इस व्यर्थ चिन्ता से क्या लाभ ? किसी भी भले बुरे उपाय से इसके प्राण बचने ही चाहिएँ। उसके साथ समागम के अतिरिक्त और प्राण रक्षा का कोई उपाय नहीं है। अभी यह किशोर और अप्रगल्भ है। काम के इस व्यसन को अपने लिये अनुचित, तपविरुद्ध और उपहासजनक समझता है। चाहे इसके जीवन की एक साँस भले ही रह जाय, स्वयं उसके पास जाकर अपना मनोरथ पूरा न करेगा। इसका यह मनोविकार अब अधिक समय की प्रतीक्षा भी नहीं कर सकता। साधु लोग मित्रों के प्राणों की रक्षा निंदित कर्म से भी करने योग्य समझते हैं। अत्यंत लज्जाजनक होने पर भी मेरे लिये यही आवश्यक कर्तव्य रह गया है। और किया भी क्या जाय ? दूसरी गति ही क्या है ? जैसे भी हो उसीके पास जाऊँ और इसकी दशा कहूँ। कहीं मुझे अनुचित कर्म में लगा हुए जानकर लज्जा-वश यह रोक न दे, इसलिये बिना कहे ही मैं किसी अन्य कार्य के बहाने वहाँ से उठकर यहाँ आया हूँ। तो ऐसी स्थिति में जो समयोचित हो, उस प्रकार के अनुराग के सदृश हो, या मेरे यहाँ आने के अनुरूप हो, या तुम्हारे योग्य हो, वैसा करने में तुम प्रमाण हो। यह कहकर वह मेरे मुँह की ओर देखता हुआ उत्तर की प्रतीक्षा में चुप हो गया।

[१६३]

मैं तो यह सुनकर मानों सुखदायक अमृत के सरोवर में डूब गई, रतिरस के समुद्र में स्नान करने लगी, सब आनंदों के ऊपर पहुँच गई, सब मनोरथ पूरे होने की अवस्था में

४--चाँदनी और अन्धकार का साथ—इसमें गोरी चिट्टी नायिका का काम पीड़ित होकर काले कलूटे नायक के पीछे लगने का संकेत है।

५—छाया और दीपक का साथ—इसमें छाया की तरह दुबली पतली या लग-लग नायिका का प्रदीप या तेजस्वी नायक से चिमड़ने की ओर संकेत है।

६--बिजली और बादल का साथ--इसमें बिजली की भाँति तड़पने वाली चंचल नायिका का जलधर मेघ के समान गंभीर नायक के साथ मिलकर स्थिर बन जाने का संकेत है।

७—जरा और यौवन का साथ—इसमें बुड्ढी नायिका का युवक के साथ लगे फिरने का संकेत है।

कुमुदिनी, कमलिनी, निशा, ज्योत्सना, छाया, तड़ित् और जरा ये वेश में भिन्न-भिन्न प्रकार की नायिका के संकेत थे। उदाहरण के लिये पद्मप्राभृतक नामक गुप्तकालीन भाण में वेश की एक नवेली को वेशमेघविद्युल्लता तथा उसी युग के धूर्तविट संवाद नामक भाण में नायक को जलधर और नई नायिका को तड़ित् कहा गया है।

आ गई। उस समय उत्पन्न हुई लज्जा से मुँह कुछ अवनमित करके आनंद के अश्रु बहाती हुई सोचने लगी—'यह सौभाग्य है कि मेरे समान उसे भी काम सता रहा है। सच तो यह है कि ऐसा करके मदन ने मेरे ही ऊपर अनुग्रह प्रकट किया है। यदि सचमुच उसकी ऐसी दशा हो गई है तो काम ने मेरे साथ क्या उपकार नहीं किया ? इसके समान मेरा दूसरा हितू कौन होगा ? ऐसी शांत आकृतिवाले कपिञ्जल के मुख से मिथ्या बात कैसे निकल सकती है ? ऐसी अवस्था में मुझे भी अपनी ओर से क्या करना और उसके लिये क्या कहना चाहिए ? मैं यह सोच ही रही थी कि मेरी प्रतिहारी ने जल्दी में आकर मुझसे कहा—भर्तृदारिके, तुम्हारा शरीर अस्वस्थ है, परिजनों से यह समाचार पाकर महादेवी आई हैं।'

उसे सुनते ही कपिञ्जल भीड़-भाड़ से डरकर तत्काल उठा और बोला—'राजपुत्रि, अब यह विलंब करानेवाला कार्य आ गया है। इधर सूर्य अस्त होना चाहते हैं। तो मैं जाता हूँ। मित्र के प्राण बचाने की भीख के लिये मैं तुम्हारे आगे हाथ जोड़ता हूँ। यही मेरा धन है।' यह कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना वह सुनहला वेत्रदंड लिए हुए प्रतीहारी और पान, फूल, गंध, चूर्ण एवं चँवर लिए हुए परिजनों की भीड़-भाड़ में किसी तरह निकलकर द्वार के बाहर हो गया। माता मेरे पास आकर देरतक ठहरी रहीं और फिर अपने भवन को चली गईं। उन्होंने वहाँ आकर क्या किया ? क्या कहा ? कैसा व्यावहार किया ? मैं अपने शून्य हृदय के कारण यह कुछ न जान पाई।

[१६४]

उसके चले जाने पर सूर्य अस्त हो गए और दिशाएँ अंधकार से भर गईं। किंकर्तव्य विमूढ़ की अवस्था में मैंने तरलिका से पूछा—'तरलिके, क्या तू नहीं देखती मेरा हृदय कितना व्याकुल है, इंद्रियाँ अरुचि से घबराई हुई हैं, मुझे कुछ भी कर्तव्य सूझ नहीं पड़ता ? जो इस समय उपयुक्त हो कह। तेरे सामने ही कपिञ्जल इस भाँति कहकर गया है। सामान्य कन्याओं की भाँति लज्जा, धैर्य और विनय छोड़कर जनापवाद की चिंता न करके शील, सदाचार और कुल का उल्लंघन करती हुई राग से अंधी होकर बिना माता पिता की आज्ञा के स्वयं जाकर उसे अपने को अर्पित कर दूँ तो गुरुजनों का उल्लंघन करने से मुझे बड़ा पाप लगेगा। और यदि धर्म का पल्ला पकड़कर मृत्यु स्वीकार करूँ तो पहले तो कपिञ्जल ने स्वयं आकर जो प्रार्थना की है वह विफल हो जायगी, और फिर यदि मेरे द्वारा आशाभंग होने पर उसके प्राणों पर संकट आ गया तो ब्रह्महत्या का भारी पाप लगेगा।' मैं यों कह ही रही थी कि चंद्रोदय के अत्यंत हलके आलोक से पूर्वी दिशा का रंग कुछ मटमैला हो गया।

[१६५]

इसके अनंतर बाण ने महाश्वेता के अभिसार के लिये उपर्युक्त पृष्ठभूमि के रूप में कई अनुच्छेदों में चंद्रोदय का दिव्य वर्णन किया है। हर्षचरित और कादंबरी दोनों से यह

विदित होता है कि प्रातःकाल और सूर्योदय की अपेक्षा सूर्यास्त और चंद्रोदय का वर्णन इस महाकवि को अत्यधिक प्रिय था। यहाँ वर्णन के आरंभ में चंद्रमा को उस केसरी के समान कहा गया है जो अपने नखों से अंधकार रूपी मत्त गजेंद्र के मस्तक को फाड़कर उसके मुक्ताफल की धूल से पूर्वी दिशा के मुख को धवलित करता है।[1] वर्णन अत्यंत भव्य है, किंतु इसमें कवि ने उस अनिष्ट परिणाम का हलका सा संकेत कर दिया है जो महाश्वेता के शुक्लाभिसार के अंत में पुंडरीक के प्राण-प्रयाण के रूप में होनेवाला है।[2]

शनैः शनैः क्षितिज के नीचे से ही ज्योत्स्ना फैलने लगी, मानों अपने प्रियतम चंद्रमा के दर्शन से प्रसन्न निशा सुंदरी का मुख मंद हँसी से सुशोभित हो गया। तभी चंद्रबिंब ने ऊपर उठकर रजनी को सुशोभित किया, मानों पाताल से शेषनाग का फणमंडल ऊपर उठा हो। क्रमशः चढ़ते हुए चंद्रमा की शोभा से रात्रि और रमणीय हो उठी।

[१६६]

अभिनव उदय की लाली से लोहित चंद्रमा को देखकर मुझे ऐसा लगा मानों अपने जन्मस्थान समुद्र के विद्रुमों की ललाई से वह संक्रांत था, या उदयाचल की गुफा में रहनेवाले सिंह के पंजों से आहत अपनी गोद के हिरन के शोणित से लाल हो गया था, या रति कलह में कुपित हुई रोहिणी के आलता लगे चरणों में सिर टेकने से लांछित हो गया था। मेरे भीतर मदन की ज्वाला धधक रही थी। मेरा सिर तरलिका की गोद में था और आँखें चंद्रमा की ओर लगी थीं। मुझे उस क्षण मृत्यु दिखाई दी और मैं सोचने लगी एक ओर तो मदन मधुमास और मलयानिल इकट्ठे हैं, दूसरी ओर यह पापी चंद्रमा सहा नहीं जाता। मेरे हृदय में मदन की

१—बाण के इस वर्णन की छाया प्रसन्नराघव के कर्ता ने इस श्लोक में ली है—

मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलो च्छलत्तरलतारकाप्रकरकीर्णमुक्ता कणः।
पुरन्दरहरिद्दरी कुहर गर्भसुप्तोत्थित स्तुषारकरकेसरी गगन काननं गाहते ॥

इसे ही गुसाईं जी ने और भी काव्यमय ढंग से कहा है—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बनचारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा॥
(लंकाकांड १२।१-३)

२—मंगल के समय किसी भावी अमंगल की सूचना शब्दों से व्यक्त करना कवि की शैली के अनुकूल है। राज्यश्री की विवाहवेदी का हर्षोत्फुल्ल परिचय देते हुए अंगारों से सुशोभित कलशों को अभित्रमुखी और सिंहमुखी कहा गया है (श्लेष से इनका एक अर्थ है शत्रुमुखी औ सिंह मुखी तथा दूसरा अर्थ है असूर्यमुख और चौड़े मुख वाले—हर्षचरित सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ, ८३—८४)।

वेदना अति असह्य होती जा रही है। इस चंद्र का उदय क्या, यह तो दाहज्वर से पीड़ित के ऊपर अंगार बरसाना है, या शीत से सताए हुए के ऊपर बरफ का गिरना है, या विष की लहरों से बेसुध व्यक्ति का काले नाग से डसा जाना है। यह सोचते-सोचते मूर्छा से मेरी आँखें बंद हो गईं, मानों चंद्रोदय के साथ ही कमल बन मुरझा गया हो। तत्काल ही शीघ्रता में तरलिका द्वारा अंगों में चंदन की चर्चा और तालवृंत की हवा से मैं होश में आई। पर क्या देखती हूँ कि मूर्तिमान् शोक से ग्रसित के समान तरलिका फूट फूट कर रो रही है जैसे मेरे मस्तक की चंद्रकांत मणि ही चंद्र के स्पर्श से आँसू बहाने लगी हो। मेरे नेत्र खुले हुए देखकर उसने मेरे चरणों में प्रणाम किया और चंदन लगाते हुए बीच में ही हाथ जोड़कर कहने लगी—'भर्तृदारिके लज्जा करने से, और गुरुजनों की अनुमति की प्रतीक्षा से भी क्या लाभ ? कृपया मुझे भेज दो। मैं तुम्हारे प्रियतम को ले आऊँ या उठो स्वयं ही वहाँ चलो। चंद्रमा के उदय से काम समुद्र में उठती हुई हिलोरों को तुम और न सह सकोगी।' यों कहती हुई उससे मैंने कहा—'अरी पगली, मन्मथ का क्या सोच करती है ? अब तो यह कुमुद बंधु चंद्रमा आ ही गया है जो सब संशयों को मिटाकर, सब ओषधियों को हटाकर, सब विघ्नों को समेटकर, सब शंकाओं को परे कर, लज्जा को दूर कर और प्रियतम के पास स्वयं जाने के दोष को ढककर शीघ्र ही मुझे मृत्यु के पास या उसी प्रियतम के पास ले जायगा। तो उठ, दुख देने वाले उस प्रियतम के पास जीते जी ही किसी तरह जाकर कुछ तो उसका संमान कर लूँ।' यह कहती हुई मैं मदन-मूर्छा के श्रम से थके हुए अंगों को किसी प्रकार उसका सहारा देकर उठी। चलते ही अपशकुन की सूचक मेरी बाईं आँख फड़की। मैं शंका से सोचने लगी—'दैव ने यह क्या पसारा किया ?'

[१६७]

चंद्रमा आकाश में अभी बहुत ऊँचा न उठा था कि मैं लाल अंशुक के अवगुंठन से सिर ढककर अपने किसी भी परिजन के न देखते हुए प्रासाद के शिखर से नीचे उतर आई। उस समय चंद्रमा अपनी ज्योत्स्ना में दिशाओं को मग्न कर रहा था मानों त्रिभुवन के प्रासाद का महाप्रणाल[१] खुल गया था और उससे निकलते हुए अमृत जल के प्रवाह चारों ओर बह निकले थे, या उसमें से चंदन रस के झरने झर रहे थे, अथवा आकाश गंगा की सहस्रों धाराएँ छूट रही थीं, या सुधा समुद्र की लहरियाँ निकल रही थीं। सब मनुष्यों के हृदय में ऐसा आनंद भर रहा था मानों वे श्वेत द्वीप में निवास करके आए हों,

१—त्रिभुवप्रासादमहाप्रणालानुकारिणा—राजमहल के ऊपर लगे हुए बड़े पनाले को महाप्रणाल कहते थे जो प्रायः सिंहमुखी या मकरमुखी बनाया जाता था। हर्षचरित में भी दंतमय मकरमुख महाप्रणाल का उल्लेख आया है (हर्षचरित, पृ० १६)। चंद्रमा की तुलना उस महाप्रणाल से की गई है जिसे विधाता ने त्रिभुवन रूपी प्रासाद में लगाया है।

या चंद्रलोक के दर्शन कर चुके हों। चंद्रमा की फैलती हुई किरणों से पृथिवी मंडल अभिव्यक्त हो उठा, मानों महावराह ने क्षीरसागर से धरित्री को ऊपर उठाया हो। घर-घर में स्त्रियाँ खिले हुए कुमुद पुष्पों से सुगंधित जल का अर्घ चंद्रमा को देने लगीं। अभिसारिकाएँ नीले अंशुक का अवगुंठन रचकर इधर उधर शीघ्रता से आने जाने लगीं। भवन दीर्घिकाओं में फूले हुए कुमुदिनी के पुष्पों को भौंरों ने घेर लिया। खिले हुए पुष्पों की घनी धूलि के नदी पुलिनों पर फैलने से अंतरिक्ष धवलित हो गया। समस्त जीवलोक चंद्रोदय के आनंद से भरकर मानों रतिरस से, उत्सव से, विलास से और प्रीति से युक्त हो गया। चंद्रमा रूपी मणिमय प्रणाल के निर्झर को देखकर मोर मुखरित हो उठे। ऐसे समय मैं कंठ में अक्षमाला पहनकर और कान में वही पारिजात मंजरी लगाकर अभिसार के लिये निकली। तरलिका भी पुष्प, तांबूल, अंगराग और पटवास चूर्ण लिए मेरे पीछे चलने लगी।

(१६८)

नीचे उतर कर मैं प्रमदवन के पक्षद्वार[१] से बाहर आई और प्रियतम के पास चली। किसी परिजन के बिना केवल तरलिका के साथ जाती हुई मैं सोचने लगी—'प्रियतम के पास अभिसार करती हुई प्रियतमा को बाहरी परिजनों की क्या आवश्यकता? ये ही पर्याप्त परिजन हैं—जैसे धनुष पर बाण रखकर कुसुमायुध मेरे पीछे आ रहा है। दूर से हाथ फैलाकर चंद्रमा मुझे खींच रहा है। कहीं मैं गिर न जाऊँ इस भय से अलक्तक राग पदे पदे संभाल रहा है। लज्जा को पीछे करके और इंद्रियों को साथ लिए हुए मेरा हृदय आगे आगे चल रहा है। उत्कंठा मुझे निश्चय पर सवार कराकर लिए चल रही है'। फिर मैंने प्रकट में कहा—'अरी तरलिका, क्या यह निगोड़ा चंद्रमा अपनी किरणों से उसे भी बाल पकड़कर मेरे सामने खींच लाएगा?' उसने हँसकर कहा—'भर्तृदारिके, तू बड़ी भोली है। इस चंद्रमा को उससे क्या प्रयोजन? यह तो स्वयं ही मदनातुर होकर भर्तृदारिका के साथ भाँति-भाँति की शृंगार चेष्टाओं में लगा है—जैसे, कपोल के स्वेद जल में अपनी परछाईं डालकर तुम्हारा चुंबन कर रहा है। अब अपने काँपते हुए किरणरूपी हाथों से तुम्हारे लावण्यमय पयोधरों का स्पर्श कर रहा है। अब वह मेखला की मणियों को छूना चाहता है। अब तुम्हारे चरणों के निर्मल

१—प्रमदवन के चारों ओर एक परकोटा होता था जिसके बीच में एक बहिर्द्वार तोरण बनाया जाता था। बराबरवाली दीवार में या बड़े द्वार के पास ही एक पक्षद्वार बनाते थे। महाद्वार प्रायः बंद रहता था, रात्रि के समय तो वह अवश्य ही बंद कर दिया जाता था। उस समय आवागमन पक्षद्वार से ही होता था। वसंतसेना के घर के वर्णन में भी पक्षद्वार का उल्लेख आता है। चारुदत्त के घर के बाहरी भाग में वृक्षवाटिका थी जिसके चारों ओर परिसर (चार दिवारी या घेरा) था। उस वृक्ष वाटिका में एक बहिर्द्वार और एक पक्षद्वार था।

नखों में अपना प्रतिबिंब डालकर पाद प्रणत हो रहा है। इसका शरीर मानों कामपीड़ा से पीला पड़ गया है जैसे किसी कामी के शरीर पर लगाया हुआ चंदन सूखकर पांडुवर्ण हो गया हो। उसकी किरणें मृणाल वलय के समान धवल हैं, जैसे मृणाल कंगन से युक्त प्रियतम के हाथ हों। उसकी परछाईं स्फटिक मणि के चमकते हुए फर्श पर पड़ रही है, मानों वह मदघूर्णित होकर गिर गया हो। काम से संतप्त प्रियतम की भाँति यह कुमुद सरोवर में अवगाहन एवं आर्द्र चंद्रकांत मणियों का स्पर्श कर रहा है। बिछुड़े हुए चकवा चकई जिन कमलवनों में हैं उनसे इसे द्वेष है। इस प्रकार के आलापों से मैं उसके साथ जी बहलाती हुई उस स्थान पर पहुँची। सरोवर के पश्चिमी किनारे पर जहाँ वह था वहीं किसी पुरुष के रोने की ध्वनि स्पष्ट मैंने सुनी। दाहिनी आँख के फड़कने से मन में पहले ही शंका हो चुकी थी। अब उस रोने की ध्वनि से मेरा हृदय विदीर्ण हो गया और अंतरात्मा में किसी अनिष्ट की सूचना से मैंने डरते हुए कहा—'अरी तरलिका, यह क्या ?' और काँपती हुई जल्दी से उसी ओर चली।

(१६९)

रात में दूर से ही स्वर पहचान मैंने जान लिया कि वह कपिंजल का विलाप था। वह इस प्रकार धाड़ मारकर रो रहा था—'हा, मैं मारा गया ! हा, मैं जल गया ! हा, मैं ठगा गया ! हा, यह क्या हो गया ! मैं नष्ट हो गया ! अरे दुष्ट काम पिशाच, अरे निष्ठुर पापी, तूने यहा क्या किया ! अरी पापिनी महाश्वेता, इसने तेरा क्या बिगाड़ा था ! अरे चंद्र चांडाल, अब तू कृतार्थ हुआ ! अरे दयाहीन दक्षिणानिल, तेरे मनोरथ पूरे हुए ! तू अपना काम कर चुका, अब जहाँ चाहे जा ! हा, पुत्रवत्सल भगवान् श्वेतकेतु, आप नहीं जानते कि आपका सर्वस्व लुट गया ! हा, धर्म अब तुम्हारा अनुयायी कोई न रह गया ! हे तप, तुम आश्रयहीन बन गए ! हा सरस्वती, तुम विधवा हो गईं ! हा सत्य, तुम अनाथ हो गए ! हे सखे, ठहरो मैं भी तुम्हारे पीछे आता हूँ। तुम्हारे बिना क्षण भर भी अकेला नहीं रह सकता। कैसे अनजान की भाँति आज अकस्मात् मुझे छोड़कर चल दिए ? यह निष्ठुरता तुममें कहाँ से आ गई ? कहो, तुम्हारे बिना कहाँ जाऊँ, किससे याचना करूँ, किसकी शरण लूँ ? मैं तो अंधा हो गया। मेरे लिये दिशाएँ शून्य हो गईं। अब जीवन निरर्थक है। लोक में कोई सुख न रहा किसके साथ घूमूँ ? किसके साथ बातें करूँ ? उठो उत्तर दो। मेरे ऊपर तुम्हारा वह सुहृत् प्रेम कहाँ गया ?'

(१७०)

उसे सुनकर दूर से ही मैंने सहसा जोर से आक्रंदन किया मानों मेरे प्राण बाहर निकल आए हैं। और जल्दी जल्दी जाकर सरोवर के उस प्रदेश में शिलातल पर रखे हुए उस महाभाग के निश्चेष्ट शरीर को जिसमें से प्राण उसी क्षण निकल चुके थे, मुझ अभागिनी ने देखा। तीर की लताओं में फँसकर मेरा रेशमी उत्तरीय फट गया था। ऊँची-नीची भूमि की चिंता किए बिना जैसे कोई खींचकर वहाँ लिये जा रहा था। चंद्रकांत मणियों के शिला-

तल पर कुमुद नीलोत्पल और कमलों का सुकुमार बिछौना बिछा हुआ था, उसी पर उसका शरीर लिटा दिया गया था। वह एकदम निश्चल था, मानों मेरे आने की आहट सुन रहा हो। काम का संताप मानों उसके अंतःकोप में डूबकर शांत हो चुका था, अतएव उस क्षण वह सुख से सोया हुआ था। मन में आए हुए क्षोभ का प्रायश्चित करने के लिये मानों उसने प्राणायाम साध लिया था। उसका लाल होंठ मानों कह रहा था कि तुम्हारे कारण मेरी यह दशा हुई। चंद्रमा से द्वेष के कारण वह गुँह फेरे हुए करवट से लेटा था। उसके हाथ कामसंताप से पीड़ित हृदय के पास रक्खे हुए थे। नखरश्मियों से ज्ञात होता था कि मानों चंद्रमा की किरणें पीठ में छेद करके दूसरी ओर निकल आई हों। उसके माथे पर चंदन की ललाटिका सूखकर पीली पड़ गई थी, मानों जिस काम ने उसका बिनाश किया था उसी की एक कला उसके मस्तक पर दुश्चिन्ह के रूप में विद्यमान थी। निरंतर रोने से आँखें लाल हो गई थीं और घूमी हुई पुतलियाँ कुछ-कुछ दिखाई पड़ रही थीं। कामबाण की पीड़ा से नेत्रों का तिहाई भाग सिकुड़ गया था जिससे वे बिल्कुल बंद न थे। मुझसे अधिक तुम दूसरे को प्यार करने लगे हो, इस ईर्ष्या से उसके जीवन ने उसे छोड़ दिया था। काम की व्यथा और प्राण, दोनों को त्यागकर वह निश्चेतन बन गया था मानों कामदेव की योग विद्या में ध्यानलीन हो गया हो। मेरे आने की प्रसन्नता में मानों काम ने उसके प्राणों को ही पूर्णपात्र के रूप में हर लिया था।[1] उसके ललाट पर त्रिपुंड्र लगा था और छाती पर बिससूत्र का यज्ञोपवीत था। कंधे पर केले के गाभे के समान कोमल वस्त्र का उत्तरीय था। हृदय पर एकावली की लंबी अक्षमाला थी। निरंतर लगाई हुई कपूर की धूलि से शरीर धवलित था। हाथों में मृणाल का रक्षावलय पहने हुए था, मानों कामदेव-व्रत के अंतर्गत मेरे समागम का मंत्र सिद्ध कर रहा था। नेत्रों से वह मुझे मृदु उलाहना दे रहा था—'अरी निष्ठुर हृदय, केवल दर्शन देने का अनुग्रह भी तूने नहीं किया।' काम की व्यथा से विदीर्ण होते हुए हृदय को बाएँ हाथ से रोककर मानों हृदय में बैठी हुई मुझे अवरुद्ध करके कह रहा था—'हे प्राणप्रिये, प्राणों को जाने दे। पर तू उसके साथ क्यों जाती है?' उलट कर रखा हुआ दूसरा हाथ मानों हृदय पर पड़ते हुए चंद्रातप का निवारण कर रहा था। पास में तप साधन के समय का मित्र उद्ग्रीव कमण्डलु रक्खा हुआ था। कंठ के मृणालवलय ऐसे लगते थे मानों चंद्रमा अपनी किरणों का फंदा उसके गले में डालकर उसे लोकांतर में लिए जाता हो। मुझे देखकर कपिंजल ने अपने हाथ उठाकर 'हा रक्षा करो, रक्षा करो' इस प्रकार कहा और उसके कंठ से लिपट कर दूना विलाप करने लगा।

१—अपहृत प्राणपूर्णपात्रमनङ्गेन—पूर्ण पात्र का उल्लेख पहले आ चुका है। किसी प्रसन्नता के अवसर पर मित्र या साथी वस्त्र आभूषण आदि छीन कर ले लेते थे। यहाँ कामदेव उसकी दयिता महाश्वेता को उसके पास ले आया था। इस प्रसन्नता के अवसर पर काम ने उसके प्राणों को ही पूर्णपात्र के रूप में हर लिया था।

[१७१]

मुझे उस समय मूर्छा आ गई और मैं जैसे पाताल के खड्ड में जा गिरी। तब मैंने क्या किया, कहाँ गई, क्या कहा, कुछ न जान सकी। उस क्षण मेरे प्राण क्यों नहीं निकल गए, यह भी नहीं जान पाई। या तो मेरा यह मूढ़ हृदय ही अति कठिन था, या मुझे दीर्घ शोक सहना था, या जन्मांतर में किया मेरा पाप शेष था, यह दुष्ट काम ही मेरे लिये एकदम विपरीत बन गया था, अतएव मेरे प्राण नहीं निकले। बहुत देर बाद मुझे होश हुआ और मैंने अपने आपको भूमिपर असह्य शोक से छटपटाते हुए देखा। उसके मरण और अपने जीवन का विश्वास मुझे नहीं हुआ। उठकर मैं चिल्लाने लगी—'हाय, हाय' यह क्या हो गया; हाय अंबा, हाय तात, हाय सखियो, हाय नाथ मेरे प्राणप्रिय, मुझे अकेली अनाथ छोड़कर कहाँ जाते हो? तरलिका से पूछ लो तुम्हारे कारण मेरी जो अवस्था हुई। एक-एक दिन सहस्र युग के समान बिताया। कृपाकर एक बार तो बोलो। कुछ भी इधर देखकर मेरा मनोरथ पूरा करो। मैं दुखिया हूँ, अनुरक्त और अनाथ हूँ, बाला हूँ, मेरे लिये और कोई गति या शरण नहीं, मैं काम से सताई गई हूँ। कहो, क्यों दया नहीं दिखाते? कहो मैंने क्या अपराध किया है? तुम्हारी कौन सी आज्ञा नहीं मानी? कब तुम्हारे अनुकूल नहीं रही, जिससे कुपित होकर मुझे अकेली छोड़कर जा रहे हो? अथवा मैं मिथ्या अनुराग दिखाने में ही चतुर हूँ, जो आज भी जीती हूँ। हा, मैं मंदभागिनी हूँ जो इस प्रकार नष्ट हुई। न तुम, न विनय, न बंधुवर्ग, न परलोक, कोई भी तो मेरा न हुआ। मुझ पापिन को धिक्कार है जिसके कारण तुम्हारी यह दशा हुई। मुझ-सी निष्ठुर कोई नहीं है जो तुम्हें उस अवस्था में छोड़कर घर चली आई। मुझे घर, माता, पिता, बंधु और परिजनों से क्या प्रयोजन था? हाय, किसकी शरण में जाऊँ! हा दैव, तुम्हीं दया करो! विनती करती हूँ कि प्रियतम की भीख मुझे दो। हे भगवती भवितव्यता, कृपाकर इस अनाथ नारी की रक्षा करो। भगवती वनदेवियो, कृपा करके इसके प्राण फेरो। सब पर अनुग्रह करने वाली हे पृथिवी माता, तुम्हीं रक्षा करो। हे रजनी, क्यों अनुकंपा नहीं करती? तात कैलास, तुम्हारी शरण आई हूँ, दयालु हो। इस भाँति देरतक आविष्ट और उन्मत्त की भाँति विलाप करती रही, उसका कुछ ही मुझे स्मरण है।

उस समय जैसे मेरा सारा शरीर गलकर आँसुओं के रूप में बह रहा था। उसके जीवन के लिये मैं चाहती थी कि मेरा मरण हो जाय। बार बार उसके कपोल, ललाट और हृदय को हाथ से छूती थी। 'अरे पुंडरीक, तुम निष्ठुर हो, जो मुझ दुखिया का विचार नहीं करते' यह कहकर उपालंभ देते हुए बार बार उसके कंठ में लगकर विलाप करने लगी। कभी उस एकावली से कहती—'अरी पापिन, मेरे आने तक तूने ही इसके प्राणों को क्यों न बचा लिया?' 'भगवन्, कृपाकर इसे जीवित कर दीजिए', यह कहती हुई बार-बार कपिंजल के चरणों में गिरती थी। बार-बार तरलिका के कंठ लगकर रोती थी। आज भी सोचने से नहीं समझ पाती कि कैसे उस समय अनसीखे, अनपढ़े, अनसुने, अनजाने, भाँति-भाँति के सहस्रों अतिकरुण संताप और रुदन के शब्द मेरे मुँह से निकलने

लगे। वह कुछ विलक्षण ही प्रकार था। प्रलय की लहरों के समान मेरे भीतर से आँसुओं का वेग फूट निकला। फव्वारे की तरह अश्रुप्रवाह छूट पड़ा। प्रलाप के अंकुर जैसे उत्पन्न होने लगे। दुखों के ऊँचे शिखर जैसे दिखाई देने लगे। मूर्छा की संतति ही जैसे उपट पड़ी।

[१७२]

इस प्रकार अपना वृत्तांत सुनाते हुए उसे मानों अपनी बीती हुई कष्टभरी अवस्था का अनुभव हो आया और वह मूर्छित हो गई। वेग से शिला पर गिरती हुई उसे चंद्रापीड़ ने शीघ्र हाथ बढ़ाकर किसी प्रकार रोका और वह स्वयं भी पीड़ा का अनुभव करने लगा। उसी के गीले उत्तरीय के कोने से धीरे धीरे हवा करके वह उसे होश में लाया। करुणा उत्पन्न होने से कुमार के भी आँसू बहने लगे और उसने कहा—'भगवती मुझ पापी ने तुम्हारे शोक को फिर हरा कर दिया। इस कथा को बंद करो। मैं भी अब सुनने में असमर्थ हूँ। बीते हुए कष्टों के अंतर्गत अपने प्रियजनों के रहस्य वचनों को यदि फिर से दोहराया जाता है तो उससे मित्रों के हृदय में कुछ ऐसी वेदना उत्पन्न हो जाती है मानों स्वयं दुखों का अनुभव किया हो।[1] तो जिन प्राणों को तुम किसी प्रकार धारण कर सकी हो, उन्हें पुनः स्मरण-शोक की अग्नि में मत जलाओ।

[१७३]

यह सुनकर मैंने गरम-गरम लंबी साँस लेकर रोते हुए दुखपूर्वक कहा—'राजपुत्र, उस दारुण रात्रि में जो निष्ठुर प्राण मुझे छोड़कर नहीं चले गए वे क्या आज छोड़ जाएँगे? मुझ पापिन को भगवान् यमराज भी देखना नहीं चाहते। मेरे वज्र-हृदय में शोक कहाँ? मेरे इस शठ हृदय के लिये इस सब की कल्पना ही मिथ्या है। इस निर्लज्ज ने मुझे सब निर्लज्जों में अगुआ बना दिया है। मैं ऐसी वज्र की बनी हूँ कि कामवती होकर इन सबका साक्षात् अनुभव करके भी जीवित हूँ। उनके कहने से अब मुझे क्या होनेवाला है? कहने के लिये भी इससे अधिक कष्टप्रद अब और क्या बचेगा जिसे कहा या सुना न जा सके? उस वज्रपात के अनंतर जो एक अचरज घटित हुआ उसे सुनाती हूँ, और मेरे प्राण धारण कराने वाला एक अव्यक्त सा कारण-लवलेश जो उस समय उत्पन्न हुआ उसे कहती हूँ। जिस असंभाव्य आशा की मृगतृष्णिका लिए हुए मैं इस भारभूत, मृतकतुल्य, निष्प्रयोजन, कृतघ्न, हतभाग्य शरीर का बोझा ढो रही हूँ, उसे आप पूरी तरह सुन लें।

१—अतिक्रान्तान्यपि हि संकीर्त्यमानानि प्रियजन विश्वास वचनानि अनुभवसमां वेदनामुपजनयन्ति सुहृज्जनस्य दुःखानि—बीते हुए दुःख यदि फिर से दुहराए जाँय तो सुनने वाले सुहृजन को स्वयं अनुभव करने जैसी वेदना उनसे मिलती है।

प्रियजनविश्वास वचनानि—अपने प्रियजनों के विश्वास वचन अर्थात् रहस्यालाप जिसमें हैं, जैसे महाश्वेता अपने दुःख को उन तमाम रहस्य वचनों के साथ सुना रही है जो अपने प्रियतम के संबंध में उसने कहे थे।

[१७४]

तब उस अवस्था में मरने का निश्चय करके बहुत विलाप करते हुए मैंने तरलिका से कहा—'अरी निठुर हृदय, उठ। कितना रोएगी ? काष्ठ लाकर चिता बना। मैं प्राणेश्वर का अनुगमन करूँ।' उसी समय झट से एक महाशरीरधारी दिव्याकृति पुरुष चंद्रमंडल से निकला। वह अंगदयुक्त बाहुओं के ऊपर हवा में फहराता हुआ रेशमी उत्तरीय ओढ़े था। उसके कानों मे जड़ाऊ कुंडल गालों तक लटक रहे थे। स्थूल मुक्ताफल का हार उसकी छाती पर ऐसा जान पड़ता था मानों तारों से गूँथा गया हो। धवल दुकूल का उष्णीष उसके मस्तक पर बँधा हुआ था। नीले कुटिल केशों पर मौलि बँधी हुई थी। कान में खिले हुए कुमुद का कर्णपूर था। उसके कंधों पर कुंकुम द्वारा पत्रलता के चित्र अंकित थे। उसके धवल शरीर में महापुरुष के सब लक्षण विद्यमान थे। वह आकाश से नीचे उतर कर अपनी दृढ़ भुजाओं से उसके मृत शरीर को ऊपर उछालकर गंभीर स्वर से मुझसे कहने लगा—वत्सा महाश्वेता, प्राणों का त्याग मत करना। तेरा इसके साथ फिर समागम होगा।' यह कहकर उसके साथ आकाश में उड़ गया। मैं उस घटना से डरी और विस्मित हुई। कौतुक के साथ मुँह ऊपर करते हुए मैंने कपिंजल से पूछा कि यह क्या हुआ। किंतु उत्तर·दिये बिना ही वह भी हड़बड़ी के साथ उठा और 'अरे दुरात्मा, मेरे मित्र को लेकर कहाँ जाता है ?' यह कहकर उत्तरीय-वल्कल से फेटा बाँधकर उसी के पीछे-पीछे आकाश में उड़ गया। मेरे देखते-देखते वे सब तारों की बीच में अदृश्य हो गए।

[१७५]

कपिञ्जल के चले जाने से मुझे तो दूसरी बार प्रियतम-मरण जैसा शोक हुआ और मेरा हृदय विदीर्ण होने लगा। क्या करूँ, कुछ सूझता न था। मैंने तरलिका से कहा—'अरी जानती है यह क्या हुआ ? वह तो उसे देखकर स्त्री स्वभाव के कारण कातर होने से उस क्षण शोक भूलकर भय से काँपने लगी और मेरे मरण से आशंकित हो दीन वाणी में मुझसे बोली—'भर्तृदारिके, मैं पापिन इसे कुछ नहीं समझी, पर है यह भारी आश्चर्य। इस पुरुष का स्वरूप अमानुषी था। इसने जाते-जाते भर्तृदारिका को पिता के समान दिलासा दी। स्वप्न में देखे हुए भी ऐसे दिव्य पुरुष मिथ्या नहीं कहते। साक्षात् मिले हुओं की तो बात ही क्या ? और इसके मिथ्या कहने का कुछ कारण भी मुझे नहीं जान पड़ता। अतएव अपने प्राण त्यागने के विचार को तुम्हें रोकना चाहिए। ऐसी अवस्था में यह आश्वासन बहुत बड़ा भरोसा है। कपिंजल भी उसी का पीछा करते हुए गया है। अतएव यह कहाँ से आया था ? कौन था ? क्यों पुंडरीक के निर्जीव शरीर को ले गया ? कहाँ ले गया ? और असंभाव्य पुनः समागम की आशा और भरोसा तुम्हें क्यों दे दे गया ? यह सब वृत्तांत जानकर बाद में जीवन या मरण जैसा उचित हो वैसा निश्चय करना। पहले तो सोचा हुआ मरण सरल नहीं, फिर यह तो पीछे भी किया जा सकता है। कपिंजल यदि जीवित रहा तो तुमसे मिले बिना न रहेगा। अतएव उसके लौटने तक प्राणों

की रक्षा करो।' यह कहती हुई वह मेरे पैरों पर गिर पड़ी। मैंने भी उस समय उसका कथन ही ठीक समझा और प्राणों का परित्याग नहीं किया। जीवन की तृष्णा अमिट है। स्त्री का स्वभाव भी क्षुद्र होता है, और उसके कहने से असंभव आशा की एक मृगमरीचिका भी मेरे मन में आ गई थी। आशा क्या नहीं करा लेती? वह रात मैंने तरलिका के साथ वहीं सरोवर के तट पर पृथिवी पर लेटे हुए किसी भाँति बिताई।

[१७६]

प्रातःकाल उठकर उसी सरोवर में स्नान किया और मन में निश्चय करके उसकी प्रीतिवश वही कमंडलु, वही वल्कल और वही अक्षमाला लेकर त्रिलोकी के नाथ, अनाथों के रक्षक भगवान् शिव की शरण में आ गई। मैंने माता और पिता की भी चिंता न की। बंधुवर्ग और परिजन भी छोड़ दिए। विषय-सुखों से मन हटा लिया। इंद्रियों को संयम में लगाकर ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण किया। मैंने समझ लिया कि यह संसार निःसार है। मैं मंद-भागिनी हूँ। आए हुए इन दुखों का प्रतीकार अति दारुण है। इस शोक का मिटना कठिन है। दैव मुझपर निष्ठुर है। स्नेह अनेक दुःखों का मूल है। संसार के सब भाव अनित्य हैं, और सब सुख क्षणभंगुर हैं।

अगले दिन किसी से समाचार जानकर मेरे पिता, माता और बंधुवर्ग के साथ वहाँ आए और देरतक विलाप करते हुए मुझे बहुत तरह समझाते रहे और सब भाँति दिलासा देकर घर ले चलने का यत्न करने लगे। जब उन्हें यह निश्चय हो गया कि मैं किसी प्रकार भी इस निश्चय से न हटूँगी, तो निराश होकर मेरे बार बार बिदा करने पर भी पुत्री के प्रति कठिन स्नेह के कारण बहुत दिन वहाँ रहकर हृदय में शोकाग्नि लिए हुए किसी तरह घर लौटे। पिता के चले जाने पर तभी से प्रियतम के प्रति केवल आँसू बहाकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हुई, उसके प्रेम में कृश इस पापी, निर्लज्ज, अमांगलिक शरीर को अनेक प्रकार के नियमों से सुखाती हुई, जंगली फल मूल और जलों से जीवनयात्रा करती हुई, जप के बहाने मानों उसी के गुणों का चिंतन करती हुई, इस सरोवर में त्रिकाल स्नान करके प्रति-दिन देव त्र्यंबक की अर्चना करती हुई, इसी गुफा में तरलिका के साथ रहती आई हूँ। मैं ऐसी पापिनी, लक्षणहीन, निर्लज्ज, क्रूर, स्नेहरहित, निष्ठुर और निंदित हूँ! व्यर्थ ही संसार में उत्पन्न हुई, निष्फल जीवित रही और सब भाँति के अवलंब और सुखों से विहीन हूँ। ब्राह्मणवध के महापातक में सनी हुई मुझ पापात्मा को देखकर या मुझसे बात करके आप जैसे महाभाग को क्या लाभ होगा? यह कहकर अपने पांडु वल्कल के पल्ले से मुँह ढककर अश्रुप्रवाह छोड़ती हुई धाड़ मारकर रोने लगी।

[१७७]

चंद्रापीड तो पहले ही उसके रूप, विनय, शील, मधुर वाणी, अनासक्ति, तप, प्रशांत भाव, निरभिमानता, महानुभावता और पवित्रता से प्रभावित हो चुका था। उसने अपना वृत्तांत कहकर जो सद्भाव प्रदर्शित किया उससे तो उसके प्रति उसकी प्रीति और बढ़

गई। द्रवित हृदय से उसने शनैः शनैः उससे कहा—भगवती, कष्टों से भीत, सुख का इच्छुक, अकृतज्ञ, यह संसार स्नेह के अनुरूप अपने कर्तव्य का तो निर्वाह कर नहीं पाता, निष्फल आँसुओं से स्नेह प्रकट करके रोता है। तुमने तो कर्म से सब कुछ कर दिखाया। प्रेमोचित कौन सी बात तुमने नहीं की जो रोती हो? उस प्रियतम के लिये जन्म के स्नेही और प्रिय बांधव जनों को तुमने अपरिचित की भाँति छोड़ दिया। सुलभ होते हुए भी विषयों को तिनके की भाँति त्याग दिया। सारे ऐश्वर्यसुखों से मुँह मोड़ लिया। कमलिनी के समान अतिकृश शरीर को अधिक कष्टों से और कृश कर लिया। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके भारी तप में अपने आपको तुमने लगाया है। स्त्रियों के लिये दुष्कर बनवास को स्वीकार किया है। दुःख से सताए हुए व्यक्ति का प्राण छोड़ देना सरल है, किंतु अधिक क्लेश सहने के लिये बड़ा यत्न करना पड़ता है। जिसे अनुमरण कहा जाता है वह बिल्कुल व्यर्थ की बात है। यदि कोई पिता, भाई, मित्र या पति के मरने पर अपने प्राणों को त्याग दे तो यह मूर्खों का मार्ग है, मोहजनित कर्म है, अज्ञान की रीति है, उतावलापन है, हीनदृष्टि है, बड़ी भूल है, और मूर्खता से होनेवाला स्खलन है। यदि प्राण स्वयं ही न छोड़ जाँय तो अपनी ओर से उनका परित्याग न करना चाहिए। यदि विचार करके देखा जाय तो प्राणों का परित्याग स्वार्थ है, क्योंकि इससे अपनी असह्य शोकवेदना से छुटकारा मिल जाता है। जो मृत हो चुका है, उसका तो इससे कुछ भला होता नहीं। एक तो पुनः यह उसे जीवित नहीं कर सकता, फिर न इससे धर्म बढ़ता है, न शुभ लोकों की प्राप्ति होती है, न नरकवास का प्रतीकार होता है, न यह मृत व्यक्ति से भेंट का उपाय है, न परस्पर समागम का कारण है। मरने वाला तो अपने कर्मानुसार फल भोगने के लिये अवश हो दूसरे लोक में चला जाता है। इस आत्मघाती का पाप भी उसे भुगतना पड़ता है। यदि जीवित रहा जाय तो गए हुए व्यक्ति के लिये जलांजलि देकर उसका और अपना भी बहुत हित किया जा सकता है। मरकर किसी का भी नहीं। स्मरण करो कि जब भगवान् त्रिलोचन के तीसरे नेत्र की अग्नि से काम भस्म हो गया था तो उसकी पतिव्रता पत्नी रति ने अपने प्राण नहीं त्यागे। देखो वृष्णिवंश में उत्पन्न शूरसेन की पुत्री कुंती ने किंदम मुनि के शाप से अखिल भुवन के सम्राट् अपने वीर पति पांडु के स्वर्गगत होने पर अपने प्राणों की रक्षा की। विराट की प्रिय दुहिता उत्तरा ने अभिमन्यु के पंचत्व को प्राप्त होने पर भी अपना शरीर रखा। विचार करो, धृतराष्ट्र की पुत्री दुःशला ने जो अपने सौ भाइयों के स्नेह से लालित-पालित हुई थी, शिव के वरदान से महिमाशाली बने हुए अपने पति सिंधुराज जयद्रथ के अर्जुन द्वारा लोकांतर में भेज दिये जाने पर भी जीवन नहीं त्यागा। और भी राक्षस असुर, देव, मुनि, मनुष्य, सिद्ध और गंधर्वों की सहस्रों कन्याएँ पति से रहित होकर भी जीवित रही हैं।

[१७८]

यदि प्रिय के साथ समागम संदिग्ध होता तो भी प्राणों को छोड़ा जा सकता था, पर तुमने तो पुनः मिलन की वाणी (समागम सरस्वती) अपने कान से सुनी है।

साक्षात् अनुभव में संदेह कैसा ? वैसे महात्माओं के वचनों में तनिक सा अंश भी मिथ्या नहीं होता। गए हुए व्यक्ति के साथ जीवित का समागम संभव नहीं, इसलिये यह संशयरहित है कि वे दयालु महात्मा उसे पुनः जीवित करने के लिये ही देवलोक में ले गए हैं। महात्माओं का प्रभाव जाना नहीं जाता। संसार की घटनाएँ भी भाँति भाँति की होती हैं, और भाग्य भी तो सबसे विलक्षण है। तप की सिद्धि से बड़े आश्चर्यमय फल की प्राप्ति हो सकती है। अपने कर्मों की शक्ति भी बहुत तरह की होती है। कितना भी सूक्ष्म विचार करके देखो, महापुरुष द्वारा उनका शरीर दूर ले जाने में प्राणदान के अतिरिक्त और क्या उद्देश्य हो सकता था ? इसे कुछ असंभव मत समझो। ऐसा भी प्राचीन काल से होता आया है, जैसे गंधर्वराज विश्वावसु और मेनका की पुत्री प्रमद्वरा को स्थूलकेश के आश्रम में साँप ने डस लिया था, तब भार्गव च्यवन के नाती प्रमति के पुत्र मुनिकुमार रुरु ने अपनी आयु का आधा भाग देकर उसे जीवित कर दिया। अश्वमेध के अश्व का पीछा करते हुए अर्जुन को बभ्रुवाहन नामक पुत्र ने युद्ध में मार दिया था, तो उसकी माता उलूपी नाम की नागकन्या ने अपने पति को फिर जीवित कर लिया। अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को जब अश्वत्थामा के अस्त्र ने गर्भ में ही भस्म कर दिया और वह मरा हुआ ही जन्मा, तो उत्तरा के करुण रुदन से द्रवित होकर भगवान् कृष्ण ने उसे फिर प्राणदान दिया। वे ही उज्जयिनी में सांदीपनि मुनि के पुत्र को यमराज के यहाँ से ले आए। यहाँ भी कुछ ऐसी ही घटना घटेगी। तो भी क्या किया जाय ? किसे उपालंभ दिया जाय ? ब्रह्मा सबके ऊपर हैं। होनहार बलवान है। अपने चाहते तो साँस भी नहीं ली जा सकती। निष्ठुर भाग्य की चेष्टाएँ बड़ी वंचनाभरी हैं। वे स्वाभाविक सुंदर प्रेम को देर तक सकुशल नहीं रहने देतीं। प्रायः सुख थोड़े दिन और दुःख बहुत दिन ठहरनेवाले होते हैं। कहीं एक जन्म में समागम मिल जाता है, पर विरह तो सहस्र जन्मों तक रहता है। इसलिये तुम सब तरह अनिन्द्य हो। अपने में निंदा का भाव मत लाओ। संसार के गहन पथ में जो आए हुए हैं उन्हें इस तरह की घटनाएँ देखनी ही पड़ती हैं। लेकिन जो धीर हैं वे इन विपत्तियों के पार हो जाते हैं।' इस प्रकार के सुकुमार वचनों से उसे सांत्वना देते हुए कुमार ने अंजलि में निर्झर का जल लेकर हठपूर्वक उसका मुँह धुलवाया।

[१७६]

इसी बीच में सूर्यास्त हो गया। क्षितिज की ओर लटकता हुआ सूर्यमंडल लाल दिखाई देने लगा। अस्त होता हुआ आतप दिशाओं को छोड़ने लगा। वह लाली आकाश में फैल गई। संध्या की उस अरुणिमा ने भुवन को भी अरुण कर दिया। आकाश में तारे दिखाई देने लगे। रात्रि का बढ़ता हुआ अंधकार फैलने लगा। वृक्षों की पंक्तियाँ घने अंधकार में छिप गईं। पक्षी वृक्षों पर निद्रा में लीन हो गए। तब रात्रि के पहले पहर में महाश्वेता ने धीरे से उठकर सायंकालीन संध्योपासना की और कमंडलु के जल से पैर धोकर अपने वल्कल शयनीय पर शोकपूर्वक उष्ण श्वास लेती हुए बैठ गई। चंद्रापीड ने

भी उठकर झरने का जल अंजलि में लेकर प्रोक्षण किया और पुष्पोपहार देते हुए संध्याकालीन सूर्य को प्रणाम किया। उसने वहीं दूसरी शिला पर सुकुमार लता पल्लवों से अपने लिये शय्या बनाई। वह बार बार महाश्वेता के वृत्तांत को मन में सोचने लगा। उसके मन में विचार आया—'कामदेव इतना दुर्धर्ष, कष्टदायक और दुश्चिकित्स्य है जो इससे सताए जाने पर ऐसे महापुरुष भी धैर्य खोकर कालक्रम की उपेक्षा करके तत्काल अपने प्राण छोड़ देते हैं। त्रिभुवन में सर्वत्र जिनकी आज्ञा चलती है ऐसे भगवान् कुसुमायुध को सब भाँति प्रणाम है।

उसने महाश्वेता से फिर पूछा—'भगवती, तुम्हारी वह वनवास की सखी दुःख की साथी तरलिका नाम की परिचारिका कहाँ गई?

[१८०]

उसने उत्तर दिया—'महाभाग, मैंने जो कहा था कि अप्सराओं का एक कुल अमृत से उत्पन्न हुआ था, उसी कुल में मदिरा नाम की एक कन्या हुई। सब गंधर्वों के राजा देवचित्ररथ ने उसका पाणिग्रहण किया। उसके अनेक गुणों से प्रसन्न होकर चित्ररथ ने उसे अपने समस्त अंतःपुर की स्वामिनी बनाया और हेमपट्ट, छत्र, वेत्र और चंवर तथा महादेवी पदवी से विभूषित किया।[1] दोनों का परस्पर प्रेम बढ़ने लगा। तब यौवन सुखों का अनुभव करने वाले उनके कादंबरी नाम की कन्या उत्पन्न हुई, जो माता पिता का, समस्त गंधर्व कुल का, एवं जीवधारियों का ही प्राण थी। जन्म से ही लेकर एक साथ

१—यद्यपि राजा की और भी रानियाँ होती थीं, किंतु महिषी या पट्टप्रधान रानी के लिये ही 'महादेवी' शब्द प्रयुक्त होता था। उसी के मस्तक पर हेमपट्ट बाँधा जाता था। बृहत्संहिता के अनुसार पट्ट सोने का बनाया जाता था (शुद्धकांचन विनिर्मितः)। केवल राजा, युवराज, राजमहिषी और सेनापति, इन चारों को सिर पर हेमपट्ट बाँधने का अधिकार था। पाँचवें प्रकार का पट्ट प्रसादपट्ट कहलाता था जो सम्राट् की कृपा का सूचक था और सम्राट् द्वारा अपने किसी भी कृपाभाजन को दिया जा सकता था। हर्ष-चरित में यशोवती के पट्ट को महादेवी पट्ट कहा गया है। वराहमिहिर के अनुसार राजा का पट्ट बीच में आठ अंगुल (छः इंच) चौड़ा, महिषी और पटरानी का सात अंगुल (सवा पाँच इंच), युवराज का छः अंगुल (४॥ इंच) सेनापति का चार अंगुल (तीन इंच) होता था, और प्रसाद पट्ट केवल दो अंगुल (डेढ़ इंच) चौड़ा बनाया जाता था। बीच में इसकी जितनी चौड़ाई होती लंबाई उससे दुगुनी रक्खी जाती थी और दोनों किनारे बीच की चौड़ाई से आधे होते थे। महादेवी पट्ट बीच में सवा पाँच इंच चौड़ा, साढ़े दस इंच लंबा और किनारों पर क्रमशः कम होता हुआ लगभग पौने तीन इंच होता था (बृहत्संहिता ४६।२-५)। राजा के पट्ट में पाँच शिखाएँ, युवराज और महिषी के में तीन, सेनापति के में एक और प्रसादपट्ट में एक भी शिखा नहीं होती थी।

बैठने, उठने, सोने, खाने, पीने के कारण वह मेरी बाल सखी और अत्यंत प्रेमपात्र बन गई। उसने और मैंने साथ साथ नृत्य गीत आदि की कलाएँ सीखीं और एक साथ क्रीड़ा करते हुए बालपन बिताया। मेरे इस दुःखद वृत्तांत को सुनकर उत्पन्न हुए शोक के कारण उसने यह निश्चय कर लिया, जब तक महाश्वेता दुःखी है तब तक मैं भी अपना विवाह न करूँगी। उसने सखियों के सामने यह शपथ ली कि यदि कभी मेरी इच्छा के विरुद्ध पिता मुझे किसी को देना चाहेंगे तो मैं अनशन से, अग्नि से, रस्सी या विष से अपना प्राण त्याग दूँगी। अपनी पुत्री के इस निश्चय और दृढ़ प्रतिज्ञा को गंधर्वराज चित्ररथ ने भी कानोंकान अपने परिजनों से सुना। कालांतर में जब वह युवती हुई तो उसे देख देखकर गंधर्वराज को बहुत संताप होता था और क्षण भर के लिये भी चैन न मिलता था। वह उनकी एकमात्र प्रिय संतति थी। अतएव जब गंधर्वराज साक्षात् उससे कुछ न कह सके और दूसरा उपाय न सूझा, तब महादेवी मदिरा के साथ सलाह करके क्षीरोद नामक अपना कंचुकी भेजकर मुझसे कहलाया—'वत्सा महाश्वेता, तुम्हारे दुःख से ही हम दुःखी थे। उसपर यह दूसरा दुःख और आ गया। अब कादंबरी के समझाने में तुम्हीं हमारी शरण हो।' आज ही प्रातःकाल उनका यह संदेशा आया था। तब मैंने गुरुओं के वचन का आदर करते हुए सखी के प्रेम से क्षीरोद के साथ तरलिका को भेजकर कहलाया—'सखि कादंबरी, क्यों मुझ दुखिया को तू और दुःख देती है। यदि तू मेरा जीना चाहे तो अपने माता पिता की आज्ञा सत्य कर।' उसके जाने के कुछ ही देर बाद आप आ गए। इतना कहकर वह चुप हो गई।

[१८१]

इसी बीच में चंद्रमा आकाश में उदित हुआ। उसमें जो साँवला शश-लांछन था उसके कारण वह शोकानल से दग्ध महाश्वेता के हृदय के समान लग रहा था। पुंडरीक वध का महापातक ही मानों उसका कलंक बन गया था; या उसमें दक्ष की शापाग्नि का वह दाह चिह्न था जो बहुत काल पूर्व लग गया था। वह आधे भाग में कृष्णमृगचर्म से ढके हुए अर्धनारीश्वर शिव के भस्मालंकृत शरीर में पार्वती के वाम स्तन जैसा सुशोभित था। क्रम से चंद्रमा आकाश में और ऊँचा उठ गया, तब उसकी ऐसी शोभा हुई मानों आकाश रूपी महासमुद्र के किनारे का पुलिन हो, अथवा सातों लोकों के शयन का समय निकट जान कर आकाश में जल से भरा हुआ निद्रामंगलकलश[1] रक्खा गया हो। उस समय कुमुद वन में कुमुद पुष्प खिल गए। दसों दिशाएँ धवलित हो गईं। कुछ देर में चंद्रमा की श्वेतता शंख के श्वेतवर्ण के समान लगने लगी। तब मानिनी नायिकाएँ मान त्यागकर अभिसार

१—कादंबरी (अनुच्छेद ६१) में शयनतल के शिरोभाग में रक्खे जानेवाले श्वेत निद्रामंगल कलश का उल्लेख है। हर्षचरित में राज्यश्री के वासगृह में चाँदी के निद्रा कलश का वर्णन किया गया है और वहाँ भी उसका उपमान चंद्रमा है।

के लिये निकल पड़ीं। जब चंद्रमा की प्रभा और बढ़ी तो नक्षत्रों की कांति फीकी हो गई। चंद्रमा की किरणें अच्छोद सरोवर पर फैल गई। उनके सहसा आक्रमण (अवस्कंद) से कमल कोश जैसे मुंद गए और वन की शोभा विलुप्त हो गई। उस समय महाश्वेता को सोई हुई जानकर चंद्रापीड़ भी अपने पल्लव शयन पर चुपचाप लेट गया। 'इस समय मेरे विषय में वैशंपायन या बेचारी पत्रलेखा या साथ में आए राजपुत्र क्या सोचते होंगे,' इस चिंता में उसे नींद आ गई।

[१८२]

रात्रि बीतने पर प्रातःकाल संध्योपासन करके शिलातल पर बैठी हुई महाश्वेता जब पवित्र अघमर्षण मंत्रों का जप कर रही थी और चंद्रापीड़ भी प्रातः क्रियाओं से निवृत्त हो चुका, तब तरलिका प्रातः ही वहाँ आ गई। उसके पीछे केयूरक नामक गंधर्व कुमार भी आया। केयूरक की आयु सोलह वर्ष की थी। उसकी आकृति में गौरव का भाव था। वह धीर गति से पैर रख रहा था। उसकी टांगें पहले दिनके लगे हुए चंदन के अंगराग से धूसरित थीं। शरीर पर कुंकुम का राग लगा हुआ था। वह केवल एक अधोवस्त्र पहने था जो कटि प्रदेश में सोने की शृंखलाओं से कसकर बाँधा गया था। उसका एक पल्ला तो सामने की ओर नाभि से कुछ नीचे तक लटक रहा था और दूसरा पीछे की ओर कच्छ में खोंसने के बाद कुछ ऊपर निकला हुआ था।[1] उसका उदर भाग छँटा हुआ था जिसके कारण कटि प्रदेश अधिक अभिव्यंजित जान पड़ता था। उसका वक्षःस्थल विपुल और भुजाएँ लंबी और भरी हुई थीं। बाएँ हाथ में माणिक्य का दोलावलय झूल रहा था।[2] उसके कान के रत्नजटित आभूषण की किरणें कंधे पर पड़ रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों उसके एक कंधे का रेशमी उत्तरीय रंगबिरंगी पट्टियों वाले इंद्रायुधाम्बर[3] का बना

१—कक्ष्याबन्धातिरिक्तप्रेङ्खत्पल्लवमधरवासः एव केवलं वसानेन—धोती पहनने के इस ढंग का उल्लेख हर्षचरित में भी आया है—कक्ष्याधिकक्षिप्तपल्लवेन हारीतहरिता निबिडनिपीडितेन अधरवाससा—(दे० हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २१ चित्र १४)। अधोवस्त्र पहनने का यह ढंग गुप्तकालीन मूर्तियों में प्रत्यक्ष देखा जाता है।

२—वामप्रकोष्ठदोलायमानमाणिक्यवलयेन—दोलावलय गुप्तकालीन संस्कृति का विशेष आभूषण था। शूद्रक के वर्णन में भी उसका उल्लेख आया है—कदाचिदनवरत-दोलायमानरत्नवलयः। भंडि के संबंध में भी इसका वर्णन किया गया है—दूरीकृत व्यायाम शिथिलभुजदण्डदोलायमानमङ्गलवलयैकशेषालंकृतिः। (दे० अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी के खिलौनों पर मेरा लेख—एंशिएन्ट इंडिया, अंक ४ पृ० १७०, चित्र ३०३, किन्नर मिथुन की मूर्ति में किन्नरी दाहिने हाथ में दोलावलय पहने हुए है)।

३—कर्णाभरणमणेर्विप्रकीर्यमाणां अधोमुखकिरणेन्द्रायुधजालवर्णांशुकोत्तरीयं इव एक स्कंध क्षिप्तमुद्वहता—कान के कुंडल में मोती, पन्ना, लाल आदि कई रत्न जड़े थे। इनकी

हुआ था। उसका ललाट हेमपट्ट[1] के समान चौड़ा था। आकृति से वह नागरिक जान पड़ता था और राजकुल के साथ संपर्क होने के कारण वह चातुर्य युक्त था। आते ही तरलिका चंद्रापीड़ को देरतक देखती रही। उसके मन में कुतुहल हुआ कि यह कौन है। तब महाश्वेता के समीप जाकर प्रणाम करके सविनय बैठ गई। उसके बाद केयूरक ने भी नीचे तक मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। महाश्वेता द्वारा दृष्टि संकेत से ही बताए हुए शिलातल पर वह कुछ दूर हटकर बैठ गया। उसे भी चंद्रापीड़ के सौंदर्य को देखकर आश्चर्य हुआ कि कामदेव को लजानेवाला यह कौन है, जो अपने रूप से देव, नाग, गंधर्व और विद्याधरों का भी परिहास कर रहा है।

[१८३]

जप समाप्त करके महाश्वेता ने तरलिका से पूछा—'प्रियसखी कादंबरी तो कुशल से है ? क्या वह मेरी बात मानेगी ?' तरलिका ने विनयपूर्वक मस्तक झुकाकर कहा—'भर्तृदारिके, कादंबरी को मैंने कुशल-क्षेमयुक्त पाया। मैंने आपका संदेश उनसे निवेदन किया। सुनकर उन्होंने अश्रुबिंदु गिराते हुए जो प्रतिसंदेश कहा वह उनका वीणावाहक यह केयूरक कहेगा।' इतना कह वह चुप हो गई। तब केयूरक ने कहा—'भर्तृदारिके, देवी कादंबरी ने कंठालिंगन पूर्वक यह विनती की है। तरलिका ने आकर जो मुझसे कहा है, कहो क्या यह गुरुजनों की आज्ञा पालन के लिये है या मेरे चित्त की परीक्षा के लिये है, या जो मैं घर में रह रही हूँ उस अपराध पर मीठी चुटकी है ? या प्रीति तोड़ने की इच्छा मन में हुई है ? या अपने भक्त जन को छोड़ने का उपाय निकाला है ? या किसी कारण कुपित हुई हो ? मेरे स्वाभाविक प्रेम से भरे हृदय को जानती ही हो। ऐसा निष्ठुर संदेश भेजते हुए क्या तुम्हें लज्जा नहीं आई ? तुम तो वैसी मधुरभाषिणी थीं, फिर किसने तुम्हें अप्रिय बोलना सिखा दिया ? स्वस्थ रहते हुए भी कौन सहृदय निकृष्ट और अंत में विरस काम के लिये अपना मन करेगा ? फिर मेरी तो बात ही क्या जिसके हृदय में दुःख भरा है ? मित्र के दुःख से दुःखी मन में सुख की आशा कैसी ? जिसने मेरी सखी को ऐसा कष्ट दिया है उस अति निष्ठुर विषतुल्य अप्रियकारी काम की इच्छा क्या मैं पूरी कर सकती हूँ ? कमलिनी का जब सूर्य से वियोग होता है तब उसके साथ रहने वाली चकवी भी पति समागम

किरणें कंधे के श्वेत रेशमी दुपट्टे पर पड़कर मानों भिन्न भिन्न रंग की पट्टियाँ बना रही थीं। कई रंगों की पट्टियों से युक्त वस्त्र अजंता के चित्रों में पाए जाते हैं। उन्हें उस समय इंद्रायुधांबर कहा जाता था। बाण ने अनुच्छेद ८० में इंद्रायुध राग रुचिरांबर धारिणी पौरांगनाओं का उल्लेख किया है।

१—हेमपट्ट या कनक पट्ट की चौड़ाई का उल्लेख ऊपर किया गया है (अनुच्छेद १८०)।

के सुख को छोड़ देती है, फिर स्त्रियों का तो कहना ही क्या? जहाँ पति विरह में दुःखी, परपुरुष के दर्शन से पराङ्मुख मेरी सखी रात दिन बसती है उस मेरे हृदय में और कोई कैसे प्रवेश करेगा?[1] जब पतिविरह में दुःखी तीव्र तपश्चर्या से कृश बनी हुई मेरी प्रिय सखी ऐसा दुःख उठा रही है तो मैं यह सब भूलकर अपने सुख के लिये क्या विवाह कर लूँ? उससे मुझे सुख कैसे मिलेगा? तुम्हारे प्रेम से तो मैंने अपने विवाह के विषय में कुमारी कन्या के आचार विरुद्ध माता-पिता से स्वतंत्रता लेकर अयश भी स्वीकार किया है, विनय की उपेक्षा की है, गुरुवचन का अतिक्रमण किया है, लोकापवाद को भी नहीं गिना है और स्त्रीजनोचित सहज लज्जा को भी त्याग दिया है। तो कहो अब जैसा तुम चाहती हो, कैसे करूँ? मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, प्रणाम करती हूँ, पैर पकड़ती हूँ, मुझपर कृपा करो। तुम मेरे प्राणों को साथ रखकर वहाँ वन में रह रही हो, स्वप्न में भी मेरे लिये अब ऐसी बात मत सोचना।'

[१८४]

इसे सुनकर महाश्वेता ने देर तक विचार किया और फिर यह कहकर कि तुम जाओ मैं स्वयं आकर यथोचित करूँगी, केयूरक को बिदा किया। केयूरक के जाने पर चंद्रापीड़ से बोली—'राजपुत्र, हेमकूट बड़ा रमणीय है। चित्ररथ की राजधानी विलक्षण है। किंपुरुष देश अनेक कुतूहलों से भरा है। गंधर्वलोक सुंदर है। कादंबरी अति सरल हृदय और उदात्त स्वभाव की है। यदि चलना अतिकष्टकर न हो, किसी काम में विशेष अंतराय न हो, चित्त में नया देश देखने का कुतूहल हो, मेरा अनुरोध स्वीकार हो, नई वस्तु देखने से आनंद मिलता हो, या मैं ऐसी प्रार्थना करने के योग्य होऊँ, यदि मेरी प्रार्थना को अस्वीकार योग्य न मानें, यदि हमारा थोड़ा भी परिचय दृढ़ हुआ हो और यदि मुझे अपनी कृपा के योग्य समझें, तो मेरी इस बिनती को निष्फल न करें। यहाँ से मेरे साथ ही हेमकूट चलकर वहाँ मेरी दूसरी आत्मा कादंबरी से मिलें, और उसके मन में उत्पन्न इस कुमति को दूर करके एक दिन वहाँ ठहरकर अगले दिन लौट आवें। आप जैसे निष्कारण बंधु को देखकर ही दुःख के बोझे से भरा हुआ मेरा चित्त बहुत दिनों बाद कुछ हलका हुआ है एवं अपना वृत्तांत आपको सुनाकर यह शोक कुछ सहने योग्य हुआ है। सज्जन की संगति दुःखी जन को भी सुख देती है। आप जैसे सज्जनों के गुण दूसरों को सुख देने के लिये ही होते हैं।' यह सुनकर चंद्रापीड़ ने उससे कहा—'भगवती, दर्शन के बाद से ही मैं तुम्हारे अधीन हो गया हूँ। जो करणीय हो इच्छापूर्वक बिना शंका के मुझे उसमें नियुक्त करो।' यों कहकर वह उसके साथ चल पड़ा।

१—कादंबरी का आशय यह है यदि मैंने विवाह किया तो जिस हृदय में तुम रहती हो उसी हृदय में एक नये पुरुष को मैं ले आऊँगी जिससे परपुरुष से पराङ्मुख होनेवाली तुम्हें कष्ट उठाना पड़ेगा।

[१८५]

क्रमशः हेमकूट पर्वतपर गंधर्व राजकुल में पहुँचकर वह स्वर्णतोरणयुक्त सात कक्ष्याओं को पार करके कन्यान्तः पुर के द्वार पर पहुँचा। महाश्वेता को देखते ही सोने की वेत्रलता लिये हुए प्रतीहारों ने आगे बढ़कर प्रणाम किया और चंद्रापीड़ को रास्ता दिखाने लगे। तब कुमार ने प्रवेश करके कुमारी अंतःपुर के भीतरी भाग को देखा। वह अनेक स्त्रियों से भरा हुआ था, मानों दूसरा स्त्रीमय जगत् ही हो, या मानों संख्या जानने के लिये त्रिलोकी की स्त्रियाँ वहाँ एक स्थान में एकत्र कर दी गई हों। ज्ञात होता था जैसे पुरुषमयी नई सृष्टि हो, या स्त्रियों का ही नया द्वीप समुद्र से बाहर आ गया हो, या चतुर्युगी के बाद पाँचवाँ केवल नारीयुग ही आ गया हो, या प्रजापति ने पुरुषों का द्वेष मन में लाकर कोई नया निर्माण रच दिया हो, या प्रत्येक कल्प में हर बार स्त्रियों का निर्माण न करना पड़े इसलिये आरंभ में ही असंख्य स्त्रियाँ रचकर उनका भंडार मानों वहाँ भर दिया हो। वहाँ स्त्रियों के शरीर की प्रभा चारों ओर फैल रही थी, मानों अमृत का रस दिशाओं को सींच रहा हो, या मानों वहाँ का संस्थान अनेक चंद्रमंडलों से विरचित हुआ हो। चंद्रमा की ज्योत्सना, आभरणों की प्रभा, शृंगार के विभ्रम, यौवन के विलास, मन्मथ के चरित, इन सबके समवाय से उस प्रदेश की कल्पना की गई थी। शृंगारमय, सौंदर्यमय, काव्यमय, कुतूहलमय, आश्चर्यमय और सर्वथा सौकुमार्यमय वह कुमारी अंतःपुर था।

[१८६]

कुमार ने वहाँ ऐसा अनुभव किया मानों चारों ओर कन्यामुखों के रूप में चंद्रबिंबों का अवतरण हो रहा था। जहाँ जहाँ वे अपांगों से देखती थीं, वहीं मानों पृथिवी पर कुवलय पुष्पों की वर्षा होती थी। उनके चंचल भ्रूकटाक्ष काम के धनुष से जान पड़ते थे। केशों की कालिमा कृष्ण पक्ष के प्रदोष सी लगती थी। उनकी छिटकती हुई मंद मुसकान ऐसी प्रतीत होती थी मानों खिले हुए पुष्पों से धवलित वसंत के दिन हों। श्वास से सुगंधित वायु मलयानिल सी ज्ञात होती थी। प्रभायुक्त कपोल माणिक्य के बने हुए सहस्रों दर्पणों जैसे स्फुरित हो रहे थे। आभरणों से निकलती हुई रंगबिरंगी किरणें ऐसी जान पड़ती थीं मानों भवनमयूरों के झुंड उड़ रहे हों। कहीं कुमारी कन्याएँ अपनी सखियों के हाथ में हाथ डालकर घूम रही थीं; कहीं कंदुक क्रीड़ाओं में गेंद को बार बार हाथ से उछालती थीं; कहीं कलशों में जल भरकर भवनलताओं को सींच रही थीं; कहीं हिंडोलों में पेंग बढ़ा रही थीं; कहीं तांबूल की वीटिकाएँ दांतों के बीच में रख रही थीं; कहीं बकुल विटपों और अशोकवृक्षों को पुष्पित करने के उपचार कर रही थीं और कहीं उपहार कुसुमों का संचय कर रही थीं।[1]

१—इन इन क्रियाओं को कवि ने सुरत के भिन्न भिन्न व्यापारों से मिलाया है, जैसे पाणिग्रहण, चुंबन, नखक्षत, करतल प्रहार, आलिंगन, नितंब-प्रेङ्खित, दंतक्षत, मधुपान, पादाभिघात, सीत्कार आदि।

[१८७]

वहाँ कुमारियाँ अनेक प्रकार से प्रसाधन कर्मों में निरत थीं। कभी वे मुख प्रक्षालन करतीं, कभी कानों में नीलोत्पल पहनतीं, कभी अंगराग लगातीं, कभी वस्त्रों को सुगंधित करतीं, कभी कुंकुम का अनुलेपन लगातीं, कभी वीणावादन का अभ्यास करतीं, कभी चंपक पुष्प की मालाएँ गूँथतीं, कभी हाथों में नीला कमल लेकर क्रीड़ा करतीं, कभी दर्पण में मुँह देखतीं, कभी अंशुक वस्त्रों से अवगुंठन करतीं, कभी मणियों के शिलातल पर बैठतीं, कभी पैरों में आलता लगातीं, और कभी परस्पर उपहार पुष्पों की राशियाँ जहाँ तहाँ बिखेरती थीं। उनके कपोलतल अत्यंत आलोकमय, नेत्र नीले और कर्णांत तक अपांगयुक्त, हास धवल छवियुक्त, निश्वास सुगंधियुक्त अधरद्युति अरुणिमायुक्त, आलाप पंचम स्वर युक्त, भुजाएँ सौकुमार्य युक्त, करतल कमलों के समान रक्तवर्ण और कोमल और चारों ओर छिटकती हुई देहप्रभा अंशुक के अवगुंठन सी जान पड़ती थी। वे ऐसी सुकुमार थीं कि अलक्तक रस उनके चरणों का भार था, मौलश्री की मालाओं की मेखला भी चलने में विघ्न करती थी, अंगराग लगाने के परिश्रम से उनके श्वास की गति बढ़ जाती थी, अंशुक के भार से उन्हें ग्लानि होती थी, मंगल कंकण पहनने से भी हाथ काँपते थे, कानों में अवतंस पुष्प लगाना भी श्रम जान पड़ता था, कर्णपूर के कमलों पर मँडराते हुए भौंरों के पंखों से उठाई हुई किंचित् पवन भी सही नहीं जाती थी।[1]

[१८८]

कुमारी अंतःपुर में कुमारियों की चंचल चेष्टाएँ कुछ आलापों के रूप में अभिव्यक्त की गई हैं। इनका वर्णन साहित्यिक अभिप्राय ही बन गया था। बाण से पूर्व सुबंधु ने वासवदत्ता में (प्रणय पेशलाः प्रमदानामालापकथाः शृण्वन्—वासवदत्ता, जीवानंद पृ० १११) और बाद में तिलकमंजरी में भी धनपाल ने अंतर्वंशिक जनों के आलापों का सरस वर्णन किया है। ऊपर बाण ने लिखा है कि कन्याओं के कूकते कंठों से निकलते हुए आलाप शब्द ऐसे श्रुति सुखद लगते थे मानों वीणा के तार झंकृत हो रहे हों।

अंतःपुर में इधर उधर आते-जाते हुए कादंबरी के निकटस्थ कन्यापरिजनों के आलापों को कुमार ने इस भाँति सुना—

'ओ लवलिका, लवलीलता की जड़ में केतकी के पराग से गोल आलवाल बना दे। सागरिका, गंधोदक से भरी हुई सोने की दीर्घिकाओं में रत्नों की बालुका छिड़क दे। मृणालिका, कृत्रिम कमलिनियों के बीच में बैठाए हुए यंत्र-चक्रवाक-मिथुनों पर कुंकुम धूलि

१—यहाँ कवि ने कई प्रकार के काव्यमय ढंग से कन्याओं के प्रसाधन, आमोद-प्रमोद और अतिशय सौकुमार्य का वर्णन किया है। अवतंस कुसुम धारण, प्रसाधन, कुसुमावचय, माल्यग्रथन ये कौमार अवस्था में कन्यकाविज्ञान के अंतर्गत शिक्षण के विषय थे।

की मुष्टि छिड़क दे। मकरिका, कपूर पल्लवों के रस से गंधपत्रों को सुगंधित कर ले। रजनिका, अँधेरी तमाल की वीथी में मणियों के प्रदीप रख आ। कुमुदिका, दाड़िम के फलों को पक्षियों से बचाने के लिये मोतियों के जाले उनके चारों ओर बाँध दे। निपुणिका, मणिमय शालभंजिकाओं के स्तनों पर कुंकुम के रस से पत्रलताओं के चित्र लिख दे। उत्पलिका, सोने की सींकों की संमार्जनी से कदली गृह के भीतर की मरकत वेदिका को बुहार दे। केसरिका, बकुल कुसुम की मालाओं से बनाए हुए कुंज को मदिरा रस से सींच दे। मालतिका, कामदेव के आयतन में बनी हुई हाथीदाँत की मंडपिका (वलभी) को सिंदूर से लाल रंग दे। नलिनिका, भवनकलहंसों को कमलों का मधुरस पिला आ। कदलिका, घर के गृहमयूरों को धारागृह में ले जा। कमलिनिका, चक्रवाक के बच्चों को मृणाल का क्षीर रस पीने के लिये दे। आम्रलतिका, पिंजड़े में बैठे हुए पुंस्कोकिल को आम्रमंजरी के अंकुरों का आहार दे आ। पल्लविका, भवन के हारिल पक्षियों को मरिचवृक्षों के पल्लवों का अग्रभाग भोजन करा। लवङ्गिका, चकोर के पिंजड़ों में पिप्पली और चावल के खंड खाने के लिये बखेर आ। मधुरिका, कुसुमों के आभूषण बना ले। मयूरिका, संगीत शाला में किन्नर मिथुनों को छोड़ आ। कदलिका, क्रीडापर्वत के शिखर पर जीवंजीव पक्षियों के जोड़ों को रख आ। हरिणिका, पिंजड़े की शुक सारिकाओं को पढ़ा।[1]

[१८६]

उसने और भी इस प्रकार के परिहासयुक्त आलाप सुने—'चामरिका, अपने

१—ऊपर के वर्णन में कई प्रकार की सांस्कृतिक सूचनाएँ आ गई हैं, जैसे भवनोद्यानों में कदलीगृह विशेष कुंज का नाम होता था। कामदेव के मंदिर में हाथी दाँत की छोटी मंडपिका (दन्तवलभिका) बनाई जाती थीं। भवनों में पक्षियों को पालकर विशेष आमोद प्रमोद का साधन बनाया जाता था। मोर, चकोर, हारिल, कोयल, कलहंस पक्षियों का उल्लेख बार-बार इस युग के साहित्य में आता है। सुवर्णमयी दीर्घिकाओं का उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है। जैसा हम हर्षचरित के अध्ययन में दिखा चुके हैं दीर्घिका वह लंबी जलधारा होती थी जो भवन के विशेष भागों में होती हुई अंत में भवनोद्यान को सींचती थी। इसे बीच बीच में चौड़ी करके वापियाँ बनाई जाती थीं, जिनमें समय समय पर सुगंधित जल भरा जाता था। इन वापियों में कहीं कमलों से, कहीं सारस या कलहंस पक्षियों से शोभा की जाती थी। दीर्घिका न केवल भारतवर्ष के महलों में उस युग में बनाई जाती थीं, बल्कि ईरान के महलों में भी उसके बनाने का रिवाज था। चीन की थाङ् संस्कृति के राजप्रासादों में भी दीर्घिकाओं की प्रथा मिलनी चाहिए। प्रासाद के विशिष्ट भाग में दीर्घिका का जितना अंश रहता था उसे हलकारी किए हुए सोने से चित्रित करके विशेष रूप से सजाते थे। उन्हीं के जलों में रत्नमयी बालुका के बखेरने का यहाँ उल्लेख है। बाण ने उज्जयिनी में जिन पद्मपति नागरिकों का वर्णन किया है, उनके भवनों की श्रीसमृद्धि के अनुसार ये कल्पनाएँ तथ्यात्मक थीं।

बनावटी भोलेपन से तू किसे ठगना चाहती है ? अरी, यौवन के विलासों से उन्मत्त, तेरे मनोभावों को हम पहचान गईं, जो तू अपने स्तनभार से झुकी हुई मणिस्तंभ के मयूरों का सहारा ले रही है। ओ परिहास की चटोरी, रत्न भित्तियों में पड़ती हुई अपनी ही परछाईं से क्या बातें कर रही है ? कैसे तू इस प्रकार भूली हुई है ? अरी, तेरे रंग-बिरंगी रेशमी उत्तरीय से वायु छेड़-छाड़ कर रही है, पर तू उत्तरीय के धोखे में चित्र विचित्र किरणों वाले रत्नहार को व्यर्थ समेट रही है। अरी, चमकते हुए मणि कुट्टियों में जिसे तू उपहार कमल समझकर अपने पैर रखने से बचाती है, वह तो तेरे अपने मुख की परछाईं है। क्या तू ऐसी खोई है कि पहचानती नहीं ? अरी, जालगवाक्षों में लगी हुई पद्मराग मणियों की किरणों को तू प्रातःकालीन सूर्य की धूप समझकर अपनी हथेलियों से रोक रही है, यह तेरी भूल है। अरी, रतिखेद से त्रस्त, तेरे हाथों की चौंरी नीचे गिर गई है, पर तू बेसुध हो अपनी नख मयूखों को ही चौंरी समझ कर हिला रही है।' इस प्रकार के परिहास सुनते हुए कुमार चंद्रापीड़ कादंबरी भवन के समीप पहुँचा।

[१६०]

कादंबरी के कुमारी भवन में उसका सबसे विशिष्ट भाग श्रीमंडप कहलाता था। वस्तुतः कुमार भवन और कुमारी अंतःपुर इन दोनों में महल का वह भाग जो सम्राट् के राजगृह या धवलगृह के समतुल्य होता था उसे श्रीमंडप कहते थे। राजकुमार चंद्रापीड़ के भवन में भी श्रीमंडप था और राजकुमार का शयनीय गृह उसी के भीतर था। यह स्पष्ट है कि कुमार भवन का वैभव भी राजकुल के समान ही बढ़ा चढ़ा होता था। चंद्रापीड़ के कुमार भवन को राजकुल का प्रतिबिंब ही कहा गया है (प्रतिच्छन्दकमिव राजकुलस्य, अनु० ९२)। कादंबरी का अंतःपुर जिसे संक्षिप्त रूप में कुमारीपुर कहा जाता था राजकुल के भीतर ही स्थान विशेष में बना हुआ था। बाण ने लिखा है कि कुमार चंद्रापीड़ ने वहाँ तक पहुँचने के लिये सात कक्ष्याएँ पार कीं। ये कक्ष्याएँ या आँगन गंधर्वराज चित्ररथ के राजकुल का अंग थीं। बहुधा राजकुमारों का भवन राजकुल के बाहर और राजकन्याओं का कुमारी अंतःपुर राजकुल के भीतर बनाया जाता था। कुमार हर्ष और कुमार राम दोनों के भवन राजकुल के बाहर थे, पर कादंबरी का उसके भीतर बना था। कुमारी अंतःपुर में भी धारा-गृह, कदलीगृह, कामदेवगृह, संगीतशाला, क्रीड़ापर्वत आदि बने होते थे।

श्रीमंडप तक पहुँचने के लिये एक चौड़ा मार्ग बना हुआ था। चंद्रापीड़ ने उसी पर आगे बढ़ते हुए उपवन की लताओं और उनके टपकते हुए पुष्पों को देखा। आँगन में लगे हुए सहकार वृक्षों पर कोयलें बोल रही थीं। कहीं बकुल के वृक्ष लगे हुए थे। कहीं अशोक वनों की शोभा थी। कहीं आती जाती हुई स्त्रियों के चरणों से आलते की छाप पड़ रही थी। कहीं अंगरागों की सुगंधि उठ रही थी। कहीं हाथी दाँत के बने हुए आभूषण दिखाई दे रहे थे। कहीं गोरोचना के बने हुए तिलक स्त्रीमुखों की शोभा बढ़ा रहे थे। कहीं अशोक के कर्णपूर, कहीं शिरीष पुष्पों के कुसुमाभरण, कहीं काले अगुरु के पत्रभंगों की शोभा थी। मार्ग के दोनों ओर सेवा के लिये आई हुई परिचारिकाएँ ऊर्ध्वस्थित

मुद्रा[1] में खड़ी थीं। ज्ञात होता था दोनों ओर लावण्यमय प्राचीर खींच दी गई हो। उसने उस चौड़े मार्ग पर दूर तक दृष्टि डालकर देखा तो दोनों ओर सीध में खड़ी हुई प्रतिहारियों के आभूषणों से निकलती हुई किरणें ऐसी जान पड़ीं जैसे नदी का प्रवाह बहता हुआ उसकी ओर आ रहा हो। उस मार्ग के बीच से आगे बढ़ते हुए अंत में वह वहाँ पहुँचा जहाँ श्रीमंडप था। मंडप के पुरोभाग प्रतिहारियों का मंडल अपने अपने स्थान पर नियुक्त था।

[१६१]

श्रीमंडप के मध्यभाग में चंद्रापीड़ ने कादंबरी को बैठे हुए देखा। मंडप के पर्यंतभाग में चारों ओर अनेक कन्याएँ मंडल बनाकर बैठी हुई थीं। चमचमाते हुए आभूषणों से वे ऐसी सुहावनी लग रही थीं मानों कल्पलताएँ हों।[2]

कादंबरी मंझले परिमाण वाले (नाति महतः) पर्यंकर पर बैठी हुई थी, जिसपर नीले अंशुक की चादर बिछी थी। वह सिरहाने रखे हुए धवल तकिए पर दोहरी की हुई दाहिनी भुजलता के सहारे लेटी हुई थी, मानों महावराह रूपी नारायण की दंष्ट्रा का अवलंबन लिए हुए पृथिवी हो।[3] चामर ग्राहिणी स्त्रियाँ इधर-उधर बाहें हिलाकर चौंरी ढाल रही थीं मानों वे उसके शरीर की फैलती हुई कांति के जल में तैर रही थीं। चमकते हुए मणि-कुट्टिम पर उसकी परछाहीं दिखाई पड़ती थी, मानों पाताल के नाग उसे अपने लोक में लिए जा रहे थे। चारों ओर की रत्नभित्तियों में संक्रांत प्रतिबिंबों से ज्ञात होता था कि दिशाओं के दिक्पाल उसके स्वरूप का अपने-अपने लोक में आवाहन कर रहे थे। मणिमंडप की

१—उभयतः ऊर्ध्वस्थितेन जनेन—ऊर्ध्वस्थित का भाव ठीक वही है जिसे अब 'स्टैंट इरेक्ट' कहते हैं। इससे यह भी सूचित होता है कि स्त्री प्रतिहारी और परिजनों को अपने नियोग में तैनात करने के लिए सैनिक कवायद की शिक्षा दी जाती थी।

२—परिस्फुरदाभरणसमूहेन कल्पलतानिवहेनेव—इस उपमा की व्यंजना कल्पवल्ली और कल्पलताओं के उस स्वरूप से है जिसमें उनके प्रतानों से कुंडल, केयूर, हार लता, कांची, नूपुर आदि आभूषण उत्पन्न होते हुए दिखाए जाते थे, जैसा भरहुत और साँची के उत्कीर्ण शिलापट्टों में मिलता है। कनिंघमकृत भरहुत स्तूप, फलक ४० (कर्ण कुंडल), ४१ (हार), ४२ (कांचीदाम या करधनी), ४४ (नूपुर); इसी प्रकार ४८ वें फलक तक कल्पलताओं से प्रसूत अनेक आभरण चित्रित किए गए हैं। कालिदास ने भी मेघदूत में कल्पवृक्षों से नाना भाँति के आभूषण (भूषणानां विकल्पान्) उत्पन्न होने का उल्लेख किया है (मेघदूत २।११)।

३—नीलांशुकप्रच्छदपटप्रावृतस्य नाति महतः पर्यंकस्योपाश्रये धवलोपधानन्यस्त द्विगुणभुजलताविष्टम्भेनावस्थितां महावराहदंष्ट्रांवलम्बिनीमिव महीं—गुप्तकालीन महावराह की मूर्तियों में पृथिवी इसी मुद्रा में उसकी दंष्ट्रा के अग्र भाग में अवलंबित दिखाई जाती थी।

छत में प्रतिबिंबित उसके स्वरूप से ज्ञात होता था मानों देव उसे ऊपर की ओर ले जा रहे हों। चारों ओर के रत्न स्तंभों में और भवनदर्पणों में उसकी प्रतिमाएँ संक्रांत थीं। श्री मंडप के मध्य में विद्याधरों की अधोमुख उत्कीर्ण मूर्तियाँ उसी की ओर देख रही थीं।[१] मंडप की भित्तियों पर चित्र लिखे हुए थे। उनमें संपुञ्जित नाना आकृतियों और दृश्यों को देखकर विदित होता था मानों तीनों भुवन ही उसे देखने के कुतूहल से एकत्र हो गए थे।[२] उसके आभूषणों की झंकार से नाचते हुए मयूरों के पंखों में रंगविरंगे चंद्रक ऐसे जान पड़ते थे मानों राजभवन उस कौतुक को देखने के लिये सहस्र लोचनों से युक्त बन गया हो।[3] उसके निजी परिजन भी एकटक नेत्रों से उसकी शोभा निहार रहे थे। उसके सब अवयव शुभ-लक्षणों से युक्त थे, मानों वे लक्षण रागाविष्ट होकर उसके सर्वांग का आलिंगन कर रहे थे।[४] वह बालभाव छोड़कर किंचित यौवन में पदार्पण कर रही थी, मानों यौवन के लिए अभी समर्पित

१—अवाङ्मुखेन श्रीमंडपमध्योत्कीर्णेन विद्याधरलोकेन—श्रीमंडप के मध्य में विद्याधरों की मूर्तियाँ कहाँ और कैसे उत्कीर्ण की गई थीं, इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—

श्रीमंडप के मध्य में एक विशिष्ट मंडपिका बनाई जाती थी जिसके नीचे राज कुमारी बैठती थी। उसमें चार सुकुमार खंभे बने होते थे। इन्हें अन्यत्र मणिदंडिका चतुष्टय कहा गया है। इन खंभों के शीर्षभाग में चारों ओर निकली हुई अधोमुखी विद्याधर मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाती थीं, जो हाथों में पुष्प और मालाएँ लिए रहती थीं मानों आकाश से विद्याधर पुष्प और माल्य की वृष्टि कर रहे हों। बाण ने यहाँ समकालीन वास्तु शिल्प का यथार्थ चित्र दिया है।

२—चित्रकर्मच्छलेनावलोकनकुतूहलसम्पुञ्जितेन त्रिभुवनेन—यह वाक्य गुप्त-कालीन भित्तिचित्रों का संक्षिप्त सूत्र है। उज्जयिनी की चित्रभित्तियों को दर्शित विश्वरूपा कहा गया है। तारापीड़ के राजकुल के चित्रों का परिचय भी इसी प्रकार दिया गया है—चित्रलेखादर्शितविचित्रसकलत्रिभुवनाकारम् (अनु० ८५)।

३—भूषणरवप्रवृत्तशिखिशतविततचित्रचन्द्रकेण—बजनेवाले आभूषणों से ताल दे देकर मोरों का नृत्य कराना गुप्तकालीन नारी संस्कृति का अंग था, उसी की ओर यहाँ संकेत है। कालिदास ने भी लिखा है तालैः शिंजा सुभग वलयैर्नर्तितः कांतया मे, यामध्यास्ते दिवस विगमे नीलकंठः सुहृद् वः। (मेघदूत २।१६)

४—यहाँ 'लक्षणैः' का संकेत आहत लक्षण या गुणों में प्रशस्त राजकुमारों से है जो स्वयं लक्षणवान् होते हुए भी रागवश उसके सर्वांग का आलिङ्गन चाहते थे। कालिदास ने इन्दुमती के लिये एकत्र राजकुमारों में अज के पूर्वज ककुत्स्थ को आहत-लक्षण कहा है। इस लक्षणवत्ता का स्वरूप गुणसमष्टि थी (गुणैः प्रतीते तु कृत लक्षणाहतलक्षणौ:—अमरः)। अज में यह लक्षणवत्ता समस्त गुणों के रूप में विद्यमान थी (कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः —रघु० ६।७६)।

न होने पर भी वह रागवश उससे छेड़छाड़ करने लगा था। पैरों में नवयौवन की स्वाभाविक ललाई को आलता, लाल अंशुक एवं पद्मराग मणि के जड़ाऊ नूपुर अतिरिक्त शोभा दे रहे थे। इन चारों की संमिलित लालिमा से रुधिर भरी कोमल अंगुलियों की शोभा ऐसी जान पड़ती थी मानों चरणों की सहज अरुणाई से राग की किरणें छिटक रही हों, या आलता रस से लाल हुए लावण्य जल की धाराएँ छूट रही हों, या लाल रेशमी अंशुक की किनारी पर छोटे फुँदने लटके हों, या रत्नमय नूपुरों से अंशुलेखाएँ निकल रही हों। सबका संमिलित प्रभाव ऐसा था मानों चरणों से विद्रुम रंग की चटकीली नदी बह रही हो। पैर के नखों का समूह इस प्रकार प्रभायुक्त था मानों आकाश के नक्षत्र उसकी वन्दना के लिये पृथिवी पर उतर आए हों। नूपुर मणियों की किरणें ऊपर की ओर फैल रही थीं। उसका मध्यभाग कृश था, मानो प्रजापति ने निर्माण के समय मुष्टियों से दबाया हो। कटिभाग के चारों ओर कांचीदाम का परिवेष था। सकल लोक के हृदयों को आकृष्ट करने के कारण उनके भार की गुरुता मानो नितम्बों पर लक्षित हो रही थी। आवर्तयुक्त गंभीर नाभि मानो प्रजापति की अंगुलिमुद्रा थी। रोमराजि मानो त्रिभुवनविजयी कामदेव की प्रशस्ति की अक्षरावली थी।[1] उसके हृदय में काम ने अपना अधिष्ठान बना लिया था। उसी भार से खिन्न होकर मानो हृदय ने काम के लिये स्तनों के रूप में पादपीठ अर्पित किया था। दोनों बाहुएँ निर्मल लावण्य जल के मृणाल सी सुशोभित थीं। वक्षःस्थल पर सुशोभित हार के अंशु चिबुक की ओर फैल रहे थे, मानो स्तन भार से झुके हुए मुख को सहारा देकर उठाना चाहते हों। विद्रुमलता के समान लोहित अधर ऐसे जान पड़ते थे मानो अभिनव यौवन की पवन से क्षुब्ध राग समुद्र में तरंगें उठी हों। दोनों कपोल ऐसे ज्ञात होते थे मानों मदिरा रस के भरे हुए माणिक्य के शुक्ति संज्ञक पात्र हों।[2] नासिका की शोभा रतिवीणा बजाने के लिये रत्नकोण के समान थी। नेत्रों का अपाङ्ग भाग कुछ लाल था। उसके मुख की सारी शोभा नेत्रों में स्फुट थी, मानो मुख लक्ष्मी के लिये कल्पित क्षीरसमुद्र हों। ललाट पर मैनसिल का तिलक बिन्दु था। दोनों भ्रूलताएँ यौवन कुंजर की मदलेखाएं जैसी जान पड़ती थीं। कानों में श्रेष्ठ सुवर्ण का तालीपट्ट नामक आभूषण, कर्णोत्पल एवं मरकत माणिक्य जटित कुण्डल दोलायमान थे,

---

१—त्रिभुवनविजयप्रशस्तिवर्णावलीमिव लिखिताम्—सकल पृथिवीविजय का उल्लेख चन्द्रापीड़ की दिग्विजय के वर्णन में आ चुका है। उस समय के विजिगीषु सम्राट् अभिषेक होने के बाद इस प्रकार की विजय अपना आवश्यक कर्तव्य मानते थे, जैसा रघुवंश के चौथे सर्ग में कालिदास ने चित्रित किया है। समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ लेख वही है जिसे बाण ने यहाँ 'त्रिभुवनविजय प्रशस्ति वर्णावली' कहा है।

२—मदिरारसपूर्ण माणिक्यशुक्तिसम्पुटच्छविना-माणिक्यशुक्तिसम्पुट का अभिप्राय माणिक्य का बना हुआ शुक्ति के आकार का पात्र होना चाहिए। इस प्रकार के रत्नपात्रों के चषक उस युग में प्रयुक्त होते थे।

जिसमें नीचे की ओर पत्ते लटक रहे थे।[१] ललाट पर केशवीथी से लटकती हुई सीमन्त चूणामणि थी। उसके रूप की शत शत शोभाएं शरीर के प्रतिबिम्बों द्वारा चारों ओर फैल रही थीं। कभी वह कहती कि क्रीड़ा नदियों में पाले हुए रात में जागने से थके चक्रवाक मिथुनों के शयन के लिये कमलों के पराग से बालुका बिछा दी जाय।[२] कभी हंसपाली को आदेश देती कि परिजनों के झंकारते हुए नूपुरों से दूर गए हुए हंस मिथुनों को मृणाल से बाँधकर वहाँ ले आया जाय। कभी आभूषणों में लगी हुई मरकत मणि की किरणों को चाटते हुए भवन हरिण के शावक को पास की सखी के कान से यवांकुर लेकर खिलाती। कभी अपनी लगाई हुई लता के प्रथम पुष्प-दर्शन की सूचना देने वाली उद्यानपाली को विशेष आभरण देकर पुरस्कृत करती। कभी क्रीडापर्वत पर नियुक्त पर्णशबरी को जो भाँति भाँति के वनपुष्प और फल दोनों में भरकर लाई थी उसकी भाषा न समझने के कारण बार बार बुलवाकर परिहास करती।[3] कभी मुख परिमल से आकृष्ट भौरों के साथ इस प्रकार क्रीड़ा करती मानों कई नीले कन्दुकों को एक साथ उछालकर खेल रही हो। कभी पिंजड़े के काममत्त हारिल पक्षी की रटन सुनकर गूढ़ हँसी हँसती हुई चामरग्राहिणी के सिर पर अपने लीला कमल से स्वयं हँसकर ताड़न करती।[४] कभी पास में खड़ी हुई ताम्बूलकरंक वाहिनी के उरःस्थल पर मुक्ताखचित चन्द्रलेखिका नामक आभूषण की परछाहीं को स्वेद बिन्दुओं से युक्त नखक्षत का चिन्ह समझकर उसे छिपाने के लिये पटवास चूर्ण की मूठ उसकी ओर फेंकती।[५] उसके रत्नकुंडल का जो प्रतिबिम्ब चामरग्राहिणी के

१—उत्कृष्ट हेमताली पट्टाभरणमयम् आमुक्तकर्णोत्पलच्युतमधुधारासन्देह कारिणं कर्णपाशं दोलायमानपत्रमरकतमाणिक्य कुण्डलम्—यहाँ कान के तीन आभूषणों का उल्लेख है, सोने का तालीपट्ट, कर्णोत्पल एवं पन्ने और माणिक्य का कुण्डल। हर्षचरित में आए हुए त्रिकंटक नामक कान के गहने का जो चित्र वहीं दिया गया है उसमें भी दो माणिक्य और एक मरकत का जड़ाव था (हर्षचरित, सांस्कृतिक अध्ययन, फलक ३)।

२—क्रीड़ानदिकासु—क्रीडानदिका का तात्पर्य भवन दीर्घिका से है।

३—अविज्ञायमानालापतया हासहेतुं पुनः पुनः क्रीडापर्वतपत्रशबरीं आलापयन्तीम्-पत्रशबरी शबरों की वह जाति थी जिसे अन्य ग्रंथों में पर्णशबरी कहा गया है। यह छोटा नागपुर और बस्तर के जंगलों में शबरी नदी के दोनों ओर निवास करने वाली वन्य जाति थी। उसकी भाषा कादम्बरी की समझ में न आती थी और इसलिये वह बार बार उससे शबर भाषा के शब्दों का उच्चारण कराकर आनंद ले रही थी।

४—हारीत पक्षी के बोल का सादृश्य रतिकूजित से माना जाता था। यही चामरग्राहिणी के गूढ़ हंसी हंसने का हेतु था।

५—इससे कादम्बरी के रतचिह्न गोपन की प्रवणता का संकेत किया गया है। सुवर्ण के चंद्रलेखिका नामक आभूषण में मोतियों का जड़ाव था। कादम्बरी उसे पहने थी, पर उसका प्रतिबिंब ताम्बूल करंक वाहिनी के वक्षःस्थल पर पड़ रहा था।

कपोल पर पड़ रहा था, उसे मण्डल नामक नया नखविन्यास समझकर गोपन के लिये उसने प्रसाद रूप में अपना कर्णपूर उतारकर उसके कान में पहना दिया था।[1] वह महाकुलों के राजाओं को जो उसके स्वयंवर के लिये उत्सुक थे, टालती रही थी क्योंकि अब तक विवाह सुख के अतिरिक्त केवल अन्य भोगों पर ही उसकी प्रीति थी। उसके चरणों को रक्तोत्पल समझकर आकृष्ट हुए भौंरे अपने पंखों में लगे हुए पुष्प पराग से धूसरित कर रहे थे। उसके सिर पर श्वेत अंशुक की शोभा थी। मुख मंडल के दोनों ओर नीली अलकावली सुहावनी लग रही थी। शरीर के मध्यभाग में गुरु नितम्ब और त्रिवली की शोभा थी। उसके आभूषणों में मुक्ताफल और पद्मराग मणियों की किरणें परस्पर मिल रही थीं। ऊपर के झीने श्वेतांशुक और नीचे के रक्तांशुक दोनों की वर्णच्छवि जघन प्रदेश में मिल रही थी। सिर के लम्बे केश मेखला की चंद्रकांत मणियों की छटा से सुशोभित थे। समीप में ही उसके सामने की ओर मुँह किए हुए केयूरक बैठा था जिससे वह चंद्रापीड़ के संबंध में बार बार उत्सुकतापूर्वक पूछ रही थी—'वह कौन है? किसका पुत्र है? नाम क्या है? रूप कैसा है? उसने क्या कहा? तुमने क्या उत्तर दिया? कितनी देर तुम उसके पास रहे? महाश्वेता से उसका परिचय कैसे हुआ? क्या वह यहाँ आएगा?'

[१६२]

कादम्बरी को देखकर चंद्रापीड़ का हृदय अत्यंत उल्लसित हुआ, जैसे चंद्रलेखा के दर्शन से समुद्र हिलोरें लेने लगता है। उसके मन में इस प्रकार के भाव उत्पन्न हुए—'क्यों विधाता ने मेरी और इंद्रियों को लोचनमय नहीं बना दिया? मेरे इस चक्षु ने ऐसा कौन सा पुण्य किया है जो इस सौंदर्य का निर्बाध पान कर रहा है। सचमुच विधाता ने इसके रूप में सब रमणीयताओं को एकत्र उत्पन्न कर दिया है। इतने अधिक सौंदर्य के परमाणु उसे कहाँ प्राप्त हुए? इसका निर्माण करते हुए ब्रह्मा ने इसका जो स्पर्श कर दिया, उस क्लेश से इसके नेत्रों से अश्रुबिंदु विगलित हुए होंगे; वे ही कमल, नीलोत्पल और सौगंधिक पुष्पों के रूप में दिखाई पड़ रहे हैं। इस प्रकार इसकी दृष्टि उसके नेत्रों पर पड़ी। उसने भी देखते ही सोचा कि यह वही है जिसका केयूरक ने वर्णन किया है। वह देर तक उसे देखती रही और चंद्रापीड़ भी एकटक उसे देखता रहा। प्रथम दर्शन से ही कादम्बरी के हृदय में उसके लिये प्रेम उत्पन्न हो गया। उसे तत्क्षण ही रोमांच हो आया और आभूषणों की झंकार के साथ वह उठ खड़ी हुई। उसके शरीर में नाना प्रकार के सात्त्विक भाव उत्पन्न हो गए। वस्तुतः काम से स्वेद उत्पन्न हुआ, जल्दी में उठना तो ब्याज मात्र था।

१—रत्नकुंडल प्रतिबिंब सान्द्रदत्तनवनखरदमंडलाशंकया—वर्ण रत्नाकर में पाँच प्रकार के नखविन्यास कहे हैं, अर्धचंद्र, मंडल, मयूरपद, दशप्लुत, उत्पलपत्र (वर्णरत्नाकर पृष्ठ २६)। यहाँ बाण ने मंडल नामक नखविन्यास का उल्लेख किया है, वही रत्नकुंडल का सच्चा प्रतिबिंब हो सकता था।

कम्प से ही उसकी गति अवरुद्ध हो गई, नूपुरों से लुभाए हुए हंसों का तो बहाना मात्र था। गहरी श्वास उच्छ्वास से अंशुक चंचल हो उठा, चौंरी की वायु तो निमित्त मात्र थी। हृदय में प्रविष्ट चंद्रापीड़ के स्पर्श-लोभ से हाथ हृदय पर चला गया, स्तनों को ढकना तो केवल व्याज था। आनंद से अश्रुजल हो आया, आँख में पुष्परज का गिरना तो निमित्त मात्र था। लज्जा से वह कुछ कह न सकी, मुख के परिमल से आकृष्ट भौंरे व्याज मात्र थे। मदन-शर के प्रहार से वह सीत्कार कर उठी, केतकी का काँटा चुभना तो निमित्त भर था। शरीर के कंप से हाथ भी काँपने लगा, कुछ निवेदन करनेवाली प्रतीहारी का निवारण तो बहाना था। जिस समय कादंबरी के हृदय में काम ने प्रवेश किया, उसी समय मानों वह अपने दूसरे रूप से चंद्रापीड़ के हृदय में भी प्रविष्ट हो गया। कादंबरी के चारों ओर की रत्नाभरण द्युति को भी चंद्रापीड़ ने उसके और अपने बीच में तिरोधान समझा। वह उसके हृदय में आ गई थी, इसे उसने उसकी स्वीकृति मान लिया। उसने जो उसका सब इंद्रियों का आकर्षण किया इसे उसने उसका प्रसाद समझा। उसकी देह की प्रभा का संपर्क उसे समागम सुख जान पड़ा।

[१६३]

कादंबरी कठिनाई से कुछ पैर रखकर बड़ी उत्कंठा के साथ महाश्वेता से गले मिली। महाश्वेता ने भी दृढ़ कंठालिंगन करते हुए कहा—'सखी कादंबरी, भारतवर्ष में प्रजापालन में तत्पर तारापीड़ नाम के एक राजा हैं, जिन्होंने चारों समुद्रों पर अपने शासन की मुद्रा लगाई है। उन्हीं के ये चंद्रापीड़ नामक राजकुमार हैं जो दिग्विजय के प्रसंग से यहाँ तक आ गए हैं। मिलन-क्षण से ही ये अपने स्वभाव के कारण मेरे निष्कारण बंधु हो गए हैं। यद्यपि सब संबंधों को त्यागने के कारण मैं निष्ठुर बन चुकी थी, परंतु इन्होंने अपने स्वभाव की सरलता और विशेष गुणों से मेरे चित्त को खींच लिया है। दाक्षिण्यभाव से युक्त निर्व्याज मित्र और सरल हृदय विदग्धजन दुर्लभ हैं। जैसा मैंने जाना है वैसा तुम भी देखोगी कि ये प्रजापति की कुशल रचना के उदाहरण हैं। रूप में अद्वितीय हैं। लक्ष्मी के उपयुक्त निवास स्थान हैं। पृथिवी इन्हें पाकर सच्चे भर्ता के सुख से सुखी हुई है। इनके कारण मर्त्यलोक देवलोक से विशिष्ट हुआ है। इनके दर्शन से मानुषी स्त्रियों के नेत्र सफल हुए हैं। इनमें कलाओं का एकत्र समागम हुआ है। सौंदर्य का ऐश्वर्य इनमें मूर्तिमान हो उठा है। मनुष्यों के समग्र नागरिक भावों के ये प्रतीक हैं। यही सोचकर मैं आग्रहपूर्वक इनको ले आई हूँ। तुम्हारे विषय में भी मैंने इन्हें बहुत प्रकार से बताया है। तुम इनसे पहली बार मिल रही हो, इस कारण लज्जा मत मानो। अभी तक परिचय नहीं हुआ, इसलिये मन में अविश्वास मत लाओ। अभी तक इनका शील तुम्हें अविज्ञात है, इस कारण किसी भाँति की शंका मत करो। जैसे मुझमें वैसे ही इनके साथ भी व्यवहार करो। ये तुम्हारे लिये मित्र, बांधव और परिजन के समान हैं।

महाश्वेता के इस प्रकार परिचय कराने पर चंद्रापीड़ ने कादंबरी को प्रणाम

किया। कादंबरी ने सस्नेह तिरछी दृष्टि से अपांग भाग की ओर नेत्रों को फैलाकर चंद्रापीड़ को देखा और उसके नेत्रों में आनंद के जलबिंदु उमड़ आए। उसके अमृत के समान श्वेत स्मित की ज्योत्स्ना फैल गई, मानों हृदय के त्वरायुक्त प्रस्थान के कारण धूलि उठी हो। एक भ्रूलता ने ऊँचे उठकर मानों मस्तक से संकेत किया कि तुम भी इन्हें प्रणाम करो। मरकत की अंगूठी से युक्त अंगुलियाँ अधर पर जा ठहरीं, मानों तांबूल की वीटिका मुख में रक्खी हो। उसके स्वेद बिंदुओं में पड़ती हुई चंद्रापीड़ की परछाहीं ऐसी हुई मानों कामदेव की संचारिणी मूर्ति हो। चरण नखों में, कपोलों में, स्तनों के मध्य में उसी का प्रतिबिंब दिखाई पड़ा। पास में उपस्थित जितनी कन्याएँ थीं सभी कुतूहलवश नेत्रों की कनखियों से चंद्रापीड़ की ओर देखने लगीं।

[१६४]

कादंबरी ने विभ्रम के साथ चंद्रापीड़ को प्रणाम किया और महाश्वेता के साथ अपने पर्यंक पर बैठ गई। परिजनों ने धवलांशुक से ढकी हुई सुनहले पायों की एक पीठिका पर्यंक के शिरोभाग में रख दी जिस पर चंद्रापीड़ भी बैठ गया। महाश्वेता के अनुरोध से कादंबरी के चित्त का अभिप्राय समझकर प्रतिहारियों ने मुख पर उंगली रखने के संकेत से ही वेणु-वीणा के शब्द, गीत की ध्वनि और मागधी स्त्रियों के शब्द बंद करा दिए।[1] उसी क्षण परिजनों से लाए हुए जल से कादंबरी ने स्वयं उठकर महाश्वेता के चरण धोए और अपने रेशमी उत्तरीय से पोंछकर उसे पर्यंक पर बैठाया। कादंबरी की प्राणप्रिय सखी मदलेखा ने चंद्रापीड़ की अनिच्छा रहते हुए भी आग्रहपूर्वक उसके चरणों का प्रक्षालन किया। महाश्वेता ने कादंबरी के कंधे पर प्रेम से हाथ रखते हुए उसके कर्णावतंस को कुछ ऊँचा उठाकर और चौंरी की वायु से हिलती हुई अलकावली को सँवारते हुए उसकी कुशल पूछी। घर में रहने के कारण अपने आपको अपराधिनी मानती हुई कादंबरी इसी बात से लज्जित थी कि महाश्वेता के ऐसे कष्ट में भी वह स्वस्थ क्यों है, अतएव कठिनाई से ही वह अपनी कुशल कह सकी। यद्यपि उस क्षण उसके मन में कुछ शोक हो आया था और वह महाश्वेता के मुँह की ओर देख रही थी, तो भी कनखियों से बार बार चंद्रापीड़ की ओर जाती हुई अपनी दृष्टि को वह न रोक सकी। थोड़ी देर में जब महाश्वेता को पान देने लगी तो महाश्वेता ने कहा—'सखी कादंबरी नवागत अतिथि का आराधन हम सब का प्रथम कर्तव्य है, पहले इन्हें ही तांबूल दो। किंचित् लज्जा से मुँह फेरते हुए कादंबरी

१—संवृतमुखन्यस्तहस्तदत्तशब्दनिवारण संज्ञाः—बंद मुख पर अंगुलि रखने की मुद्रा चुप करने की मुद्रा समझी जाती थी, जैसा कुमार संभव में आया है—

लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पित हेम वेत्रः।
मुखार्पितैकांगुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान् व्यनैषीत्॥

कुमारसम्भव ३।४१

ने कहा—'प्रिय सखी' परिचय न होने से अभी इतनी प्रगल्भता दिखाने में मैं लजाती हूँ, तो तुम ही इन्हें दो।' जब महाश्वेता ने बार बार अनुरोध किया तो किसी प्रकार ग्राम्या स्त्री की भाँति झिझकते हुए वह तांबूलदान के लिये सहमत हुई। महाश्वेता के मुख की ओर अपनी दृष्टि करके काँपती हुई अंगयष्टि और व्याकुल नेत्रों के साथ, किसी प्रकार गहरी सांस लेते हुए उसने तांबूलगर्भित अपना हाथ चंद्रापीड़ की ओर बढ़ाया। चन्द्रापीड़ ने भी अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा दिया, मानों उसकी पाँचों रागवती इंद्रिय-वृत्तियाँ कादंबरी के स्पर्श लोभ से अंगुलियों में परिणत हो गई थीं। स्वभाव से ही रक्त उसका हाथ जयकुंजर के कुंभस्थल में लगे हुए सिंदुर से और भी लाल लग रहा था। दिग्विजय के प्रसंग में धनुष की प्रत्यंचा खींचने से काला निशान हाथ में पड़ गया था, मानों शत्रुओं की रोती हुई राज्यलक्ष्मियों का अंजन-बिंदु हो। लक्ष्यशून्य होकर फैलाए हुए हाथ से कादंबरी ने उसे तांबूल दिया, मानों वह कह रही थी कि मन्मथ द्वारा प्रदत्त इस दान को स्वीकार करो। आज से यह जीवन तुम्हारे हाथ में है। फिर उसने अपना हाथ खींच लिया किंतु अपने गिरे हुए रत्नवलय को वह न जान पाई, मानों उसके रूप में उसने अपना हृदय ही उसे अर्पित कर दिया था। तब दूसरा तांबूल उसने महाश्वेता को दिया।

[१६५]

तब सहसा एक सारिका भागती हुई वहाँ आई; एक सुग्गा मन्थर गति से उसका पीछा कर रहा था। सुग्गे की ग्रीवा में कई रंग के कंठे थे, मानों कुंडली किया हुआ इंद्र-धनुष हो। उसकी नुकीली चोंच विद्रुम की भाँति लाल थी एवं पंख मरकत के समान हरे थे। सारिका के दोनों पैर कोकाबेली के पीले केसर के समान पीले थे, मुँह का रंग चम्पा की कली जैसा था और पंख नीलोत्पल के समान थे। सारिका रोष में भरी हुई थी, उसने कहा—'भर्तृदारिके कादम्बरी, अपने को सुंदर समझने वाले दुर्विनीत इस विहंग को जो मेरे पीछे पड़ा है क्यों नहीं रोकतीं? यदि तुम इससे सताई जाती हुई मेरी ओर ध्यान न दोगी तो मैं निश्चय अपने प्राण खो दूँगी। मुझे तुम्हारे चरणों की शपथ है।' यह सुनकर कादम्बरी मुस्कराई। महाश्वेता ने मदलेखा से पूछा 'यह क्या कहती है?' उसने बताया—'यह भर्तृदुहिता कादम्बरी की सखी कालिंदी नाम की सारिका है। भर्तदारिका ने ही परिहास नाम के सुग्गे के साथ इसका ब्याह करके इसे उसकी पत्नी बनाया। आज प्रातःकाल कादम्बरी की ताम्बूल करंकवाहिनी तमालिका से अकेले में यह कुछ कह रहा था कि कालिंदी ने देख लिया। बस तभी से डाहवश मुँह फुलाकर न इसके पास जाती है, न बोलती है, न स्पर्श करती है, न देखती है। हम सब इसे मना रही हैं, पर यह मानती ही नहीं।' यह सुनकर चंद्रापीड़ ने कपोलों के स्पष्ट स्फुरण के साथ हँसते हुए कहा—'यह बात उड़ रही है, राजकुल में तो कानोंकान सुनी ही जा रही है, परिजन भी कह रहे हैं, बाहर भी लोगों में चर्चा है, देशांतरों में भी शोर है, और हमने भी सुना है कि देवी कादम्बरी की ताम्बूलवाहिनी तमालिका से परिहास नामक सुग्गे का प्रेम है; और वह प्रेम में

इतना डूब चुका है कि उसे बीते हुए दिनों का भी होश नहीं। तो विरुद्ध आचार में निरत एवं अपनी स्त्री को त्याग देने वाला यह इस तमालिका के साथ भले ही निर्लज्जता से बरते, पर क्या देवी कादम्बरी के लिये यह उचित है कि वह अपनी चंचल दुष्ट दासी को नहीं रोकती ? अथवा देवी ने तो पहले ही से अपने स्नेह का अभाव सूचित कर दिया है जो इस बेचारी कालिंदी को ऐसे दुष्ट के हाथों सौंपा। यह बेचारी अब क्या करे ? सौत का होना स्त्रियों के क्रोध का मुख्य कारण है, उनके वैराग्य का हेतु है और उनके लिये अपमान का स्थान है। यह कालिंदी बड़ी धीर है जो अपने इस दुर्भाग्य से वैराग्य लेकर इसने विष नहीं खा लिया, अग्नि में नहीं जल गई या अनशन नहीं साध लिया। स्त्रियों के लिये इससे बढ़कर लाघव का हेतु और नहीं। यदि ऐसा अपराध होने पर भी यह मनाने से इसके साथ फिर आ गई तो इसे धिक्कार है ! यह फिर दूर ही भली। यह फिर अपमान करके निकाल देने योग्य होगी, फिर कौन इससे बात करेगा ? कौन इसे देखेगा या कौन इसका नाम लेगा ?' चंद्रापीड़ ने जब इस प्रकार कहा तो कादम्बरी के साथ और भी स्त्रियाँ उसके उस क्रीड़ालाप का रसानुभव करके हँसने लगीं। परिहास उसका वह नर्म भाषित सुनकर बोला—'धूर्त राजपुत्र, यह बड़ी चंट है। तुम या और कोई इस चंचला को चकमा नहीं दे सकते। यह इतनी वक्रोक्ति तो समझती ही है। यह भी हँसोड़पने की बातें जानती है। राजकुल के संपर्क में रहने से यह भी बड़ी सयानी हो गई है। अतएव ठहरो, यह इस बांकेपन की छेड़ छाड़ के योग्य नहीं है। यह मिठबोली जानती है कि कब, क्यों, कैसे, कबतक रूठना चाहिए और फिर कैसे झुक जाना चाहिए।'

चंद्रापीड़ द्वारा इस प्रकार के नर्म भाषित या क्रीड़ालाप ने उस तनाव के वातावरण को एकदम दूर कर दिया जो इस समय उत्पन्न हो गया था। कादम्बरी, चंद्रापीड़, महाश्वेता एवं और सब उपस्थित सखी और परिजनों के लिये इस समय ऐसे हलके झोंके की आवश्यकता थी जिससे फिर वे अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त कर सकें। कवि ने विलक्षण युक्ति से वही यहाँ किया है। दूसरी बात यह कि उस स्त्री मंडल में पहुँचकर भी चंद्रापीड़ ने वहाँ के वातावरण को अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। उलटे इस क्रीड़ालाप से वे उन सबके ऊपर प्रभावशाली हो गए। स्त्रियों का जो अपना क्षेत्र था उसमें भी उन्हें चंद्रापीड़ का लोहा मानना पड़ा। इसका यह भी फल हुआ कि उनके और चंद्रापीड़ के बीच की अपरिचयकृत दूरी हट गई और वे परस्पर निकट आ गए। नर्म भाषित से चंद्रापीड़ ने सबके मनों में अंतरंग प्रवेश पा लिया। परिहास ने कालिंदी के ब्याज से जो कहा है वह राजपुत्र चंद्रापीड़ को भी सावधान करने के लिये था। उसने टोका कि तुम्हारे नर्म भाषितों से प्रतारित होने वाली यहाँ कोई नहीं है। यहाँ की 'मंजुभाषिणी' भी राजकुल के संपर्क से सुजान और सयानी है।

[१६६]

इसी बीच में कंचुकी ने आकर महाश्वेता से कहा—'आयुष्मती, देव चित्ररथ और देवी मदिरा तुमसे मिलने के लिये उत्सुक हैं।' यह सुनकर उसने जाने से पहले कादंबरी

से पूछा—'सखी, चंद्रापीड़ को कहाँ ठहराया जाय ?' उसने मन में कहा—'इसने तो अनेक स्त्रियों के हृदयों में पर्याप्त स्थान बना लिया है,' और फिर हँसते हुए प्रकट में कहा—'सखी महाश्वेता, तुम ऐसा क्यों कहती हो ? जब से मैंने इसे देखा है तभी से यह मेरे शरीर का स्वामी हो गया है। भवन, विभव और परिजन की तो बात ही क्या ? जहाँ इसे अच्छा लगे या जहाँ तुम्हारी रुचि हो वहीं यह ठहरे।' यह सुनकर महाश्वेता ने कहा—'तो यहीं तुम्हारे प्रासाद के समीपवर्ती प्रमदवन में जो क्रीड़ापर्वत है उसपर बने हुए मणिवेश्म में इसे ठहरा दो।' यह कह वह गंधर्वराज से मिलने चली गई।

चंद्रापीड़ भी उसी के साथ बाहर आ गया और केयूरक द्वारा मार्ग दिखाने पर क्रीडापर्वत के मणिमंदिर में चला आया। कादंबरी के आदेश से प्रतिहारियों ने उसका मनोविनोद करने के लिये वीणावादिनी, वंशी बजाने में चतुर, गान कला में कुशल, द्यूत क्रीड़ा और चौपड़ खिलाने में निपुण चित्रकर्म में प्रवीण और सुभाषित जानने वाली बहुत सी कन्याओं को मणि मंदिर में भेजा। चंद्रापीड़ के चले आने पर कादंबरी ने सखियों और परिजनों को तो बिदा कर दिया और स्वयं कुछ परिचारिकाओं को ले प्रासाद के ऊपरी भाग में गई।[१] वह वहाँ अपने शयनीय पर पड़ गई। उसकी परिचारिकाएँ दूर खड़ी होकर अपनी-अपनी शिक्षा के अनुसार उसका मनोविनोद करने लगीं। तब किसी प्रकार वह होश में आकर अकेले में सोचने लगी। उस समय लज्जा ने मानों बरजते हुए उससे कहा—'अरी, चंचला तूने यह क्या कर डाला ? विनय ने मानों उपालंभ देते हुए कहा—'गंधर्व राजपुत्री, क्या यह उचित है ?' भोलेपन ने मानों हँसी करते हुए, कहा—'तेरा वह सीधा साधा बाल भाव कहाँ गया ! मानों उसके कुमार भाव ने संबोधन किया—'अरी मनमानी करने वाली, अकेली ऐसी भारी अविनय मत कर।' कुलीनता ने मानो निंदा करते हुए कहा—'अरी डरपोक, कुलकन्याओं की यह चाल नहीं।' उसके सदाचार ने मानो डपटते हुए कहा—'अरी दुर्विनीत, इस अविनय से अपने को बचा।' उसके उच्चकुल ने मानो उसका अनुशासन किया—'अरी मूर्ख, कामदेव ने तुझे हल्का बना दिया।' धैर्य ने मानों उसे धिक्कारा—'इतनी चंचलता तुझमें कहाँ से आई ?' कुलाचार ने मानो उसे दोष दिया—'आज तूने मेरी पत खो दी।' यह सोचते हुए वह अथाह लज्जा भाव में डूब गई।

[१६७]

वह फिर सोचने लगी—'सबका डर छोड़कर, हृदय की चंचलतावश, मोह से अंधी हुई मुझ नासपीटी (हताश) ने यह क्या कर डाला ? मैंने अपने उजड्डपन में यह भी

१—अभीतक वह श्रीमंडप में थी जो कि कन्यांतःपुर या कुमारीपुर का वैसा ही भाग था जैसा राजकुल में आस्थान मंडप होता था। कुमारी अंतःपुर का शयनीय गृह उसके ऊपरी तल्ले में था, जैसे राजा रानी के वासगृह और सौध धवलगृह के ऊपरी भाग में होते थे।

न सोचा कि इससे मेरा पहले का परिचय नहीं। मैंने निर्लज्जतावश यह न विचारा कि लोग मुझे मनचली (लघुहृदया) समझेंगे। उसके चित्त की वृत्ति कैसी है ? अपने मूरखपन में मैं इसकी परख के लिये न ठहरी। मैं इतनी चंचल हो उठी जो यह भूल गई कि मैं उसे दर्शन भी दूँ या न दूँ। मैं इससे भी न डरी कि कहीं उसने मुझे अंगीकार न किया तो कैसी लज्जा की बात होगी। गुरुजनों का मैंने डर न माना, लोकनिंदा से भी न डरी। महाश्वेता दुखिया है, यह भी अपने निठुरपने में मैंने न सोचा। मंद भाव के कारण मैंने विचार न किया कि मेरी अंतरंग सखियाँ यह सब देख रही हैं। बेसुधी में मुझे यह भी भूल गया कि पास के परिजन मुझे देख रहे हैं। जो समझदारी में बिल्कुल गुट्ठल हैं वे भी मेरे इस प्रकार के कथन को ताड़ जाएँगी। फिर काम वृत्तांत का अनुभव रखने वाली महाश्वेता, कलाओं में कुशल सखियाँ, राजकुल में रहने से सयाने परिजन जो संकेत से ही सब जान लेते हैं, कैसे न समझ पाएंगे ? ऐसी बातों में अंतःपुर की दासियाँ बड़ी पैनी निगाह रखती हैं। मैं अभागी सब तरह चौपट हो गई ! मेरे लिये मरना भला, ऐसी निर्लज्जता से जीना नहीं। समाचार जानकर माँ क्या कहेंगी, अथवा पिता या गंधर्वलोक क्या कहेगा ? क्या करूँ ? अब प्रतीकार क्या है ? किस उपाय से इस भूल को छिपाऊँ ? इन उत्पाती इंद्रियों की चपलता किससे कहूँ ? काम से दग्ध इस हृदय को लेकर कहाँ जाऊँ ? मैंने महाश्वेता की विपत्ति के कारण दृढ़ प्रतिज्ञा ली थी। प्रिय सखियों के सामने पहले कह चुकी हूँ। केयूरक के द्वारा वैसा संदेश भेज चुकी हूँ। मैं अभागिनी नहीं समझ पा रही हूँ कि दुष्ट विधाता ने, या मिटगए कामदेव ने, या मेरे पहले के पापों ने, या पाजी मृत्यु ने, या और किसी ने इस छलिया चंद्रापीड़ को मेरे लिये भेज दिया। कोई ऐसा मुझे ठगने आ गया जिसे मैंने पहले न देखा था, न सुना था, न परखा था, न सोचा था, जिसे देखते ही निर्जीव वस्तु की भाँति मानों इन्द्रियों ने बाँधकर मुझे उसके हवाले कर दिया, काम ने मुझे अपने बाणों के पिंजड़े में बंद कर उसे सौंप दिया, अनुराग ने दासी बनाकर उपहार में दे दिया, और हृदय ने उसके गुणों का मूल्य चुकाकर मुझे बेच ही डाला। उस चपल के साथ मैं कुछ सम्बन्ध न रक्खूँगी।'[१] क्षण भर के लिये उसने मन में इस प्रकार का निश्चय किया। पर इस संकल्प के आते ही उसके हृदय में स्थित चन्द्रापीड़ ने उससे कहा—'अरी कपटसंकोची, यदि तुझे मुझसे काम नहीं तो मैं जाता हूँ।' और यों उसके हृदय की धड़कन के साथ चलने के लिये उद्यत चंद्रापीड़ मानो उसपर हँस रहा था। जैसे ही उसने चन्द्रापीड़ को छोड़ने का संकल्प किया, उसके प्राण भी कंठ में लगकर उससे बिदा लेने लगे। तत्काल आँखों में डबडबाए हुए आँसुओं ने मानों उससे कहा —'अरी गुण की पहचानने में अनबूझ, एकबार फिर दृष्टि स्वच्छ करके देख ले कि यह छोड़ने योग्य है या नहीं।' उसी समय कामदेव ने मानों डपटकर उससे

१—कादम्बरी का आशय है कि इन्द्रियों ने, काम ने, अनुराग ने और हृदय ने मुझे निर्जीव वस्तु समझकर उसके वश में कर दिया, स्वयं मैंने उससे कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा।

कहा —'मैं तेरे धैर्य की इस ठसक को और साथ ही प्राणों को भी लेकर छोड़ूँगा।' यों चारों ओर से घिरकर उसका हृदय फिर चन्द्रापीड़ में अनुरक्त हो गया।

इस प्रकार विपक्ष के सब तर्क जब हार गए तो प्रेम के आवेश से अपने वश में न रहकर वह पराधीन की भाँति उठी और जालगवाक्ष के पास जाकर उसी क्रीड़ा पर्वत की ओर देखने लगी। वहाँ उसके नेत्रों में आनन्द के आँसू भर आए। उस व्यवधान के कारण वह उस समय नेत्रों से नहीं वरन् अपनी स्मृति से उसे देख रही थी। उस समय उसने चन्द्रापीड़ का चित्र अपने ध्यान से बनाया, चित्रतूलिका से नहीं, क्योंकि अँगुलियों के स्वेद जल से उसके भींग जाने का भय था। उसने हृदय से उसका आलिंगन किया, वक्षःस्थल से नहीं, क्योंकि रोमांच के बीच में आने का डर था।[1] चन्द्रापीड़ से मिलने में समय का व्यवधान न हो इसलिये उसने किसी परिजन से उसे न बुलवाकर अपना मन ही उसके पास भेज दिया।

[१६८]

चन्द्रापीड़ उस मणिगृह में प्रवेश करके शिलातल पर बिछे हुए कालीन (कुथ) पर लेट गया। उस आस्तरण पर आवश्यकतानुसार बहुत से तकिये एक दूसरे के ऊपर रक्खे हुए थे। केयूरक युवराज के पैर गोद में लेकर दबाने लगा और मनोविनोद के लिये आई हुई कन्याएँ चारों ओर भूमि पर बैठ गईं। उसके दोलायमान चित्त में भी बहुत से विचार आने लगे—'क्या गन्धर्वराज दुहिता कादम्बरी की वे ललित हृदयग्राही चेष्टाएँ जो आज मैंने देखीं स्वाभाविक हैं, या भगवान् कामदेव ने आराधना के बिना ही मुझपर प्रसन्न होकर उन्हें मेरे लिये प्रयुक्त कराया है? फलस्वरूप वह आज रागभरी दृष्टि से नेत्र का तिहाई[2] भाग सिकोड़कर कनखियों से मेरी ओर देख रही थी। जब मैं उसकी ओर देखता तो वह लजाकर मन्द हँसी हँसने लगती। मुझे देखकर लज्जा से वह अपना मुँह फेर लेती, मानो मेरा प्रतिबिम्ब लेने के लिये अपना कपोलरूपी दर्पण मेरी ओर कर देती थी। वह अपने पर्यंक पर हाथ के नख से रेखा बनाने लगी, मानो जिस हृदय ने मुझे अपने भीतर अवकाश दिया था, उसकी पहली अविनय की सूचक लकीर खींच रही थी। मुझे ताम्बूल वीटिका देने मात्र के श्रम से ही उसका दाहिना हाथ

१—यहाँ कवि ने नायिका में उत्पन्न अश्रु, स्वेद और रोमाञ्च नामक सात्विक भावों का वर्णन किया है।

२—कूणितत्रिभागेन—जिसका तिहाई भाग सिकोड़ लिया जाय ऐसा नेत्र या दृष्टि कामदेव की कही गई है। हर्षचरित में भी कहा है कि राज्यश्री के वासगृह में एक ओर फूलों से लदे रक्ताशोक के नीचे धनुष पर बाण रखकर तिरछी ऐंची हुई तिहाई भाग से मिचमिचाती आँख से निशाना साधते हुए कामदेव का चित्र बना था—तिर्यक्कूणित-नेत्रत्रिभागेन कामदेवेनाधिष्ठितम् (हर्षचरित पृ० १४१)।

काँपने लगा था और उसे रक्तोत्पल जानकर जो भौंरे खिंच आए थे, उनसे ज्ञात होता था मानों वह तमाल का पल्लव लेकर अपने श्रान्त मुख पर पंखा झल रही थी।

यहाँ तक चन्द्रापीड़ कादम्बरी की विलास चेष्टाओं का अर्थ अपने अनुकूल लगा रहा था। फिर उसके मनमें संदेह उत्पन्न हुआ कि क्या वस्तुतः कादम्बरी उससे प्रेम करती है। उसके मन में इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए—'प्रायः मनुष्यों में सुलभ लघुता मेरे मन में अनेक मिथ्या संकल्प उत्पन्न करके मुझे छल रही है। विवेक को लुप्त करने वाला यौवन का मद या कामदेव मुझे पागल बना रहा है। युवकों की दृष्टि स्त्रियों में उनके प्रति उत्पन्न थोड़े से विकार को भी बहुत बड़ा करके देखती है, जैसे तिमिर रोग से दूषित नेत्र को थोड़ा अंधेरा भी बहुत जान पड़ता है। यौवन का मद स्त्री के लेशमात्र स्नेह को भी दूर तक फैला लेता है, जैसे तेल की बूँद जल में फैल जाती है। नवयुवकों की चंचल बुद्धि स्वयं अनेक प्रकार की कल्पनाएं करके किस किस वस्तु की उसमें उत्प्रेक्षा नहीं कर लेती, जैसे कवि अपने मन से विचार करता हुआ सब भाँति की उत्प्रेक्षाएं कर लेता है ?[1] तरुणों की चित्तवृत्ति चतुर काम के वश में आई हुई क्या-क्या चित्र नहीं बना लेती, जैसे चतुर चित्रकार के हाथ की तूलिका नाना भाँति के यथेष्ट चित्र लिख लेती है ? अपने रूप के अभिमान में भरे हुए वे कहाँ अपने आपको आगे नहीं कर देते, जैसे कोई कुलटा स्त्री अपना प्रदर्शन करने के लिये उत्सुक रहती है ? जो कभी देखा सुना नहीं उसे भी उसका मनोरथ स्वप्न की भाँति सामने ले आता है। प्रत्याशा असम्भव को भी सामने ला खड़ा करती है।' उसके विचारों ने फिर पलटा खाया और वह सोचने लगा—'व्यर्थ मन में चिन्ता करने से क्या ? यदि सचमुच उसकी चित्तवृत्ति मुझमें अनुरक्त है तो कामदेव शीघ्र ही उसे प्रकट किए बिना न रहेगा। वही इस संशय को दूर करेगा।' मन में यह निश्चय करके वह उठा और उन कन्याओं के साथ चौपड़, गान, वंशी, मृदंग, स्वर की बारीकियों की पहचान, सुभाषित, गोष्ठी एवं अन्य भाँति-भाँति के ललित कला-विलासों से मन बहलाने लगा। कुछ देर ठहरकर वह मणिमन्दिर से बाहर निकला और उपवन की शोभा देखने के लिये क्रीड़ा पर्वत की चोटी पर चढ़ गया।

[१६६]

कादम्बरी ने सोचा कि महाश्वेता के आने में देर हुई तब वह जैसे उसका मार्ग देखने के लिये गवाक्ष से हटकर सौध के ऊपरी भाग पर चढ़ गई। वस्तुतः यह तो एक निमित्त था, वह वहाँ से चन्द्रापीड़ की झाँकी लेना चाहती थी। उसके साथ में थोड़े से ही परिजन थे और धूप से बचने के लिये सिर के ऊपर सुवर्णदंड से युक्त पूर्णचन्द्र के

१—स्वयमुत्पादित चिन्ताशताकुला कविमतिरिव तरलता न किञ्चिन्नोत्प्रेक्षते—कल्पनाशील कवि की उत्प्रेक्षाशक्ति के विषय में बाण की यह उक्ति जैसे स्वयं उनके अपने लिये ही चरितार्थ है।

समान गोल श्वेत छत्र लगा हुआ था। उसके ऊपर चार चौरियाँ ढाली जा रही थीं। सिर पर सुगन्धित पुष्पों का गन्धमुकुट था। उस पर आकृष्ट भौंरे ऐसे ज्ञात होते थे मानों दिन में नीला अवगुण्ठन धारण करके चन्द्रापीड़ के लिये अभिसार का अभ्यास कर रही हो। वहां कभी वह चौंरी का अग्रभाग पकड़ कर खड़ी हो जाती। कभी छत्र दण्ड की टेक लेकर आराम करने का बहाना करती। कभी तमालिका के कंधे पर हाथ रखकर कुछ देर रुकती। कभी अपनी सखी मदलेखा का आलिङ्गन करने लगती। कभी परिजनों के बीच में अपने को छिपाकर आंख की कनखियों से उधर देखती। कभी देह के ऊपरी भाग की त्रिवली को मोड़कर शरीर से अंगड़ाई लेने का बहाना करती। कभी प्रतीहारी के हाथ की वेत्रलता के शिखर पर अपना गाल रख लेती। कभी हाथ की वीटिका को अधर पल्लव पर रखने का नाटक करती। कभी कान के गिरे हुए नीलोत्पल से परिजनों पर झूठमूठ का प्रहार करने के लिए उनके पीछे दो चार पग दौड़ती। इन बाहरी चेष्टाओं के व्याज से वह हँस हँस कर चन्द्रापीड़ को देख रही थी, और वह भी उसे देख रहा था। यों देरतक दोनों में नोंक झोंक होती रही और बीतता हुआ समय किसी को न जान पड़ा। तब तक प्रतीहारी ने ऊपर आकर महाश्वेता के लौटने का समाचार सुनाया और कादम्बरी नीचे उतर आई। स्नान आदि में उसकी विशेष रुचि न थी, फिर भी महाश्वेता के अनुरोध से उसने दिनचर्या का पालन किया। चन्द्रापीड़ भी क्रीड़ापर्वत के शिखर से माणिगृह में आया और पहले से उपस्थित हुए कादम्बरी के परिजनों ने उसे स्नान कराया। तब उसने अनगढ़ शिला में इष्ट देवता की भावना करके पूजन किया और वहीं क्रीड़ा पर्वत के ऊपर आहार आदि की क्रियाएं पूरी कीं।[1]

[२००]

आहार करने के बाद वह क्रीड़ापर्वत के पूर्वीभाग में रखे हुए मरकत शिलातल पर जाकर बैठ गया। उस पत्थर का रंग हारिल पक्षी के समान हरा था। आश्रम की हिरनियां उसके समीप में बैठी हुई अपने मुख से रोमन्थ फेन गिरा रही थीं। उस शिला में यमुना के जल जैसी झलक निकल रही थी और आलता लगे हुए पैर की लाली जैसी कुछ आभा भी आरही थी, क्योंकि तरुणियों के पैरों की छाप उस पर पड़ी थी। वहीं एक लतामंडप बना हुआ था, जो मोरों के नृत्य के लिये संगीतगृह के समान था। वहाँ बैठे हुए उसने क्या देखा कि सहसा ही एक दिव्य धवल ज्योति प्रकट हुई जिसके सामने दिन का प्रकाश भी ऐसे मंद होने लगा जैसे जल से बुझ गया हो, या मृणालों के समूह ने सूर्य के आतप का

१—निरुपहतशिलार्चिताभिमतदैवत—निरुपहत शिला का अर्थ भानुचन्द्र ने अखण्ड शिला किया है। काणे ने भी लिखा है कि अखण्ड शिला पर बैठकर चन्द्रापीड़ ने अभिमत देवता की पूजा की। वस्तुतः 'अनुपहत शिला' का अर्थ अनगढ़ शिला संगत बैठता है। जिस शिला में कोई प्रतिमा अभिव्यक्ति नहीं की गई हो, उस प्रकार की शिला में अपने इष्ट देवता की भावना करते हुए चन्द्रापीड़ ने पूजा की।

पान कर लिया हो, या जैसे क्षीर समुद्र ने पृथिवी पर उसके तेज को कुछ फीका कर दिया हो, या चंदन रस की वृष्टि से दिशाएँ सिक्त हो गई हों, या अम्बरतल सुधा से विलिप्त हो गया हो। इस प्रकार दिन में भी एक भास्वर आभा वहाँ दिखाई पड़ी।

उसने मन में सोचा कि क्या एकाएक चंद्रमा निकल आया है, या किसी यंत्र विशेष की सहायता से धारा गृह[1] में जल की सहस्रों धाराओं के फूट निकलने से उसकी फुहारों का धवल धुआं चारों ओर छा गया है, या आकाश गंगा धरती की ओर अवतीर्ण हुई है जिससे उसके शीकरों को वायु ने उड़ाकर भुवन को धवलित कर दिया है।

[२०१]

कुतूहल से उसने अपनी दृष्टि उसी ओर फेंकी जिधर से वह ज्योति आरही थी और सैकड़ों कन्याओं के साथ आती हुई मदलेखा को देखा जिसके पीछे मालती के पुष्पों की माला हाथ में लिए हुए तमालिका आरही थी और समीप में तरलिका थी। मदलेखा के सिर पर धवल आतपत्र लगा हुआ था और दोनों ओर से दो चँवर ढाले जा रहे थे।[2] साथ में कादम्बरी की प्रतीहारी बाएं हाथ में एक नारियल का डिब्बा लिए हुए थी जिसके भीतर चंदन का अनुलेपन था और मुँह पर गीला वस्त्र खंड ढका हुआ था। दाहिने हाथ से वह प्रतीहारी मदलेखा को सहारा देती हुई चल रही थी। सामने केयूरक अत्यंत झीने और केंचुली के समान श्वेत दो नये धुले हुए कल्पलता दुकूल लिए हुए मार्ग बता रहा था।[3]

१—यन्त्रविशेष विशीर्यमाणपांडुरधारा सहस्राणि धारागृहाणि मुक्तानि—यन्त्र विशेष का उल्लेख सूचित करता है कि धारागृहों में नानायुक्तियों से जल की धाराओं को फुहारों के रूप में परिणत करके चारों ओर उनका धुआँ सा फैलाने का यत्न करते थे। मयूर कलहंस आदि की सुंदर आकृतियों से भी यंत्र-धारागृहों को सजाया जाता था।

२—मदलेखा को कादम्बरी की प्राण प्रिय सखी (जीवित-निर्विशेषा) कहा गया है। कादम्बरी ने इस विशेष अवसर पर मदलेखा को छत्र और चँवर धारण करने का अधिकार देकर चंद्रापीड़ के लिये उपहारों के साथ भेजा। उसने जानबूझ कर मदलेखा को राजोचित गौरव से विभूषित किया। मदलेखा इस अवसर पर कादम्बरी की साक्षात् प्रतिनिधि बनकर चंदन, दुकूल, मालती कुसुमदाम और शेषहार इन चार वस्तुओं से स्वयं चंद्रापीड़ का प्रसाधन करती है जैसा कि कादम्बरी के अतिरिक्त और किसी के लिये करना उचित न था।

३—निश्वासहार्ये निर्मोकशुचिनी धौते कल्पलता दुकूले—गुप्तकालीन संस्कृति में साँप की केंचुली के समान झीने वस्त्रों का प्रायः उल्लेख आता है। शूद्रक के वस्त्रों को भी 'विषधर निर्मोकपरिलघुनी धवले धौत वाससी कहा गया है [अनु० १४]। रघुवंश (१६ । १७) में इस प्रकार के झीने वस्त्रों को निर्मोक पट्ट कहा है। कल्पलता दुकूल भी एक विशेष प्रकार के वस्त्र की संज्ञा हो गई थी।

उसके एक ओर तरलिका श्वेतांशुक से ढकी हुई मंजूषा[1] में शेष नाम का अतिशुभ्र हार लिए हुए चल रही[2] थी। उस हार की धवलता अनुपम थी। वही मानों क्षीर समुद्र की श्वेतता का कारण था, या चंद्रमा का सहोदर भाई था, या नारायण के नाभि कमल का मृणाल दंड था, या मंदराचल से क्षुभित अमृत समुद्र का फेनपुंज था, या मंथन के श्रम से छोड़ा हुआ वासुकि का निर्मोक था, या लक्ष्मी का हास था जो वह पितृगृह से भर्तृगृह में जाते समय पीछे छोड़ आई थी, या मंदराचल के मंथन से बिखरी हुई चंद्र कलाओं को समुद्र से संग्रह करके किसीने एकत्र कर दिया था, या क्षीर समुद्र में पड़नेवाली नक्षत्रप्रतिमाओं को उद्धृत करके किसी ने हार के रूप में पिरो दिया था। वह कामदेव रूपी कुंजर के लिये नक्षत्रमाला आभरण के समान था, या शरत्काल के स्वच्छ मेघखंडों से बनाया गया था, या राजदुहिता कादंबरी के रूप पर आसक्त मुनिजनों के स्वच्छ हृदयों को जोड़कर किसी ने हार का रूप दिया था। वह पृथिवी के समस्त रत्नों का गुरु जान पड़ता था, अथवा सब समुद्रों के रत्नों की जो संचित यशोराशि है उसे एकत्र करके बनाया गया था। वह चंद्रमा का प्रतिस्पर्धी, चंद्रिका का प्राण, नलिनी दल पर स्फुरित जलबिंदु के समान तरल लक्ष्मी का हृदय विदित होता था। उसकी किरणें मृणाल वलय के समान धवल थीं। उसके घनमुक्ताओं का अंशुसमूह शरत्कालीन शुभ्र चंद्रमा के समान दिशाओं को श्वेत कर रहा था।

इस प्रकार प्रभावर्षी अतिश्वेत हार को देखकर चंद्रापीड़ ने अपने दृष्टि पथ में आई हुई धवलिमा का कारण जान लिया और दूर से ही उठकर समुचित आदर के साथ मदलेखा का स्वागत किया। वह उसी मरकत शिला पर आकर बैठ गई और कुछ देर में उठकर उसने स्वयं अपने हाथ से चंद्रापीड़ के शरीर में चंदन का अनुलेपन लगाया और कल्पलता दुकूल पहनाकर मालती कुसुमों की माला से उसके सिर पर शेखर रचा और तब

१—पटलक रत्नमंजूषा (दे० कादम्बरी अनु० ६१, ६७, पटलकविनिहितानि विविधानि आभरणानि)। आभूषण रखने के हाथी दाँत के अति सुंदर पटलक प्राचीन कपिशा (आधुनिक बेग्राम, अफगानिस्तान) के उत्खनन में प्राप्त हुए हैं (दे० 'कपिशा के दान्त-फलक' नामक ग्रंथ, फ्रेंच विद्वान् हार्कें और ग्लुम्बर्गर कृत, भाग २, चित्र ६३८–६४४)।

२—इस मंडली में पाँच प्रधान व्यक्ति थे, मदलेखा, स्वयं कादम्बरी की प्रतिनिधि के रूप में छत्र लगाए आ रही थी। कादम्बरी की प्रतीहारी चंदन के अनुलेपन से युक्त नारियल की बनी हुई कटोरी लिए हुए उसे हाथ का सहारा देकर साथ चल रही थी। सामने केयूरक कल्पलता दुकूल लिए हुए मार्ग बता रहा था। पीछे तमालिका पुष्पदाम लिए हुए थी और दाहिने हाथ की ओर तरलिका हार लिए हुए आरही थीं। मदलेखा के बाद महाश्वेता की सखी तरलिका का ही पद इन सब में ऊँचा था और हार उसी के हाथ में था।

हार हाथ में लेकर चंद्रापीड से बोली—'कुमार, तुम्हारी अहंकाररहित स्वभावमाधुरी तुम्हारे प्रेम में वशीभूत जन को क्या कुछ करने के लिये प्रेरित नहीं करती ? तुम्हारी विनय से ही इस प्रकार का अवसर उन्हें मिलता है। अपनी इस रूप—माधुरी से तुम किसके प्रणेश्वर नहीं बन गए। इस सहज वात्सल्यमय चरित से किसका बंधुत्व तुमने प्राप्त नहीं कर लिया ? तुम्हारी यह सहज मधुर वाणी किसे अपना मित्र नहीं बना लेती ? तुम्हारे ये निसर्ग सुकुमार गुण किसे आश्वस्त नहीं करते ? तुम्हारे स्वरूप को ही यह उपालंभ मिलना चाहिए कि प्रथम दर्शन से ही वह इस प्रकार विश्वास उत्पन्न कर देता है। अन्य सब भुवनों में जिसकी महिमा प्रख्यात है ऐसे तुम्हारे लिये जो कुछ भी किया जाय वह अनुरूप नहीं बन पाता। तुम्हारे साथ संभाषण का साहस मानों तुम्हारे पद को नीचे ले आना है। तुम्हारे प्रति आदर की अभिव्यक्ति जैसे हम में प्रभुता का अभिमान उत्पन्न करती है। तुम्हारी स्तुति का प्रयत्न हमारे अहंकार को ही सूचित करता है। तुम्हारे प्रति किसी प्रकार का उपचार हमारी चपलता प्रकट करता है। तुमसे प्रेम प्रकट करने का अर्थ है कि हम अपनी हीनता नहीं जानतीं। तुमसे किसी प्रकार की विनती करें तो हमारी प्रगल्भता सूचित होती है। सेवाभाव का प्रदर्शन चपलता मात्र है। तुम्हारे लिये उपहार का दान तुम्हारा निरादर ही है। जब तुम हमारे हृदयों को स्वयं ले चुके तो देने के लिये हमारे पास रहा ही क्या ? जीवितेश्वर को क्या दिया जा सकता है ? तुमने यहाँ आकर पहले ही जो महान् उपकार किया है उसका हम क्या प्रत्युपकार कर सकती हैं ? दर्शन देकर तुमने जो हमें जीवन का फल दिया है, उसके अनुरूप कौन सी वस्तु तुम्हें देकर हम तुम्हारे आगमन को सफल बना सकती हैं ? इस हार के व्याज से कादंबरी तुम्हारे प्रति केवल अपना प्रणय भाव प्रकट करती है, वैभव नहीं। सज्जनों का विभव दूसरों के लिये होता है, यह कहने की बात नहीं। विभव की चर्चा ही क्या, तुम्हारे सदृश महानुभाव का दास्य भी वह अंगीकार करे तो भी उसे अकार्य-कारिणी न कहा जायगा। यदि वह अपने को तुम्हारे समर्पण भी कर दे तो भी वह वंचित न होगी। अपने प्राण भी देकर उसे पछताना न पड़ेगा। सज्जनों की महत्ता दाक्षिण्य की वशवर्तिनी होती है। वह अपने प्रेमीजनों का प्रत्याख्यान नहीं कर सकती। तुम्हारे सदृश महानुभाव के समक्ष याचना करने में इतनी लज्जा नहीं जैसी देने में है। सत्य तो यह है कि इस प्रकार के व्यवहार से कादंबरी समझती है कि वह तुम्हारे प्रति जैसे अपराधिनी हुई है।

जब समुद्र से सब रत्नों का मंथन हो चुका तो अकेला यही हार उसके पास बच रहा था इसलिये इसका नाम शेष है और इसी कारण समुद्र भी इसे बहुत चाहता था। जलों के अधिपति समुद्र के यहाँ जब वरुण अतिथि होकर आए तो उसने यह हार उन्हें दिया। फिर वरुण ने गंधर्वराज चित्ररथ को और गंधर्वराज ने कादंबरी को दिया।[1]

१—राजाओं के कोष में उस युग में जो सबसे मूल्यवान् आभूषण और रत्न होते थे उनके विषय में इस प्रकार की किंवदंती उस समय प्रचलित हो जाया करती थी। हर्ष-

उसने आपके शरीर को ही इस आभरण के अनुरूप समझकर इसे आपके समीप भेजा है। अमृत को जन्म देनेवाले चंद्रमा के लिये आकाश ही उपयुक्त स्थान है, पृथिवी नहीं। यद्यपि गुण समूह से ही जिनके शरीर अलंकृत हैं ऐसे आप सदृश महानुभाव आभूषणों का बोझा नहीं धारण करते, तथापि कादंबरी के प्रेमवश इसे स्वीकार करें। क्या लक्ष्मी की प्रीति से उसके साथ जन्मे हुए कौस्तुभ नाम पत्थर के टुकड़े को भगवान् विष्णु ने अपने वक्षस्थल पर धारण नहीं कर लिया ? नारायण महिमा में आपसे अधिक नहीं, और न कौस्तुभ मणि गुणों में किंचित् भी इस शेष से बढ़कर है, और न लक्ष्मी ही कादंबरी के सौंदर्य की कुछ तुलना कर सकती है। अतएव कादंबरी आपसे भी यह यह संमान पाने के योग्य है। वह सर्वथा आपके इस प्रकार के प्रेम की पात्र है। यदि आपने उसके प्रेम को स्वीकार न किया, तो वह महाश्वेता को सहस्रों उपालंभ देकर फिर अपना जीवन न रक्खेगी।[2] इसीलिये महाश्वेता ने तरलिका को हार लेकर आपके पास भेजा है और उसने भी कुमार को संदेश सुनाया ही है। अतएव आप महानुभाव मन से भी कादंबरी की इस पहली प्रणय प्रार्थना को अस्वीकार न करें।' यह कहकर उसने उस हार को कुमार के वक्ष स्थल में पहना दिया।

[२०२]

चंद्रापीड़ ने हँसते हुए कहा—'मदलेखा, यह क्या कहती हो ? तुम चतुर हो, स्वीकार कराने की युक्ति जानती हो। तुमने अपने वचन कौशल से मेरे लिये उत्तर का अवकाश ही नहीं छोड़ा। अरी भोली, हमारा अपने ऊपर क्या वश है ? ग्रहण करने या न करने का अधिकार भी हमें कहाँ ? वह तो बात ही अब दूर चली गई। सौजन्य की मूर्ति आप मुझे अपनी ही वस्तु समझकर इष्ट या अनिष्ट चाहे जिस कार्य में लगावें। ऐसा कौन

चरित में दिवाकर मित्र ने जो मोतियों की एकावली माला हर्ष को उपहार में दी थी, उसके संबंध में भी ऐसी ही किंवदंती कही गई है। आकाश के चंद्रमा ने समुद्र में अपना प्रतिबिंब देखकर अपनी पत्नी तारा का स्मरण किया। उसके वियोग में उसके जो आँसू गिरे मुक्ताशुक्तियों ने उनका पान कर लिया। उनसे बने हुए मुक्ताफलों को पाताल के अधिपति वासुकि ने प्राप्त किया और उसकी एकावली बनाई। नागराज वासुकि से वह नागार्जुन को प्राप्त हुई और नागार्जुन ने उसे त्रिसमुद्राधिपति अपने मित्र सातवाहन नरेश को दिया। वही काल परंपरा से दिवाकर मित्र को मिली और उससे हर्ष को।

१—मदलेखा का वास्तविक तात्पर्य यह है कि नारायण और लक्ष्मी के समान ही आपका कादंबरी के साथ समागम उपयुक्त होगा।

२—मदलेखा ने और सब तो अपनी ओर से पुष्पित वाक्य कहे, किंतु उस अंतिम वाक्य में उसने कादंबरी का निजी संदेश चंद्रापीड़ तक पहुँचाया क्योंकि यह निश्चित था कि चंद्रापीड़ के प्रणय भंग करने पर कादंबरी अपने प्राण त्याग देती।

है जिसे अति विनीत देवी कादम्बरी के धृष्ट गुण अपना दास न बना लें।' इस प्रकार कादम्बरी के सम्बन्ध में बहुत सी बातें करते हुए उसने मदलेखा को बिदा किया। उसके कुछ दूर जाने पर क्रीडा पर्वत पर बैठे हुए चन्द्रापीड़ की चन्दन दुकूल और हार से धवलित शोभा को देखने के लिये कादम्बरी छत्र चमर चिह्न एवं सब परिजनों को छोड़कर केवल तमालिका के साथ अपने प्रासाद के शिखर पर चढ़ गई। वहाँ उसके मन की जो विविध विलास तरंगें थीं वे ही नेत्रों के भाँति भाँति के विकारों में प्रकट होकर चन्द्रापीड़ का और उसका भी मन बहलाने लगीं।[1]

कभी उसने बायां हाथ कटि पर रक्खे हुए दाहिना हाथ इस ढंग से ऊपर उठाया कि कंधों पर पड़ा हुआ रेशमी उत्तरीय अपने स्थान से खिसके नहीं। कभी पुतलियों को एकटक करके अपने स्वरूप का उस चित्रलिखित मुद्रा में प्रदर्शन किया जिसमें वह सबसे अधिक सुन्दरी दिखाई पड़े।[2] कभी जम्भाई लेती हुई वह मुँह पर दाहिनी हथेली रखकर

१—नायक को देखकर नायिका में अथवा नायिका को देखकर नायक में जो मनोभावों की प्रतिक्रियाएं बाह्यश्रृंग की चेष्टाओं के रूप में प्रकट होती थीं उन्हें विलास तरंगे या शृंगार चेष्टाएँ कहा जाता था। संस्कृत कवियों ने अपने काव्यों में रुचि के साथ इनका वर्णन किया है। कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंवर में समागत राजाओं की शृंगार चेष्टाओं का पल्लवित वर्णन किया है (रघु० ६।१२-१९)। कवि ने उन्हें मनोरथ अभिव्यक्त करनेवाली प्रणय की अग्रदूतियां कहा है। मन में जो उत्थित प्रेम-भाव होता है उसे ये चेष्टाएँ प्रणय-दूतियों के समान नायक-नायिका के समीप प्रकाशित करती हैं। मनोगत भावों की साक्षात् व्यंजना यही इनका स्वरूप है। बाण ने कादम्बरी की ओर से इन अनुभवों का वर्णन किया है।

२—नितम्बबिम्बन्यस्तवामहस्तपल्लवा प्रावृतांशुकानुसारप्रसारितदक्षिणकरा निश्चलतारका लिखिता इव—इसके द्वारा कादम्बरी ने अपने आपको उस मुद्रा में प्रकट करना चाहा जिसमें उसके सब अंगों का संस्थान अधिक से अधिक सुन्दर दिखाई पड़े। यही चित्रलिखित मुद्रा कहलाती थी, अर्थात् जिसमें नारी सौंदर्य चित्र द्वारा सदा के लिये अधिकतम व्यञ्जित किया जा सकता हो। इस मुद्रा में बायाँ हाथ कट्यवलम्बित दिखाया जाता था, जिससे वामांग की पुष्कल शोभा अधिकतम अभिव्यक्त होती थी। दाहिने हाथ की मुद्रा को बाण ने 'प्रावृतांशुकानुसार' इस साभिप्राय पद से सूचित किया है। उसने दाहिना हाथ इस मुद्रा में और इतनी दूर तक ऊपर उठाया कि बाहु के ऊपरी भाग में पड़ा हुआ उत्तरीय यथास्थान रहकर नीचे लटकता रहे। वह न कोहनी से नीचे गिरा, न कंधे के ऊपर सरक गया। इस प्रकार की मुद्रा में दाहिना स्तन कुछ ऊपर को खिंच जाने से दक्षिणांग की शोभा भी अधिक से अधिक सुस्पष्ट व्यक्त होती थी। यही चित्रलिखित मुद्रा शिल्पी और चित्रकार दोनों को प्रिय थी। शालभञ्जिका स्त्री मूर्तियों में प्रायः इसी मुद्रा के भेद दिखाई देते हैं। प्रावृत अंशुक के अनुसार प्रसारित दक्षिण कर का यथार्थ अंकन भरहुत की स्त्रीमूर्तियों में देखा जा सकता है [कुमारस्वामी, भारतीय कला का इतिहास, चित्र ३७,३९] इस मुद्रा में दृष्टि को चंचल न बनाकर स्थिर प्रदर्शित किया।

प्रकट करती कि पारस्परिक प्रणाम का रहस्य गुप्त रखना चाहती है ।[1] कभी वह सुगन्धित निःश्वास से आकृष्ट भौंरों को अंशुक के पल्ले से उड़ाती जिससे वे गुंजारने लगते, मानों उनके द्वारा वह प्रणय निमंत्रण भेजती थी। कभी वायु से उड़ाए हुए उत्तरीय को समेटने के लिये दोनों भुजाएँ मोड़कर पयोधरों पर रख लेती और सूचित करती कि इसी प्रकार कण्ठालिंगन प्रदान करूँगी। कभी अपने केशपाश में विरचित पुष्पों को हाथ की अंजलि में भरकर सूँघती और नमस्कार करने की लीला करती। कभी दोनों तर्जनी उंगलियों की सहायता से अपना मोतियों का प्रालम्ब-हार घुमाती हुई हृदय में उठती प्रेम की हिलोरों को सूचित करती[2]। कभी उपहार कुसुमों को अंजलि में भरकर उन्हें जान-बूझकर गिरा देती और तब हाथों को कंपाने लगती, मानों कामबाणों के प्रहार से आत्म-वेदना प्रकट करती थी। कभी नीचे खिसकती हुई करधनी पैरों में फंसाकर सूचित करती कि काम ने मुझे बाँधकर तुम्हें सौंप दिया है। कभी रतारम्भ की स्रस्तदुकूल मुद्रा को रतांत में होनेवाली चंचल उरु मुद्रा के साथ व्यक्त करती।[3] पुनः क्षितितल पर गिरे हुए अपने अंशुक के पल्ले को खींचकर उरःस्थल के ऊपर ढक लेती। फिर चकित होकर मुहँ फेर लेने से उसके मध्य भाग की त्रिवली त्रुटित हो जाती। फिर कंधों पर बिखरे हुए केशों को जल्दी से समेटने लगती। पुनः कटाक्ष निक्षेप पूर्वक देखती और लजाकर मुसकुराती हुई मुहँ फेर लेती।

इस प्रकार अपने समस्त सौन्दर्य को चित्रलिखित मुद्रा में उसके सामने लाकर क्रम क्रम से अंगड़ाई, आवाहन, आलिंगन, प्रणाम, उत्कलिकोद्गम, कम्प आदि रता-रम्भ तक के भावों को, और पुनः रतान्त में अंशुक, केश आदि समेटने की समस्त शृंगार-चेष्टाओं को प्रकट करते हुए अन्त में वह मुंह मोड़कर मुसकुराई।[4] यों अनेक रस भंगिमाओं

१—तद्गोत्रस्खलनभिया निरुद्धवदना इव—इस मुद्रा में उसने सूचित किया कि वह अपनी वाणी पर संयम रखकर प्रणय का रहस्य प्रकट न होने देगी।

२—उभयतर्जनीभ्रमितमुक्ताप्रालम्बतया—इस मुद्रा के लिये यह आवश्यक है कि दाहिने हाथ की तर्जनी से हार को सरकाते हुए बाईं से उसे ऊपर उठाया जाय। मुक्ता-प्रालम्ब मोतियों का लम्बा नाभि तक लटकने वाला हार होता था [रघु० ६।१४]। प्रालम्बरत्न और मोती दोनों से बनाया जाता था। रत्नों की प्रालम्ब माला का उल्लेख हर्षचरित (पृष्ठ ३२) में आया है जो पद्मराग और मरकत को एक साथ पोहकर बनाई गई थी।

३—मुहुश्चलितोरुशिथिल विधृतदुकूला—रतारंभ की स्रस्त दुकूल मुद्रा का उल्लेख मेघदूत १।६२ में और चंचल उरु की रतान्त मुद्रा का २।३३ में आया है उन्हीं का यहाँ संकेत है।

४—इस वर्णन में बाण ने काम विलासों का पूरा सरगम क्रमशः कहने का प्रयत्न किया है।

की सूचक बाँकी दृष्टि से वह उसे तब तक देखती रही जब तक अपना आलोक समेटते हुए दिन भी राग से लाल नहीं हो गया।

[२०३]

उस समय भगवान् सूर्य भी लाल हो गए, मानों हृदय-स्थित कमलिनी के राग से रँग गए हों। उनकी वही लाली दिक् चक्रवाल में जहाँ तक उनके चक्र की गति थी सर्वत्र फैल गई। क्रमशः लालिमा आकाश में भी जा पहुँची मानों दिन के लम्बे होने से रुष्ट कामिनियों के नेत्रों की ललाई ही संध्या के समय उसे मिल गई हो। आलोक समेट लेने से सूर्य के घोड़ों का रंग बुड्ढे हारिल पक्षी के रंग जैसा लग रहा था। कमल बनों में कमलों के मुँदे हुए सम्पुट भी अपने किसलयों से हरे लग रहे थे। कुमुद वनों में धवलिमा आ रही थी। दिशाएँ रक्तावगुंठन से जब सूर्य के साथ अभिसार कर चुकीं तो चन्द्रमा के साथ निशाभिसार के लिये रात्रि ने मुख पर नीला अवगुंठन धारण किया। सूर्य दिनलक्ष्मी के साथ पुनः समागम की आशा लिए हुए अपनी अंगुलि रूपी लाल रश्मियों को समेटता हुआ अदृश्य हो गया। उस समय संध्याकालीन राग समस्त जीवलोक में व्याप्त हो गया, मानों कादम्बरी के हृदयराग का सागर ही उमड़ पड़ा हो। फिर तरुण तमाल की छाया जैसा अंधकार सर्वत्र फैल गया। उसी समय आकाश में तारे झिलमिलाने लगे, मानों दिग्गजों ने अपनी सूँड़ों से जलबिन्दु छितरा दिए हों। जब अंधकार में सूझना बंद हो गया तो कादम्बरी अपने सौध शिखर से और चन्द्रापीड़ अपने क्रीड़ा पर्वत से उतर आए। उस समय चन्द्रमा की रश्मियों ने कुमुदिनियों को खिला दिया मानों वे उसके पैर पकड़ कर उसे भी प्रसन्न कर रही हों। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से दिशाएँ प्रसन्न हो गईं। बढ़ती हुई चन्द्रिका से चन्द्रमा का लांछन स्फुट दिखाई देने लगा, मानों उसने निशानाथ होने के कारण रात्रि को अपने हृदय पर धारण कर लिया हो। उससे कुपित हुई रोहिणी ने जो अपने आलता लगे पैर से उसका ताड़न किया वही मानो चन्द्रमा का उदयकालीन राग बन गया। शनैः शनैः चन्द्रमा आकाश में ऊँचा उठा मानों नीला अवगुण्ठन ओढ़े हुए द्यौ रूपी अभिसारिका से जा मिला हो। सब के नेत्रों को आनन्द देने वाले चन्द्रमा ने अपना सौभाग्य चारों ओर बाँट दिया, मानों तारा रूपी अनेक पत्नियों को वह सुहागिनी बनाना चाहता था। शनैः शनैः चन्द्रमा ने आकाश के मध्य में आकर दिशाओं को धवलित किया और ऐसा प्रतीत हुआ मानों किसी ने भुवन को हाथी दांत से उत्कीर्ण करके बनाया हो। चन्द्रमा की शोभा उस समय कामदेव के श्वेतछत्र के समान या रात्रिरूपी नायिका के कान में सुशोभित हाथी दांत से निर्मित दन्तपत्र के समान थी। क्रीडापर्वत पर बनी हुई गृह कुमुदिनी (कुमुद पुष्पों की पुष्करिणी) के उत्संग में चन्द्रमा की धवल ज्योत्स्ना भर रही थी जिससे वह सर्वथा कुमुदपुष्पों से भरी हुई ज्ञात होती थी। उस वापी के चारों ओर के धवल सोपानों को लहरें धो रही थीं। वहां हंस मिथुन शयन करने लगा था, पर चक्रवाक मिथुन विरह में पुकार रहा था। मुक्ता शिलापट्ट के किनारों पर कोकाबेली की कोपलों के आकार की

पत्रलता का अलंकरण चित्रित किया गया था[1] और सिन्धुवार के श्वेत पुष्पों की माला से उसे सजाकर हरिचन्दन के रस से प्रक्षालित किया गया था। कादम्बरी के परिजनों ने इस प्रकार का शयन चन्द्रापीड़ से निवेदित किया और वह उस पर विश्राम के लिये लेट गया। तभी केयूरक ने आकर कहा—'देव, देवी कादम्बरी आपसे मिलने आ रही हैं।'

[२०४]

चन्द्रापीड़ शीघ्रता से उठ बैठा और उसने मदलेखा के हाथ का अवलम्बन लेकर आती हुई कादम्बरी को देखा। उसके चारों ओर कुछ ही सखियां थीं। उसने अपने राजचिह्न हटवा दिए थे और सामान्य स्त्रियों की भाँति केवल एकावली आभूषण ही पहन रखा था। उसकी देह चन्दनरस से धवलित थी। एक कान में दन्तपत्र और दूसरे में कुमुद पुष्प का कर्णपूर था। वह ज्योत्स्ना के सदृश धवल रंग का कल्पद्रुम दुकूल धारण किए हुए थी। उस समय के रमणीय वेष से वह साक्षात् चन्द्रोदय की अधिदेवता सी ज्ञात होती थी। आते ही उसने प्रेम का मनोहर भाव प्रगट किया और सामान्य स्त्री की भाँति परिजनों के योग्य भूतल पर ही बैठ गई। चन्द्रापीड़ भी भूमि पर ही बैठा, यद्यपि मदलेखा ने उससे बार बार मुक्ताशिला पर ही बैठने के लिये कहा। उन सबके बैठ जाने पर कुछ समय बाद चन्द्रापीड़ कहने लगा—'देवि, आपके दृष्टिपात मात्र की प्रसन्नता से भरे हुए मेरे हृदय में सम्भाषण आदि अनुग्रह के लिये अब स्थान कहाँ? साक्षात् दर्शन की कृपा का तो कहना ही क्या? मैं विचार करने पर भी अपने में ऐसे गुणों का लवलेश नहीं पाता जिससे आपका इतना अधिक प्रसाद प्राप्त हो। यह आपकी अति सरलता और निर-भिमान सुजनता ही है जो आप नये सेवक पर भी इतनी कृपा कर रही हैं। सम्भवतः आप मुझे ऐसा अनुदार मानती हैं जिसे उपचार की आवश्यकता हो। आपके परिजन ही धन्य हैं जिन्हें आपका शासन प्राप्त होता है। आदेश का अपना अंश पालन करने के योग्य भृत्य के लिये आदर की क्या बात? मेरा शरीर परोपकार का साधन मात्र है और यह जीवन तृण के समान लघु है। इस प्रकार यहाँ आकर मुझे सम्मानित करने वाली आपको ये दोनों क्षुद्र वस्तुएं अर्पित करते हुए मुझे लज्जा आती है। यह मैं हूँ, यह मेरा शरीर है, ये प्राण हैं, ये मेरी इन्द्रियाँ हैं—इनमें से किसी को भी स्वीकार कर उसे गौरव दीजिए।' यों कहते हुए चन्द्रापीड़ की बात को बीच में ही रोककर मदलेखा ने हँसते हुए कहा—'कुमार यह अति उपचार बन्द करो। इससे सखी कादम्बरी को पीड़ा हो रही है। फिर आप ऐसा क्यों कहते

१—कुमुददलावलीभिः पर्यन्तलिखितपत्रलतादन्तुरं मुक्ताशिलापट्टं — 'पत्रलता' फूल पत्तियों के अलंकरण की संज्ञा थी जिसे पत्रावली भी कहा जाता था। गुप्तकालीन चित्र और शिल्प में पत्रलताओं का अलंकरण अनिवार्य सा बन गया था। मुक्ताशैल (श्वेत हकीक) शिलापट्ट के किनारे पर पत्रलता की बेल चित्रित की गई थी और उसमें कुमुददलों की आकृतियां बनाई गई थीं। पत्रलता में कुमुददल, कमलदल आदि की विभिन्न आकृतियाँ होती थीं।

हैं ? आपके बिना कहे ही इसने इन सबको स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार उपचार भरे हल्के बचन कहकर उसे सन्देह में क्यों डालते हैं ?' कुछ देर रुककर कादम्बरी ने बात चलाते हुए पूछा—'राजा तारापीड़ कैसे हैं ? देवी विलासवती कैसी हैं ? आर्य शुकनास कैसे हैं ? उज्जयिनी कैसी है ? यहां से कितनी दूर का मार्ग है ? भारतवर्ष कैसा है ? मर्त्यलोक की रमणीयता किस प्रकार की है ?' इस प्रकार की चर्चाएं करते हुए देरतक ठहरकर कादम्बरी उठी और केयूरक को चन्द्रापीड़ के समीप शयन करने की आज्ञा देकर एवं परिजनों को भी नियुक्त कर अपने सौधशिखर के शयनगृह में चली गई और वहाँ श्वेत दुकूल-वितान के नीचे बिछे हुए पलंग पर लेट रही।

चन्द्रापीड़ ने भी उसी शिलातल पर विश्राम करते हुए रात्रि बिताई। वह मन में कादम्बरी की निरभिमानता, सुन्दरता और गम्भीरता, महाश्वेता के निष्कारण वात्सल्य, मदलेखा के सौजन्य, गन्धर्वराज के लोक की अतिशय समृद्धि और किम्पुरुष देश की रमणीयता के विषय में बार-बार सोचता रहा। केयूरक उसके चरण चाँप रहा था।

[२०५]

क्रम से रात्रि का पर्यवसान हुआ और चन्द्रमा पश्चिम समुद्र की ताल और तमाल एवं ताली और कदलियों की वनराजियों में विश्राम के लिये चला गया। चन्द्रिका भी कुछ फीकी हो गई, कुमुद बन्द हो गए और पंकज खिल उठे। प्रासादों में वासगृहों के प्रदीपों की ज्योति क्षीण हो गई। प्रभात काल की वायु लताकुसुमों का परिमल लेकर बहने लगी। अरुणोदय वेला में तारे छिप गए। क्रमशः अरुण सूर्य मंडल भी दिखाई देने लगा। शिलातल से उठकर चन्द्रापीड़ ने मुँह धोया और संध्या वंदन करने के अनन्तर तांबूल खाकर केयूरक से कहा—'जाकर देखो, देवी कादम्बरी अभी उठी हैं या नहीं, अथवा इस समय कहाँ है।'

केयूरक गया और लौटकर उसने कहा—'देव, मन्दर प्रसाद के नीचे के आँगन की सौध वेदिका[1] पर महाश्वेता के साथ बैठी हैं। यह जानकर चन्द्रापीड़ कादम्बरी से मिलने के लिये गया।

१—मंदिरप्रासादस्य अधस्तात् अङ्गन सौध वेदिकायाम्—मंदर यह प्रासाद की संज्ञा थी। प्रासाद के ऊपरी तल्ले में कादम्बरी का शायनीय गृह था। प्रातःकाल उठने पर वह प्रासाद से नीचे उतरी और अंगन सौधवेदिका पर आकर बैठी। प्रश्न यह है कि यह आँगन कुमारी अन्तःपुर का कौन सा भाग था और सौधवैदिका से क्या तात्पर्य है ? कुमारी-अन्तःपुर में आस्थान मण्डपके समकक्ष श्रीमण्डप और धवलगृह के समकक्ष शयनीय गृह होता था। राजकुल में धवलगृह का निचला भाग चतुःशाल या संजवन कहलाता था। चतुः शाल के बीच का भाग अंगण कहा जाता था और उसमें वितर्दिका या वेदी बनाई जाती थी। उसी वास्तु विन्यास के अनुसार कुमारी अंतःपुर के शयनीयगृह के बीच का भाग आँगन था और उसमें बैठने उठने के लिये जो चबूतरा बनाया गया

चन्द्रापीड़ ने कादम्बरी के पास पहुँचकर उसे नमस्कार किया और आप भी उसी सुधावेदिका के ऊपर रक्खे हुए आसन पर बैठ गया। उसने देखा कि वहीं पर महाश्वेता उस समय अनेक सम्प्रदायों की तापसी स्त्रियों से घिरी हुई बैठी थी। उनमें निम्नलिखित भिक्षुणियाँ थीं—

१—गेरुए वस्त्र पहने हुए पाशुपत शैव सम्प्रदाय की परिव्राजिकाएँ जिनके ललाट पर धवल भस्म लगी हुई थी और जो हाथों से अक्षमाला फेर रही थीं।

२—बौद्ध भिक्षुणियाँ (रक्तपट व्रतवाहिनीः) जो पके ताड़फल के समान लाल रंग का चीवर पहने हुई थीं।

३—श्वेत पट या श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की भिक्षुणियाँ, जिन्होंने स्तनों पर श्वेत कुचपट्ट बाँध रखा था।

४—नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी तापसियाँ जो जटा, अजिन, मौंजी, वल्कल और पलाशदण्ड से युक्त थीं।[1]

था वही आँगन वेदिका थी। सौध वेदिका का तात्पर्य सुधा या गचकारी से निर्मित चत्वर ज्ञात होता है। इसका निश्चित भाव यह हुआ कि कादम्बरी उस समय अपने शयनीय गृह के ऊपरी तल्ले से नीचे उतकर चतुःशाल के बीच के आँगन में वेदिका पर विराजमान थी। चबूतरे पर छोटी मंडपिका भी छाई रहती थी।

१—यशोवती के पास जिन रक्तांबरधारिणी जरत्प्रव्रजिताओं का उल्लेख किया गया है और जो पुस्तकें पढ़कर उसे धर्मोपदेश सुना रही थीं, वे भी पाशुपत परि व्राजिकाएँ ही ज्ञात होती हैं। रक्तपट और पाशुपत साधुओं का उल्लेख शुकनास के भवन में भी आया है और वहाँ रक्तपटों को स्पष्ट रूप से शाक्यमुनि के शासन में आरूढ़ कहा है। इससे यह निश्चित है कि बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी ही उस समय रक्तपट कहे जाते थे। दिवाकर मित्र भी अरुण चीवर पहने हुए था। काश्यप संहिता के रेवती कल्प में (पृ० १६२) बारह प्रकार की भिक्षुणियों का उल्लेख आया है– लिंगिनी, परिव्राजिका, श्रमणिका, कंडनी, निर्ग्रन्थी, चीरवल्कलधारिणी, तापसी, चरिका, जटिनी, मातृमंडलिकी, देवपरिवारिका। इनमें परिव्राजिका पाशुपत व्रतधारिणी, श्रमणिका बौद्धभिक्षुणी, निर्ग्रन्थी दिगम्बर, लिङ्गिनी नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी (तुलना कीजिए भारवि १.१ वर्णलिंगी), तापसी वैखानस सम्प्रदाय की, जटिनी कापिल सांख्य सम्प्रदाय की (तुलना कीजिए केचिज्जटावलम्बिनः कापिलाः— हर्ष० पृष्ठ ५०), मातृमण्डलिकी सप्तमातृका सम्प्रदाय की, देवपरिवारिका पाञ्चरात्रिक सम्प्रदाय की (जो देव विष्णु में और उनके भाई, बेटे, पोते में विश्वास रखती थीं, हर्ष-चरित पृ० १७२), और ईक्षणिका औपनिषद सम्प्रदाय की ब्रह्मवादिनी तापसियाँ थीं। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रखनेवाले साधु वर्णी कहलाते थे। बाण ने अपने पूर्वज वत्स के भाई सारस्वत के विषय में लिखा है कि उसने अविवाहित रहकर आषाढ़ दण्ड, कृष्णाजिन, वल्कल, अक्षवलय, मेखला, जटा इन चिह्नों को धारण करके तप किया (हर्षचरित पृष्ठ ३८)।

ये तपस्विनी परिव्राजिकाएँ भगवान् शिव, अम्बिका, कार्तिकेय, विष्णु, जिन (= बुद्ध), आर्य अवलोकितेश्वर और अर्हत् की पवित्र स्तुतियों का पाठ कर रही थीं। ज्ञात होता था कि उन-उन ध्यानमंत्रों की देवताएँ साक्षात् प्रकट हो गई थीं।[1] प्रातःकाल के समय महाश्वेता नमस्कार, कुशल प्रश्न और वेत्रासन द्वारा अन्तःपुर की स्त्रियों का सम्मान कर रही थी, तथा मिलने के लिये आई हुई गन्धर्वराज की रिश्ते-नाते की वृद्धाओं को आदर दे रही थी। कादम्बरी के पीछे बैठा हुआ किन्नर-मिथुन वंशी की तान सुना रहा था और नारदीय संगीत[1] में पारंगत एक स्त्री मधुर वाणी में गा रही थी। एक ओर सर्वमंगलनिधान महाभारत का पाठ हो रहा था जिसे कादम्बरी ध्यान से सुन रही थी। वह सामने रक्खे

१—महाश्वेता स्वयं तप के मार्ग में थीं। अतएव उसके साथ भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की तापसी स्त्रियों के सम्पर्क का कवि ने उल्लेख किया है। महाश्वेता स्वयं पाशुपत व्रत-धारिणी थी (प्रतिपन्न पाशुपत व्रतां, अनु० १३३)। उस समय जो सहिष्णुताशील धार्मिक वातावरण था, यह वर्णन उसे बहुत अच्छी तरह प्रकट करता है। सम्राट् हर्ष शिव, सूर्य और बुद्ध इन तीनों देवों की समान रूप से उपासना करते थे। पाशुपत परिव्राजिकाएँ शिव, पार्वती, कार्तिकेय की स्तुति, रक्तपट भिक्षुणियाँ बुद्ध और अवलोकितेश्वर की, श्वेत-पट भिक्षुणियाँ अर्हत् की, और वर्णिलिङ्गिनी स्त्रियाँ ब्रह्मा और विष्णु की स्तुति कर रही थीं।

१—कलगिरा गायन्त्या नारददुहित्रा—बाण का यह उल्लेख भारतीय संगीत शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। नारद दुहिता का यहाँ अर्थ है 'नारद ऋषि द्वारा प्रवर्तित संगीत का अभ्यास करनेवाली स्त्री'। भारतीय संगीत के इतिहास में तीन काल-विभाग ध्यान देने योग्य हैं। पहला सामगान या वैदिक संगीत था जिसका युग लगभग एक सहस्र ई० पूर्व में समाप्त हो गया था उसके बाद जनपद-युग के आरम्भ से शास्त्रीय संगीत का नया युग शुरू हुआ। इसके प्रधान आचार्य नारद और तुम्बुरु थे। इस संगीत को गान्धर्व या मार्ग संगीत कहा जाता है। इसका परिचय भरत के नाट्यशास्त्र से प्राप्त होता है। इस युग में सा-रे-ग-म-प-ध-नि इस स्वर सप्तक का व्यवस्थित प्रयोग होने लगा था। भारतीय संगीत का यह दूसरा युग गुप्तकाल के लगभग समाप्त हुआ और तब राग-रागनियों वाला नया संगीत आरंभ हुआ जिसे उस समय देशी संगीत कहा गया। नारद प्रवर्तित मार्गी संगीत में संस्कृत भाषा की ध्रुवागतियों का स्थान था, उन देशी राग रागिनियों का नहीं, जिनका संग्रह मतंग के बृहद्देशी ग्रन्थ में पाया जाता है। अवश्य ही गुप्तकाल में देशी संगीत का जन्म हो जाने पर भी प्राचीन मार्गी संगीत प्रतिष्ठित माना जाता रहा। बाण की कल्पना के अनुसार गंधर्वलोक में नारद संगीत या मार्गी संगीत का ही प्रचलन था, देशी राग रागनियों का नहीं। कालिदास ने भिन्न-भिन्न रसों की अभिव्यक्ति के लिये भिन्न-भिन्न रागों के प्रयुक्त किए जाने का उल्लेख किया है (रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागं, कुमार संभव ७।६१)।

हुए मणिदर्पण में लाल मोम लगा हुआ एवं पान खाने से कुछ कृष्ण अपना अधर देख रही थी। उसी समय उसके कान में लगे हुए शिरीष पुष्प के कर्णपूरको शैवल समझकर भवन कलहंस उत्कंठित नेत्रों से देखता हुआ चारों ओर मंडराने लगा, मानों प्रातःकालीन चंद्रमा बिदा लेने से पूर्व प्रणाम-प्रदक्षिणा कर रहा था। चन्द्रापीड़ ने कादम्बरी के समीप पहुँचकर उसे नमस्कार किया और उसी सुधावेदिका पर रखे हुए आसन पर स्वयं भी बैठ गया। कुछ देर बाद कपोलों पर मंद हंसी लाकर उसने महाश्वेता की ओर देखा। महाश्वेता इतने से ही उसका अभिप्राय समझ गई और कादम्बरी से बोली—'सखि, तुम्हारे गुणों से चन्द्रापीड़ ऐसे द्रवित हैं कि कुछ कह नहीं पाते, किन्तु कुमार जाना चाहते हैं। अपने पीछे ये राजसमूह छोड़ आए हैं जिनका वृत्तांत इन्हें विदित नहीं। दूर स्थित होने पर भी तुम्हारी यह प्रीति कमलिनी और सूर्य एवं कुमुदनी और चन्द्र की प्रीति के समान प्रलय के अन्त तक रहेगी। अतएव तुम कृपाकर इन्हें अनुमति दो।'

[२०६]

कादम्बरी ने कहा—'सखि, सकल परिजनों के साथ में कुमार के उसी प्रकार अधीन हूँ जैसे उनकी अन्तरात्मा। तो इसमें अनुरोध की क्या बात है?' यह कह उसने गन्धर्व कुमारों को आदेश दिया कि कुमार को उनके स्थान पर पहुँचा आओ। चंद्रापीड़ ने उठकर पहले महाश्वेता और फिर कादम्बरी को प्रणाम किया और कादम्बरी की ओर प्रेम भरी दृष्टि और मन से आकृष्ट होकर कहा—'देवि, मैं क्या कहूँ? बहुत बोलने वाले की बात का लोगों को विश्वास नहीं होता। जब आप अपने परिजनों के सम्बन्ध में बातचीत करें तो कृपया उनमें मेरा भी स्मरण कर लें।' यह कह वह कन्या अन्तःपुर से बाहर निकल आया। कादम्बरी के अतिरिक्त और सब कन्याएं उसके गुणों से आकृष्ट होकर बहिर्द्वार-तोरण तक उसके पीछे पीछे पीछे आई। कन्याओं के लौट जाने पर कुमार केयूरक द्वारा लाए हुए घोड़े पर सवार हुआ और गन्धर्व-कुमारों के साथ हेमकूट से चला।

चलते हुए उसका मन कादम्बरी में ही लगा हुआ था। बाहर भी सब दिशाओं में वही दिखाई पड़ती थी। मन में उसका ध्यान करते हुए उसे जान पड़ा मानों वह उसके विरह में असह्य दुःखभरे पश्चाताप से उसी के पीछे आ रही है और सामने भी वही उसका मार्ग रोके खड़ी है। वियोग से व्याकुल हृदय भीतर बनी हुई उसकी प्रतिमा को मानों उत्कंठित होकर बाहर आकाश में फेंक रहा था। विरह में आतुर मन से वही मानों उसके मुख को निकट से देखने के लिये वक्षःस्थल पर आ विराजी थी।

क्रमशः वह महाश्वेता के आश्रम के पास पहुँचा। वहाँ इन्द्रायुध के खुरों की पहचान से पीछे आई हुई अपने सेना के पड़ाव को अच्छोद के तट पर देखा। तब चंद्रापीड़ ने गंधर्व-कुमारों को लौटा दिया और अपने स्कन्धावार द्वारा आनन्द, कुतूहल और विस्मय के साथ अर्पित प्रणाम स्वीकार करते हुए अपने भवन में प्रवेश किया। सब राजाओं ने उसका बहुत सम्मान किया। तब वैशम्पायन और पत्रलेखा के साथ महाश्वेता, कादम्बरी, मदलेखा

और तमालिका के विषय में चर्चा करते हुए उसने वह दिन व्यतीत किया। मानों कादम्बरी के रूप दर्शन से ईर्ष्या करके राज्यलक्ष्मी ने पूर्ववत् अब उसे प्रसन्न नहीं किया। कादम्बरी के विषय में चिंता करते हुए उसने सारी रात जागते हुए बिताई।

दूसरे दिन सूर्योदय होने पर जब वह आस्थान मण्डप में बैठा था तो उसने सहसा प्रतीहार के साथ केयूरक को भीतर आते हुए देखा। केयूरक ने पृथिवी पर मस्तक टेककर उसके चरणों में प्रणाम किया और उसने 'आओ आओ' कहते हुए पहले नेत्रों से, फिर हृदय से, फिर रोमांच से और फिर भुजाओं से उसका गाढ़ा आलिंगन किया एवं उसे अपने ही पास बैठाया और आदर के साथ मुस्करा कर पूछा—'केयूरक, कहो सखीजन और परिजन के साथ देवी कादम्बरी और भगवती महाश्वेता तो कुशल से हैं ?' उसने कुमार के प्रीति-जनित मन्दहास से ही मानो स्नान अनुलेपन प्राप्त करके श्रमरहित होकर अधिक आदर के साथ कहा—'आज वे सचमुच कुशल से हैं जिनके विषय में देव ने इस प्रकार प्रश्न करने की अनुकम्पा की है।' यह कहकर उसने नलिनी पत्रों से बना हुआ एक दोना सामने किया। उसके ऊपर गीला वस्त्र ढका हुआ था और मुँह पर मृणाल सूत्र बँधा हुआ था एवं थोड़ा गीला चन्दन लगाकर बाल मृणाल के वलय से उसे मुद्रित किया गया था। केयूरक ने उसे खोलकर कादम्बरी के भेजे हुए उपहारों को सामने रखा। उनमें मरकत के समान हरे, छिलका उतारे हुए, मंजरीयुक्त दूधिया पूगीफल थे; शुक कामिनी के कपोल के समान पाण्डुवर्ण के कुछ ताम्बूली-दल थे; शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रकला के समान कर्पूर की डली थी; और केसर की सुगन्धि से युक्त चन्दन का विलेपन था। उसने कहा—'देवी कादम्बरी और महाश्वेता मस्तक झुकाकर हाथ जोड़ते हुए आपको प्रणाम करती हैं। मद-लेखा कंठालिङ्गन पूर्वक कुशल प्रश्न के साथ प्रणाम अर्पित करके तथा समस्त कन्याएँ सीमंत मकरिका युक्त मस्तक पृथिवी पर टेककर, एवं तमालिका चरणों की रज का स्पर्श करते हुए प्रणाम करती हैं। महाश्वेता ने आपके लिये संदेश कहा है—'वे धन्य हैं जिन्होंने आपको अपने नेत्रों से साक्षात् नहीं देखा, क्योंकि आपके जिन हिम के समान शीतल गुणों का हमने साक्षात् अनुभव किया था वे ही अब विरह में सूर्य की भाँति तपा रहे हैं। यहाँ के सब मनुष्य उस दिन को फिर मनाते हैं जिस दिन भाग्य से किसी प्रकार दैव ने यहाँ अमृत उत्पन्न कर दिया था। आपके विरह में यह गन्धर्वराज नगर आज महोत्सव के बिना मन्द पड़ा हुआ है। आप तो जानते ही हैं कि मैं सब कुछ छोड़ चुकी हूँ, फिर भी अकारण स्नेही आपके दर्शन की मेरे मन में बलवती इच्छा है। कादम्बरी भी बहुत अस्वस्थ है। मन्द मुस्कान से भरे हुए कामदेव के सदृश आपके मुख का ही बराबर स्मरण करती रहती है। अतएव यदि आप पुनः दर्शन देंगे तो वह स्वगुणों के विषय में अपने आपको अत्यधिक गौरवान्वित समझेगी। उदारजनों का आदर अपने विषय में बहुत मान उत्पन्न कर देता है। अतएव हमारे जैसे लोगों से परिचय के इस कष्ट को कृपया अवश्य सहन करें। आपकी सुजनता के कारण ही हम इस अनुचित सन्देश की ढिठाई का साहस कर रही हैं। आप अपने शयनीय पर जो शेषहार भूल गए थे उसे भेज रही हूँ।' यह कहकर उसने

उत्तरीय के छोर में बँधे हुए हार को जिसकी किरणें झीने अंशुक के भीतर से बाहर आ रही थीं, निकाल कर चामरग्राहिणी के हाथ में दे दिया।

[२०७]

'यह सब महाश्वेता के चरणों की आराधना रूपी तपस्या का फल है कि मेरे जैसे परिजन के ऊपर भी देवी कादम्बरी स्मरणादि द्वारा इतनी अधिक कृपा करती हैं, यह कहकर चन्द्रापीड़ ने उस उपहार सामग्री को मस्तक से लगाकर स्वयं स्वीकार किया और उस सुगन्धित चन्दन का विलेपन लगाकर हार कंठ में धारण किया। फिर थोड़ी देर में ताम्बूल खाकर वह उठा और बाईं भुजा केयूरक के कंधे पर रखकर खड़े-खड़े उसने प्रधान राजाओं को सम्मान के साथ बिदा किया। तब वह मन्द गति से अपने गन्धमादन नामक हाथी को देखने चला। वहाँ कुछ ठहरकर उसने अपने हाथ से उसे हरी घास के कुछ कौर खिलाए और तब राजवल्लभ तुरंगों की मन्दुरा की ओर गया। जाते हुए मार्ग में दोनों ओर मुँह घुमाकर वह अपने परिजनों को देखता चलता था। तब उसके मन का भाव जानकर प्रतीहारों ने परिजनों का प्रवेश रोक दिया और अकेले केयूरक के साथ उसने मन्दुरा में प्रवेश किया। उत्सारण के भय से घबराए हुए मन्दुरापाल भी प्रणाम करके हट गए। तब उसने इन्द्रायुध की पीठ पर पड़े हुए पर्याण-वस्त्र को जो एक ओर खिसक गया था ठीक किया और इन्द्रायुध की आँखों पर आए हुए कुछ अयाल के बाल हटाकर उसकी खुरधारिणी[1] पर पैर रखकर मन्दुरा में लगे हुए डंडे पर अपनी देह का भार टेककर उत्सुकता से कहा—'केयूरक, कहो, मेरे आने के बाद से गंधर्वराजकुल में क्या समाचार रहा? गन्धर्वराजपुत्री ने कैसे दिन बिताया? महाश्वेता ने क्या किया? मदलेखा ने क्या कहा? परिजन लोग क्या बातचीत करते रहे? तुमने क्या किया? क्या हमारे विषय में वहाँ कोई बातचीत हुई?' केयूरक ने सब हाल बताया—'देव, सुनिए। जब कन्याअन्तःपुर में सहस्रों कन्याओं ने अपने नूपुरों की झंकार से मानों आप के प्रस्थान के समय बजाए जाने वाले प्रयाण पटह की कलकल ध्वनि की तभी देवी कादम्बरी परिजनों के साथ सौध शिखर पर चढ़कर घोड़े की उठती हुई धूल से युक्त आपके जाने के मार्ग की ओर देखने लगी। जब आप उसकी दृष्टि से ओझल हो गए तब मदलेखा के कंधे पर मुँह रखकर फिर भी उसी दिशा में देखती रही और श्वेत आतपत्र लगाए बहुत देर तक वहीं ठहरी रही। वहाँ से खेदपूर्वक नीचे आकर वह क्षण भर आस्थान मंडप में ठहरी और फिर उठकर उसी क्रीडा पर्वत पर आई जहाँ आप ठहरे थे। वह उस समय सर्वथा बेसुध हो रही थी। भूमि पर सजाए हुए उपहार कुसुमों का भी उसे कुछ भान न हुआ, केवल

१—खुरधारणीविन्यस्तचरणः—हर्षचरित में भी यह शब्द आया है। वहाँ इसका पाठ खुरधरणी है जिसका अर्थ शंकर ने किया है—वाजिनः खुराधः काष्ठ पट्टाच्छादिता भूः। किन्तु 'खुरधारणी' पद ही समीचीन ज्ञात होता है।

भौंरों ने अपनी गुंजार से उनकी सूचना दी कि कहीं वह फिसल कर गिर न जाय। गृहमयूर उत्कंठावश उसकी ओर गर्दन उठाकर देखने लगे। तब उसके हाथों की कुछ चूड़ियाँ खिसककर उनके कंठ में आ रहीं। मार्ग में लगी हुई गृहलताओं के पल्लवों को हाथ से पकड़कर अपने को सम्हालती हुई और मन से आपके गुणों में लवलीन हुई वह किसी प्रकार वहाँ पहुँची। वहाँ जाकर आपके ठहरने के चिन्हों को देखते हुए उसने वह दिन बिताया। साथ के परिजन पुनरुक्ति के रूप में उससे कह रहे थे—'यही वह शिलातल है जहाँ देव हरे लतामंडप के मध्य में बैठे थे जिसे सींचने के लिये इस मकरिकामुख प्रणाल से झरना झर रहा था। यह वह शिलाप्रदेश है जहाँ देव ने सुगन्धित जल से स्नान किया था। यहाँ गिरिनदिका के तटपर उन्होंने भगवान् शिव की अर्चना की थी। यहाँ चन्द्रमा को लजाने वाले स्फटिक के शिलातल पर भोजन किया था। यही वह मुक्ता शैल का शिलापट्ट है जिस पर उन्होंने शयन किया था और जिस पर उनके शरीर का चन्दन रस अभी तक लगा हुआ है।'

दिन के अन्त में किसी तरह महाश्वेता के कहने से अनिच्छा रहते हुए भी वहीं क्रीड़ापर्वत पर स्फटिक के मणिवेश्म में उसने आहार किया। जब सूर्य अस्त हो गया और चन्द्रमा निकल आया तब कुछ देर तक वहीं बैठकर कपोलों को हाथों पर रखकर कुछ सोचती हुई क्षणभर ठहरी रही और फिर उठकर धीरे-धीरे पैर रखती हुई अपने शयनगृह में आई। शयन पर लेटकर तभी से प्रबल शिरोवेदना और दारुण दाह रूपी ज्वर की पीड़ा से अभिभूत होकर जागते हुए उसने अत्यन्त दुःख के साथ रात्रि बिताई। मंगल प्रदीप, कुमुद पुष्प और चक्रवाक, ये भी उसके साथ ही जागते रहे। प्रातःकाल मुझे बुलाकर आपका समाचार और वृत्तान्त प्राप्त करने का उपालम्भपूर्ण आदेश दिया।'

[२०८]

सुनते ही चंद्रापीड़ के मन में तुरंत वहां जाने की इच्छा हुई और 'अश्व, अश्व' कहते हुए वह भवन से निकल पड़ा। फिर परिचारक लोग अति शीघ्रता से इन्द्रायुध की पीठ पर पर्याण डालकर उसे ले आए। कुमार ने उसपर सवार होकर अपने पीछे पत्रलेखा को बिठलाया, स्कन्धावार का प्रबन्ध वैशम्पायन को सौंपा और परिजनों को लौटाकर वह अकेले हेमकूट की ओर चला। केयूरक दूसरे घोड़े पर चढ़कर पीछे चला। कादम्बरी के भवन द्वार पर पहुँचकर वह उतर पड़ा और घोड़ा द्वारपाल को थमाकर पत्रलेखा के साथ प्रविष्ट होकर उसने सामने आए हुए वर्षधर से पूछा—'देवी कादम्बरी कहाँ हैं?' उसने प्रणाम करके निवेदन किया—'मत्तमयूर नामक क्रीडा पर्वत के नीचे कमल वनदीर्घिका के तीर पर बने हुए हिमगृह में वे हैं।'

तब केयूरक के दिखाए हुए मार्ग से प्रमदवन के बीच में कुछ दूर जाकर वह उस स्थान में पहुँचा जहाँ सूर्य की किरणें केलों के पत्तों के साथ मिलकर मानों हरियाली में परिणत हो गई थीं और इस कारण दिन भी हरा-हरा दिखाई पड़ रहा था। उस कदली-निकुंज के मध्य में चारों ओर कमलिनी के पत्तों से ढका हुआ हिमगृह उसे दिखाई पड़ा।

उसने शिशिरोपचार में निपुण कादम्बरी की शरीर-परिचारिका स्त्रियों को देखा जो उस समय किसी भी प्रकार के शृंगार से रहित थीं। वे गीले वस्त्र पहने थीं मानों अच्छोद के जल से ढकी हों। बाहुओं में लपेटे हुए मृणालवलय ही उनके आभरण थे। उनके एक कान में केतकीगर्भित पत्र ताटंक की तरह सुशोभित थे जिनके सामने दन्त पत्र की छवि भी फीकी थी। मुख पर चन्दन की ललाटिका ऐसी जान पड़ती थी मानों उनके सिर पर सौभाग्यपट्ट[1] हों। उनके कपोलों पर चन्दन की बुंदकियों से गोल विशेषक बनाए गए थे जो दिन में ही चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से जान पड़ते थे। शिरीष के सौन्दर्य को भी मात करने वाली सिरवाल की मंजरियां उनके कानों में कर्णपूर की शोभा दे रही थीं। स्तनों के मध्य में चन्दनरस लगाकर उस पर कपूर की धूल छिड़की गई थी। स्तनों के ऊपर छेद किया हुआ कमलिनी का पत्र पहनाया गया था जिसके पर्यन्त में चारों ओर मौलसिरी के फूलों की माला वलय के रूप में कस दी गई थी। निरंतर चन्दन की चर्चा करने से पीले पड़े हुए अपने हाथों में वे कमल तंतुओं की चौरियाँ लिए हुई थीं जिनके दण्ड भी कमलनाल के गुच्छों से ही बनाए गए थे। उनमें से कुछ सनाल कमल के पुष्पों से, कुछ कुमुदिनी के पुष्पों से, कुछ कदली दलों से, कुछ दण्डयुक्त कमलिनी के पत्तों से, और कुछ फूलों के गुच्छों से छाता लगाकर आतप का निवारण कर रही थीं, मानों उनके रूप में जलदेवताओं का समूह एकत्र था, या वरुण-लक्ष्मियों का समागम हुआ था, या शरद्-ऋतुओं का समाज जुड़ा हुआ था, या सरसियां एकत्र होकर गोष्ठी कर रही थीं।

इस अनुच्छेद में हिमगृह में नियुक्त कादम्बरी की परिचारिकाओं का वर्णन आया है। अगले अनुच्छेद में कवि ने हिमगृह का बहुत ही विशिष्ट वर्णन किया है। प्राचीन राजप्रासादों में हिमगृह का निर्माण प्रासाद-वास्तु-विन्यास का आवश्यक अंग था। अंगविज्जा नामक प्राचीन ग्रंथ में भी प्रासादवर्णन के अंतर्गत हिमगृह का उल्लेख आया है (अंग० पृ० १३६)। मध्यकालीन राजप्रासादों में भी उसका निर्माण किया जाता था और अब तक सावन भादों के रूप में उसके अवशेष देशी रजवाड़ों के प्राचीन महलों में पाए जाते हैं।

[२०९]

परिजनों ने उसे प्रणाम किया और जल्दी से एक ओर हटते हुए मार्ग दिया। तब कदली-तोरणों के बीच से जाते हुए उसने हिमगृह में प्रवेश किया। तोरणों के दोनों ओर की वेदिकाएँ चन्दन पंक से पुती हुई थीं। कमल-कलिकाओं की क्षुद्र-घंटिकाएँ तोरणों पर टाँगी गई थीं। खिले हुए सिंधुवार पुष्पों की मंजरियाँ लटकाई गई थीं। मल्लिका की कलियों के हार गूँथकर उनके जाल तोरणों पर सजाए गए थे। लवंग के पल्लवों की

१—आलिखित चन्दनललाटिकानि मुखारविन्दानि बद्धसौभाग्यपट्टानि इव दधानम्—सौभाग्यपट्ट से तात्पर्य उस प्रसादपट्ट से है जिसका उल्लेख ऊपर आ चुका है और जो सम्राट् या राजकुल की विशेष कृपा से परिजनों को प्राप्त होता था।

बंदनवारें[1] बाँधी गई थीं। कुमुद पुष्पों की मालाएँ तोरणों की ध्वजाओं पर दोलायमान थीं। उन तोरणों के दोनों ओर मृणाल की वेत्रलता हाथ में लिए हुए और पुष्पों के आभूषण द्वारपालिकाएँ खड़ी थीं, ज्ञात होता था वसंत लक्ष्मी की प्रतिमूर्तियाँ हों।

चन्द्रापीड ने तोरणों के नीचे से भीतर प्रवेश करके चारों ओर दृष्टि फेर कर देखा। कहीं छोटी गृहनदिकाएं बह रही थीं जिनके दोनों किनारों पर तमाल पल्लवों की वन-राजियां बनाई गई थीं। उनके किनारों पर कुमुद पुष्पों की धूलि बालू के रूप में बिछाई गई थी और बीचमें चन्दनजल की धाराएं बह रही थीं। कहीं जल से भीगे हुऐ चंदोवों के नीचे निचुल मंजरी की छोटी छोटी लाल चंवरियां लटकी हुई थीं। उन वितानों के नीचे लाल कमल बिछाकर शयन रचे गए थे जिनके चारों ओर के कुट्टिम पर सिन्दूर की रेखा से सीमा बाँध दी गई थी। कहीं स्फटिक के भवनों में, जिनकी स्वच्छ भित्तियाँ छूने से ही जानी जाती थीं, इलायची का रस छिड़का गया था। कहीं मृणालयुक्त धारागृहों में शिखर पर बने हुए यंत्रमयूरों के मुखों से जलधाराएँ उछलकर बह रही थीं और धारागृह के अधोभाग को शिरीष के पुष्पों की हरित केसरों से आच्छादित किया गया था[2]। कहीं छोटे कुटज या पर्णशालाएं थीं जिनकी छतों और भित्तियों पर जम्बू-पल्लवों का आच्छादन करके सहकार का रस छिड़का गया था। कहीं वापी में सुनहली कमलिनियाँ खिली हुई थीं जिनमें

---

१ - आबद्धलवंग पल्लवचन्दन मालिकानां—भानुचन्द्र और वैद्य दोनों के संस्करण में चन्दनमालिका पाठ है। भानुचंद ने एक कोश का उदाहरण देते हुए लिखा है—तोरणार्थे तु मङ्गल्यं दाम चन्दनमालिका इतिकोषः। श्री काणे ने मूल में वंदनमालिका पाठ माना है और टिप्पणी में चन्दनमालिका लिखा है। क्षीरस्वामी ने वंदनमालिका का अर्थ किया है—मंगलस्रक् तोरणोर्ध्वे भवेद् वंदनमालिका। कादम्बरी अनुच्छेद ६४ में भी वन्दनमालिका रूप आया है—वंदनमालान्तराल घटित घंटा गणेन द्वारदेशेन। लोक में भी बंदनवार यही रूप चलता है।

२—शिरीषपक्ष्मकृत शाद्वलानां मृणालधारागृहाणां शिखरमारोप्यमाणानां धाराकदंब धूलिधूसराणां यंत्रमयूरकाणां कदम्बकानि-धारागृह का यह चित्र इस प्रकार समझना चाहिए—बीच के खम्भे के सिरे पर यंत्रमयूर अर्थात् पत्थर या धातु के मोरों का मण्डल बना हुआ था जिनकी देह का पुछार भाग नीचे की ओर और लम्बी गर्दनें ऊपर की ओर कुछ आगे निकली हुई थीं। इस प्रकार उनके मुख से चारों ओर पानी की धाराएँ छूट रही थीं। फव्वारे की जड़ में कुछ ऊँचाई तक जहाँ हरी घास या पत्तियां बिछाई जाती हैं वहीं शिरीष पुष्प के तंतु बिछाकर शाद्वल बनाया गया था। जिस भाग में धाराएं उछल कर गिरती थीं उस पानी भरे हुए स्थान में कमल लगे थे जिस कारण उसकी संज्ञा मृणाल-धारागृह हुई थी। धारागृह में चारो ओर धाराकदम्ब वृक्ष लगे हुए थे जिनकी ऊँची शाखाओं पर खिले हुए पुष्पों की धूलि बीच के मोरों के ऊपर गिर रही थी।

बने हुए कृत्रिम हाथी के बच्चे अपनी क्रीड़ा द्वारा उनके फूलों को बिथुरा रहे थे।[1] कहीं सुगन्धित जल से भरे हुए कुओं से घटीयंत्रों द्वारा जल उलीच कर छोटी जलद्रोणिकाओं में भरा जा रहा था। इन कुओं पर सुनहली गचकारी से कामपीठ रचे गए थे[2]। पत्तों के दोने ही घटीयंत्र की भाँति काम में लाए गए थे। घटीयंत्रों को फिरानेवाली माला सनाल नीलोत्पलों को गूँथकर बनाई गई थी। वह चक्का जिसके आधार से यह सुकुमार रहट घूमती थी कमल ककड़ियों को जोड़कर बनाया गया था। इस प्रकार के सुकुमार घटीयंत्र से जो सुगन्धित जल कुएं से बाहर गिर रहा था वह कुएं से सटाकर बनाई हुई उस छोटी द्रोणी में एकत्र हो रहा था जो मरकत मणियों में केवड़े के पत्तों की आकृति उकेर कर बनाई गई थी[3]।

हिमगृह की एक बड़ी विशेषता बहते हुए जल के उतरने से बनी हुई जलचादर थी। जिसे मध्यकाल में जलचादर कहते थे वही गुप्तकाल के हिमगृहों में मेघमाला कहलाती थी। इसे संचार्यमाणा कहा गया है, अर्थात् बहते हुए पानी को ढालपर संचारित करने या

१—क्रीडितकृत्रिमकरिकलभयूथकाकुलीक्रियमाणाः काञ्चन कमलिनिकाः—यहाँ बाण ने वापी का उल्लेख नहीं किया, किन्तु मेघदूत (२।१३) में हैम कमलों से भरी हुई वापी का वर्णन आया है। काञ्चन कमलिनियां सोने से उत्कीर्ण कमलिनियां थीं जिनमें वैदूर्य के नाल लगे रहते थे। उसी प्रकार की कमलिनियां यहां अभिप्रेत ज्ञात होती हैं। अलका की वापी में कालिदास ने हंसों के निवास का उल्लेख किया है, सम्भवतः वे भी कृत्रिम हंस थे। यहाँ मृणाल से क्रीड़ा करने वाले कृत्रिम गजशावक बनाए गए थे जो पानी के प्रवाह से कमलपुष्पों पर झपट कर उन्हें झकझोरते थे।

२—कामपीठ का तात्पर्य उस जगती पीठ से ज्ञात होता है जो कूप के चारों ओर बनाया जाता है। यह शब्द नया है और पहली बार कादम्बरी में मिला है। काणे ने काम का अर्थ रम्य किया है। जटानन्दिकृत वराङ्गचरित में जो सातवीं शती का ही ग्रंथ है कामलता अलंकरण का उल्लेख आया है (२२।६०), जिसका अभिप्राय उस प्रकार की लता या वेल से था जिसमें कामासक्त मिथुन मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। वहां इस प्रकार का अलंकरण द्वार पर बनाने का वर्णन है। गुप्तकालीन मंदिरों के द्वार के अलंकरणों में इस प्रकार की वेलें मिलती हैं। इसी अलंकरण से सजाई हुई कुएं की जगती पीठ के लिये यहां कामपीठ शब्द प्रयुक्त हुआ ज्ञात होता है।

३—कृतककेतकदलजलद्रोणिकानि—जलद्रोणिका वह छोटी हौज़ थी जिसमें स्नान के लिये सुगन्धित जल भरा जाता था, जैसा शूद्रक की स्नानभूमि के वर्णन में आया है—गन्धोदकपूर्णकनकमयजलद्रोणीसनाथ मध्याम्। यह जलद्रोणी किस प्रकार से बनी थी इसका भी यहाँ उल्लेख है—कृतककेतकदलजलद्रोणिका, अर्थात् केवड़े के कृत्रिम पत्तों से। केवड़े के कृत्रिम पत्र हरी मरकतमणि में ही उकेरे जाने की संभावना है। लम्बे पत्ते एक दूसरे से जुड़े हुए खड़े दाँव लगाए जाते थे।

उतारने से यह जलचादर बनाई जाती थी। इसमें की कई विशेषताएं ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह जलचादर स्फटिक की बनी हुई थी। दूसरे स्फटिक की चादर के बाहर की ओर अनेक बलाकाएं या बगुलियां उत्कीर्ण की गई थीं। बलाकाओं के मुखों से जल की महीन धाराएं फुहार की तरह झर रही थीं। स्फटिक की चादर के पीछे की ओर रंग-बिरंगे इन्द्रधनुषों की आकृतियाँ चित्रकारी में बनाई गई थीं (लिखितेन्द्रायुधाः)। स्फटिक के भीतर होने के कारण इनके रंग पानी से बिगड़ते न थे, पर उनकी झलक पानी की फुहारों में अत्यन्त सुहावनी लगती थी। तीसरी विशेषता यह थी कि स्फटिक शिला में ही माया-मेघमाला नाम का सुन्दर अलंकरण बनाया गया था[1]। उसमें उड़ती हुई बलाकाओं के मुखों से गिरती हुई धाराएं कृत्रिम मेघमाला नामक अलंकरण के ऊपर बहती हुई अति सुन्दर लग रही थीं।

१—मन्दिरों की गूमट के भीतर भी मेघमाला नाम का अलंकरण बनाया जाता था —

कमलोद्भवस्य बाह्ये मेघमालाद्वयोद्भवः।
गजतालुकाकृति च वलयैरष्टधाकुलम्॥

इति मेघोदरम् (अपराजित पृच्छा २९०।४७)

अर्थात् वितानच्छद या गूमट के भीतरी भाग में बीच में कमल का अलंकरण, उसके चारों ओर दोहरी मेघमाला का अलंकरण, और फिर गजतालुक नाम का अलंकरण बनाया जाता था। इन तीनों को मेघोदर कहते थे। मेघमाला शब्द गुप्तकाल में ही पारिभाषिक बन चुका था। अजन्ता की गुफा में छत की सजावट में मेघमाला नाम का अलंकरण पाया जाता है (राजा साहब औंधकृत अजन्ता, फलक ४५, गुफा २ की छत) इसके चित्रण में, आकाश में उठती हुई बादलों की घटाएं बनाई जाती थीं। मेघमाला विशेष रूप से छत्र और चंदोवेका अलंकरण हो गया था। छत्र में इसे ही मेघडंबर (रामचरितमानस, लंकाकांड १३।५) और चंदोवे में दलबादल कहते थे, जैसा उसमान ने चित्रावली में उल्लेख किया है।

दल बादल जहँ अम्बर छावा। ससि सूरज तेहि माँह बनावा॥

(चित्रावली १८।२)

जलचादर मुगलकालीन महलों के सावन भादों नामक भाग में अवश्य बनाई जाती थी, जैसा दिल्ली और लाहौर के भवनों में है। बिहारी ने भी इसका उल्लेख किया है —

सहज सेत पचतोरिया पहिरै अति छबि होत।
जलचादर के दीप ज्यों जगमगाति तन ज्योति॥

बिहारी सतसई, दोहा ५१६

हिमगृह के एक भाग में हरिचन्दन के रस से भरी हुई वापिकाएँ या छोटी द्रोणियाँ थीं। उनके किनारों पर पीले जवारे (यवांकुर) बोए गए थे और जल में मालती की टटकी कलियाँ डालकर उनमें यत्र-तत्र हार यष्टियों को लटकाकर ठंढा किया जा रहा था। हिमगृह के दूसरे भाग में यंत्रवृक्ष बनाए गए थे जिनके चारों ओर मोती के चूर्ण से आलवालों की रचना की गई थी। इन वृक्षों से जल की मोटी मोटी बूँदें झड़ रही थीं। कहीं ऐसे कृत्रिम पक्षी रचे गए थे जिनके भीतर भरा हुआ जल उनके पंख फड़फड़ाने से छोटी छोटी फुहारों के रूप में बाहर गिरता था। कहीं फूलों की मालाओं से पक्षियों के लिये सुकुमार हिंडोले रचे गए थे जिनमें बजती क्षुद्रघंटिकाएँ लटकी हुई थीं। कहीं सोने के घड़ों में सनाल कमल बोए गए थे जिनके घने पत्ते उन घड़ों के मुँह पर छा गए थे। कहीं पुष्प-गुच्छों से बने हुए आतपत्रों में केले के गाभे डंडे के रूप में लगे हुए थे। कहीं बिस-तंतुओं से बने हुए झीने अंशुक हाथ से मींड़कर निकाले हुए कपूर पल्लवों के रस से सुवासित किए जा रहे थे। कहीं तृणशूक की मंजरी के कर्णपूरों पर हरफारेवरि (लवली) के फल का रस छिड़का जा रहा था। कहीं पत्थर के छोटे भाजनों में भरा हुआ ओषधियों का शीतल रस कमलिनी के पंखों की वायु से ठंडा किया जा रहा था। हिमगृह की चतुर परिचारिकाएँ इस प्रकार के अनेक शिशिरोपचार में लगी हुई थीं।

कुमार ने इन सब पर दृष्टि डालते हुए क्रमशः हिमगृह के मध्यभाग को देखा। वह हिमालय का हृदय, वरुण का क्रीडागृह, चंद्रमा की कलाओं की जन्मभूमि, चन्दनवन के देवताओं का कुलगृह, चन्द्रमणियों का जन्म-स्थान, माघ मास की रात्रियों का निवास, वर्षाऋतुओं का संकेत-स्थल सा जान पड़ता था। ग्रीष्म की ऊष्मा दूर करने के लिये सब नदियाँ मानों वहाँ आती थीं। सब समुद्र वहीं आकर जैसे वडवानल का सन्ताप मिटाते थे। सब जलधाराएँ विद्युतअग्नि से उत्पन्न दाह के प्रतिकार के लिये वहाँ एकत्र होती थीं। चन्द्रमा के असह्य विरह में मन बहलाने के लिये कुमुदिनियाँ जैसे दिन में वहाँ एकत्र होती थीं। शिव के नेत्र की अग्नि से भस्म हुआ कामदेव उस ज्वाला को शांत करने के लिये वहीं रहता था। सूर्य की किरणें उसमें प्रवेश न कर पाती थीं; या तो जलयंत्रों की सहस्रों धाराओं ने ही उन्हें भीतर आने से रोक दिया था, या ठंड लगने के भय से वे स्वयं ही उस स्थान को छोड़े हुए थीं। कदम्ब का केसर उड़ानेवाली हवाओं को भी मानों वहाँ के शीत से रोमांच हो आता था। हवा जिनके पत्तों को झकझोर रही थी ऐसे कदली-वनों ने शीत से कँपकँपी निवारण के लिये उसे घेर रक्खा था। पुष्पों की सुगंधि से गुंजारते भौंरों की भी वहाँ मानों शीत के कारण बत्तीसी बज रही थी।[1] लताओं ने ऊष्मा से बचने के लिये भौंरों के रूप में मानों नीला कंचुक ओढ़ लिया था। वहाँ भरा हुआ शीत मानों मूर्त रूप में पिण्डीभूत होकर चंद्रापीड़ के अंतःकरण और बाह्य शरीर का स्पर्श करने लगा। उसके शैत्य का अनुभव करके उसे ऐसा जान पड़ा मानों उसका मन चन्द्रमय, इन्द्रियाँ कुमुदमय, अवयव ज्योत्स्नामय, और बुद्धि मृणालमय हो गई थी। इस प्रकार हिमगृह में

१—दंतवीणा—बत्तीसी।

प्रवेश करके उसका मन, इन्द्रियाँ, शरीर और बुद्धि अतीव प्रसन्न हुईं और उसे ऐसा जान पड़ा मानों सूर्य की किरणों में हारयष्टियों की, धूप में चंदन की, वायु में कपूर की, काल में जल की और त्रिभुवन में तुषार की शीतलता ने प्रवेश कर लिया था।

[२१०]

इस प्रकार के हिमगृह के मध्य भाग में बैठी हुई कादम्बरी को उसने देखा। वह सखियों से घिरी हुई थी, मानों अनेक नदियों के परिवार के साथ गंगा हिमालय की गुफा में छिपी हो। वह मृणाल दंडों पर टिकी हुई मण्डपिका के नीचे कुसुम शयन पर लेटी हुई थी। कपूर का बहता हुआ रस किनारे की पतली नालियों (कुल्या) में उसके चारों ओर बह रहा था। वह उस समय मृणाल के बने हुए हार, अंगद, वलय रशना और नूपुर पहने हुए थी, मानो मन्मथ ने डाह से उसे हथकड़ी बेड़ियों में जकड़कर डाल रक्खा हो। उसके ललाट पर श्वेत चन्दन की टिकुली लगी थी, मानो वह माथे से चन्द्रमा का स्पर्श कर रही थी। नेत्रों से बराबर अश्रुधारा बह रही थी, मानो वरुण देवता ही उसके नेत्रों का चुम्बन कर रहे थे। श्वासोच्छ्वास की गति तीव्र थी मानों ऊष्ण वायु के झोके ने मुख के भीतर उसे डस लिया था। उसके अंगों में दाह की ज्वाला उठ रही थी, मानो सूर्य ने उनका स्पर्श किया हो। हृदय में कामाग्नि सुलग रही थी मानो अग्नि ने प्रवेश किया हो। शरीर से स्वेद जल बह रहा था मानो जलदेवता ने आलिंगन किया हो। उसके अंगों की शोभा में कुछ न्यूनता प्रतीत होती थी, मानो सूर्य, अग्नि, जल, वरुण आदि देवता ही उसके सौन्दर्य को विलुप्त करने में लगे थे। शरीर की दुर्बलता सूचित कर रही थी कि उसका हृदय सब अंगों के साथ प्रियतम से मिलने चला गया था। उसके रोमांचित शरीर पर लगा हुआ श्वेत चन्दन सूख गया था; मानो मोतियों के हार की किरणें शरीर का स्पर्श करती हुईं उस रूप में दिखाई पड़ रही थीं। कान के समीप भौंरे मानो उसके कपोलों से स्वेद जल को अपने पंखों की भिनभिनाहट से सुखा रहे थे नेत्रों के अपांग भाग से अश्रुधारा बह रही थी। वह कपूर से बसाई हुई केवड़े की कली कान में पहने हुए थी। दीर्घ उच्छ्वास से कुचों का अंशुक बार बार उड़ रहा था। उस पर चौंरियाँ ढाली जा रही थीं। कभी वह हिमशिला की बनी हुई शालभंजिका का आलिंगन करती, कभी कपूर की पुतली से अपने कपोल का स्पर्श कराती और कभी चंदन पंक से बनाई हुई पुतली को पैरों से लगाती थी। स्तनों में पड़ते हुए अपने मुख के प्रतिबिम्ब से मानो वह स्वयं अपनी दशा देखने को उत्सुक थी। उसके कर्णपूर कपोलों में प्रतिबिंबित होकर मानो स्वयं उसका चुम्बन कर रहे थे। मोतियों के हार मानो परवश होकर अपनी किरणों से उसका आलिंगन कर रहे थे। उसके वक्षस्थल पर गोल मणिदर्पण सुशोभित था। सामने से आती हुई प्रमद वन की गन्ध को वह हाथ फैलाकर रोक रही थी। दक्षिण मलयानिल का अपनी ओर बहना भी उसे इष्ट न था। उसके दोनों स्तन कमलों से ढके हुए और चन्दन से धवलित थे मानो कामदेव की स्नानवेदि दो कमलमुखी चंदनचर्चित कलशों से सजाई गई हो। दाह शान्ति के लिये वह शिशिर हार पहने हुए थी। कामबाण

से व्याकुल होने के कारण कोई अंगराग न लगाकर केवल चन्दन का विलेपन लगाए हुए थी। मृणाल माला पहन कर और भी अन्तर्दाह शान्त करने के लिये हिमशीतल वस्तुओं के स्पर्श की इच्छा प्रकट कर रही थी।

[२११]

सामने आ-आकर चन्द्रापीड़ के आगमन की सूचना देने वाले परिजनों से वह पूछ रही थी—'क्या वे सचमुच आ गए ? क्या तुमने देखा है ? अभी कितनी दूर हैं ? कहाँ हैं ?' सामने आते हुए चन्द्रापीड़ को दूर से ही देखकर वह अपने कुसुम शयन से उठ बैठी। सम्भ्रम में उसका उत्तरीय सरक गया। बायाँ हाथ भूमि पर टेककर उसने उठने के लिये सहारा लिया और दाहिने हाथ से बिथुरे बालों को सम्हाला। शरीर के ऊर्ध्व भाग को उसने कुछ मोड़ लिया। नेत्रों से आनन्द जल बहने लगा। चन्द्रापीड़ ने आगे बढ़कर पूर्ववत् महाश्वेता को प्रणाम करके पुनः उसे प्रणाम किया। कादम्बरी ने भी उत्तर में उसे प्रणाम किया और फिर उसी कुसुमशयन पर बैठ गई। प्रतीहारी चन्द्रापीड़ के लिये सोने की आसन्दी ले आई जिसके पायों में चमकीले रत्न जड़े थे। पर कुमार उसे पैर से हटाकर पृथिवी पर ही बैठा। तब केयूरक ने कादम्बरी से पत्रलेखा का परिचय कराते हुए कहा— देवि, देव चन्द्रापीड़ की कृपापात्र यह पत्रलेखा नामक उनकी ताम्बूलकरंकवाहिनी है।' कादम्बरी ने उसे देखकर सोचा—'अहो मानुषियों में भी प्रजापति का कितना पक्षपात है। फिर उसके प्रणाम करने पर उसे पास बुलाकर अपने ही समीप में पीछे बैठाया और बार बार प्रेमपूर्वक उसके ऊपर हाथ फेरने लगी।

[२१२]

चन्द्रापीड़ ने आगमन काल के उपचारों से निवृत्त होकर कादम्बरी को उस अवस्था में देखकर सोचा—'मेरा हृदय बहुत मूढ़ है जो आज भी विश्वास नहीं करता। जो हो कुछ प्रवीणता भरी बातचीत चलानी चाहिए।' यह सोचकर प्रकट रूप में कहा—'देवि, मुझे विदित है कि किस निर्वेद[1] के कारण बराबर सन्ताप देनेवाला यह कष्ट तुम्हें हुआ है। हे सुतनु, यह व्याधि तुम्हें इतनी व्यथा नहीं पहुँचा रही जितनी मुझे। मैं चाहता हूँ कि शरीरदान[2] से भी तुम्हें स्वस्थ कर सकूँ। काम के बाणों की पीड़ा से तुम्हें गिरी हुई देखकर मेरा हृदय भी डूबा जाता है।[3] तुम्हारी अंगदविहीन भुजाएं कृश हो गई हैं।[4] तुम्हारी अरुण

१—चन्द्रापीड़ ने कामरति पद का प्रयोग किया है जो द्व्यर्थक है—काम् अरतिं= किस निर्वेद के कारण; कामरति=काम की रति या प्रीति के कारण।

२—देहदानेनापि स्वस्थाम्—चन्द्रापीड़ का गुह्य आशय है कि मैं चाहता हूँ तुम विवाह द्वारा अपना शरीर मुझे देकर स्वस्थ बनो।

३—उत्कम्पिनीमनुकम्पमानस्य—तुम काम से कांप रही हो और मैं भी कांप रहा हूँ (मुझे करुणा आ रही है)। तुम कामपीड़ा से ध्वस्त हो और मेरा हृदय भी उसी प्रकार ध्वस्त है।

४—'अनङ्गदे' के दो अर्थ हैं, अंगदरहित एवं काम उत्पन्न करने वाली, अर्थात् तुम्हारी कृश भुजलताओं को देखकर मुझे भी काम उत्पन्न हो रहा है।

दृष्टि लाल स्थल-कमलिनी के समान जान पड़ती है।[1] इस प्रकार तुम्हारे दुख को देखकर परिजन भी निरन्तर अश्रु बहा रहे हैं और आभरणविहीन बने हुए हैं।[2] तो तुम्हें उचित है कि श्रेष्ठ मांगलिक प्रसाधन ग्रहण करो क्योंकि नई लता पुष्पों और भ्रमरों से ही सुशोभित होती है।' कादम्बरी स्वभाव से यद्यपि भोली थी फिर भी उसने मानों काम द्वारा सिखाई हुई बुद्धि से चन्द्रापीड़ के समस्त गूढ़ अर्थों को मन में भली प्रकार समझ लिया, पर अपने मनोरथों की वैसी सफलता (कि चन्द्रापीड़ से इतने शीघ्र सम्मिलन होगा) सम्भव न समझकर वह चुप रही। किसी और बहाने से उसने उसकी ओर मन्द हंसी से देखा। तब मदलेखा ने उत्तर दिया—'कुमार क्या कहूँ ? इसका दारुण सन्ताप वर्णन के योग्य नहीं। और भी, यह कुमारभाव[5] से युक्त है, इसे कौन सी वस्तु कष्ट नहीं पहुँचाती ? देखिए मृणालिनी के शीत किसलय भी इसके लिये अग्नि के समान हैं। ज्योत्स्ना भी धूप सी दुःखदायी है। तालवृन्त किसलयों की वायु से भी इसके मन को जो खेद हो रहा है, उसे क्या आप नहीं देख रहे[6]। धीरता से ही यह अपने प्राण धारण किए हुए है।[7] कादम्बरी ने भी मदलेखा के आलापों का हृदय से समर्थन करते हुए मानों उसे उत्तर दिया। मदलेखा के निपुणालापों के भी दो-दो अर्थ थे, (उभयथा घटमानार्थतया), अतएव चन्द्रापीड़ के मन में संदेह ही बना रहा कि कादम्बरी सचमुच उसे प्रेम करती है या नहीं। तब वह महाश्वेता के साथ प्रीतिभरी बातचीत से देर तक समय बिताकर अपने स्कन्धावार में लौटने के लिये बाहर आया।

१—स्थल कमलिनीमिव रक्ततामरसां—पिछले पद के दो अर्थ हैं, लाल कमल जैसी रक्त या रसशून्य राग की अवस्था (रक्तताम् अरसाम्)।

२—मुक्ताभरणता—इस शब्द के दो अर्थ हैं, आभरण विहीन एवं मोतियों के आभरण से युक्त।

३—वरार्हाणि मंगल प्रसाधनानि—वरार्ह के दो अर्थ हैं, श्रेष्ठ एवं स्वयंवर के योग्य।

४—सकुसुम शिलीमुखा हि शोभते नवालता—इसका दूसरा अर्थ यह है कि तुम्हारे जैसी बालभाव से मुक्त स्त्री सकामा ही अच्छी लगती है। सकुसमशिलीमुखा=पुष्प हैं बाण जिसके, ऐसे काम से युक्त। नवालता=न बालता (श्लेष के कारण बकार वकार का अभेद है) जिसमें बालता या बालभाव नहीं है।

५—अपि च कुमारभावोपेतायाः किमिवास्या यन्न सन्तापाय—कुमारभावोपेता के दो अर्थ हैं, कुमारभाव या बालपन से युक्त; दूसरा अर्थ है कुमार या चन्द्रापीड़ के प्रति प्रेमभाव से युक्त।

६—मनसिजायमान—मन में उत्पन्न; मनसिज के समान आचरण करते हुए अर्थात् संताप देते हुए।

७—धीरत्वमेव प्राणसंधारणहेतुरस्याः—धीरत्वमेव के दो अर्थ हैं—धीरत्व ही; हे धीर, तुम ही (इसे प्राण धारण करा सकोगे)।

[२१३]

बाहर आकर जब वह घोड़े पर चढ़ने ही वाला था, तब पीछे से केयूरक ने आकर कहा—'देव, मदलेखा बिनती करती है। देवी कादम्बरी को पत्रलेखा के प्रथम दर्शन से ही उसमें प्रीति हो गई है, अतएव वे चाहती हैं कि पत्रलेखा लौट आवे। वह पीछे चली जायगी। इस विषय में देव की जैसी इच्छा हो।' सुनकर चन्द्रापीड़ ने कहा—'केयूरक, पत्रलेखा धन्य और श्लाघनीय है जिस पर देवी इतनी प्रसन्न हैं। तुम उसे ले जाओ।' यह कह कर फिर वह स्कन्धावार में लौट आया।

आते ही कुमार ने पिता के समीप से आए हुए अपने परिचित लेखहारक को देखा। घोड़ा रोक कर प्रेम भरे चक्षु से उसने दूर से ही पूछा—'भद्र, सब परिजनों के साथ पिता तो कुशल से हैं ? माता भी सब अन्तःपुर जनों के साथ सकुशल हैं ?' लेखहारक ने आगे बढ़ कर प्रणाम किया और 'देव जैसा कहते हैं' कह कर दो लेख उसके हाथ में दिए। युवराज ने उन्हें मस्तक से लगाकर अपने हाथ से खोला और क्रमशः पढ़ा।

[२१४]

'स्वस्ति, उज्जयिनी से परममाहेश्वर महाराजाधिराज देव तारापीड़ सब सम्पदाओं के निधान चन्द्रापीड़ का मस्तक चूमकर अभिनन्दन करते हैं। प्रजाएं कुशल से हैं। आपको बिना देखे हुए बहुत समय बीत गया। हम सबके हृदय में बड़ी उत्कण्ठा है। देवी भी अन्तःपुर के साथ शोक में म्लान हो गई हैं। अतएव लेख पढ़ते ही तुरन्त चल पड़ना उचित है।' शुकनास के भेजे हुए दूसरे पत्र में भी यही लिखा था। तभी वैशम्पायन ने आकर अपने नाम आए हुए दो लेख उसे दिखाए। उनमें भी यही लिखा था।

तब 'पिता की जैसी आज्ञा', यह कह कर उसने घोड़े पर चढ़े-चढ़े ही कूच का डंका (प्रयाणपटह) बजवा दिया और अनेक घुड़सवारों से घिरे हुए एवं पास में खड़े बलाहक-पुत्र महाबलाधिकृत मेघनाद को आज्ञा दी—'तुम पीछे पत्रलेखा के साथ आना। अवश्य ही केयूरक उसे लेकर यहाँ पहुँचाने आएगा। तब केयूरक द्वारा प्रणाम भेजते हुए देवी कादम्बरी को यह संदेश देना—"यह मर्त्यों की प्रकृति है कि वे अकस्मात् ही विपरीत व्यवहार करके दूसरे की निष्कारण वत्सलता पर भी कुछ ध्यान नहीं देते। ऐसी प्रकृति त्रिभुवन में निन्दनीय है, क्योंकि यह दूसरे के अनुरोध को नहीं मानती, परिचय का भी विचार नहीं करती और कठिनाई से ही समझी जा सकती है। मेरे इस प्रकार अकस्मात् चले जाने से आप मेरे स्नेह को केवल कपट का कूटजाल ही समझेंगी। इससे ज्ञात होगा कि मेरी भक्ति झूठी वञ्चनाओं से भरी हुई थी। मैंने जो आप के समक्ष आत्मार्पण का भाव प्रकट किया था वह भी उपचार ही था और अब तो धूर्तता से भरा हुआ जान पड़ेगा। मेरे मन और वाणी में भिन्नता है, यह इससे प्रकट हो गया। किन्तु अपने विषय में बहुत कहना आवश्यक नहीं। देवी भी जो देवताओं के योग्य थीं अपात्र में अपनी प्रसन्नता

दिखाने के कारण निन्दा को प्राप्त हुई। बड़ों की कृपाभरी अमृत दृष्टि अपात्रों में जब व्यर्थ हो जाती है तब उससे स्वयं उनको भी लज्जित होना पड़ता है। देवी के प्रति लज्जा के भार से मेरा हृदय इतना भारी नहीं, जितना महाश्वेता के लिये है। देवी उसे बारबार उपालंभ देंगी क्योंकि उसने मेरे जैसे अयोग्य व्यक्ति के लिये पक्षपात किया और उन गुणों का मिथ्या अध्यारोप करके जो मुझमें नहीं थे मेरी व्यर्थ प्रशंसा की। तो मैं क्या करूं ? पिता का आदेश सर्वोपरि है, पर उसका शासन केवल मेरे शरीर पर है। मेरा हृदय तो हेमकूट पर निवास करने की इच्छा से सहस्र जन्मों के लिये देवी कादम्बरी को दास्यपत्र लिख चुका है। देवी का प्रसाद उस हृदय को जाने न देगा, जैसे गौल्मिक आटविक को जाने से रोक रखता है।[1] पिता के आदेश से मुझे उज्जयिनी तो जाना ही है। अपने परिजनों के कथाप्रसंग में ही देवी चंडाल चन्द्रापीड़ को भी स्मरण करने का अनुग्रह कर लिया करें। ऐसा न समझें कि जीवित रहते वह देवी के चरणारविन्द के दर्शन का आनन्द अनुभव किए बिना किसी प्रकार भी रह सकेगा।" प्रदक्षिणा करके महाश्वेता के चरणों में भी सिर रखकर वन्दना करना। मदलेखा से प्रणामपूर्वक अशिथिल कंठालिंगन निवेदन करना। तमालिका से भी गाढ़ालिंगन कहना। कादम्बरी के समस्त परिजनों से हमारी ओर से कुशल पूछना। हाथ जोड़कर भगवान् हेमकूट से भी बिदा लेना।'

[२१५]

इस प्रकार आज्ञा देकर कुमार ने स्कन्धावार का सब दायित्व वैशम्पायन को सौंप दिया और कहा—'हमारे कटक में जो सुहृद्बल[2] आदि छह प्रकार की सेनाएँ हैं उन्हें क्लेश न हो, इस प्रकार तुम शनैः शनैः प्रयाण करते हुए आना।' स्वयं उसी प्रकार घोड़े पर चढ़े हुए ही कुछ तरुण कुन्तधारी अश्वारोही सैनिकों को साथ लेकर सटकर चलते हुए उसी लेखहारक से उज्जयिनी का मार्ग पूछते हुए कुमार ने प्रयाण किया।

१—न दत्तमस्य आटविकस्य गौल्मिकेनेव देवी प्रसादेन गन्तुम्—गौल्मिक राज्य की सरहद पर नियुक्त सैनिक टुकड़ियों के सिपाहियों को कहते थे, जैसा कादम्बरी में पहले आ चुका है—अप्रमत्त पार्थिवैरिव पर्यन्तावस्थितबहुगुप्तगुल्मकैः (अनुच्छेद १३१)। आटविक अटवी निवासी वनचारी मनुष्यों की संज्ञा थी। गौल्मिक लोग आटविकों के स्वतंत्र गमन पर जैसे रोक थाम रखते थे वैसे ही देवी के प्रसाद के सामने चन्द्रापीड़ का हृदय जाने में स्वतंत्र नहीं।

२—रघुवंश ४।२६ में भी छह प्रकार की सेना का उल्लेख है, उसी की ओर यहाँ संकेत किया गया है। मल्लिनाथ के अनुसार छह प्रकार की सेना यह थी—मौल (बाप दादे के समय की पुश्तैनी सेना), भृत्य (वैतनिक सेना), सुहृत् सेना (मित्रों की सेना जो सहायता के लिये आई हो), शत्रु सेना (शत्रुओं के यहाँ से फूटकर आए हुए सैनिक), श्रेणी (आयुधजीवी क्षत्रियों की संगठित सेना), आटविक (आटविक राज्यों के सैनिक)।

क्रमशः जाते हुए एक दिन सायंकाल के समय वह एक अटवी के पास दूर से ही वहाँ एक लाल ध्वजा फहराती हुई दिखाई पड़ी। उस अटवी में पुराने वृक्षों के तने आकाश में सिर ऊँचा किए खड़े थे। उसकी वनखंडियों के चारों ओर मालझन की बेलों के मण्डप[1] फैले हुए थे। कहीं हाथियों ने भारी पेड़ों को उखाड़ कर ढेर लगा दिया था जिन्हें बचाने के लिये रास्ता काटकर टेढ़ा चलना पड़ता था। कहीं आने जाने वाले लोगों ने वीर पुरुषों के घात स्थानों पर घास, फूंस, पत्ते, लकड़ी चोटी तक चिनकर कूट या ढेर बना दिए थे।[2] कहीं लोगों ने बड़े वृक्षों के तने के निचले भाग में कान्तार की दुर्गा देवी की मूर्ति उत्कीर्ण कर दी थी। कहीं प्यासे बटोहियों ने आमलकी वृक्ष की शाखाएं तोड़कर उनके पत्ते एक ओर डाल दिए थे और पास में ही चूने हुए फलों का ढेर लगा दिया था। कहीं वन में पुराने कुएं दिखाई पड़ते थे जिनके समीप में लगे हुए करंजुए के पेड़ों की मंजरी कुओं के किनारे पर गिर रही थीं। वृक्षों के ऊपर लोगों ने कपड़े के फाड़े हुए चीरे बांधकर ध्वजा लगा दी थी।[3] ईंटों से बँधी हुई कुओं की पक्की जगत पर आते-जाते पथिकों ने हरे पत्ते बिछाकर कभी विश्राम किया था, जो अब सूखे हुए पड़े थे और बटोहियों के वहां ठहरने की सूचना दे रहे थे। थके हुए पथिक वहाँ आकर बैठते और

१—मालिनी लता मण्डपैः—मालिनी का तात्पर्य उस दृढ़ बेल से है जो नीचे खड्डों से उठकर सैकड़ों फुट ऊँचे साल के पेड़ों को छा लेती है। इसकी जीवनी शक्ति बहुत बढ़ी हुई होती है। इसे मालो, मालुवा या मालझन भी कहते हैं। धम्मपद में आया है—यस्स अच्चन्तदुस्सील्यं मालुवा सालमिवोत्थतं—धम्मपद, गाथा-१६२)।

२—जनजनित तृणपर्णकाष्ठकोटिकूटप्रकटितवीरपुरुषघात स्थानया—यहां बाण ने वीर पुरुष अर्थात् वीर - ब्रह्म की पूजा मान्यता का उल्लेख किया है। ब्रह्म उन यक्षों को कहते थे जो ब्राह्मण जाति के और प्रायः भद्र स्वभाव के समझे जाते थे। वीर वे यक्ष थे जो दुष्ट स्वभाव होने के कारण प्रायः मनुष्यों को कष्ट पहुँचाते थे। अपने मानवी जीवन में वे वीर पुरुष होते थे जो अपमृत्यु प्राप्तकर उसी स्थान में रहने लग जाते थे और लोगों को सताते थे। उनके लिये वहीं चबूतरा या थूहा बना दिया जाता था। आते-जाते मनुष्य उनको प्रसन्न करने के लिये उस पर घास, फूंस, लकड़ी मिट्टी, पत्थर चढ़ाते थे। अटवी में जगह-जगह इस प्रकार के थूहे थे। काणे ने आमोद नामक कादम्बरी टीका से यह श्लोक उद्धृत किया है—

आहतो वीर पुरुषो यत्र तत्र महीतले।
शकलादि तृणादीनां किरन्ति पथिकाः किल॥

३—जंगल के किसी-किसी पेड़ पर चीरा बाबा का निवास माना जाता है और लोग कपड़े की कत्तरें फाड़कर बांध देते हैं, यही उसकी पूजा है। वृक्ष के ऊपर एक ऊँची ध्वजा भी लगा दी जाती है।

नये पल्लवों की टहनी तोड़कर उनसे पैरों की धूल झाड़कर पत्ते वहीं डालकर चले जाते थे।[1] पत्तों के पानी में गिराकर सड़ने से बदबू उठ रही थी और उसका स्वाद और रंग दोनों बिगड़ गए थे। कुओं में कीचड़ उठ आने से पानी भी ठंढा न रह गया था। कुओं के मुंह लगभग घास से पट गए थे, किन्तु बटोहियों ने बेलों में दोने गूंथकर जो कभी पानी निकाला था उन्हीं से उन पटे हुए कुओं का अनुमान होता था। उनमें पानी सुलभ न रह गया था, अतएव वहां कोई ठहरना न चाहता था। अटवी के भीतर सूखी हुई पहाड़ी नदियों की छाड़न या छोड़ी हुई धाराएं जहां तहां दिखाई पड़ती थीं। उनके किनारों पर सिन्दुवार के फूले हुए वृक्षों से शहद की बूंदें टपक रही थीं। छोटी छोटी लताओं ने किनारों पर फैलकर अपनी गुलझटों से बालू को ढक दिया था। मार्ग चलने वालों ने किनारे पर बालू में गड्ढे खोदकर कुछ मटमैला पानी निकालने का प्रयत्न किया था। मुर्गे और कुत्तों के बोलने से घने जंगल में छोटे गामड़ों (ग्रामटिका) के होने का अनुमान होता था।

ऐसी उस अटवी में पहुँचते-पहुँचते कुमार को दिन छिप गया और सामने सूर्य का लाल गोला दिखाई पड़ने लगा। वहां महिषासुरमर्दिनी चण्डिका देवी का एक मन्दिर था।[2] शून्य अटवी, उसमें चण्डिका के मन्दिर, और उस मन्दिर के बुड्ढे पुजारी के ये बाणकृत वर्णन अनूठे ही हैं। विशेषतः बुड्ढे पुजारी के वर्णन की तुलना में रखने के लिये तो शायद ही संस्कृत साहित्य में और कोई ऐसा प्रसंग मिले। कादम्बरी की कथावस्तु से इन तीनों का कुछ भी संबंध नहीं है। हेमकूट से लौटते हुए चन्द्रापीड़ के मार्ग में कवि ने जानबूझकर यह प्रसंग टांक दिया है। एक तो इसके द्वारा वे चन्द्रापीड़ के मन को उस तनाव से मुक्त कर देना चाहते थे जिसका कादम्बरी के साथ हुए मदनवृत्तान्त के कारण वह इस समय अनुभव कर रहा था। युवराज को जिस हलके फुलके परिवर्तन की आवश्यकता थी वह उसे यहां प्राप्त हुआ। उज्जयिनी के मार्ग में बढ़ते हुए उसने एक रात यहां बिताई। विशेषतः उस बुड्ढे पुजारी के साथ जो विकृत मानवता का अपने ढंग का एक नमूना था हास परिहास करके कुमार ने अपना मन हलका किया। दूसरी बात यह कि बुड्ढे पुजारी का चरित्र-चित्रण करके बाण ने उस समय के सामाजिक और धार्मिक पाखंडों पर जी खोलकर आलोचना का कुल्हाड़ा चलाया है। बाण का व्यक्तित्व खरा था, पाखण्ड से उन्हें चिढ़ थी। सरकारी नौकरों के दम्भपूर्ण जीवन पर हर्षचरित में उन्होंने अनेक चुभती फबतियां कसी हैं जिससे उस युग में राजदरबारी पाखंड का पर्दाफाश होता है। यहां उनकी वही तीखी वृत्ति कर धार्मिक पाखण्ड की चीड़फाड़ कर रही है। बुड्ढा पुजारी पाखंड का एक प्रतीक है। चण्डिका के आंगन में लगा हुआ ऊँचा लाल झंडा उस युग की

१—हर्षचरित में भी विन्ध्याटवी के वर्णन में बाण ने इसका उल्लेख किया है—पथिकपादप्रस्फोटनधूलिधूसरैर्नवपल्लवैर्लाञ्छित च्छायानाम् (हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १८०)।

२—यह वही स्थान ज्ञात होता है, जिसे हर्षचरित में बाण ने चण्डिका कानन कहा है (हर्षचरित पृष्ठ ५७)।

धार्मिक विकृतियों और विडम्बनाओं का जैसे बिजूका या कालबूत है। धार्मिक विश्वासों और सामाजिक आचारों की इस ठठरी को देखकर मन एकबारगी सिहर उठता है। सच्चे साहित्यिक की भांति बाण ने 'कीदृग् भारतं वर्षं' कादम्बरी के इस प्रश्न का जो रमणीय उत्तर अबतक हमारे सामने रखा है, उसके दूसरा पक्ष की झांकी भी रक्खे बिना वे न रह सके।

पुराने कूर और वृक्षों से भरी हुई उस शून्य अटवी में कुमार ने दूर से ही देखा कि एक बड़ा लाल झंडा लगा हुआ है जो आने जाने वाले बटोहियों को मार्ग की सूचना देता था। वहाँ की वनभूमि वृक्षों को काट छाँटकर छीदी कर ली गई थी। कदंब, सेमर और ढाक के गुच्छे केवल फुनगी के पत्ते बचा कर झांग दिए गए थे; जान पड़ता था कि छत्र तने हुए हैं। साफ किए हुए जंगल के खेतों में जहाँ तहाँ पेड़ों के ठूंठ दिखाई पड़ रहे थे जिनके गुद्दे, डालें और पत्तियाँ साफ थीं, केवल ऊपर की ओर थोड़े से नए किसलय फूट आए थे। नीचे की ओर जो ठूँठ की मूल जड़ें थीं वे जटिल रूप में गुंथ कर दूर तक फैल रही थीं। खेतों के चारों ओर हरताल की तरह ललछौंह पीले पक्के बाँसों की बाड़ें लगाई गई थीं। फिर भी हिरनों के झुंड खेत खा न लें इस डर से खेतों में डरपाऊ धोक पुतले खड़े किए गए थे। अधिकांश खेत पककर तैयार थे। कंगनी बालों से लदी थी। वह ध्वज पुराने लाल चंदन के पेड़ पर बांधा गया था और आलते एवं लाल चन्दन के रस से रंगा गया था। उसके डंडे पर लाल पताकाएं और काले बालों की बनी हुई चौंरियाँ लटकाई गई थीं। उसकी चोटी पर अर्धचंद्र का बड़ा टुकड़ा लगा हुआ था जिसके बीच में एक बड़ा कौड़ा लगाकर बुद्बुद जैसा अलंकरण बनाया गया था, मानो सूर्य अपने पुत्र यम के महिष की रक्षा के लिये शिव के मस्तक पर स्थित चंद्रमा को सिफारिश के लिये साथ लाया था।[1] झंडे के पास ही आकाश को छूता हुआ एक लम्बा त्रिशूल भी लगाया गया था जिसमें हिलते हुए सींग में अटकाई हुई जंजीर से लटकता हुआ घंटा घोर नाद कर रहा था और शेर की अयाल की सुन्दर चौंरियाँ भी लगाई गई थीं।

१—परिणतवराटक घटित बुद्बुदार्धचन्द्र खण्ड खचितं—परिणत वराटक का अर्थ है बड़ा कौड़ा। बुद्बुद उस प्रकार के अलंकरण के लिये पारिभाषिक शब्द था जो गोल होते हुए बीच में बुलबुले की तरह उठा हुआ हो। यह शब्द इसी अर्थ में अनु० २१६ में भी आया है (गलत्पीत नीललोहित दर्पण स्फुरित बुद्बुद मालम्)। अर्धचंद्र के बीच में बड़ा कौड़ा लगाकर जो विशेष अलंकरण बनाया गया था, वह देवी की लाल ध्वजा की चोटी पर खोंसा हुआ था। इस पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि बीच का बुद्बुद मानों सूर्य है जो अर्धचंद्र को साथ लेकर महिष की रक्षा के लिये प्रार्थना करने आया है। महिष सूर्यपुत्र यम का वाहन है। देवी के लिये उसकी बलि न दी जाय यही सूर्य को इष्ट है। इसके लिये वह शिव के मस्तक पर रहने वाले चन्द्रमा को सिफारिश के लिये साथ लाया था। चन्द्रदिवाकर की आकृति प्रायः अलम या झंडों के सिरे पर लगाई जाती है।

[२१६]

लाल झंडे को देखकर कुमार उसी की ओर बढ़ा और तब वहाँ उसने चण्डिका का मन्दिर देखा। देवी के भवन की चारदीवारी जंगली हाथी के केवड़े की बाल की भाँति श्वेतदातों को बराबर बराबर लगाकर बनाई गई थी।[1] चारदिवारी के बीच में लोहे का तोरण बना हुआ था, वहीं उस मन्दिर का बाह्य द्वारदेश था। तोरण में छोटी छोटी लाल चौंरियों की पतली किनारी से अलंकृत लोहे के गोल दर्पणों की माला सजाई हुई थी।[2] चारदिवारी के अन्दर अंजन की काली शिला से निर्मित वेदिका पर लोहे का भैंसा पधराया हुआ था। उसका मुँह देवी की ओर था। उस पर लाल चन्दन के थापे लगाए गए थे, मानों यमराज ने रुधिर में सना हुआ अपना हाथ फेरा हो। उस महिष की लाल आँखों को गिद्धियाँ आ-आकर रक्त के भ्रम से चाटती थीं। मन्दिर के आंगन में जगह जगह उपहार पुष्पों की ढेरियां लगी थीं। कहीं लाल कमल, कहीं अगस्त्य वृक्ष के कुड्मल,[3] कहीं पलाश के पुष्पकुड्मल अर्पित किए गए थे; ज्ञात होता था शबरों ने जंगली भैंसों के लाल नेत्र देवी के लिये लाकर ढेर कर दिए हों। आँगन का स्थान देखकर ज्ञात होता था मानों हिंसा की बेल खूब पलुहाई हो। बलि किए हुए हिरनों के सींग मानों उसके अंकुर थे, जिह्वाएँ पल्लव थीं, नेत्र पुष्प थे, और मुंड फल थे। मन्दिर के चौक में रक्ताशोक के वृक्ष लगे थे जिनकी शाखाओं के बीच बीच में ललछौंह रंग के कुक्कुट छिपे बैठे थे, मानों अकाल में ही फूलों के लाल झुग्गे लद गए हों। आंगन में लगे हुए ताड़-वृक्षों ने अपने गोल फल देवी से

१—वनद्विरददंत कपाटेन परिवृताम्—दंत कपाट का अर्थ भानुचंद्र, काणे आदि टीकाकारों ने हाथी दाँत की किवाड़ किया है, किन्तु यह अर्थ संगत नहीं होता। एक तो अभी किवाड़ का कोई प्रसंग ही नहीं है। इसके बाद पहले लोहे के तोरण का वर्णन आता है। तब कहीं भीतर जाकर कवि ने कपाटद्वय अर्थात् दो किवाड़ों का उल्लेख किया है जो उचित है। 'दंतकपाटेन' पद एक वचनान्त है; एक किवाड़ की कोई तुक भी नहीं है। अर्थ संगति की दृष्टि से सबसे पहले मन्दिर की चारदिवारी के वर्णन की आवश्यकता है। परिवृतां पद से वही अभिप्रेत है। जंगली हाथियों के बड़े बड़े दाँतों को खम्भों की तरह एक दूसरे से सटाकर गाड़ा गया था। यही ठोस चारदीवारी या बाड़ा कपाट शब्द का अभिप्राय है।

२—रक्त चामरावलि परिकर कालायस दर्पण मंडल मालां—हर्ष चरित में चमड़े की गोल ढाल को छोटी चौरियों से सजाने का उल्लेख है (पृ० २०७, हर्ष चरित सांस्कृतिक अध्ययन चित्र ८२)। आज भी शीशों को सजाने के लिये इस तरह की चौरियाँ लगाते हैं।

३—अगस्ति या अगस्त्य वृक्ष का पुष्प सफेदी लिये हुए लाल और आकृति में टेढ़ा होता है।

उपहार रूप में अर्पित किए थे जो वेतालों द्वारा अर्पित नरमुंड से ज्ञात होते थे। मन्दिर के चारों ओर कांपते हुए केलों के जंगलों ने, कँटीले बेल की बनखण्डियों ने और ऊँचे पत्तों वाले खजूर के वृक्षों ने उस स्थान को अत्यन्त सघन बना दिया था। मन्दिर के चतुर्दिक् भाग में देवी की कृपा से ढीठ[1] बने हुए शेरों के बच्चे किलोल कर रहे थे। जंगली हाथियों के विदीर्ण-मस्तकों से निकले हुए लाल मोती उन्होंने जहां तहां बिथुरा दिए थे। लालची भोंदू मुर्गे उन्हें ही मांस मिले हुए भात की बलि समझकर पहले मुंह में रखकर फिर चट उगल देते थे। मंदिर के आंगन में बलि के कारण रक्त का फव्वारा-सा छूट रहा था जिससे आंगन में कीचड़ हो गई थी। अस्तकालीन सूर्य का वहां पड़ता हुआ लाल प्रतिबिम्ब ऐसा लगता था मानों उस बीभत्स काण्ड को देखकर सूर्य बेहोश होकर गिर गए हों।

आंगन के बाद मन्दिर के गर्भगृह का द्वार दिखाई पड़ रहा था। उसकी चौखट पर दीप, रक्तांशुक और मोर के गले में डाली जाने वाली छोटी छोटी चूड़ियों की मालाएं लटकाई गई थीं। दरवाजे में दो किवाड़ लगे थे जिनके पीछे हाथी दांत की अर्गला या ब्योंड़ा चढ़ा था। किवाड़ों में सामने की ओर पीतल के नाहरमुखी लट्टुओं में दांतों के बीच में मोटे लोहे के कड़े लटक रहे थे।[2] किवाड़ों में लगे हुए और एक दूसरे में झलकते हुए पीले, नीले, लाल कांच के टुकड़े बुद्बुदों की तरह चमचम कर रहे थे।[3]

१—सिंह शावकों के पिता देवी के वाहन थे, इसलिये सिंहों के बच्चे ढीठ होकर वहाँ खेलते थे। जंगली हाथियों का शिकार भी सिंहेलों के पिताओं ने ही किया था।

२—त्रापुषसिंहमुखमध्यस्थितस्थूललोहकटकम्—इस पद का अर्थ निश्चित और स्पष्ट है। वैद्य, काणे और भानुचन्द्र तीनों के संस्करण में मूलपाठ स्थूल लोहकंटकं है जिसका अर्थ उनने यह किया है कि किवाड़ों में बने हुए नाहर के मुख में लोहे के मोटे शंकु या कांटे लगे हुए थे। पर यह अर्थ संगत नहीं जान पड़ता। हमारा विचार है कि यहां बाण का मूल पाठ 'लोहकटक' ही था। मंदिर के गर्भगृह के किवाड़ों में नाहरमुखी लट्टू लगाकर कड़े डालने की प्रथा आज तक है। कटक पाठ मेरी दृष्टि में असंदिग्ध है। नारायण कृत तंत्र समुच्चय (श्लोक ३२) में मंदिर के कपाट के भूषणों की सूची में अन्य अलंकरणों के साथ 'वलय' का भी परिगणन है। इसे ही काश्यप शिल्प में लोहज वलय कहा है (पटल १७, श्लोक १८)। पराशर, मयमत और प्रयोगमञ्जरी में इस कटक को ही कुंडल भी कहा गया है। कहीं कहीं इन दो कड़ों को कंकण भी कहते हैं। देहरादून के लाखामंडल गांव के परमा बढ़ई ने वहां के मन्दिर की किवाड़ का मुझ से वर्णन करते हुए कटक के लिये कंकण शब्द का प्रयोग किया था। कटक, कंकण, वलय, कुंडल सब उसी कड़े के वाचक हैं जो मंदिर की किवाड़ में पहनाया जाता है।

३—गलत्पीत नीललोहित दर्पण स्फुरित बुद्बुदमालं—कांच के छोटे छोटे गोल टुकड़े जो बीच में उभरे हुए होते हैं शोभा के लिये कपड़ों में, दीवारों में और किवाड़ों आदि में लगाए जाते हैं। यह प्रथा गुप्तकाल से ही आरम्भ हो गई थी। गलत् का

गर्भगृह के भीतर बीच में पिण्डिकापीठ बना हुआ था जिसपर चढ़ाई हुई पूजा सामग्री देवी के सामने रखी जाती थी। उसी पर आलते में रंगे वस्त्र देवी के चरणों में चढ़ाए गए थे। गर्भगृह में जीवहिंसा के लिये जो फरसे, लोहदंड आदि शस्त्र टंगे हुए थे उनमें काली चौरियों की परछाईं पड़ रही थी और उनके कारण अंधकार और भी घना हो गया था और ऐसा जान पड़ता था मानों देवी ने पाताल में अपना निवास बनाया हो। देवी के गले में बिल्वपत्रों की लम्बी मालाएं पहनाई गई थीं जिनके बीच बीच में लाल चन्दन से चर्चित बेल के फल गूंथे गए थे मानों बालमुंडों का प्रालम्ब हो। लाल कदम्ब के फूलों से उसके विविध अंगों की पूजा की गई थी। देवी के ललाट पर हेमपट्ट बँधा हुआ था। उसके नीचे शबराङ्गनाओं ने सिंदूर की लाल टिकुली लगा दी थी। देवी के कान में अनार की कलियों का कर्णपूर पहनाया गया था जिसकी आभा से उसका कपोल भी लाल लग रहा था। कुंकुम के साथ ताम्बूल खाने से अधर रक्तवर्ण हो रहा था। शरीर पर कुसुम्भी दुकूल का वस्त्र था मानो देवी ने महाकाल के साथ अभिसार करने के लिये लाल अवगुण्ठन वाली अभिसारिका का वेष धारण किया था। पिण्डीपीठ पर देवी के चरणों के पास चढ़ाए हुए लाल वस्त्र मानों बलि किए हुए बालकों के मुंडों की माला थी।[1] देवी के अंगों में कदम्ब के लाल फूल पशुबलि के समय बजाए जाते हुए बाजों के शब्द से जनित रोमाञ्च से लगते थे। ताम्बूल से अरुण अधर पर मानों रक्तपान से उत्पन्न लाली थी।[2] गर्भगृह में गुग्गुल का नीला धुआं छाया हुआ था जिसके कारण छोटी टिमटिमाती हुई दीपिकाओं की ज्योति लाल लग रही थी, मानों महिषासुर के रक्त में सनी हुई देवी की लाल अंगुलियां हों। उनके दाहिने हाथ की अंगुलियाँ तर्जनकारिणी मुद्रा में थीं मानों उनके गड़े हुए त्रिशूल को कंधा और पीठ खुजलाकर हिला देनेवाले जंगली भैंसों को डपट रही थी कि कहीं तुम्हारी भी महिषासुर के समान

तात्पर्य यह है कि पीले, नीले और लाल दर्पणों की प्रभा गलकर या संक्रान्त होकर एक दूसरे में मिल रही थी। आदर्शभवन या शीशमहल आदि में लगाए जानेवाले ये शीशे बीच में उभरे हुए या उन्नतोदर बनाए जाते हैं। अतएव वे बुद्बुदाकृति अलंकरण जैसे जान पड़ते थे। बुद्बुद अलंकरण का उल्लेख अनु० २१५ में अभी ऊपर आ चुका है।

१—सर्वपशुजीवितैरिव शरणमुपागतैः अलक्तकपटैः अविरहित चरणमूलाम्—यहां बाण ने उस पूजा का संकेत किया है जिसमें पशु बलि के स्थान पर केवल लाल वस्त्रखंड देवी के चरणों में चढ़ाए जाते थे। ज्ञात होता है कि प्राचीन घोर पूजा के स्थान में नए प्रकार की अघोर पूजा भी उस युग में प्रचलित होने लगी थी।

२—रुधिर ताम्बूलारुणिताधर पुटीं—इसका सीधा अर्थ रुधिर पान रूपी ताम्बूल से लाल अधर पट्टी है। काणे ने मेदिनी कोश के आधार पर रुधिर का एक अर्थ कुंकुम भी दिया है, पर वह क्लिष्ट कल्पना है

गति न हो। वहां के पशु भी देवी के भक्त और पुजारी थे, इसलिये मानो बकरों ने दाढ़ी बढ़ाकर देवी का व्रत ले लिया था, मानो चूहों ने होठ कँपाकर मंत्र जाप करने का व्रत लिया था, हिरन मानो कृष्णाजिन ओढ़े हुए फल सिद्धि के लिये प्रायोपवेशन[1] करने लगे थे, और कृष्णसर्प अपने मस्तक की मणियों के रूप में मानों दीप जलाकर आराधना कर रहे थे।[2] मन्दिर में चारों ओर कौवे कांव-कांव करके मानों स्तुति पाठ कर रहे थे।

चण्डिका देवी के मन्दिर में तमिल देश का निवासी एक बुड्ढा पुजारी का काम करता था। उसे समस्त सामाजिक और धार्मिक पाखंडों का प्रतीक मानकर यह वर्णन किया गया है। उस युग की घृणित और निन्दित धार्मिक प्रथाओं में अन्धविश्वास के कारण उसने अपने शरीर को सर्वथा लुञ्ज-पुञ्ज बना डाला था। उसकी काली देह की ठठरी में मोटी फूली हुई नसों का ताना-बाना सा पूरा हुआ दिखाई पड़ता था, मानों किसी जले हुए पेड़ के ठूंठ पर गोह छिपकली और गिरगिट चढ़ गए हों।[3] उसके सारे शरीर पर फोड़े और व्रणों के निशान थे मानों दुर्भाग्य की देवी ने उसकी देह के शुभ लक्षणों को नोंच डाला था जिसके गड्ढे वहां रह गए थे। उसने अपनी जटा के बाल गूंथकर कान के चारों ओर लपेट लिए थे, मानों रुद्राक्ष की छोटी माला कान पर रख ली हो। देवी के चरणों में बार बार माथा रगड़ने से उसके माथे पर घट्टा पड़ गया था। किसी कठवैद द्वारा दिए हुए सिद्धांजन लगाने से उसकी एक आँख फूट गई थी।[4] इसलिये वह दूसरी आंख में प्रतिदिन तीन बार अंजन आंजता था जिससे लकड़ी की सलाई भी घिसकर

१—प्रतिशयितैरिव–प्रतिशयित—छादिताः सर्वतो ये तु भजन्तः क्वापि देवताम्। प्रतिशयिताः फलसिद्ध्यै सिद्धा यत्नेषु शेरते विधिवत्। (आमोद टीका) अर्थात् अभिलषित फल की प्राप्ति के लिये कुछ ओढ़कर हठपूर्वक देवी के चरणों में पड़ रहना प्रतिशयित कहलाता है।

२—शिरोधृतमणिदीपकैरिवाराध्यमानाम्—सिर पर गुग्गुल जलानेवाले शिवभक्तों का उल्लेख हर्षचरित में कई बार आया है—शिरोऽर्धधृतदग्धगुग्गुलसन्तापस्फुटितकपालास्थिपाण्डुरराजिशंकामिव जनयन्तम् (हर्षचरित पृष्ठ १०३); शिरोविधृतविलीयमान गुग्गुल-विकलनवसेवकानुनीयमानमहाकालम् (पृ० १५३)।

३—गोधागोलिकाकृकलासकुलैरिव दग्धस्थाणवाशंकया समारूढैः—बाण की व्यञ्जना यह है कि उसकी देह का अस्थिपिंजर वेताल की ठठरी के जैसा जान पड़ता था। धनपालकृत तिलकमंजरी में वेताल के इस रूप का उल्लेख आया है—अतिकृशतया कायस्य दूरदर्शितोन्नतीनां पर्शुकानामन्तरालद्रोणीषु निद्रायमाण शिशुसरीसृपम् (तिलक मंजरी पृष्ठ ४७), अर्थात् उसकी ठठरी की पसलियों के ऊँचे नीचे भाग में छोटे गिरगिट चिपटे हुए थे।

४—कुवादिकदत्त सिद्धाञ्जनस्फुटितैकलोचनतया। कुवादिक=ओझैत, कठवैद, अताई। बाण ने यहां अनाड़ी धातुविदों को कुवादिक कहा है।

चिकनी हो गई थी। वह प्रतिदिन कड़वी लौकी की भाप लेकर अपने बड़दन्ता होने के दोष को मिटाना चाहता था। उसने गरम की हुई ईंट के प्रहार से बांह की नस को गलत जगह दाग लिया था जिसके कारण वह भुजा सूख गई थी और फिर उसको हरी करने के लिये बराबर तेल की मालिश करता रहता था। बार बार किसी कड़वी बत्ती को आंख में आंजने से तिमिर रोग बढ़ गया था। चकमक पत्थर पर चोट मारकर आग उत्पन्न करने के लिये उसने बनैले सूअर की डाढ़ अपने पास रख छोड़ी थी।[1] इंगुदी (हिंगोट) फल के खोल में वह कीमियां गरी की औषधें और अंजन संग्रह करके रखता था। उसने सूई से नस में टांका लगाकर बाएं हाथ की अंगुली को सिकोड़ लिया था। रेशम के कोये का छल्ला पैर के अंगूठे पर मंढ लेने के कारण उसकी काट से अंगूठा घायल हो गया[2] था। कच्चे पारे का रसायन खाकर उसने काल ज्वर ही बुला लिया था। वह बुड्ढा हो चुका था पर सारे दक्षिणापथ का राज्य पाने की टेर लगा कर दुर्गाजी को तंग करता रहता था। किसी जाहिल भिक्षु के कहने से माथे पर तिलक लगाकर उसके प्रभाव से धन बटोर लेने की आशा उसे लगी हुई थी।[3] हरे पत्तों का रस मिली हुई कोयले की स्याही एक सीपी में उसके पास थी। कपड़े की पट्टी पर उसने दुर्गा जी का स्तोत्र लिख रक्खा था। उसके पास तालपत्र पर लिखी हुई जादू, टोने, तंत्र और मंत्रों की पोथियों का संग्रह था। उनके

१—अश्मभेद संगृहीतवराहदंष्ट्रेण—इस पद का ठीक अभिप्राय टीकाओं ने नहीं समझा। सबने यही लिखा है कि पत्थर तोड़ने के लिये उसने सूअर का दाँत अपने पास रख छोड़ा था। वस्तुतः अश्म का अर्थ यहाँ चकमक पत्थर से है और भेद का अर्थ है चोट करना, मारना। अभिप्राय यह था कि चकमक पत्थर पर वराह दंष्ट्रा से चोट करके वह आग निकालता था। बुंदेलखंड के जंगली देहातों में और पहाड़ों में अभी तक चकमक पर रुई रखकर किसी चीज से चोट मारकर आग बना लेते हैं। आग जलाने का पुराना ढंग यही था।

२—कौशेयककोशावरण क्षतिव्रणितचरणाङ्गुष्ठेन—टीकाओं में इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः बाण ने व्यञ्जना से ऊपर के अर्थ का ही संकेत किया है। पुजारी ने कोशवृद्धि रोकने के लिये पैर के अंगूठे पर रेशम के कोये का खोल चढ़ा लिया था जिसकी काट से अंगूठे में घाव हो गया था। कौशेयक=रेशमी=कोश=कोया। आवरण=खोल। क्षति=काट। व्रणित=घायल। अंडकोश वृद्धि से बचने के लिये प्रायः लोग पैर के अंगूठे की नस पर कस कर डोरा बाँध लेते हैं या कसा छल्ला पहन लेते हैं। उसी की ओर यहाँ संकेत है।

३—तिलक का एक अर्थ काला तिल भी है, अतएव यह अर्थ सम्भव है—किसी मूर्ख भिक्षु ने उसे बता दिया था कि तुम्हारे शरीर पर ऐसा तिल पड़ा है कि बहुत धन मिलना चाहिए। वह इस पर पूरा विश्वास करके धन मिलने की लौ लगाये था।

आलता से लिखे हुए लाल अक्षरों को उसने धुआं दिखाकर कुछ कलछौंह बना लिया था।[1] किसी बुड्ढे महापाशुपत की बताई हुई महाकाल की पूजा की गुह्य पद्धति उसने लिख कर अपने पास रख छोड़ी थी। गड़ा हुआ धन बताने (निधिवाद) का उसे रोग था। पारे से सोना बनाने या कीमिया (धातुवाद) की धुन वायु की तरह उसके मस्तक में भर गई थी। असुर विवर में प्रवेश करने का शौक पिशाच की तरह उसे लगा था।[2] यक्ष-कन्या के साथ आलिंगन का नया झांसा उसे सताने लगा था। शरीर से अलोप होने के मंत्रों का वह अपने पास नया-नया अंबार बढ़ा रहा था। श्रीपर्वत से संबंधित अजगुत अचम्भों की सहस्रों बातें उसे याद थीं। पिशाच चढ़े हुए लोगों का भूत उतारने के लिये वह पीली सरसों पढ़कर बार बार उससे उन्हें मारता तो वे भी उसकी ओर लपक कर लप्पड मारते जिससे उसका कान दबकर चपटा हो गया था। उसे अपने शैव होने का बड़ा घमण्ड था। वह लौकी की बनी हुई वीणा ऐसे बेसुरे ढंग से बजाता रहता कि पथिकों ने ऊबकर उधर से रास्ता निकलना छोड़ दिया था। वह दिन भर मच्छड़ की तरह भनभनाता हुआ सिर हिलाकर कुछ गुनगुनाता रहता था। अपने देश की भाषा में उसने गंगा की भक्ति का स्तोत्र बनाया था जिसे गा-गा कर वह नाचा करता था। वह लाचारी का ब्रह्मचारी[3] था, अतएव जब दूर जगहों से आकर ठहरी हुई बुड्ढी तापसियों को देखता तो ताव खा-खाकर स्त्रीवशीकरण चूर्ण का उन पर प्रयोग करता था। वह इतना क्रोधी था कि अपने हाथ से ही चण्डिका पर चढ़ाई हुई अष्टपुष्पिका जब ठीक जगह न रक्खी जाती तो आग बबूला हो जाता था।

कभी वह भाँति भाँति से मुंह बिराकर चण्डिका की भी ठठोली करता। कभी आए हुए बटोहियों को वहां न ठहरने देने के लिये उनसे जूझ जाता और तब वे भी बिगड़-कर उसके साथ गुत्थमगुत्था करने लगते और उसे पटक कर उसकी पीठ चटका देते। कभी चिढ़ाकर भागे हुए बच्चों का पीछा करता और ठोकर खाकर मुँह के बल इस प्रकार गिर पड़ता कि उसका कपाल फूट जाता और गर्दन मुड़ जाती। कभी वह किसी नये आए हुए साधु को गांव के लोगों से आदर पाते देखकर डाह से फांसी खाने पर उतारू हो जाता।

१—धूमरक्तालक्तकाक्षरतालपत्रकुहकतंत्रमंत्रपुस्तिकासंग्राहिणा—कुहक=इन्द्रजाल। धूमरक्तालक्तकाक्षर=अलक्तक रस से लिखे हुए चटकीले लाल अक्षरों को धुआं दिखाकर धुमैले रंग का बना दिया था जिससे देखने वालों को पोथियां प्राचीन जान पड़ें।

२—असुर विवर में प्रवेश करने के लिये भूमि में बने हुए किसी गहरे गड्ढे में उतरा जाता था। वेताल साधन इसका मुख्य अंग था। उससे धन और स्त्री की यथेष्ट प्राप्ति सम्भव मानी जाती थी (हर्षचरित सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ५८)। असुर विवर साधन करने वाले आचार्य वातिक कहे जाते थे।

३—गृहीततुरगब्रह्मचर्य-उस प्रकार का हठात् ब्रह्मचर्य जो स्त्री के न मिलने तक ही टिक सके।

कुपढ़ होने के कारण वह जब जो चाहे करने लगता। पैर से लंगड़ा होने के कारण रेंगकर इधर-उधर चल लेता था। कान से बहिरा होने के कारण इशारों से काम चलाता। रतौंधी के कारण दिन में ही आ-जा लेता। उसका पेट निकला हुआ था और खाने की कोई थाह न थी। उसने कितनी ही बार पेड़ों के फल झड़झड़ाए थे, तो उनपर बैठे हुए बंदरों ने खौंखियाकर नाखूनों से उसके नेकुड़े नोच लिए थे। बहुत बार फूल चुनने के समय बड़ी डँगारा मक्खियों ने डसकर उसके शरीर को चलनी कर दिया था। कई बार बिना झाड़े बहारे पुराने मंदिरों में जाकर सो रहने के कारण काले सांपों ने उसे डस लिया था। उजड़े मातृभवनों में छिपे हुए रीछों से मुठभेड़ हो जाने के कारण उनके नखों से उसके कपोल नुच गए थे। फागुन में जब लोगों को मस्ती चढ़ती तो मचिया सहित किसी बूढ़ी दासी को उठा ले आते और उसके साथ ब्याह रचाकर उसकी ठठोली करते। अनेक मंदिरों में अंसलपाटी लेकर वह जा सोया था पर बिना फल मिले ही भाग आया था। अनेक व्याधियों के साथ अपने उस दलिद्दरपने से वह ऐसे चिमड़ा हुआ था जैसे कुटुम्ब से। अनेक खोटों से भरी हुई मूर्खता का प्रदर्शन ही उसका जीवन था। क्रोध के कारण उसने अपनी देह पर डंडों की बहुत मार खाई थी। सब अंगों पर दिये रखकर जलाने के कारण उसकी देह भर में जल जाने के व्रण दिखाई दे रहे थे। वह बिना बात गाँव के लोगों को गाली दे बैठता तो वे भी उस पर लातों का बेभाव प्रहार कर डालते थे। उसने फूल भरने के लिये बन की सूखी हुई लताओं की बड़ी करंडी बना रखी थी। ऊँचे वृक्षों के पुष्पों को तोड़ने के लिये पतले बांस की अंकुड़ी उसके पास थी। वह सदा काले कंबल के टुकड़े का खोल सिर पर बांधे रहता था।[1] इस प्रकार बुड्ढे द्रविड़ पुजारी को चण्डिका के मन्दिर में कुमार ने देखा। तब मार्ग में वहीं उसने पड़ाव किया।

[२१७]

घोड़े से उतर कर कुमार ने मन्दिर में प्रवेश किया और भक्तिपूर्वक दुर्गा को प्रणाम किया। प्रदक्षिणा करके दूसरी बार पुनः प्रणाम किया। तब उसके प्रशान्त भागों को देखने की कुतूहल से इधर उधर घूमने लगा। वहाँ उसने एक स्थान में रोते कलपते हुए कुपित पुजारी को देखा। यद्यपि कादम्बरी के विरह में कुमार दुःखी था, किन्तु उसे देखकर वह जी खोलकर देर तक हंसा। उसने अपने सैनिकों को पुजारी के साथ झगड़ने या हंसी ठट्ठा करने से रोक दिया। फिर उसे पुचकार कर और मीठी मीठी बातें कहकर ठंडा किया, और उसकी जन्मभूमि, जाति, विद्या, स्त्री, पुत्र, धन, आयु और साधु होने का कारण स्वयं पूछा। उत्तर में उसने भी जी खोलकर अपना परिचय दिया। जब वह अपने बीते हुए बल, रूप

१—कादम्बरी के मुख्य रस शृंगार और करुण हैं, किन्तु ऊपर के वर्णन में बाण ने हास्य, बीभत्स और भयानक रसों के वर्णन की चासनी दी है, और उन्हें कथा के एक मोड़ के साथ मिलाने का प्रयत्न किया है।

और धन का वर्णन कर रहा था, तो कुमार ने उसमें गहरा रस लिया, जैसे उसका विरहातुर हृदय उससे कुछ बहल गया हो। परिचय होने पर कुमार ने उसे ताम्बूल दिलवाया।

सूर्य अस्त हो जाने पर सब राजकुमार वृक्षों के नीचे ठहर गए। उन्होंने अपने सुनहले पलान शाखाओं पर लटका दिए। धरती पर लोटने के बाद घोड़ों ने देह कँपाकर धूल झाड़ी, फिर घास में मुँह मारकर पानी पिया और नहाकर थकान मिटाई। कुमारों ने भी सामने भाले गाड़कर घोड़े उनमें बाँध दिए। सैनिक घोड़ों के पास अपने लिये पत्तों के बिछौने बिछाकर और रखवाली के लिये पहरेदार नियुक्त करके वहीं सो गए। छावनी में चारों ओर आग जला दी गई। परिजनों ने एक स्थान में इन्द्रायुध को बांधकर चन्द्रापीड़ के लिये शयन तैयार कर दिया और प्रतीहार से सूचना पाकर कुमार वहीं लेट रहा। उस क्षण उसके हृदय में फिर बेचैनी उत्पन्न हुई। उसने राजाओं को बिदा कर दिया और पास के अत्यन्त प्रियजनों से भी कुछ न बोलकर आंखें मीच लीं। उसका मन रह रहकर वहीं किम्पुरुष देश में जा पहुँचा। वह हेमकूट के बारे में ही सोचने लगा। कभी उसे महाश्वेता की निष्कारण बांधवता का ध्यान आता। कभी अपने जीवन के फल कादम्बरी के दर्शन की इच्छा होती। फिर मदलेखा से परिचय की चाहना हुई। फिर तमालिका को देखने की रुचि हुई। तब वह केयूरक के आने की बाट जोहने लगा। उस हिमगृह का दृश्य बार-बार उसकी आंखों में भर जाता। वह गरम-गरम गहरी उसांसें छोड़ने लगा। शेषहार में उसकी प्रीति और बढ़ गई। पीछे रही हुई मदलेखा को उसने बड़ भागिनी समझा। जागते हुए ही किसी प्रकार उसने वह रात बिताई। अगले दिन प्रातःकाल उठकर बुड्ढे पुजारी को इच्छानुसार धन देकर उसका मनोरथ पूरा किया और रमणीय स्थानों में पड़ाव करता हुआ कुछ दिनों में उज्जयिनी आ पहुँचा।

[२१८]

उसके अकस्मात् आगमन से प्रसन्न हुए पुरवासी चारों ओर से आ-आकर उसे प्रणामांजलि अर्पित करने लगे। उन्हें स्वीकार करते हुए युवराज ने बिना सूचना ही नगरी में प्रवेश किया। परिजनों ने दौड़कर अत्यन्त हर्षित हो राजा को समाचार दिया—'देव द्वार पर चन्द्रापीड़ आए हैं।' यह सुनते ही पिता तारापीड़ अत्यन्त आनन्दित होकर प्रहर्ष के कारण ऐसे अश्रुजल गिराते हुए जैसे कल्पवृक्ष मोतियों की वृष्टि करता हो पास में विद्यमान राजाओं को साथ ले पैदल ही कुमार के स्वागत के लिये चले। उनमें से कुछ राजा क्षौम वस्त्र पहने हुए केयूर और उष्णीष धारण किए थे। कुछ किरीट और शेखर से अलंकृत थे। वे खड्ग, वेत्रलता, छत्र, ध्वजा और चामर लिए हुए चल रहे थे। दूर से ही पिता को देखकर कुमार घोड़े से उतर पड़ा और उसने पृथिवी में माथा टेककर पिता को प्रणाम किया। पिता ने 'आओ, आओ' कहते हुए भुजा फैलाकर उसे अपनी ओर खींच लिया और गाढ़ आलिंगन दिया। वहां उस समय जो पूज्य जन थे कुमार ने सभी को प्रणाम किया। तब राजा हाथ पकड़कर उसे विलासवती के भवन में ले गए। वहां माता ने उसी प्रकार समस्त

अन्तःपुर के साथ उठकर उसका अभिनन्दन किया और मंगलाचार करके दिग्विजय संबंधी कथाएं पूछीं। कुछ देर बाद कुमार शुकनास से मिलने के लिये गया। उनके पास देर तक ठहर कर स्कन्धावार में पीछे रहे हुए वैशम्पायन की कुशल कही और फिर मनोरमा से मिलकर विलासवती के भवन में पराधीन का भांति स्नान आदि की क्रियाएं कीं। अपराह्ण में वह निजी कुमार भवन में चला आया। वहां कादम्बरी के विरह में उसे अपना आपा, अपना भवन, अवन्ती नगर और सारी पृथिवी सूनी दिखाई दी। गन्धर्वराज-पुत्री कादम्बरी का समाचार जानने की उत्सुकता से वह पत्रलेखा के आने की बाट इस उत्सुकता से देखने लगा, मानों किसी महोत्सव की या वर की प्राप्ति की या अमृत-जन्म की प्रतीक्षा कर रहा हो।

[२१६]

कुछ दिन बीतने पर मेघनाद पत्रलेखा को लेकर आ पहुँचा और उसने उसे कुमार के पास पहुँचाया। प्रणाम करती हुई पत्रलेखा को कुमार ने दूर से ही मंद हँसी के साथ अतिशय प्रीति प्रकट करते हुए बड़े आदर के साथ अपने पास बैठाकर उसका आलिङ्गन किया। यद्यपि स्वभावतः वह उसे प्रिय थी पर आज कादम्बरी का समाचार लेकर लौटी थी इसलिये और भी प्रिय हो गई थी। प्रणाम करते हुए मेघनाद की पीठ पर हाथ रखकर कुमार ने उसका स्पर्श किया और तब बैठकर कहा—'पत्रलेखा, कहो महाश्वेता और मदलेखा के साथ देवी कादम्बरी तो कुशल से हैं, तमालिका केयूरक आदि सब परिजन तो सकुशल हैं।' उसने कहा—"देव, जैसा आप कहते हैं सब कुशल है। देवी कादम्बरी, सखीजन और परिजन अंजलिपूर्वक मस्तक झुकाकर आपकी अर्चना करते हैं।' यों कहती हुई पत्रलेखा को साथ लेकर कुमार ने अपने महल के भीतरी भाग में प्रवेश किया। वहां राजाओं को बिदा करके, उत्कंठित मन से कुतूहल को न रोकते हुए प्रेम के साथ परिजनों को भी दूर हटा दिया। फिर वह आगार[1] में प्रविष्ट हुआ। वहाँ नई लगाई हुई स्थलकमलिनी के सनाल चौड़े पत्ते आतपत्र का काम दे रहे थे। उनके बीच में एक हरे पत्रमण्डप के नीचे सुख से सोते हुए हंसमिथुन को पैर से हटाकर कुमार स्वयं वहाँ बैठ गया और पूछने लगा—'हे पत्रलेखा, कहो तुम वहाँ कैसे रही? कितने दिन रहीं? तुमपर देवी की कैसी कृपा रही? कौन सी गोष्ठियाँ[2] रहीं? क्या क्या

१—यह आगार कुमारभवन का कौन सा भाग था? कुमार इस समय मंदिर के अभ्यन्तर भाग में था। अतएव यह आगार शयनीयगृह के समीप में राजकुल के भुक्त्वा-स्थानमण्डप के समकक्ष कुमारभवन का कोई भाग होना चाहिए जहाँ सर्वथा एकान्त में बैठकर बातचीत की जा सकती थी। वहीं स्थलकमलिनी की वाटिका में पत्रमण्डप के नीचे बैठकर कुमार ने पत्रलेखा से बातचीत की।

२—समागत अतिथि के विनोद के लिये कथागोष्ठी, नृत्यगोष्ठी, संगीतगोष्ठी,

बातें हुईं ? कौन हमारे विषय में अधिक स्मरण करता है ? किसकी हम पर घनिष्ठ प्रीति है ?' उसने उत्तर दिया 'देव, जैसे मैं वहाँ रही, जितने दिन रही, देवी की जैसी अनुकूलता रही, जैसी गोष्ठियाँ हुईं, जैसी बातचीत रही, यह सब एकाग्र मन से सुनें।'

[२२०]

देव के चले आने पर केयूरक के साथ लौटकर मैं वहीं क्रीड़ा पर्वत पर कुसुम शयनाय के समीप जाकर बैठ गई। वहीं देवी की कृपा का नया-नया अनुभव करती हुई सुखपूर्वक रही। और क्या, देवी दिनभर अपने नेत्र मेरे नेत्रों में, शरीर मेरे शरीर में, हाथ मेरे हाथ में, वाणी मेरे नामाक्षरों के उच्चारण में और हृदय मेरी ही प्रीति में लगाए रहीं अपराह्न में मुझे लेकर हिमगृह से निकलीं और घूमती हुई परिजनों को बाहर छोड़कर वल्लभ-बालोद्यान[1] में चली गईं। वहाँ प्रमदवन की सुधाधवलित वेदिका पर वे मरकत सोपान के सहारे चढ़ीं और जाकर उसके मण्डप में मणिस्तम्भ के सहारे बैठ गईं। वहाँ देर तक निज हृदय के साथ चुपचाप कुछ विमर्श करती हुई मुझसे कुछ कहने की इच्छा रखते हुए भी एकटक नेत्रों से मेरी ओर देखती रहीं। देखते हुए ही मानो देवी ने मदनाग्नि में प्रवेश करने का संकल्प कर लिया और उसी की तैयारी में जैसे स्वेदजल का स्नान किया। स्वेद की नदी में बहती हुई वे जैसे काँपने लगीं। काँपती हुई को मानों विषाद ने पकड़कर गिरने से बचाया। तब मैंने उनका आशय समझ कर उनके मुख की ओर स्थिर दृष्टि से देखा और निवेदन किया—'आज्ञा कीजिए'। किन्तु वे बारबार इधर उधर देखते हुए कुछ कहने की इच्छा रहने पर भी लज्जा से गद्गद होकर कुछ न कह सकीं। कभी उनके काँपते हुए अंग मानो उन्हें कुछ कहने से रोकते थे। कभी चमकते हुए फर्श में अपनी ही परछाहीं को 'कहीं वह भेद न सुन ले' इस लज्जावश पैर के अंगूठे से खरोंच कर वहाँ से हट जाने का संकेत करती थीं। कभी भवन कलहंसों को पैर के झंकारित नूपुर से वहाँ से दूर हटाने का प्रयत्न करती थीं। कभी अंशुक पल्लव से कर्णोत्पल के भौंरों को हटाती थीं। कभी अपने मुँह से ताम्बूल के बीड़े का टुकड़ा मोर के मुँह में रखकर उसे वहाँ से टाल देना चाहती थीं। कभी जैसे वनदेवता कोई बात सुन न लें इस आशंका से चकित होकर इधर उधर देखने लगती थीं। उन्होंने कुछ कहने का प्रयत्न किया भी तो वाणी ने साथ न दिया, मानों मदनाग्नि ने शब्दों को जला दिया हो, या बहते हुए नेत्रजल ने उन्हें बहा दिया हो, या प्रविष्ट होते हुए दुखों ने उन्हें घेर लिया हो, या काम के बाणों ने उन्हें खण्डित कर दिया हो, या निकलती हुई निश्वासों ने उन्हें निर्वासित कर

वीणागोष्ठी, काव्यगोष्ठी, सुभाषितगोष्ठी, आदि नाना भाँति की मनोरंजक गोष्ठियाँ की जाती थीं। उसी विषय में चन्द्रापीड़ का प्रश्न है।

१—वल्लभ बालोद्यान का तात्पर्य निजी बालोद्यान से था जिसका उल्लेख पहले आ चुका है। वल्लभ का प्रयोग यहाँ वैसे ही है जैसे राजा के निजी उपयोग के खासा घोड़ों के लिये राजवल्लभ तुरंग और खासा हाथियों के लिये राजवल्लभ कुंजर शब्दों में।

दिया हो, या हृदयवर्ती चिन्ताओं ने जकड़ लिया हो, या निश्वास का पान करने वाले भौंरे उन्हें पी गए हों। केवल मुँह नीचा करके निरंतर गिरते हुए नेत्रजलबिन्दुओं से मानों वे अपने दुःख गिनने के लिये मोतियों की अक्षमाला पिरो रही थीं। उस समय देवी ने लज्जा, विनय, मुग्धता, वैदग्ध्य, भय, विभ्रम विषाद और ऐसे विलास प्रकट किए जैसे अन्यत्र मिलना कठिन है। उनकी वह दशा देखकर मैंने पूछा—'आपको यह क्या हो गया है?' तब लाल नेत्रों को पोछते हुए उन्होंने वेदिका कुसुमपालिका[1] द्वारा गूँथी हुई पुष्पमाला को मानों अत्यन्त दुःखके कारण अपने गले में फंदा लगाने के लिये दोनों भुजाओं से उठाया और जैसे मृत्यु की प्रतीक्षा में गहरी लम्बी साँसें छोड़ने लगीं। उनके इस दुःख के कारण का अनुमान करके मैंने कहने के लिये उनसे बार बार अनुरोध किया। तब लज्जावश वे नख से केतकी के पत्ते पर कुछ लिखने लगीं, मानों अपनी पीड़ा लिखकर देना चाहती हों। उनके ओष्ठ फड़कने लगे, मानों निश्वास के पास मँडराते हुए भौंरों को कुछ गुप्त संदेश देना चाहती थीं। वे देर तक एकटक नेत्रों से पृथिवी की ओर देखती रहीं।

[२२१]

फिर मेरे मुख की ओर दृष्टि गड़ाकर अश्रुजल गिराती हुई मुझसे कहने लगीं'—पत्रलेखा, तुम मुझे जैसी प्रिय हो पिता, माता, महाश्वेता, मदलेखा और मेरे प्राण भी मुझे उतने प्रिय नहीं हैं। दर्शन के क्षण से तुम मेरी प्रिय हो गई हो। न जाने क्यों सब सखीजनों को छोड़कर तुम में ही मेरा हृदय आश्वस्त हुआ है। मैं प्राणों की शपथ खाकर कहती हूँ। सब वृत्तान्त जानने वाले अपने हृदय से भी मैं लज्जित हूँ, दूसरा जो इस वृत्तान्त को जानता हो उससे तो कहना ही क्या? मेरे जैसी कोई कन्या चन्द्र के समान शुभ्र अपने कुल को ऐसे अपयश से कैसे कलंकित करेगी? कुलक्रम से आई हुई लज्जा को कैसे त्याग देगी? कन्याओं के लिये अनुचित इस चपलता के मार्ग में अपना चित्त कैसे लगाएगी? मुझे अभी पिता ने संकल्पित नहीं किया, माता ने दान में नहीं दिया, गुरुजनों ने अनुमोदन नहीं किया। तो मैं कैसे सन्देश दूँ, कैसे उपहार भेजूँ और कैसे कोई इंगित सूचित करूँ? गर्वित कुमार चन्द्रापीड़ ने मुझे कातर और अनाथ की भाँति हठात् गुरुओं की निन्दा का पात्र बना दिया। कहो, क्या बड़ों को ऐसा ही करना उचित है, या परिचय का यही पुरस्कार है, जो विष तन्तु

१—वेदिका कुसुमपालिका—प्रमदवन की वेदिका पर सजाए जानेवाले पुष्पों की रक्षा के विशेष नियोगवाली स्त्री। कादम्बरी इस समय अपने वल्लभ बालोद्यान की वेदिका पर बैठी हुई थी। इस अनुच्छेद में बाण ने दस काम दशाओं को आधार मानकर कादम्बरी की विरहावस्था का वर्णन किया है। दृङ्मनःसङ्गसंकल्पा जागरः कृशता रतिः। ह्रीत्यागोन्माद मूर्च्छान्ता इत्यनंगदशा दश॥ (मल्लिनाथ, मेघदूत २।३०), अर्थात् चक्षुःप्रीति, मनःसंग, संकल्प, रात्रि जागरण, कृषता, अरति (विषयद्वेष), लज्जा त्याग, उन्माद (चित्रविभ्रम), मूर्च्छा, मरण ये दस कामदशाएँ हैं।

के समान सुकुमार मेरे हृदय को इस प्रकार अभिभूत कर दिया। युवकों को कुमारी कन्याओं का इस प्रकार पराभिव करना उचित नहीं। प्रेम की अग्नि पहले कुमारियों की लज्जा को भस्म करती है, पीछे हृदय को। काम के बाण पहले उनके विनयादि गुणों को खण्डित करते हैं, पीछे मर्म-स्थलों को। तो मैं जन्मान्तर में पुनर्मिलन के लिये तुमसे बिदा लेती हूँ। तुमसे अधिक कोई और मुझे प्रिय नहीं। प्राणत्याग के प्रायश्चित्त से मैं अपना प्रेम रूपी कलंक धोने का यत्न करूंगी।' यह कहकर वे चुप हो गईं।

[२२३]

मैं तो सचमुच उस वृत्तान्त से परिचित न थी, अतएव भीत, लज्जित और संज्ञा-हीन की भाँति विषाद में भरकर मैंने पूछा—'देवि, मैं जानना चाहती हूँ, कृपा कर बताइए कि देव चन्द्रापीड़ ने क्या किया ? उनसे क्या अपराध हुआ ? उन्होंने किस अविनय से आपके उस सुकुमार मन को क्लेश पहुँचाया जो किसी प्रकार खेद पहुंचाने के योग्य नहीं ? कारण जानकर पहले मैं अपने प्राणों का त्याग करूंगी, पीछे आप अपना जीवन त्याग करने की बात सोचिएगा।' मेरी यह बात सुनकर देवी ने कहा—'तुझसे कहती हूं, एकाग्र मन से सुन। वह प्रतिदिन स्वप्न में मुझे दर्शन देकर पंजरबद्ध शुक सारिकाओं को दूती बनाकर अपने गुप्त संदेश भेजता है। मैं जब सो जाती हूँ तो वह व्यर्थ के मनोरथ मन में लाकर मेरे कान के दन्तपत्रों पर संकेतस्थल लिख जाता है। मैं सोई रहती हूँ तो मेरे पास मनोहर शब्दों में मदन लेख भेजता है, जिनके कुछ अक्षर स्वेद जल से मिटे हुए होते हैं और जिनमें बीच बीच में पड़े हुए अश्रुबिन्दु उसकी ही अवस्था को सूचित करते हैं। वह अपने अनुराग से बलपूर्वक मेरे पैरों में जैसे लाल महावर लगा जाता है। अविनय के कारण निर्बुद्धि बना हुआ वह स्वप्न में अपने को मेरे चरणों में गिराकर अपने आपको बड़-भागी मानता है। उपवनों में जब अकेली मैं उससे डरकर भागती हूँ तो वह मेरा पल्ला पकड़कर जैसे मुझे रोकता है। जब सखियाँ मुझे उसे सौंप देती हैं तो मैं मुँह फेर लेती हूँ; फिर भी वह प्रगल्भता से मेरा आलिङ्गन कर लेता है। मेरे स्तनों पर कुटिल पत्रलताएं लिखकर मानों वह अपनी बाँकी टेढ़ी प्रकृति से मुझे भी कुटिलाई की सीख देता है। कपटी चाटुकार बनकर वह मेरे कपोलों पर उत्पन्न स्वेदजल को अपने मुख की वायु से सुखाने का प्रयत्न करता है। उसके हृदय में जो प्रेम की उमंगे हैं वे ही मानों उसकी मुखवायु को शीतल करनेवाली तरंगें हैं। वह मेरे कान में नीलोत्पल का कर्णपूर पहनाना चाहता है, किन्तु स्वेदजल में भीगी हुई अंगुलियों से उत्पल तो छूटकर गिर जाता है, केवल अंगुलियां अपने नख किरण जाल से कानों में जैसे यवांकुर पहनाने का उपचार करती हैं। अपने दुलारे बाल बकुल को सींचने के लिये मुंह में भरे हुए सुरा-गण्डूष को ढीठ बनकर केशाकर्षण करके मेरे ही मुंह में उँड़ेल देता है। मैं जब अपने भवन अशोक का दोहद सम्पन्न करने के लिये पादप्रहार करती हूँ तो दुर्बुद्धि से उपहासयोग्य बनकर वह उस पादाघात को अपने ही सिर पर झेल लेता है। हे पत्रलेखा, तू ही बता, मैं काम से मूढ़ बने हुए उस बेसमझ

को कैसे रोकूं ? यदि निषेध करती हूँ तो उसे मेरी ईर्ष्या मान लेता है। आक्रोश से कहती सुनती हूँ तो हँसी समझता है। मैं कुछ बोलती नहीं तो समझता है कि मान करती हूँ। मैं उसके दोष गिनाती हूँ तो समझता है कि इससे मैं उसके स्मरण का बहाना करती हूँ। उसकी अवज्ञा करती हूँ तो समझता है कि अनियंत्रित प्रेम है। लोकापवाद को वह यश मानता है।'

[२२४]

उसके ये वचन सुनकर अत्यन्त हर्षित भाव से मैंने मनमें सोचा—'अहो, कुसुमायुध इसे चन्द्रापीड़ के मार्ग में बहुत दूर तक बढ़ा ले गया है। यदि कादम्बरी के ब्याज से साक्षात् कामदेव का चित्त ही देव चन्द्रापीड़ पर प्रसन्न है, तो कुमार के सहज और यत्न-पूर्वक संवर्धित गुणों ने उसके ऊपर प्रत्युपकार किया है [जिनके द्वारा वह कादम्बरी को स्ववश कर सका है]। उसके यश ने दिशाओं को धवलित कर दिया है। यौवन ने रतिरस के समुद्र में तरंगें उठाकर रत्नों की वृष्टि ही करा दी है [कादम्बरी के रति समुद्र को तरंगित करके उसके हृदयस्थ भावरूपी रत्नों की राशि ही कुमार के लिये अर्पित करा दी है]। यौवन के विलासों ने चन्द्रमा में कृष्णचिह्न के रूप में कुमार का नाम ही लिख दिया है [यद्यपि चन्द्रमा भी मन को हुलसाने वाला है, पर चन्द्रापीड़ द्वारा नामांकित हुए बिना अकेला चन्द्र कादम्बरी के मन को उल्लसित नहीं कर सकता था]। उसके सौभाग्य ने कादम्बरी को वश में करके अपनी पूरी शोभा प्रकट कर दी है। उसके लावण्य ने वैसे ही कादम्बरी के हृदय में अमृत की वृष्टि कर दी है जैसे चन्द्रमा की कलाएँ देवों और पितरों के लिये अमृत बरसाती हैं। तो बहुत समय बाद मलयानिल को अपने सफल होने का समय मिला है। चन्द्रोदय ने उचित समय पाया है। मधुमास की कुसुम लक्ष्मी अनुरूप फल से संयुक्त हुई है। मदिरा रस का दोष भी गुण में परिवर्तित हुआ है। मन्मथ-युग का आरम्भ होने का समय आया है।'

फिर मैंने प्रकट रूप में हँसकर कहा—'देवि, यदि ऐसा है तो कोप छोड़ो; प्रसन्न होओ। अपराध तो काम ने किए हैं। उनके लिये देव चन्द्रापीड़ को दोष क्यों देती हैं ?' जब मैंने ऐसा कहा तो वह कुतूहल से भर गई और फिर कहने लगी—'जिसे काम कहती हो वह कौन है ? कहो उसके कौन कौन से रूप हैं ?' मैं उससे कहने लगी—'देवि, इसका रूप कहां है ? यह तो बिना शरीर की अग्नि है। देखो बिना ज्वालाएँ प्रकट किए ही यह सन्ताप उत्पन्न करती है। इसमें धुँआ नहीं उठता पर आँखों में आँसू आ जाते हैं। इस अग्नि के जलने से भस्म नहीं दिखाई पड़ती, पर पीलापन आ जाता है। इतने इस त्रिभुवन में ऐसा कोई नहीं हुआ जो इसके बाणों का लक्ष्य पहले न बना हो, या अब न बन रहा हो, या भविष्य में आगे न बनेगा। पुष्पों का धनुष लेकर यह अपने बाणों से बड़े बली को भी बींध देता है। जब यह कुसुमायुध कामिनियों के मन में अपना स्थान बना लेता है तो प्रियतम के मुखचन्द्रों से भरा हुआ यह आकाश भी उन्हें थोड़ा दिखाई पड़ता

है ।[1] प्रियतम की रूपाकृति जब वे लिखने लगती हैं तब पृथिवीमंडल भी पर्याप्त नहीं जंचता। वल्लभजन के गुणों को गिनने लगती हैं तो गिनती भी कम पड़ जाती है । प्रियतम की कथा सुनने लगती हैं तो सरस्वती की भाषणशक्ति भी सीमित जान पड़ती है । जब प्राणप्रिय प्रियतम के समागम सुख का ध्यान करने लगती हैं तो समय भी उनके हृदय को कम जान पड़ता है ।'

[२२५]

मुझसे यह सुनकर वह क्षण भर सोचकर बोली—'पत्रलेखा, जैसा तू कहती है, कामदेव ने मुझे कुमार के प्रति वैसा ही पक्षपाती बना दिया है । इसके जितने ये रूप तूने कहे हैं उनसे भी अधिक मुझमें वर्तमान हैं । तू मेरे हृदय से पृथक् नहीं, तो अब तुझसे ही पूछती हूँ, तू ही बता मेरे लिये क्या उचित है ? मैं तो वैसी बातों में अनभिज्ञ हूँ । गुरुजनों की निन्दा का पात्र बनी हुई और नितान्त लज्जा को प्राप्त हुई मैं अपने हृदय में जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा समझती हूँ ।' उसके यह कहने पर मैंने फिर समझाया 'हे देवि' ऐसा मत सोचो । बिना कारण मरने की बार-बार इच्छा क्यों करती हो ? यद्यपि तुमने उसे प्रसन्न करने के लिये आराधना नहीं की पर कामदेव ने स्वयं अपनी प्रसन्नता से तुम्हें वर दिया है । इसमें गुरुजनों से क्या कहना-सुनना, जब कामदेव स्वयं गुरु बनकर कन्या को संकल्पित कर दे, माता के समान अनुमोदन कर दे, पिता के समान दान कर दे, सखी के समान उसमें उत्कंठा भर दे और धात्री के समान तरुणापे में रति के रहस्य सिखा दे ? क्या मैं तुमसे उनका वर्णन करूँ जिन्होंने स्वयं अपने लिये पति चुन लिए ? यदि ऐसा न होता तो धर्मशास्त्रों में कही हुई स्वयंवर विधि निरर्थक हो जाती । तो हे देवि, शान्त हो, मरण की बातें छोड़ो । मैं तुम्हारे चरणों की शपथ लेती हूँ । मुझे संदेश देकर भेजो । मैं जाऊंगी और तुम्हारे हृदयवल्लभ को ले आऊँगी ।'

जब मैंने यह कहा तो प्रीतिरसपूर्वक आर्द्र दृष्टि से मानों उसने मेरा पान कर लेना चाहा । उस समय प्रेम की अनेक चेष्टाएं उसके भीतर भर गईं । यद्यपि उन्हें रोकने का प्रयत्न किया तो भी जिस लज्जा को काम के बाण पहले ही जर्जर कर चुके थे, वह उन्हें न रोक सकी और अनुराग की उन शृंगार लीलाओं ने बाहर प्रकट होकर उसे व्याकुल बना दिया । मेरे प्रिय वचन सुनने से उसके शरीर पर पहले स्वेदजल और फिर रोमाञ्च छलक आया मानों उसने स्वेद द्वारा शरीर से चिपके हुए अपने झीने उत्तरीय को तत्काल रोमांच जाल से उठा दिया । उसके कंठ में जो हार था वही मानों कामदेव द्वारा डाला हुआ मरण-पाश था। उसके कान के हिलते हुए माणिक्यमय मकरकुंडल[2] की कोर में उसे उलझाकर

१—अर्थात् जिधर देखती हैं उधर प्रियतम का मुखरूपी चंद्रमा ही दिखाई पड़ता है और उसके भरने के लिये आकाश में पर्याप्त स्थान उन्हें नहीं दिखाई देता ।

२—प्रेंखत्कुण्डलमाणिक्यपत्रमकरकोटिलग्नं च शशिकिरणमयं मरणपाशमिव मकरकेतुना निहितं कण्ठे हारम्—कादम्बरी के कण्ठ का हार कान के मकरमुखी मणिक्य

औरखींचकर काम उसके प्राण हर लेना चाहता था। पर पत्रलेखा के वचन सुनकर उसने उस हार को अब सुलझा लिया था। यद्यपि उसका अन्तःकरण हर्ष से विह्वल हो गया था तो भी कन्याओं की सहज लज्जा से अपने आपको संभालते हुए उसने धीरे से कहा—

[२२६]

'मैं तेरी घनिष्ट प्रीति को अच्छी तरह जानती हूँ। किन्तु शिरीष पुष्प के समान कोमल स्वभाव वाली स्त्रियों में, विशेष रूप से बालभाव से युक्त कुमारी कन्याओं में, इतनी ढिठाई कैसे आ सकती है! वे सचमुच बड़ी निधड़क हैं जो अपनी ओर से संदेश भेजती या प्रियतम के पास चली जाती हैं। मैं बाला स्वयं सन्देश भेजने का साहस करते हुए लजाती हूँ। और फिर क्या सन्देश दूँ? यदि प्रियतम से कहूँ कि तू मुझे प्रिय है तो यह पुनरुक्ति मात्र है। यदि पूछूं कि क्या मैं तुम्हें प्रिय हूँ तो यह मूर्ख प्रश्न है। मेरा तुमसे बहुत प्रेम है, यह वेश्याओं जैसा आलाप होगा। तुम्हारे बिना मैं नहीं जी सकती, यह कहना प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि मैं अभी तक जी रही हूँ। यदि कहूँ कि काम मुझे सता रहा है, तो यह अपने दोष के लिये अपने को उलाहना है। यदि कहूँ कि काम ने मुझे तुम्हें सौंप दिया है, तो यह कुछ संदेश न हुआ, यह तो संकेतस्थल नियत करके मिलने का व्याज हो गया। यदि कहूँ कि मैंने बलपूर्वक तुम्हें अपने वश में किया हुआ है, तो यह किसी कुलटा का ढीठ वचन हुआ। यदि कहूँ कि आप अवश्य आवें तो यह सौन्दर्य की गर्वोक्ति समझी जायगी। यह कहना कि मैं स्वयं आती हूँ, नारी चपलता होगी। इस दासी का आप में ही अनन्य अनुराग है, यह अपनी भक्ति दिखाने का हलकापन है। यदि ऐसा कहूँ कि अङ्गीकार न किए जाने के भय से संदेश नहीं भेजती तो एक ऐसे भाव को जगाना होगा जो अभी तक नहीं है। आपकी अविद्यमानता में इच्छा न रहते हुए भी मैं जी कर दारुण दुःख पा रही हूँ, यदि यह कहूँ तो सूचित होगा कि क्या सचमुच तेरा ऐसा उत्कट प्रेम है? यदि कहूँ कि मेरी प्रीति का पता आपको मेरे मरण से,[1] लगेगा, तो इसकी सम्भावना कहाँ है?

कुण्डल की टेढ़ी कोर में जा फंसा था, इसी पर कवि की कल्पना है कि कामदेव ने उसके गले में शशि किरणों से बना हुआ फाँसी देने का फंदा डाला था और वह उसे कुण्डल रूपी आँकुड़े में फंसाकर खींचने ही वाला था कि पत्रलेखा के वचनों से प्रसन्न होकर मानों कादम्बरी ने उस फंदे को छुड़ा लिया, अर्थात् वह कामव्यथारूपी मृत्युपाश से बच गई और उसके लिये निराशा में आशा का संचार हो गया।

१—महाकवि बाण भट्ट कादम्बरी यहीं तक लिख पाए थे कि उनका स्वर्गवास हो गया। शेष ग्रन्थ उनके पुत्र ने पूरा किया।

कादम्बरी

उत्तर भाग

[बाण के मेधावी पुत्र ने अपने पिता की अधूरी कृति को सौष्ठव के साथ पूरा किया। आरम्भ में उन्होंने आठ श्लोक लिखे हैं जिनमें उनके नम्र और श्रद्धावान् व्यक्तित्व की पूरी छाप आ गई है। उनका किया हुआ मंगलाचरण भी साभिप्राय है।]

१—सृष्टि के जनक-जननी शिव-पार्वती की मैं वन्दना करता हूँ। उनके एक शरीर में दो देहों के अर्धभाग इस प्रकार मिले हैं कि दोनों में न कहीं जोड़ दिखाई पड़ता है, न पृथक्भाव। उनकी ही कृपा से कथा का अवशिष्ट भाग पूर्ण करने के कठिन कार्य में मुझे सफलता प्राप्त हो सकेगी।

२—उन विश्वस्रष्टा नारायण को भी मेरा प्रणाम है, जिन्होंने क्षणभर में ही नृसिंह का वह रूप धारणकर लिया था, जिसमें केसर फटकारते हुए विकराल मुख और आयुध समेत चार हाथ देखने योग्य थे।[1]

३—घर घर में लोग जिन आर्य का सम्मान करते हैं, बड़े भाग्य से मैंने जिनके यहाँ पुत्र रूप में जन्म पाया, जिन्होंने इस महती कथा की ऐसी रचना की, जो औरों के लिये सम्भव नहीं थी, उन वागीश्वर पितृदेव को प्रणाम करता हूँ।

४—जब वे स्वर्ग चले गए तो उनकी वाणी शान्त होने के साथ ही यह कथा प्रबन्ध भी लोक से खण्डित रह गया। उसे असमाप्त देखकर सहृदय लोग दुःखी थे। इसीलिये मैंने उसे पुनः आरम्भ किया है, कुछ अपने कवित्व गर्व से नहीं।

५—यद्यपि यह प्रबन्ध गद्य में था पर इसमें ऐसे सुन्दर शब्दों की योजना करना मेरे पिता की ही विशेषता थी। अमृत के स्रोत चन्द्रमा की एक किरण का स्पर्श भी चन्द्रकान्त मणि को द्रवित करने के लिये पर्याप्त होता है।

६—जैसे बढ़ी हुई अन्य नदियां गंगा के साथ मिलकर और उसमें विलीन होकर समुद्र तक चली जाती हैं, उसी प्रकार पिता के समुद्रगामी प्रवाह में मैंने भी अपनी वाणी की धारा मिला दी है जिससे कथा समाप्ति को प्राप्त हो सके।

१—धार्मिक समन्वय के उस युग में शैव और वैष्णव धर्मों का जो परस्पर परिपूर्ण सख्यभाव था वही यहाँ शिव-विष्णु को साथ प्रणाम करने में प्रदर्शित है। सभी अच्छे तत्वचिंतक एवं जनता इस बात को मानती थी कि शिव और विष्णु एक ही परम तत्त्व के दो रूप हैं। यह धार्मिक सहिष्णुता यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि कादम्बरी के कुमारी अन्तःपुर में शिव, पार्वती, विष्णु, ब्रह्मा, कार्तिकेय, बुद्ध, अवलोकितेश्वर और अर्हत्, इनकी स्तुतियाँ एक साथ पढ़ी जाती थीं।

७—कादम्बरी के उत्तम रस से सब लोग ऐसे छके हुए हैं कि रस और वर्ण दोनों से हीन अपना वचन उसमें मिलाते हुए मुझे कुछ भय नहीं, क्योंकि बेहोशी में किसी को कुछ पता न चलेगा।[1]

८—जिन बीजों के गर्भ में उनका फल है और जो अवश्य विकास को प्राप्त होनेवाले हैं, बोनेवाला उनके साथ उचित परिश्रम करके उन्हें उत्कृष्ट भूमि में बो देता है और वहीं वे पुष्ट हो जाते हैं। उसका पुत्र तो केवल उस पकी हुई फसल का संग्रह कर लेता है। ऐसे ही इस फलवती कथा के विकासशील बीजों को मेरे पिता अपने श्रम से ऐसी उत्तम भूमि में बो गए हैं कि उनका परिपाक अवश्यंभावी है। मैं तो उस फल निष्पत्ति का सञ्चयमात्र कर रहा हूँ। कथा के जितने पात्र हैं और उनका जो स्वरूप है उन सबका पूर्ण विकास मेरे पिता के द्वारा हो चुका है। मैं तो केवल उनके उस निष्पन्न स्वरूप का संग्रह-कर लेने वाला हूँ।

[२२७]

'पत्रलेखा, और भी सुन। यदि इस समय जब मैं प्रियतम के दर्शनों के बिना मरी जा रही हूँ, तू कुमार को ले भी आई तो मेरी चपलता से लज्जित हुई लज्जा मुझे उनका दर्शन न करने देगी[1] काम से होने वाले जो कृशता, पाण्डुता आदि विकार हैं, उनके सन्ताप से दूर हटे हुए विविध भाव उस समय सामने न टिक पाएँगे। उस समय कर्तव्य के विषय में मोह और भय से विजड़ित होकर निश्चय न कर पाऊँगी कि क्या

१– कादम्बरी रसभरेण—गुप्तकाल की सबसे श्रेष्ठ सुरा कादम्बरी मानी जाती थी। उसके चषकों का पान करके जो रसिक छके हुए हैं उनके पानपात्र में यदि कोई घटिया सुरा भी मिला दे तो उन्हें क्या भान हो सकेगा? इसी कल्पना का आश्रय लेते हुए बाण के पुत्र का कहना है कि इस कथाप्रबंध में मेरे पिता जो रस सृष्टि कर गए हैं वही सहृदय जनों को तृप्त करने के लिये पर्याप्त है। अब मेरे इस शेष कथाभाग में न वैसा रस है, न शब्दों का वह सौष्ठव। तो भी यहाँ तक के ग्रन्थ से जो तृप्त हो चुके हैं उन्हें मेरी इस त्रुटि से कोई खेद न होगा, वरन् कथा गोष्ठी बीच में ही नहीं टूट गई, इस बात से उन्हें प्रसन्नता मिलेगी। 'अयं जनः' का संकेत बाण पुत्र ने अपनी ओर भी किया है कि मैं स्वयं कादम्बरी के उस रस से ऐसा छका हुआ हूँ कि मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता। अतएव रसवर्ण से हीन अपने वचनों का यह आसव पिता के वचनों में मिलाते हुए मुझे भय नहीं लग रहा। यदि मैं होश में होता तो मुझसे ऐसा होना संभव न था।

१—एक ओर तो कादम्बरी में कुमारी सुलभ लज्जा है, दूसरी ओर दर्शन करने की उत्कंठा या नेत्रों का चांचल्य भाव है। इन दनों के संघर्ष में लज्जा इस बात से लज्जित होगी कि मेरे रहते हुए यह चंचलता आई कैसे? अन्त में लज्जा के सामने उत्सुकता को झुकना पड़ेगा और मैं देख न पाऊँगी।

करूँ ? उनके पास स्वयं गमन करने में जो लाघव का भाव है, वह वैसा करने की अनुमति नहीं देता। उनकी रुचि न हो, और तू बलपूर्वक उन्हें यहाँ ले आवे तो यह एक अपराध होगा। इस भय से डरी हुई मैं ऐसा करने के लिये तेरा समर्थन नहीं कर पाती। यदि उन्होंने गुरुजनों की लज्जा से, या राजकार्य के अनुरोध से, या बहुत दिनों बाद मिले हुए अपने बन्धुजनों के दर्शनसुख से, या मित्रों को देखने की इच्छा से, या यहाँ तक आने का कष्ट करने की अनिच्छा से, या अपने ही गृह में रहने की रुचि से, या जन्मभूमि के स्नेह से, या मेरे प्रति अनिच्छा से तू पैर पकड़कर भी उन्हें न ला सकी और स्नेहपूर्वक तेरा किया हुआ यत्न सब व्यर्थ गया, तब तो फिर खेल समाप्त ही समझ। अब भी कुछ अधिक ही हो गया है। मैं वही कादम्बरी हूँ जिसे उस सायंकाल के समय अमृत बरसाते हुए चन्द्र की किरणों ने, क्रीड़ा पर्वत के नीचे, कुमुदिनी के तट पर बने हुए हिमगृह में, मुक्तशिलापट्ट के शयन पर बिछी हुई फूलों की सेज पर लेटी हुई को कुमार ने देखा था। वे ही मेरे नेत्र हैं जिन्होंने एक बार उन्हें देखना आरंभ किया तो एकटक देखते ही रह गए। यही वह मेरा अज्ञान से शून्य बना हुआ हृदय है जिसके भीतर उन्होंने प्रवेश किया, पर उन्हें वह रख न सका। यही वह शरीर है जो उनके पास इतनी देर तक रहा, पर उदासीन रह गया। यही वह हाथ है जो अपने ग्रहण कराने के लिये व्यर्थ ही गुरुजन की बाट जोहता रह गया। पर पीड़ा से विमुख वे ही ये चन्द्रापीड़ हैं जो दो बार यहाँ आकर भी दूसरे की पीड़ा पर ध्यान न देकर लौट गए। और यही वह तेरा बताया हुआ पंचशर है जिसने अपना सारा तरकश मुझपर ही रीता कर दिया, उनका कुछ न किया।'

[२२८]

'मैंने महाश्वेता से प्रतिज्ञा की थी कि तेरे दुखी रहते अपना पाणिग्रहण नहीं कराऊँगी।' तो उसने मुझसे कहा था—'देवी, ऐसा विचार मत करो, यह कुमति है। यह पापी कामदेव बड़ा कठिन है यह किसी अदृश्य प्रियजन के लिये अनुराग उत्पन्न करके प्राण भी ले सकता है।' पर मेरे लिये तो ऐसा भी नहीं हुआ। मदन से, दैव से, विरह से यौवन से, अनुराग से, मद से, हृदय से, या अन्य-अन्य कारणों से, मेरे संकल्पों में बसा हुआ यह कुमार अकेले में और जनसमूह के बीच में भी आ-आकर किसी सिद्ध की भाँति सदा मुझे दर्शन दे जाता है और उसे कोई देख नहीं पाता। मेरे संकल्पों में बसनेवाला कुमार उस कुमार की भाँति मुझे सहसा छोड़कर निष्ठुरता प्रदर्शित नहीं करता। यह स्वयं भी मेरे विरह में कातर रहता है। यह रात दिन लक्ष्मी के लिये आकुल नहीं रहता। न यह पृथिवी का पति है, न सरस्वती की अपेक्षा करता है, न यह कीर्ति के लिये डोलता है। मेरे जैसे अज्ञजन को ठगने वाले उस छलिया कुमार को मैं रात दिन उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते शयन में, श्रीमण्डप में क्रीड़ा पर्वत पर, बालगिरि-नदिकाओं में जैसे देखती रही हूँ वह तुझसे बता चुकी हूँ; तो फिर उसे लाने की बात मत कर।' यह कहते हुए वह अकस्मात् मूर्छित हो गई और आँखें मींचकर अश्रुधारा बरसाने

लगी और वेदिका पर तने हुए चंदोए की छत के बीच में लटकनेवाली अंशुक की माला[1] का सहारा लेकर और अपनी भुजा पर मुख रखकर ऐसे खड़ी हो गई मानो शिल्प में उत्कीर्ण शालभंजिका हो।

[२२६]

मैं उसे सुनकर सोचने लगी—'सच ही संकल्पों में बसा हुआ प्रियतम वियोगिनियों के लिये प्राणों का भारी सहारा और विनोद का हेतु होता है। उनमें भी कुलांगनाओं के लिये सर्वथा, और कुमारियों के लिये विशेषतः, दूतियों को भेजकर चरणपूजा किए बिना, संकल्पों में बसे हुए प्रियतम के साथ क्षण-क्षणमें बहुविध समागम सुख प्राप्त होता है। उससे कन्याभाव भी दूषित नहीं होता, और जब चाहे अभिसार भी किया जा सकता है। उसके साथ ऐसे सुरत सुख प्राप्त होते हैं जहाँ आलिङ्गनों में स्तनों का व्यवधान नहीं रहता, जहाँ नखविन्यास और दन्तक्षतों में व्रणदर्शन से उत्पन्न होनेवाली लज्जा नहीं होती, जहाँ केशाकर्षण होते हुए भी केशपाश विलुलित नहीं होते, जिनमें शब्दविहीन सीत्कार होता है, और गुरुजनों के समक्ष लज्जा उत्पन्न करनेवाला अधर विलास नहीं होता। संकल्पमय प्रियतम न अंधकार में छिपता है, न मेघ धाराओं का वर्षण उसे हटा सकता है, न कोहरा उसे ओझल कर सकता है।'

मैं यह सोच ही रही थी कि दिन लाल हो गया और सूर्यमण्डल शीघ्रता से अस्त होने लगा। इसी बीच में अंधेरा छा गया और दीपधारिणी परिचारिकाओं ने गंधतैल से युक्त दीपिकाएं चारों ओर जला दीं। उन शिखाओं की परछाहीं कादम्बरी के लावण्ययुक्त शरीर पर पड़ती हुई ऐसी ज्ञात हुई मानों उसके अंगों में मदन बाण लगे हों, या कलियों से भरी हुई चम्पकलता हो। मैंने पुनः निवेदन किया—'देवी, कृपा करके हृदय को खेद पहुँचाने वाले सन्ताप का आश्रय मत लो। उठते हुए इस मन्युवेग को वश में करो। मैं चन्द्रापीड़ को लेकर बस अभी आई।' आपका नाम सुनते ही विषापहरण मंत्र ने जैसे उसकी विष मूर्च्छा दूर कर दी और उसने तत्काल नेत्र खोलकर देखते हुए परिजनों को पुकारा[2]—'यहाँ कौन आ गया ?'

१—वेदिकावितानानाभिदामांशुकावलम्बिन्यां बाहुलतिकायाम् आननमुपवेश्य तूष्णीम् उत्कीर्णेव तस्थौ—यहाँ वेदिका प्रमदवन की वेदिका है जिसका अनु० २२० में उल्लेख आ चुका है। उस वेदिका पर मणियों के छोटे खम्भों पर एक वितान तना हुआ है जिसकी छत के बीच में मुक्ताप्रालम्ब के स्थान पर रेशमी वस्त्र की गूंथी हुई माला लटक रही थी। उसे अपनी बाँह से पकड़कर और अपने मुख को भुजा पर टेककर कादम्बरी के खड़े होने की मुद्रा का यहाँ उल्लेख है जिसे शालभंजिका मुद्रा कहा गया है।

२—कः प्रदेशे अस्मिन्—पत्रलेखा के कहने से कादम्बरी ने समझा कि चन्द्रापीड़ आ गया और उसने परिजनों से अभ्यस्त प्रश्न किया-'कः प्रदेशेऽस्मिन्', यह परिजनों को बुलाने का 'कोई है ?' वाक्य था। चन्द्रापीड़ पक्ष में प्रश्न यह था कि परिजनों के होते हुए अन्तःपुर के उस प्रदेश में कौन आ गया।

[२३०]

सुनते ही श्वेत वस्त्र पहने हुई कन्याओं ने कलहंसियों की भाँति उसे घेर लिया और आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगीं। उसने केवल एक दृष्टि डालकर उन्हें देख लिया और फिर मरकत शिलातल पर बैठ गई और मुझसे कहने लगी—'पत्रलेखा, तेरा जाना मुझे प्रिय है इसलिये यह नहीं कहती कि तुझे ही देखकर तो मैं किसी भाँति प्राण रख रही हूँ। तो भी यदि तेरा, संकल्प हो तो अपना सोचा हुआ पूरा कर।' यह कहकर मेरे अंगों पर हाथ फेरते हुए एवं वस्त्र, आभूषण ताम्बूल आदि प्रदान करके अपना अनुग्रह प्रकट करते हुए मुझे बिदा किया।

[२३१]

कादम्बरी की ओर से इतना निवेदन करके पत्रलेखा ने मुंह कुछ झुकाकर धीरे से फिर कहा—'देव, देवी के तत्काल मिले हुए अनुग्रह से कुछ प्रगल्भ होकर और दुःखी होकर विनती करती हूँ। देव ने ऐसी अवस्था में देवी को छोड़कर क्या अपनी सहज वत्सल प्रकृति के अनुरूप कार्य किया?' चन्द्रापीड़ ने पत्रलेखा का इस प्रकार उपालम्भ भरा कथन सुना और कादम्बरी के आलाप सुने जो स्नेह के वचनों से युक्त और गम्भीर अर्थ वाले थे। कहीं उनसे उसका ताप सूचित होता था, कहीं परिहास, कहीं याचना का भाव था, कहीं अभिमान, कहीं उपेक्षा थी, कहीं कृपा, कहीं वैराग्य था, कहीं अनुराग, कहीं व्यथा थी, कहीं गुमान, कहीं कोप था, कहीं आत्मसमर्पण और सद्भाव, कहीं छेड़छाड़ थी, कहीं उलाहना, कहीं तरस का भाव था, कहीं ललक थी और कहीं अपने को संभालने का भाव था। वे मीठे होते हुए भी दुखद, सरस होते हुए भी जी दुखाने वाले, कोमल होते हुए भी कठोर, नम्र होते हुए भी दृढ़, सुकुमार होते हुए भी अहंकृति युक्त, ललित होते हुए भी प्रौढ़ थे। वह उसके असह्य दुःख से भरे और एक टक नेत्रों से आंसू बहाते हुए मुखड़े का ध्यान कर-कर के और स्वभाव से धीर होने पर भी नितान्त व्याकुल हो गया।

[२३२]

आलाप वचनों के सुनते ही कादम्बरी के शोक ने कुमार के हृदय को, प्राणों ने कण्ठ को, कम्प ने अधर पल्लव को, उच्छ्वास ने मुख को, स्फुरण ने नासाग्र को और वाष्प ने नेत्रों को पकड़ लिया और वह कादम्बरी की जैसी चित्तवृत्तियों का अनुभव करने लगा। तब नेत्रों से आँसू बहाते हुए उसने भरे हुए कण्ठ से कहा—'पत्रलेखा, मैं क्या करूँ? शृङ्गार का नाच नचानेवाले कामदेव ने कादम्बरी के मन में भरे हुए विकारों को प्रकट करनेवाली जो-जो चेष्टाएँ उससे कराईं उन्हें मेरा मूढ़ हृदय अपनी कुशिक्षा, ज्ञान के गुमान, पंडिताई की ठसक, अनाड़ीपन, कुबुद्धि, बनावटी धीरता और अश्रद्धा के कारण ठीक-ठीक समझ नहीं पाया। दिव्य कन्यकाएँ अपने सौंदर्य के अनुरूप जो विलास लीलाएँ करती हैं उनका मुझे

अनुभव न था। 'मेरे लिये क्या वह ऐसा कर सकती है' ? इसकी सम्भावना भी मैंने नहीं समझी और विश्वास नहीं किया। इसी कारण मैं सन्देह में पड़कर देवी के दुःख का कारण और तुम्हारे उपालम्भ का भी पात्र बना। मैं समझता हूँ कि मेरे मन को व्यामोहित करनेवाला यह कोई शाप ही था; नहीं तो मूर्ख को भी जहाँ सन्देह न होगा उन स्पष्ट कामलक्षणों के विषय में भी मेरी बुद्धि में सन्देह क्यों हो गया ? देवी के मन्द हास्य, वीक्षण, कथन, गीत आदि विलास चेष्टाओं की बात छोड़ भी दी जाय, क्योंकि उनका ठीक अभिप्राय समझना कठिन हो सकता है, तो भी उन्होंने तो अपने कंठ में चिरकाल तक पहना हुआ हार मेरे गले में पहनाकर क्या कुछ सूचित नहीं कर दिया था ? और हिमगृह का वृत्तान्त तो तुमने भी देखा ही था। तो प्रणय-कोप से प्रेरित होकर देवी ने जो वचन कहे उनमें अन्यथा क्या है ? यह सब मेरे ही अज्ञान का दोष है। तो अब मुझे चाहिए कि मैं अपने प्राणों को देकर भी देवी के प्रति ऐसा व्यवहार करूँ जिससे वह मुझे निष्ठुरहृदय न समझें।'

वह यह कह ही रहा था कि बिना कहे ही प्रविष्ट होकर वेत्रहस्ता प्रतीहारी ने प्रणाम करके विज्ञापना की—'युवराज, देवी विलासवती का समादेश है—परिजनों की बातचीत से मैंने जाना है कि पीछे रही हुई पत्रलेखा आज लौट आई है। मेरा स्नेह तुम्हारे और उसके प्रति समान है क्योंकि मैंने ही उसका संवर्धन किया था। तुम्हें देखे हुए भी मुझे बहुत दिन हो गए हैं। तो उसे लेकर मेरे पास आओ। तुम्हारे मुखकमल का दर्शन मेरे लिये दुर्लभ हो गया है।'

[२३३]

सुनकर चन्द्रापीड़ ने मन में सोचा—'मेरा जीवन अब सन्देह के झूले पर झूल रहा है। एक ओर माता मुझे क्षणभर भी देखे बिना दुःख मानती हैं, दूसरी ओर देवी ने अनुग्रह से पत्रलेखा द्वारा मुझे आने का आदेश दिया है। जन्म से सञ्चित माता का स्नेह बलवान् है, पर मेरा हृदय मनोरथों से भरा हुआ है। एक ओर पिता के चरणों की शुश्रूषा का सुख छोड़ा नहीं जाता, दूसरी ओर कामदेव बड़ा बली है। एक ओर गुरुजनों का लालन प्रिय है, दूसरी ओर हृदय की उत्कण्ठा असह्य है। एक ओर स्वजनों की प्रीति जाने से रोक रही है, दूसरी ओर अभिनव वाञ्छा जानने का कुतूहल मन में उत्पन्न करती है। एक ओर कुलक्रम से सम्बन्धी राजा लोग मेरा मुख देखते रहना चाहते हैं, दूसरी ओर प्रियतम का मुखावलोकन जीवन का फल है। एक ओर प्रजाओं का अनुराग है, दूसरी ओर गन्धर्व-राजपुत्री का अनुराग उससे बढ़कर है। एक ओर जन्मभूमि को छोड़ना कठिन है, दूसरी ओर देवी कादम्बरी सर्वथा परिणय के योग्य है। एक ओर मन तनिक भी समय का विघ्न सहने के लिये तैयार नहीं, दूसरी ओर हेमकूट और विन्ध्याचल के बीच में बहुत दूरी है।' इस सोच में डूबा हुआ वह पत्रलेखा का हाथ पकड़े हुए माता के समीप गया और उस दिन वहीं रहा। किन्तु माता के लाड़-प्यार के सुख उसके हृदय की असह्य उत्कण्ठा को न जान सके।

[२३४]

फिर जिस मानसी चिन्ता में वह डूबा था उसी से मिलती जुलती रात्रि उसके चारों ओर अन्धकार फैलाती हुई आ उपस्थित हुई। वह मन से कादम्बरी के रूप का स्मरण करने लगा। वह रूप उस समय उसके लिये कामदेव का आयतन था। तब चक्रवाक-मिथुन करुण स्वर से एक दूसरे को लक्ष्य कर रटने लगे। चन्द्रमा की किरणें कामदेव के बाणों पर धार रखती हुई फैलने लगीं। संध्यावायु खिलती हुई कुमुदिनी की सुगन्धि लेकर मन्द-मन्द बहने लगी। कुमार आँख मींचकर शयन पर लेटा हुआ था, पर उसे नींद न आती थी। उसका मन उस समय सर्वथा कादम्बरीमय हो रहा था। वह मन जैसे हेमकूट से आने का थकान मिटाने के लिये सबसे पहले देवी के पादपल्लवों में ठहरा। फिर जंघाओं पर आरोहण करता हुआ देवी के सुसंहत उरुभाग में फँस गया। फिर विस्तृत नितम्ब फलक पर वह चित्रलिखित के समान रुका रहा। फिर नाभिमुद्रा में डूब गया। फिर रोमराजि के सौन्दर्य में हुलसने लगा। फिर त्रिवलि रूपी सोपान के मध्यभाग में आरोहण करने लगा। फिर उन्नत और विस्तारी स्तनतटों पर उसने पदन्यास किया। फिर उसकी भुजलताओं में उसने अपने आपको मुक्त छोड़ दिया। पुनः हाथों का अवलम्ब न लेकर, कण्ठ का आलिङ्गन करके, कपोलों में प्रविष्ट होकर अधर पुट में जैसे उत्कीर्ण होकर, नासिकारूपी सूत्र में ग्रथित होकर,[१] नेत्रों में विकसित होकर, ललाटपट्ट पर बैठकर, केशकलाप के अन्धकार में विलीन होकर, देवी के चारों ओर बहनेवाले लावण्य जल में स्नान करता हुआ कुमार का मन सर्वथा कादम्बरी के रूप में तन्मय हो गया।

१ -- वैद्य और भानुचन्द्र दोनों के संस्करणों में 'ग्रथितेनेव नासिकासूत्रेण' पाठ है। यह पाठ मुझे संदिग्ध ज्ञात हुआ था। मैंने श्री पी० के० गोडे जी से इसकी जिज्ञासा की। उन्होंने सूचित किया है कि कादम्बरी के जितने हस्तलेख भंडारकर प्राच्य संस्थान में सुरक्षित हैं सब में यही पाठ मिलता है। अतएव निश्चित है कि मूल पाठ यही है। यहाँ नासिका के किसी आभूषण का उल्लेख नहीं है, बल्कि जैसा सिद्धिचन्द्र ने लिखा है इसका वही सीधा अर्थ है—नासैव सूत्रं तस्मिन् ग्रथितेनेव, अर्थात् कादम्बरी की नासिका ही सूत्ररूप थी जिसमें कुमार का मन गुथ गया था। सन्देह का कारण यह था कि ग्यारहवीं शती से पूर्व के भारतीय साहित्य में कहीं भी नासिका के आभूषण का उल्लेख नहीं आया है और न चित्र एवं शिल्प में ही उसका अंकन है। इस विषय में श्री गोडे जी का लेख पढ़ने योग्य है (एन्टिक्विटी ऑफ दी हिन्दू नोज़ ऑर्नमेन्ट कॉल्ड ए नथ, 'भारत में नथ नामक नासिकाभरण की प्राचीनता,' भण्डारकर प्राच्य संस्थान पत्रिका, भाग १६ जुलाई १६३८, पृष्ठ ३१३-३३४)। नासामुक्ताफल का सर्वप्रथम उल्लेख बिल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित काव्य में आया है—नासावंशविनिर्मुक्तमुक्ताफलसनाभिना। भाति भालतलस्थेन बाला चन्दनबिन्दुना ॥ ८।८०।

[२३५]

जब इस प्रकार कादम्बरी चन्द्रापीड़ के मन में बस गई और उसका चित्त सर्वथा स्नेह से आर्द्र हो गया, तब उसी दिन से उसने कादम्बरी की रक्षा के लिये मानो कमर कस ली। जहां-जहां फूलों का धनुआं चढ़ाए हुए कामदेव को उस पर प्रहार करते हुए देखता वहीं-वहीं अपने आपको उसके बीच में डाल देता। 'अरे निष्ठुर हृदय, तू उसके मालती पुष्प के सदृश सुकुमार शरीर पर प्रहार करते हुए लज्जित नहीं होता ?' यों कहते हुए दिन में चंचल अन्तर्बाष्प दृष्टि से कभी काम को उपालम्भ देता, कभी कामशर के प्रहार से मूर्छित कादम्बरी को मानों होश में लाने के लिये अपने अंगों में बसी हुई उस पर स्वेद से उत्पन्न जल छिड़कता, कभी दीर्घ निःश्वासों की वायु से पंखा झलता। कादम्बरी के संज्ञा लाभ करने पर प्रसन्नता से उसके अपने सर्वाङ्ग में रोमांच छा जाता। कादम्बरी का हृदय इसकी विरह वेदना सह पाता है या नहीं, मानों यह जानने के लिये अपना मन उसके पास भेजकर स्वयं शून्य मन से रहता। वह सदा मौन धारण किए रहता। देवी का मुख देखने की इच्छा से और कुछ न देखता। चन्द्रबिम्ब में भी उसकी दृष्टि को देवी के मुख की पूरी अनुहार न पाकर सुख न मिलता। देवी के आलाप सुनने की ही लालसा रहती, दूसरे किसी मधुर स्वर में कान को सुख न मिलता। वीणा की ध्वनि भी बाहर ही रह जाती। सुभाषित, मित्रों के वचन, बांधवजनों की बातचीत किसी से उसे सुख न मिलता। कहीं अपना भाव कोई जान न ले इस भय से किसी को दर्शन न देता। गुरुजनों की लज्जा से वह कमलों के शयन पर भी न सोता, यद्यपि हृदय में मदनाग्नि मन्द मन्द रूप से सुलगती रहती। न सरस बिसलता से, न जल में भीगे हुए पद्मिनी पत्रों से, न पुष्प और पल्लव के बिछौने से, न धारागृह में, न हर्म्योद्यान के लताभवनों में, न चन्दनसिक्त मणिकुट्टिमों में, न चन्द्रकान्त के मणि दर्पणों में, कहीं भी किसी प्रकार उसे सुख न मिलता था। शरीर का चन्दन सूख जाता पर वह नई चन्दन चर्चा करने की अनुमति न देता था।

[२३६]

यों रात और दिन किसी प्रकार सुख न पाकर भीतर और बाहर कामाग्नि से दग्ध होते हुए वह क्षीण होता जा रहा था। स्नेह का ईंधन उस अग्नि को नित्य बढ़ा रहा था। दुःख का अधिक अनुभव कराने के लिये ही मानों उस आग ने उसके शरीर को बिल्कुल भस्म नहीं कर दिया था। यह होने पर भी उसके हृदय में स्नेह की आर्द्रता प्रति क्षण बढ़ती जाती थी। उसका कोई प्रतीकार न था और उसका छूटना कठिन था। ऐसे कष्ट की वेदन को वह औरों पर प्रकट न होने देता था, पर काम के शरप्रहार से जीवन की रक्षा उसे कठिन लग रही थी। उसका शरीर कृश होता जा रहा था, पर लज्जा उसी भांति थी। कुल की मर्यादाओं के पालन में उसका आदर था, शरीर भले ही रहे या न रहे। उसने

अपनी प्रजा को तो वश में किया था, पर काम की उत्कण्ठा को नहीं। अपने सुख की अवहेलना की, पर धैर्य न छोड़ा।

यों प्रबल अनुराग उसके प्राणों को कादम्बरी के रूप और गुणों के सहारे से किसी प्रकार रोककर अपनी ओर खींच रहा था, दूसरी ओर गुरुजनों का स्नेह रोकता था। गम्भीर प्रकृति होने के कारण उसने अपने आपको मर्यादा के वश में रखते हुए कठिनाई से कुछ दिन व्यतीत किए। एक दिन जब काम की उत्कण्ठा से वह नगर में न ठहर सका तो उज्जयिनी से बाहर शिप्रा के तट पर पैदल घूमते हुए कुछ दूर निकल गया। घूमते हुए उसने देखा कि बहुत से घुड़सवार कार्तिकेय के मन्दिर की ओर आ रहे हैं। देखकर मालूम करने के लिये एक पुरुष को भेजा और स्वयं पैदल ही शिप्रा का उथला पाट पार करके भगवान् कार्तिकेय के मन्दिर में उस पुरुष के लौटकर आने की प्रतीक्षा करने लगा।

[२३७]

कुमार की दृष्टि उन्हीं अश्वारोहियों की ओर लगी हुई थी। तब पास में खड़ी हुई पत्रलेखा को हाथ से अपनी ओर खींचते हुए उसने कहा—'पत्रलेखा, देखो यह जो सामने मोरपिच्छी की छतरी लगाए हुए सवार आ रहा है, ज्ञात होता है यही केयूरक है।' उधर केयूरक को उस पुरुष द्वारा कुमार के वहां होने का पता जैसे ही लगा वह घोड़े से उतर कर धूलधूसरित शरीर से विषाद के कारण उतरा हुआ चेहरा लिए हुए दुःख सूचक दृष्टि से उसकी ओर बढ़ा। देखकर प्रेम से 'आओ, आओ' कहते हुए कुमार ने उसे अपनी ओर खींचकर भुजाओं में कस लिया। उसने हटकर पुनः प्रणाम किया और कुमार ने उससे कुशल प्रश्न पूछा। तब सामने खड़े हुए उसके साथियों की ओर बार-बार अभिलाषा से देखकर वह केयूरक से बोला—'केयूरक, तुम्हारे दर्शन से ही यह सूचित हो गया कि देवी कादम्बरी परिवार सहित सकुशल हैं। अपने आने का कारण भी विश्राम के अनन्तर कहना।' केयूरक ने कहा—'इस जन को सुख कहां ?' तब आरोहक द्वारा तत्काल लाई गई हथिनी पर बैठकर और केयूरक और पत्रलेखा को पीछे बैठाकर वह अपने भवन में आया। सब राजाओं का भीतर प्रवेश रोककर उसने अपने निजी उद्यान[1] में परिवार और केयूरक के साथ शून्य चित्त से दिवसकृत्य करते हुए दिन व्यतीत किया। फिर केवल पत्रलेखा को पास में रखकर परिजनों को दूर हटा दिया और केयूरक को बुलाकर पूछा—'केयूरक, देवी कादम्बरी, मदलेखा और महाश्वेता का सन्देश कहो।'

[२३८]

चन्द्रापीड के ऐसा कहने पर केयूरक ने विनयपूर्वक कहा—'देव, मैं क्या बिनती करूँ ? मेरे पास देवी कादम्बरी, मदलेखा या महाश्वेता का कुछ भी सन्देश नहीं है।

१—वल्लभोद्यान—यह खासा बाग या कुमार के निजी बाग के लिये प्रयुक्त शब्द था, जैसे खासा घोड़े राजवल्लभ कहे जाते थे। कादम्बरी के निजी उद्यान को भी वल्लभ-बालोद्यान कहा गया है [अनु० २२०]।

पत्रलेखा को मेघनाद के पास छोड़कर जब लौटकर मैंने देव के उज्जयिनी चले आने का समाचार वहाँ सुनाया, तभी महाश्वेता ने ऊपर दृष्टि कर गहरी साँस छोड़ते हुए शोकपूर्वक कहा—'तो ऐसा है !' यह कहकर वह उठी और पुनः तप के लिये अपने आश्रम को चली गई। देवी कादम्बरी भी तत्काल जैसे किसी ने मुगदर से आघात किया हो या अतर्कित गिरे हुए वज्र ने सिर पर प्रहार किया हो, अन्तःपीडा से नेत्रों को बन्द करके मूर्च्छित जैसी दशा में हो गई, मानों किसी ने लूट लिया हो, या ठग लिया हो, या उनका अन्तःकरण ही उन्हें छोड़ गया हो। उन्हें महाश्वेता के चले जाने की बात ज्ञात न थी। बहुत देर बाद नेत्र खोलकर उन्होंने जैसे बिलखकर लज्जित होते हुए भूली सी दशा में एकटक विस्मित दृष्टि से मुझे आदेश दिया—'यह समाचार महाश्वेता को भी बता दो।' फिर मदलेखा की ओर मुँह घुमाकर कहा—'मदलेखा, क्या किसी दूसरे ने पहले ऐसा किया है, या भविष्य में करेगा जैसा कुमार चन्द्रापीड़ ने ?' यह कहते हुए वे उठीं और सब परिजनों का प्रवेश रोककर अपने शयनीय पर जाकर गिर गईं। वहीं उत्तरीय से मुँह लपेटकर उन्हीं के समान वेदना में डूबी हुई मदलेखा से भी न बोलते हुए सारे दिन वैसे ही रहीं। अगले दिन प्रातःकाल ही मैं उनके पास पहुँचा तो उन्होंने उपालम्भ देते हुए कहा—'ऐसा दृढ़ शरीर रखकर भी क्या तुमलोग मरे हुए के समान हो गए जो मुझे इस अवस्था का अनुभव करना पड़ रहा है ? तुम लोगों के मेरे पार्श्ववर्ती होने का कुछ प्रयोजन नहीं। क्यों सामने खड़े हो ?' इस तरह भर्त्सना करते हुए डबडबाई हुई और कांपती हुई दृष्टि से मेरी ओर देर तक देखती रहीं। उनकी उस दृष्टि से मैंने यही अनुमान निकाला कि बस दुःखित होकर वे मुझे जाने का आदेश दे रही हैं और उनसे बिना कहे मैं आपके पास चला आया। तो आप ही उनकी एकमात्र शरण हैं। देवी की प्राण रक्षा के लिये आकुल इस केयूरक की बिनती कृपया ध्यान देकर सुनें। हे देव, जब आपने पहली बार महमहाते हुए मलयानिल के समान पधारकर कन्यालताओं के उस वन को झकझोर दिया था तभी त्रिभुवन में अभिराम आपके वसन्त सदृश रूप को देखकर कामदेव ने रक्ताशोक लतारूपी देवीके शरीरपर आरोहण किया। आपके लिये देवी कादम्बरी महान् कष्ट सह रही हैं। सूर्योदय से ही सूर्यकान्त मणिके समान चुपचाप सुलगती हुई वह कामाग्नि किसी प्रकार कम नहीं होती। न परिजनों के कोमल कमलपल्लवों के व्यजन से, न तालवृन्तोंके जल-सीकर से, न सरस हरिचन्दन की चर्चा से; न मुक्ताफलकी धूलि से, न कलहंसों के मुखों से, न जल की फुहार बरसाने वाले धारागृह से—कैसे भी वह शान्त नहीं होती। जैसे जैसे जल यन्त्रों की अति शिशिर धाराएँ उनके शरीर का स्पर्श करती हैं, वैसे वैसे मदन पावक और प्रचण्ड होता है, मानो विद्युत से उत्पन्न अग्नि का सहोदर हो। यह विचित्र बात है कि शिशिर उपचार केवल उनके स्वेद जल को बढ़ाता है। कामाग्नि से तपाया हुआ उनका लावण्य और निर्मल होता जाता है, जैसे आग पर औंटाकर निखारा जानेवाला अंशुक हो। ज्ञात होता है कि अबलाओं का उत्कंठित हृदय सुकुमार होते हुए भी और कठोर बन जाता है, जैसे मुक्ताफल के रूप में परिणत हुआ जल। उस गर्मी से भी वह गलता नहीं। उन्हें

प्रिय समागम की आशा अत्यन्त बलवती रहती है कि उस प्रकार के वेदनाविह्वल प्राणों को जीवित रखती हैं। मैं क्या करूँ ? देवी की भारी बेकली को कैसे कहूँ ? किस उपाय से उसे प्रदर्शित करूँ ? किस प्रकार उसका आवेदन करूँ ? किस युक्ति से उसे आपके सामने लाऊँ ? किस वेदना से उसकी उपमा दूँ ? यह सच है कि स्वप्न में देखे हुए प्राणियों को वेदना नहीं व्यापती। तभी तो यद्यपि प्रतिदिन वे आपको स्वप्न में देखती हैं, पर आप उनकी इस अवस्था को नहीं जान पाते। वे जिन कमलों पर सोती हैं वे मुरझा जाते हैं। अवश्य ही उनका ताप सूर्य से भी अधिक है। निष्ठुर काम से धुनी हुई वे नाना चेष्टाएँ करती हैं। अरी बार बार मदन वेदना को सहने वाली, तुझे उनके अति कठिन हृदय में रहना पड़ता है, इसलिये इस मृदुल कुसुमशय्या पर विश्राम कर ले—यों कहती हुई सखियाँ कठिनाई से उन्हें कुसुमशय्या पर सुला पाती हैं। उनकी देह की उष्णता से पिघला हुआ आलतारस पुष्पशय्या के फूलों को लाल रंग देता है, मानों उनके हृदय में चुभे हुए काम के बाण रुधिर में सन जाने से डरावने लग रहे हों। आपके स्मरण से उन्हें रोमांच हो आता है, मानो अनंग के बाणों से बचने के लिये सारे शरीर पर कवच पहना हो। श्वास की वायु से ही हटे हुए झीने अंशुक को दाहिने हाथ से फिर रोमांचित स्तनों पर खींचकर ढक देती हैं, मानों आपके पाणिग्रहण की तृष्णा से उस हाथ को कांटों की सेज पर शयन का अभ्यास करा रही हों। बाएं हाथ में पहने हुए पद्मराग कंकण की लाल किरणें उस पर रक्खे हुए बाएँ कपोल को लाल रंग देती हैं, मानो जलती हुई कामाग्नि में हाथ सेकने का अभ्यास कर रही हों। कमलिनी के पंखे की हवा से हिलता हुआ कान का नीलोत्पल ऐसा लगता है, मानों निरन्तर अश्रुपात के भय से चंचल नेत्र छोड़कर भाग जाना चाहता हो। प्रतिक्षण कृश होती हुई वे इस भय से कि ढीला मंगलवलय कहीं गिर न जाय, बायाँ हाथ हृदय पर रख लेती हैं, मानों विरह में दोलायित हृदय को हाथ से पकड़कर गिरने से बचाना चाहती हैं। सखियों के शिशिर हाथों के स्पर्श से भी उन्हें क्लेश पहुँचता है। इस समय जो उनकी अवस्था है उसमें करधनी खिसककर चरणों में लिपट गई है, वेणी कंधे पर लटक आई है, प्राण कंठ में आ गए हैं, कपोल हाथ पर रक्खा हुआ है। आपके विषय में आलाप से ही अश्रुपात रुका है, और आपके समागम की आशा से ही हृदय को किसी प्रकार थामे हुए हैं। आप उनके हृदय में बसते हैं तो चाहती हैं कि हृदय फटकर आपके दर्शन मिल जाएं। वे अपने जीवन से भी लज्जित हैं। मूर्छा बार बार उनके मन का स्पर्श करती है। काम की उठती हुई हूलों से बार बार फूलों की सेज पर उठ बैठती हैं। उनके शिथिलित अंगों को पीड़ा जैसे बार-बार खींचकर संचालित करती है। कभी वे हवा से फहराते हुए लतामण्डप में जाती हैं। कभी स्थलकमलिनी के वन में जाकर लेट रहती हैं। कभी सघन पत्तों वाली बेलों से ढके हुए उद्यान का सेवन करती हैं। कभी उपवन में कमल खिले हुए जल में स्नान करती हैं। फिर वहाँ से उठकर तमाल वीथी में चली जाती हैं। वहाँ ऊँची भुजा से तमाल की डाल का सहारा लेकर आँख मूंदे हुए कुछ देर खड़े रहकर फिर संगीतगृह में चली जाती हैं। वहाँ से मुरज की मन्द ध्वनि से उद्विग्न होकर धारागृह में आ जाती हैं। फिर वहाँ मेघों की फुहारों के समान जल

धाराओं से जब इन्हें रोमांच हो आता है तो कदम्बकली सी काँपती हुई अन्तःपुर की कमल पुष्करिणी के तीर पर घूमने लगती हैं। वहाँ भी भवन कलहंसों का कोलाहल जब उन्हें चैन नहीं लेने देता तो कृशतावश नूपुर उतारकर जिससे कलहंस पीछा न करें वे भवन वापी में चली जाती हैं। वहाँ भी चक्रवाक मिथुन मानों इस कारण उनपर कुपित होकर कोलाहल करते हैं कि उन्होंने वलयरचना के लिये जो वापी के मृणाल लिए थे उन्हें सुरक्षा क्यों जाने दिया। तब वे खिन्न होकर प्रमद वन में चली जाती हैं। पर वहाँ भी भौंरे इस कारण उनपर भिनभिनाते हैं कि कुसुमशय्या के पुष्पों को मृदित क्यों कर डाला। वहाँ से आकुल हुई वे आँगन के सहकार वृक्षों की ओर आती हैं तो वहाँ भी कोयलें इस कारण क्रोध करती हैं कि वे अपने उत्कण्ठा भरे गीतों से उनके स्वर को लज्जित क्यों करती हैं। उद्यान में लगी हुई केतकियाँ भी मानों अपनी सूचियों से उन्हें बींधती हैं कि उन्होंने अपने पीले पड़े हुए कपोलों से उनकी कोपलों के रंग को फीका क्यों कर डाला। यों काम की दुःखदायी चेष्टाओं को सहते हुए उनका दिन किसी-किसी प्रकार बीतता है।[1]

[२३६]

रात्रि में उनकी अवस्था और भी दुखदायी हो जाती है। जिस समय आकाश में चन्द्रमा का प्रकाश फैलता है, धृति उनका साथ छोड़ देती है, हृदय दुःखित हो जाता है; काम का वेग और बढ़ जाता है, नेत्रों से अश्रु विगलित होने लगते हैं। श्वासें गहरी हो जाती हैं और मन बिहरने लगता है। वे चन्द्र रश्मियों से जनित सन्ताप को बिना कहे ही प्रकट करती हैं। कभी सीत्कार, कभी कम्प, कभी जम्भाई, कभी गोत्रस्खन के कारण लजीली मुस्कान, कभी अश्रुवृष्टि, कभी चन्द्रकान्त मणि का दर्पण, कभी कुसुम शयन, कभी कमलों की साँथरी, कभी स्वेद जल—वे इन शृंगार चेष्टाओं से आक्रांत होती हैं और अपना बहलाती है। कभी धारागृह में जाकर वहाँ बने हुए मरकत मणिमयूरों के मुखपर हाथ रख लेती हैं। पता नहीं कि, भोलेपन से, या विलास से, या उन्माद से यह समझकर कि संगीतगृह के मृदंगों को सुनकर कहीं वे बोल न उठें वे ऐसा करती हैं। चित्रभित्तियों में जो चक्रवाक मिथुनों के चित्र लिखे हैं वे कहीं एक दूसरे से वियुक्त न हो जायँ इसलिये संध्या होते ही उन्हें मृणालसूत्रों से बाँध आती हैं। अपने मन में सुरत की कल्पना करके मणिप्रदीपों को कर्णोत्पलों से बुझा देना चाहती हैं। उत्कण्ठा-लेखों में संकल्पित संकेतस्थलों के चित्र लिख

१—लतामण्डप, स्थल कमलिनी वन, लताच्छादित उद्यान, उपवन, सरोवर, तमालवीथी, संगीतगृह, धारागृह, अंतःपुर की पुष्करिणी, भवन वापी, प्रमदवन, अंगण सहकार, उद्यान केतकी—ये सब उस युग की संस्कृति में राजभवन के विशेष विशेष भाग थे जहाँ अन्तःपुर की स्त्रियाँ संयोग में अपना मनो-विनोद करती थीं, और वियोग में भी किसी प्रकार मन बहलाने के लिये जाती थीं।

देती हैं। स्वप्न-मिलन में जो आपके अपराध हैं उनका उलाहना देने के लिये दूतियाँ भेजती हैं।

[२४०]

मलयानिल के साथ ही उन्हें मूर्छा आ जाती है। रात्रि होते ही उन्हें जागरण का भय सताने लगता है। अटारी की वलभी में बैठे हुए कपोतों का कूजित शब्द सुनने के साथ ही वे दुःखी हो जाती हैं। उपवन के कुसुमों की सुगन्धि जैसे ही उनके पास पहुँचती है उनका हृदय मरण की अभिलाषा से भर जाता है। कमलिनी के पत्तों की शय्या पर लेटी हुई वे मदन ज्वर के कारण जल की बूंद के समान इधर उधर ढुलकती जान पड़ती हैं। स्फटिक गृह की भित्तियों में, सरोवर के जल में, मणिदर्पण में, और भवन के मणि कुट्टिमों पर वे साक्षात् दिखाई नहीं पड़तीं, केवल उनकी एक झाईं सी दिखाई देती है। चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से ही वे मुरझा जाती हैं। सरस मृणालिका का हार उनके जीवन को किसी प्रकार रोके रखता है। कुमुद, नीलोत्पल और श्वेत कमलों की मनोहर गंध पाकर उनका मन किसी प्रकार खिलता है। सारी रात वे फर्श पर लगाए हुए कमल के ढेरों पर व्याकुलता से घूमती हुई बिताती हैं। रात में कुमुदिनी की भाँति जागकर वे दिन में सोने की चेष्टा करती हैं, पर उन्हें नींद नहीं आती।

[२४१]

उनकी श्वास बहुत मंद चलती है। वे कुछ सोचती रहती हैं। कभी हरिचन्दन के पत्ते बिछाकर शिलातल के शयन पर पड़ रहती हैं। कभी हिमकणोंसे सिक्त पल्लवों पर शयन करते हुए उन्हें वन की प्रचण्ड हवा कष्ट देती है। असह्य काम सन्ताप के कारण चन्दन चर्चित होकर भी वे दुःख पाती हैं। बकुल के वन में वे नहीं जातीं। प्रमदवन से भी उन्हें भय लगता है। चम्पा और अशोक से भी वे डरती हैं। स्वप्न में ही आपका समागम मिल जाय तो भी अपने को कृतार्थ मानती हैं। वे दिन-दिन क्षीणता को प्राप्त होती जाती हैं। कामवेदना से उनके अंग क्षीण हो गए हैं। वलयरचना से गृहपुष्करिणी के मृणाल निःशेष हो गए हैं। उपदेश करते-करते सखीजनों के वचन समाप्त हो चुके हैं। उनके लिये इतनी पुष्प शय्याएँ बनाई गई हैं कि उपवनों में पुष्प नहीं रहे। काम ने निरन्तर उनके ऊपर इतने बाणों की वर्षा की है कि उसके तूणीर रीते हो चुके।

बहुत क्या, इस समय तो उनकी अवस्था ऐसी है कि आपका ही नाम लेकर सब सखियों को बुलाती हैं। जितनी गुह्य वार्ताएँ हैं उनके लक्ष्य केवल आप हैं। आपके साथ समागम की युक्ति निकालने के लिये ही गोष्ठियाँ होती हैं। आपका समाचार पाने के लिये ही सब प्रश्न पूछे जाते हैं। जितने परिजन हैं आपका ही वृत्तान्त कहते रहते हैं। आपके सम्बन्ध की बातचीत से ही सब मन बहलाते हैं। जो वहाँ चित्रकला का अभ्यास करता है आपकी ही आकृति लिखता है। मागध स्त्रियाँ जो मंगलगीत गाती हैं उनमें आपके ही

उपालम्भ भरे रहते हैं। स्वप्न में आपको ही सब देखती हैं। काम के चढ़े हुए दाहज्वर के समय जो विप्रलाप मुँह से निकलते हैं उनमें आपकी ही धज उड़ाई जाती है। इस समय वहाँ बेहोशी का ऐसा वेग छाया हुआ है कि आपके ही नाम लेने से होश आता है।'

[२४२]

जब केयूरक ने इस प्रकार कादम्बरी के विरह की अवस्था का वर्णन किया तो चन्द्रापीड़ को मूर्छा आने लगी। उन्होंने नेत्र मूंद लिए, मानों संकेत किया कि बस रहने दो, अब मुझमें आगे सुनने की शक्ति नहीं रही। उसी से केयूरक ने विराम किया, कुछ कादम्बरी की विरहावस्था के वर्णन की समाप्ति से नहीं।

२४३]

कुमार को मूर्छित देखकर केयूरक ने शीघ्रता से उसके शरीर को अवलम्बन दिया। पत्रलेखा ने पंखे से हवा की। तब चन्द्रापीड़ को होश आया। फिर मानों अपनी दी हुई पीड़ा के अपराध से डर कर या लज्जित होकर उन्होंने चुपचाप खड़े हुए केयूरक से कठिनाई से कहा—'केयूरक, क्यों देवी कादम्बरी ने मेरे चले आने पर मुझे निष्ठुरहृदय और अनुरागविहीन जानकर मेरे फिर लौटने की सम्भावना से निराश होकर न तुमसे आने के लिये कहा, न महाश्वेता ने कुछ संदेश दिया, और न मदलेखा ने तुम्हारे द्वारा कोई उपालम्भ भेजा? यह सब मैं पत्रलेखा से जान चुका हूँ। तो देवी कादम्बरी यद्यपि अभिजात, महानुभाव, उदार, समानशील, सरल और मधुर स्वभाव की हैं, पर इन्हीं गुणों के कारण वे अपने आप को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पातीं। चन्द्रमा को देखकर निश्चेतन चंद्रकांत मणि द्रवित होती है, किंतु चंद्रमा का हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर खींच नहीं लेती। पुष्प का अत्यंत पक्षपाती मधुकर केवल उसके समीप तक जा ही सकता है, मकरंद का लाभ तो कली स्वयं खिलकर ही उसे करा सकती है। दिवस के संताप से मलिन कुमुद समूह तो केवल चंद्रमा की ओर उन्मुख हो सकता है, उसे विकसित करना तो ज्योत्स्ना से भरी हुई रात्रि के ही अधीन है। वृक्ष के भीतर कितनी भी सरसता भरी हो, वसंत लक्ष्मी के बिना पल्लवों की लाली का दर्शन नहीं हो पाता। इस कारण इसमें देवी कादम्बरी की आज्ञा का ही अपराध है। उस आज्ञा ने अधरस्पंदन की प्रतीक्षा करने वाले पास में खड़े हुए मुझ दास पर निष्ठुरतावश अपने को प्रकट न करके केवल लज्जा का आश्रय लिया, देवी के जीवन को संदेह में डालनेवाली उनकी कठिन व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया। अथवा देवी के परिजनों को भी उनके ही विषय में यह कैसा व्यामोह हो गया कि यदि देवी की इच्छा न थी तो बलपूर्वक उनसे आज्ञा न दिलवा दी। मेरे जैसे चरणसेवक दासजन को आज्ञा देने में लज्जा कैसी? गौरव का विचार कैसा? उसमें अनुरोध की क्या आवश्यकता? वहाँ ऐसा अविश्वास क्यों होना चाहिए? देवी ने शिरीष पुष्प के समान सुकुमार अपनी आत्मा के लिये यह दारुण पीड़ा अंगीकार की, पर आज्ञा

देकर मेरा मनोरथ पूरा नहीं किया; अथवा अपने भावों को छिपाना यह स्त्रियों में परम्परा से चला आता है, विशेषतः उन कन्याओं में जिनका बालभाव अभी पूरी तरह दूर नहीं हुआ और जिनके मुग्ध मनों में कामदेव अभी पूरी तरह जाग्रत नहीं हुआ। देवी स्वयं मेरे साथ लज्जा त्यागने में समर्थ नहीं हुईं, पर मदलेखा तो उनका दूसरा हृदय थी। उसने इस दुरात्मा कामदेव से पीड़ा पाते हुए देवी के शरीर की उपेक्षा क्यों की? यह काम ऐसा चोर है कि इसे दण्ड नहीं दिया जा सकता। संयम-धनी मुनि भी अपने हृदय की रक्षा इससे नहीं कर पाते। कैसा भी कोई पवित्र हो इस नीच के स्पर्श से नहीं बच पाता। इस चाण्डाल का बहिष्कार करना कठिन है। असंख्य प्राणियों को यह भस्म कर चुका है। यह श्मशान की उस अग्नि के समान है जिसे कभी कोई बुझा नहीं सकता। यह सब दोषों से भरा है। यह ऐसी व्याधि है जो शरीर में नहीं मन में लगती है। रूप से अपहरण करनेवाला यह अकाण्ड व्याध है।[1] यह मर्मों का भेदन करने वाला धनुर्धर है, तत्काल प्राण हरने वाली अकाल मृत्यु है। योग्य-अयोग्य स्थान का विचार किए बिना ही यह लग जाता है। दूसरों का अपकार करके यह अपने को सफल मानता है। हृदय में बसता है पर दूसरे का विश्वास नहीं करता। यह अपने भीतर ही उत्पन्न हो जाता है। काम के ऐसे भयंकर स्वरूप का परिचय मदलेखा को तो था। मैं जब वहाँ था तो क्यों नहीं मेरे कान में उसने ये बातें डाल दी? अब जब इतने दिनों के मार्ग की दूरी बीच में हो गई है तो जानकर भी क्या करूँगा? एक ओर देवी का शरीर मलयानिल से हिलाई हुई लता के कुसुम की चोट भी नहीं सह सकता, दूसरी ओर काम के वे बाण हैं जिन्हें वज्र के समान कठोर हृदय वाले व्यक्ति भी कहाँ सह पाते हैं? नहीं मालूम कि क्षण भर में क्या हो जाय? देवी भी काम के इस प्रभाव का अनुभव कर ही रही होंगी। दुःख देना ही जिसका स्वभाव है, कठिन घटनाएँ घटाने में जो चतुर है, जो कुछ भी कर सकता है, जो निष्कारण क्रोधी है, ऐसे दुष्ट विधाता की सब योजनाएँ मुझे उल्टी पुल्टी दिखाई पड़ती हैं। मैं तो समझता हूँ कि वह इतने से भी नहीं रुकेगा। नहीं तो कहाँ प्रयोजन के बिना किन्नर-मिथुन के पीछे भागकर मेरा अमानुष भूमि में जाना, कहाँ प्यासे होकर अच्छोद का दर्शन करना, कहाँ उसके तीर पर विश्राम करते हुए दिव्य गीतध्वनि सुनना, कहाँ उसकी खोज करते हुए महाश्वेता से मिलना, कहाँ तरलिका के साथ तुम्हारे आने पर गंधर्वलोक के जाने का प्रस्ताव होना, कहाँ महाश्वेता के साथ हेमकूट जाना, कहाँ वहाँ पहुँचने पर कादम्बरी के मुख का दर्शन मिलना, कहाँ इस जन पर देवी का अनुराग उत्पन्न होना, कहाँ मनोरथ पूर्ण होने पूर्व ही लौटने के लिये पिता का

१—रूपापहारिणा अकाण्डव्याधेन—रूप का अर्थ पशु भी है। पशुओं का अपहरण करनेवाला यह ऐसा व्याध है जो बिना काण्ड या बाण के ही मारता है, या उनके विनाश के लिये अकस्मात् प्रकट हो जाता है, या जो काण्ड या बाण से बींधकर मारनेवाला है।

अलङ्घ्य आदेश मिलना ? अकार्य करने वाले और हमारे कर्म के अनुसार विधान करने में चतुर दग्ध विधाता ने हमें बहुत दूर ले जाकर पटका है । तो भी देवी को आश्वस्त करने का प्रयत्न हमें करना ही चाहिए ।

[२४४]

चन्द्रापीड इस प्रकार कह ही रहा था कि तभी मानों कादम्बरी के दुःख से सन्तप्त उसे अपनी किरणों द्वारा और अधिक सन्ताप न देने की इच्छा से भगवान् सूर्य ने अपना तेज समेट लिया । उनके पीछे दिन भी लाल धूप के टुकड़ों को तरु शिखरों पर से बटोरता हुआ जाने लगा । क्रमशः तिमिरलेखाएँ सर्वत्र फैल गईं । कमल बंद होने लगे । कुमुद खिलने लगे । विरह में चक्रवाक उच्च स्वर से बोलने लगे । तब समस्त भुवनों पर छत्र के समान सुशोभित, अमृत से भरा रजत-कलश, पूर्वी दिक्कुमारी के मुख का चन्दन-तिलक, आकाश-लक्ष्मी के लावण्य का महासरोवर, चन्द्रमा मानों अपनी सुधामयी किरणों से चन्द्रापीड का स्पर्श करने के लिये और अपनी ज्योत्स्ना के जल से उसका सिञ्चन करने के लिये उदयाचल के शिखर पर आरूढ़ हुआ । चन्द्रापीड उसी वल्लभ-उद्यान में चन्द्रकान्त मणियों के शिलातल पर शरीर को ढीला छोड़कर चरण संवाहन के लिये आए हुए केयूरक से कहने लगा—'केयूरक, क्या तुम समझते हो कि हमारे पहुँचने तक देवी कादम्बरी प्राणों को रख सकेंगी ? क्या मदलेखा तब तक उनका मन बहला सकेगी ? उन्हें दिलासा देने के लिये क्या महाश्वेता फिर वहाँ आएगी ? मेरे परिचय से उद्विग्न देवी शरीर रखने के लिये क्या महाश्वेता का अनुरोध मानेंगी ? क्या मैं देवी के हरिणशावक के समान सलोने नेत्रवाले, चंचल पुतलियों से युक्त एवं मन्द मुसकान से खिले हुए मुख को फिर देख पाऊँगा ?'

[२४५]

उसने विनती की—'देव, धीरज रखकर चलने का उपाय कीजिए । साथ की सखियों और परिजनों को यहीं रहने दें । देवी के मन में आपको देखने की इच्छा ऐसी तीव्र है कि वह स्वेच्छा से आँखें भी नहीं मीचने देती । फिर भी आपके समागम की आशा में ही हृदय रोक रखा है । श्वास ही मुख में बचा है । रोमांच शरीर को क्षण भर भी नहीं छोड़ता । रात दिन आँसू ही नेत्रों में भरे हैं । जागरण रात में भी उनपर निगरानी रखता है । अरति उनको नहीं छोड़ती । उनके प्राण कंठ से नहीं हटते ।

[२४६]

यों कहते हुए केयूरक को कुमार ने विश्राम करने के लिये कहा । स्वयं भी वह जाने के विषय में सोचने लगा । यदि पिता और माता से बिना कहे, उनके चरणों में बिना प्रणाम किए और उनसे आज्ञा लिए बिना सहसा मैं चला जाऊँ तो जाने पर भी मुझे सुख,

शान्ति, कल्याण या फल की प्राप्ति कैसे हो सकेगी ? अथवा बाद की चिन्ता तो दूर, यहाँ से मैं जा ही कैसे सकता हूँ ? पिता ने राज्य का भार अपने भुजदंडों से उतार कर मुझे सौंप दिया है। बिना कहे एक पैर भी उठाता हूँ तो घोड़ों से भरी हुई सेना के साथ राजा लोग पृथिवी को खूँदते हुए थके माँदे आठों दिशाओं में समुद्र तक मुझे ढूँढ़ने के लिये दौड़ते फिरेंगे। सेवापरायण राजाओं की बात भी छोड़ें, तो पिता के स्नेह से प्रजा के लोग स्त्री-बच्चों को भी छोड़कर मेरे साथ लग लेंगे। और फिर पिता के ही दूसरा कौन है जिसमें अपना स्नेह उँड़ेलकर वे आना जाना छोड़कर मेरी धृष्टता से कुपित हो एक जगह बैठे रह सकेंगे ? किस दूसरे का मुंह देखती हुई माता भी मेरे लौटाने के लिये पिता को रो-रोकर तंग न करेगी ? पिता जब ढूँढ़ने लगेंगे तो उनके साथ अठारह द्वीपों की माला पहनने वाली यह सारी पृथिवी ही क्या न चल पड़ेगी ?[१] तब मैं कहाँ जाऊंगा ? कहाँ ठहरूंगा ? कहाँ अपने को छिपाऊंगा ? और यदि ढूंढ़ लिया गया तो यहां आकर क्या मुँह दिखाऊंगा ? किसी प्रकार दैववश यहाँ से चला भी गया तो आयास के अयोग्य अपने पिता को और ऐसी माता को जिन्होंने पहले कभी दुःख का अनुभव नहीं किया कैसे शोक

१—अष्टादशद्वीपमालिनीमेदिन्येव लग्ना भवति—गुप्त युग में भारतीय पृथिवी के विस्तार के अन्तर्गत अठारह द्वीपों की गणना की जाती थी। सर्वप्रथम कालिदास ने अठारह द्वीपों का उल्लेख किया था (अष्टादश द्वीप निखात यूपः—रघु० ६।३८)। हर्षचरित में भी बाण ने तीन बार पृथिवी के अठारह द्वीपों का उल्लेख किया है। इनमें सर्वोत्तम काव्यमय उल्लेख वह है जहां पृथिवी को अठारह द्वीपों की अष्टमंगलक माला (जो एक प्रकार के कंठे या आभूषण का नाम था) पहने हुए कहा गया है (अष्टादश द्वीपाष्ट मंगल मालिनी मेदिनी, हर्ष चरित उच्छ्वास ६, पृष्ठ १८५; आदिष्टाष्टादशद्वीपे दिलीपे, वही, पृष्ठ १८६; अष्टादश द्वीप जेतव्याधिकारे, वही, पृष्ठ २०३)। गुप्तकाल के भारतीय भूगोल में पूर्वी द्वीप समूह के भिन्न-भिन्न द्वीपों की गणना इस प्रकार होने लगी थी—कुमारी द्वीप (भारतवर्ष), सिंहल द्वीप या आम्र द्वीप या ताम्रपर्णी द्वीप (लंका), नग्नद्वीप या नारिकेल द्वीप (निक्कवरं या नीकोबार), इन्द्रद्युम्न द्वीप (अन्दमन); कटाह द्वीप (मलय द्वीप के पश्चिमी किनारे पर वर्तमान केडा), मलयद्वीप, स्वर्ण द्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), वारुषक द्वीप (सुमात्रा के पश्चिमी किनारे पर बरोस नामक स्थान), वारुणद्वीप (बोर्नियो), बलिद्वीप (बाली), कमलद्वीप (अरबी कमर, ख्मेर, कम्बोडिया देश), कर्पूरद्वीप (सम्भवतः बोर्नियो का दूसरा नाम जहाँ से सर्वोत्तम कपूर आता था), चर्मद्वीप या कर्मरंग या कर्दरंग द्वीप (मलयद्वीप में कोई स्थान)। मंजु श्रीमूलकल्प में इनमें से कुछ द्वीपों के नाम और उनकी रकारबहुल निष्ठुर उच्चारण वाली दुर्बोध भाषा का उल्लेख आया है (भाग २, पृ० ३२२)। वायु पुराण (२।२५) में भी अट्ठारह द्वीपों का उल्लेख है। यह गुप्तकालीन संस्कृति का भौगोलिक अभिप्राय था [देखिए हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ११६]।

समुद्र में डुबाकर अपुण्य का भागी बनूं ? वह बहुत दिनों से रुका हुआ स्कन्धावार भी आजतक नहीं लौटा। उसे भी मेरे चले जाने पर नये आदेश के अनुसार अधबीच से ही फिर लौट जाना होगा। अतएव मुझे पिता-माता से विधिपूर्वक आज्ञा लेकर ही जाना चाहिए। उनसे जाकर भी क्या कहूँ ? क्या यह कहूँ कि मेरे प्रेम में गन्धर्वराज पुत्री कादम्बरी मदन से कष्ट पा रही है ? या यह कहूँ कि मेरा उसमें इतना अनुराग बढ़ गया है कि उसके बिना मेरे प्राण न रहेंगे ? या यह कहूँ कि हम दोनों के प्राणों की हितचिन्ता से महाश्वेता ने मुझे देवी के साथ विवाह करने का सन्देश भेजा है ? या यह कहूँ कि देवी के दुःख को न सहकर केयूरक मुझे लेने आया है ? कोई दूसरा बहाना भी लौटने के लिये मेरी समझ में नहीं आता। अभी मैं तीन वर्ष से कुछ अधिक समय तक पृथिवी दिग्विजय के लिये बाहर रहकर लौटा हूँ। सेना तो अभी तक नहीं लौटी। जाने का कारण बताए बिना कैसे मुझे यहाँ से छुट्टी मिलेगी ? कैसे माता या पिता मुझे अनुमति देंगे ? ऐसे काम मित्रों द्वारा साधे जाते हैं। मैं अकेला कैसे क्या करूँ ? वैशम्पायन भी पास नहीं है। किससे सलाह पूछूँ ? कौन मुझे ठीक सम्मति देगा और दूसरा है ही कौन जो मेरे लिये कर्तव्यपथ निश्चित करेगा ? दूसरे किसकी बुद्धि इतनी फुरनेवाली है ? किसका शास्त्रज्ञान ध्यान देने योग्य है ? दूसरा कौन मेरा इतना स्नेही है ? किसके साथ अपना दुःख बांटू ? कौन मेरे दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होगा ? किससे अपनी गुप्त बात कहूँ ? किसे अपने कर्तव्य का भार सौंपकर निश्चिन्त होऊं ? कौन मेरे कार्य के लिये व्याकुल होगा ? कौन मुझसे रुष्ट पिता और माता को मनाकर मेरे अनुकूल करेगा ?'

[२४७]

वह सारी रात इस प्रकार के विचारों में डूबा रहा। सवेरे ही उसने सुना कि सेना दशपुर तक आ गई है। सुनकर वह प्रसन्न हुआ और सोचने लगा—'भगवान ने कृपा की जो मेरे सोचने के साथ ही मेरा दूसरा प्राण वैशम्पायन आ गया।' दूर से प्रणाम करते हुए केयूरक को आते देखकर कुमार ने कहा—'बस अब सिद्धि निकट ही समझो। वैशम्पायन आ पहुँचा।'

[२४८]

इस समय केयूरक का मन जाने की उधेड़बुन में था। उसने कुछ शून्य मन से ही कुमार की बात सुनकर कहा—'बहुत अच्छा हुआ, आपके हृदय को निश्चिन्तता हुई।' तब पास में बैठाकर वैशम्पायन के आने के सम्बन्ध में ही कुछ देर बात करके केयूरक ने चन्द्रापीड़ से कहा—'देव' जैसे चमकती हुई बिजली बादलों के आने की, काली मेघ-घटा जल बरसने की, धौलाई हुई पूरबी दिशा चन्द्रोदय की, और सुगंधि लानेवाली दक्षिण पवन वसन्त काल के आने की सूचना देती है, वैसे ही इस परिस्थिति को देखकर मुझे आशा होती है कि आप निश्चय हेमकूट चल सकेंगे और अवश्य ही आपको देवी की प्राप्ति

होगी। क्या किसी ने कभी चन्द्रमा को बिना ज्योत्सना के, कमल सरोवर को बिना कमलिनी के और उद्यान को बिना लताओं के देखा है ? किन्तु जबतक वैशम्पायन यहाँ पहुँचेगा और जब तक उसके साथ चलने की योजना आप बनाएंगे तबतक बहुत समय बीत जायगा। देवी कादंबरी की जैसी अवस्था है उसमें किसी प्रकार का विलम्ब सहन नहीं किया जा सकता। सब आशा के बल पर जीवित रहते हैं। देवी के हृदय में तो आज तक आपके दर्शन की कुछ भी आशा नहीं हुई। तो वे किस भरोसे से जीवित रहेगी ? यदि मैं जाकर उन्हें समाचार दूँ तो वे जीवन के प्रति नई आशा से किसी प्रकार दुःख सहकर भी जीवित रह सकेंगी। अतएव मेरी यह बिनती है। चित्त से तो आप आगे प्रस्थान कर ही चुके हैं शरीर से भी कुछ समय बाद चलने ही वाले हैं। मैं यहाँ और रहकर क्या करूंगा ? मेरी प्रार्थना है कि मुझे जाने की अनुमति मिले जिससे देव के आगमन का शुभ समाचार मैं वहाँ पहुँचकर देवी को सुना सकूँ।'

[२४९]

केयूरक के ऐसा कहने पर भीतरी आनन्द से चन्द्रापीड़ के नेत्र प्रफुल्लित हो गए और उसने कहा—'तुमने क्या बात कही है ? और कौन मेरे दुःख में ऐसी सहानुभूति करेगा और अपने शरीर की भी चिन्ता न करके ऐसा उत्साह दिखाएगा ? देश और काल की ऐसी सूझ और किसे होगी ? और कौन मेरे प्रति ऐसी सहज भक्ति प्रकट करेगा ? तुमने ठीक सोचा। देवी की प्राणरक्षा के लिए शीघ्र जाओ। मेरे आगमन का विश्वास दिलाने के लिए पत्रलेखा भी तुम्हारे साथ ही देवी के पास जाय। इसपर भी देवी की कृपा है। इसे देखकर उन्हें कुछ धीरज अवश्य पहुँचेगा। ऐसा मेरा मन कहता है। इसका भी देवी के प्रति स्नेह और भक्ति है।' इतना कह पीछे बैठी हुई पत्रलेखा ने पूछा—'क्यों ठीक है न ?' तब मुँह कुछ झुकाए हुए पत्रलेखा ने कहा—'मेरे लिए तो देव की निजी आज्ञा के शब्द चाहिएं।'

पत्रलेखा के चलने का निश्चय हो जाने पर कुमार ने मेघनाद को बुलाने के लिये प्रतीहारी को आज्ञा दी। तत्काल ही वह आ गया और उसने दूर से ही प्रणाम करके आज्ञा की प्रतीक्षा की। तब कुमार ने उसे पास बुलाकर प्रेम से कहा—'मेघनाद, जिस स्थान में पत्रलेखा को ले आने के लिये पहले मैं तुम्हें छोड़ आया था, वहींतक पत्रलेखा को लेकर केयूरक के साथ तुम शीघ्र जाओ। मैं भी वैशम्पायन से मिलकर तुम्हारे पीछे ही घोड़े से वहाँ पहुँचता हूँ।' 'देव की जो आज्ञा' यह कहकर मेघनाद प्रणाम करके शीघ्र चलने का प्रबन्ध करने के लिये वहाँ से हट गया। तब केयूरक ने कहा—'देव, अब अधिक बिलम्ब से क्या लाभ ?' यों कह उसने बिदा लेने के लिये प्रणाम किया। कुमार ने प्रेम से उसे देखकर आलिंगन किया और अपने कान का मणिजटित आभूषण उसके कान में पहनाकर गद्‌गद् कण्ठ से कहा—'केयूरक, तुम तो मेरे लिये देवी का कुछ संदेश न लाए थे, अब तुम्हारे हाथ उनके अनुरूप उत्तर में नया सन्देश मैं क्या भेजूँ ? वहाँ संदेश कथन

की लज्जा के भार से तुम्हें क्यों कष्ट दूं ? पत्रलेखा देवी के पास जा ही रही है। यह आवश्यक बिनती करेगी।' वह यह कह ही रहा था कि कुमार के विरह की पीड़ा से आक्रान्त होकर पत्रलेखा अकस्मात् उसके चरणों में गिरने को हुई। यद्यपि अमंगल के भय से उसने आँसुओं को रोकना चाहा पर वह रोक न सकी। तब कुमार ने अत्यन्त प्रेम के कारण सम्मुख बद्धांजलि होकर कहा।

[२५०]

'पत्रलेखा, हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाकर, मेरी ओर से देवी कादम्बरी से बिनती करना। पहले ही दर्शन में देवी ने अपने स्वभाव के वात्सल्य से मुझ पर जो अतिशय प्रसाद प्रकट किया था उसके बदले में मैं देवी को प्रणाम तक किये बिना चला आया। उचित है कि मेरा नाम सब खलों के अग्रस्थान पर लिखा जाय। मैंने उस समय सारे गुणों को दोषों में बदल डाला। जो मेरी प्रज्ञा थी वही जड़ता बन गई। जो ज्ञान था वह मूर्खता में बदल गया। धीरता ने चंचलता का रूप ले लिया। जो स्नेह था वह रूक्षता में बदल गया। जो भारी भरकमपना था वह हल्केपन में बदल गया। जो प्रिय वचन थे वे परुष हो गए। जो हृदय की मधुरता थी उसने निठुराई का रूप ले लिया। जो स्वभाव की स्थिरता थी वह चपलता बन गई। जो दयालुता थी वह क्रूरता हो गई। जो स्वभाव की सरलता थी वह कपट में परिवर्तित हो गई। जो सत्यवादिता थी वह झूठी वक्रोक्तियों के भाषण में बदल गई। जो मेरे मन में दृढ़ भक्ति थी उसने अवज्ञा का रूप ले लिया। जो स्वभाव की माधुरी थी उसके स्थान में कुटिलता आ गई। जो लज्जा थी वह ढीठपने के सामने जाती रही। उदारता की जगह क्षुद्रता ने ले ली। दाक्षिण्य को हटाकर महानु-भावता ने मुझमें प्रवेश किया। विनय का स्थान अभिमान ने ले लिया। कृतज्ञता कृतघ्नता में बदल गई और शील दोष-दर्शन में परिवर्तित हो गया। मैं अब कौन सा नया गुण लाऊँ जिसके सहारे फिर अङ्गीकार किए जाने की प्रार्थना करूं ? मेरे किस गुण को देखकर देवी मुझे अब स्वीकार करेंगी ? क्या मैंने झूठमूठ आत्म समर्पण प्रकट करके देवी के हृदय को छल नहीं लिया ? क्या स्वभाव से मृदुल उनके हृदय को चुराकर मैं भाग नहीं आया ? क्या निठुर बनकर मैंने उनके प्राणों का सन्देह कराने वाली अवस्था की उपेक्षा नहीं की ? क्या उनकी उस दशा का कारण मैं ही नहीं हूँ ? अथवा इन सब दोषों का आश्रय-स्थान होते हुए भी मैंने उनकी अनुकूलता से ही उनके चरणों का आश्रय पाया था। अतएव सब गुणों से हीन मेरे लिये देवी के गुणों का ही एकमात्र सहारा है। उनकी स्वभाव से सरस वह सरलता ही इतनी दूर मदनाग्नि में जलते हुए मुझे बचा रही है। उनकी वह स्नेह-शीलता बार बार मुझे बुला रही है। उनकी वह स्थिर प्रतिज्ञा ही मुझे ले जा रही है। उनकी वह अनुकूलता मुझे जाने के लिये प्रेरित कर रही है। उनके हृदय की मृदुता चरणों में पड़े हुए मेरा तिरस्कार न करेगी ऐसा मुझे विश्वास है। उनकी महानुभावता उठाकर मुझे सम्मान देगी। वह अपनी सहज प्रियवादिता से मेरे लिये अलापों का द्वार खोल देगी।

उनकी अत्यन्त उदारता मेरे लिये उनके हृदय में अवकाश प्रदान करेगी।

यद्यपि मेरे दोषों की यह कहानी सब सच है तो भी निर्लज्ज हृदय से फिर अपना मुँह वहाँ दिखाने का साहस मैं केवल देवी के उन प्रसादों के कारण कर रहा हूँ जिनका मूल उनकी सौजन्यपूर्ण प्रकृति है। देवी के ये प्रसाद अति निर्मल और सरल रूप में एक साथ मिलकर, चाहे क्षण भर के लिये ही सही, मुझे प्राप्त हुए थे। उन्होंने मेरे भीतर जीवित रहने की आशा का बीज बोया था। ऐसा नहीं कि उनका कुछ प्रभाव न हो। वे ही मुझे देवी की सेवा में जाने का स्मरण दिला रहे हैं। उनसे ही मुझे देवी के चरणों की परिचर्या का उत्साह मिल रहा है। वे ही मुझे सेवा करने की युक्ति, आराधना के उपाय सिखाएंगे। उनसे ही मुझे ज्ञात होगा कि कैसे मुझे वहाँ रहना चाहिए। उन्हीं प्रसादों का यह बार-बार आदेश है कि चाटुकार के रूप में मैं देवी के समक्ष अपने आपको उपस्थित करूँ। जब मिलने वाले असमय में तंग करते हैं तो मुझे जो क्रोध आता है उसकी शान्ति देवी के उन प्रसादों का ही स्मरण करने से होती है। जब मैं सुख से बैठता हूँ तो उन प्रसादों की कृपा से ही मैं देवी के गुणानुवाद के लिये प्रेरित होता हूँ। लज्जा से दूर गए हुए भी मुझे वे प्रसाद हठात् अपनी ओर खींचकर पास बुला रहे हैं और क्षण भर भी दूसरी जगह ठहरने नहीं देते। उन प्रसादों में जो अनुग्राहक शक्ति है क्या इसके कारण उन्हें कभी छोड़ा जा सकता है? उन प्रसादों में जो स्वाभाविक गुरुता है उसके कारण वे बद्धमूल हैं। वे इतने विस्तृत हैं कि कोई उनसे भागकर कहां जायगा? वे संख्या में इतने अधिक हैं कि उनसे बचा ही नहीं जा सकता। तो यद्यपि दूर आए हुए मुझे देवी से जाने की आज्ञा नहीं मिली है तो भी वे प्रसाद बलपूर्वक मुझे खींचकर देवी के चरणों में ले जा रहे हैं। मेरी जिस वाणी ने पहले आते समय उनसे आज्ञा नहीं ली और स्वच्छंदतावश इतना भी न कहा कि मैं जाता हूँ, वह वाणी अब देवी के चरणों में बिनती भेजती है कि जैसे मेरा वहाँ जाना निष्फल न हो और मेरे लिये संसार सूना न बन जाय देवी को उसी प्रकार अपने प्राण धारण करने में यत्न करना उचित है।'

[२५१]

यह सन्देश देकर कुमार ने फिर कहा—'पत्रलेखा, तुम भी मार्ग में जाती हुई मेरे विरह में दुःखी मत होना। अपने शरीर के प्रसाधन में अनादर मत करना। आहार के समय का अतिक्रमण न होने देना। किसी अनजाने मार्ग से न जाना। न बिना बिचारे जिस किसी जगह ठहरना या रहना। न चाहे जिस अपरिचित व्यक्ति को अपना भेद बताना। सदा अपने शरीर की सम्हाल रखना। मैं क्या करूं? देवी के प्राण मुझे तुमसे भी प्यारे हैं जिससे मैं तुम्हें अकेली उनके हित भेज रहा हूँ। मेरा जीवन भी तुम्हारे हाथ में है। अतएव तुम यत्नपूर्वक निश्चित रूप से अपनी रक्षा करना।' यह कहकर उसने स्नेह के साथ पत्रलेखा का आलिंगन किया और फिर उसे आश्वासन देने के लिये केयूरक से कहा—'तुम इसे साथ लेकर ही महाश्वेता के आश्रम

तक मुझे लिवाने के लिये आना।' यह कहकर उन्हें बिदा किया।

[२५२]

केयूरक के साथ पत्रलेखा के चले जाने पर वह सोचने लगा—'क्या वे जल्दी जा सकेंगे या नहीं ? उन्हें जाते हुए मार्ग में विलम्ब तो न होगा ? कितने दिनों में वे वहाँ पहुँच सकेंगे ?' इस चिन्ता से उसे हृदय में कुछ सूनापन जान पड़ा। पर फिर क्षणभर ठहर कर अपनी सेना के लौटने की बात का ठीक पता लगाने के लिये उसने एक समाचार लानेवाले को भेजा। पुनः वैशम्पायन से आगे जाकर मिलने की इच्छा से पिता की आज्ञा लेने के लिये वह उनके पास गया।

वहाँ कुमार को देखते ही जितने प्रतीहार थे शीघ्रता से अपना मंडल बढ़ा करते हुए परे हट गए जिससे कुमार ने दूर से ही पिता को देखकर दोनों हथेलियों और दाहिने घुटनों को पृथिवी पर टेककर मस्तक से मणिकुट्टिम का स्पर्श करते हुए प्रणाम किया। उस समय उनकी जो परछाहीं फर्श पर पड़ी उससे ज्ञात होता था कि जैसे उनके कुटिल केश दुगुने लम्बे हो गए हों।

[२५३]

राजा तारापीड़ ने दूर से ही चन्द्रापीड़ को प्रणाम करते हुए देखकर प्रेमभरी गम्भीर वाणी में 'आओ, आओ' कहकर पुकारा। चन्द्रापीड़ जल्दी से पिता की ओर बढ़ा। इसी बीच उसने प्रणाम द्वारा शुकनास को भी सम्मानित किया और तब पिता के पास पहुँचकर उनके पार्श्व में भूमि पर बैठना ही चाहता था कि पिता ने अपनी ओर खींचकर हठात् उसे अपने पादपीठ पर बिठा लिया। तब विरत न होनेवाली दृष्टि से देर तक देखकर राजा कुमार के यौवनभरित अंग-प्रत्यंग पर हाथ फेरते हुए शुकनास को दिखाकर कहने लगे—'शुकनास, देखो कुमार की मसें कैसे भीन रही हैं, मानों इनका उद्वाहमंगल रचाने के लिये संकेत हो। इस श्मश्रुपंक्ति की शोभा कुछ ऐसी सुहावनी है जैसी सुमेरु पर नीलम की झलकती हुई कान्ति हो, या गन्धहस्ती के गण्डस्थल पर भीनती हुई मदलेखा हो, या चन्द्रमा की वह कलंकरेखा हो जो सूर्य की कान्ति पड़ने के कारण केवल एक झाईं सी दीखती है, या सरोवर के खिलते हुए कमलों की शोभा से आकृष्ट भौंरों की पंक्ति हो, या रूपचित्र का उन्मीलन करनेवाली काले काजल की वर्तिका हो[1]। यह भरे हुए यौवनरूपी मेघ की काली घटा है,

१—रूपालेख्योन्मीलन कालाञ्जन वर्तिका—चित्रकला के सम्बन्ध में यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। रूपालेख्य का तात्पर्य प्रतिकृति चित्र अर्थात् सादृश्य चित्र से है जिसे आजकल शबीह कहते हैं। प्रतिकृतिचित्र की आकारजनिका रेखा (आउट लाइन) ही उस चित्र का उन्मीलन करती है। वह रेखा दो रंगों में बनाई जाती थी, या तो धातुराग अर्थात् गेरु से जैसा मेघदूत में कहा है 'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्', या काजल की बत्ती से जिसे यहां कालंजनवर्तिका कहा है।

या जलते हुए कामदीपक की काजल उगलती हुई लौ है, या सुलगती हुई प्रतापाग्नि की धुँधुआती रेखा है, या काम के उपवन में तमालवल्लरी है, या कामविकारों के संध्याकाल में आती हुई हल्की अँधेरी है, या विवाहमंगल रचाने के लिये मानों भ्रूलता का संकेत है।[1] तो कुमार अब विवाह के योग्य हो गए हैं। देवी विलासवती के साथ परामर्श करके कोई कुल और रूप सम्पन्न राजकन्या इनके लिए सोचिए। जिसका दर्शन दुर्लभ है ऐसे पुत्र का मुँह मैंने देखा। अब पुत्रवधू के मुखकमल के दर्शन का आनन्दलाभ करना चाहता हूँ।' तारापीड़ के ऐसा कहने पर शुकनास ने कहा—

[२५४]

'देव, आपने अच्छा सोचा। कुमार सब विद्याएँ ग्रहण कर चुके। इन्होंने सब कलाएं भी सीख लीं और सब प्रजाओं का भार भी उठा लिया है। सब ओर दिग्विजय भी कर ली है। राजलक्ष्मी को ये अपनी स्थायी कुटुम्बिनी बना चुके हैं। चार समुद्रों की मेखला से सुशोभित पृथिवी के साथ ये अपना विवाह रचा चुके हैं।' शुकनास के ऐसा कहने पर लज्जा से मुँह नीचा करके चन्द्रापीड़ सोचने लगा—'अहो, यह अनुकूल संयोग है कि मेरे कादंबरी से मिलने का उपाय सोचने के साथ ही पिता के मन में भी ऐसी भावना उत्पन्न हुई। जैसा लोक में कहा जाता है कि अन्धकार में खोए हुए को आलोक मिल गया, बन में भूले हुए को मार्गदर्शक दिखाई पड़ गया, महार्णव में गिरे हुए के लिए यानपात्र आ गया, मरते हुए के ऊपर अमृत की वृष्टि हो गई, ऐसे ही यह घटना मेरे लिये घटी है। अब कादम्बरी की प्राप्ति तक पहुँचने में मुझे केवल वैशम्पायन का दर्शन बीच में करना है।'

कुमार यह सोच ही रहे थे कि राजा तारापीड़ उठ खड़े हुए। उठकर सामने प्रणाम करते हुए चन्द्रापीड़ के कन्धे का हाथ से सहारा लेकर धीरे धीरे चलते हुए शुकनास के साथ विलासवती के भवन में गए। उनके पहुँचते ही रानी ने शीघ्र उठकर उनका स्वागत किया। तब खड़े खड़े ही राजा ने कहा—'देवि, देखो वत्स चन्द्रापीड़ के मुख पर श्मश्रुरेखा भीनती हुई पूछ रही है कि क्या तुम्हें पुत्रवधू का मुख देखने की लालसा नहीं होती? सो यौवनारम्भ के सूत्रपात की रेखा यह श्मश्रुराजि कुमार का विवाह मंगल करने का आदेश दे रही है। देवी का और जो आदेश हो कहें। आज मेरे कहने पर तुम लज्जा से अपना मुख क्यों फेर रही हो और पूछने पर भी कुछ आज्ञा क्यों नहीं करती? तुम अब वर की माता हुईं। क्या चन्द्रापीड़ से तुम कुछ अप्रसन्न हो जो इनके सम्बन्ध में अपने कर्तव्य पर विचार नहीं करतीं?' यों रानी से बहुत देरतक हँसी करते हुए वे आवश्यक कार्यों के लिये बाहर चले गए।

१—इन उत्प्रेक्षाओं में कवि ने मस भीनने के वर्णन से सम्बन्ध रखनेवाली शब्दावली का समकालीन भाषा से संग्रह किया है। नीलम की झलक से लेकर भ्रूलेखा तक कई उपमान दिए गए हैं जो भिन्न-भिन्न कल्पनाओं के प्रतीक हैं।

[२५५]

चन्द्रापीड़ ने शुकनास द्वारा वैशम्पायन का स्वागत करने के लिये जाने की आज्ञा प्राप्त कर ली और माता के भवन में ही सब आवश्यक शारीरिक क्रियाएँ सम्पादित करके वैशम्पायन से मिलने की तैयारी करते हुए वह दिन व्यतीत किया।

[२५६]

जब रात हुई तब भी वह मित्रमिलन की उत्कंठा से दोपहर से भी अधिक समय तक पलंग पर करवट बदलते हुए जागता रहा। उस समय आकाश में निकलते हुए चन्द्रमा की रश्मियों ने कुमार के मदन-भाव को द्विगुणित कर दिया। उस समय चंद्रमा की रश्मियाँ आकाश की नीलिमा को अपनी कांति से धवलिमा में बदल रही थीं, बन खंडियों की अँधेरी को हर रही थीं, वृक्षों में छेद करके उनके नीचे तक प्रवेश कर उनकी छाया को वहाँ से भी हटा रही थीं, गुफा और पुंजों के भीतर भरे हुए अँधेरे को मानों सहते हुए भीतर घुसकर उसे छिन्न भिन्न कर रही थीं, धवलित सौधों को मानों फिर पोतकर धवल बना रही थीं, दिशाओं के मुखों पर मानों कपूर की धूल उड़ा रही थीं, रजनी के शरीर पर मानों चन्दन रस का आलेपन लगा रही थीं, पृथिवी को मानों चाँदनी से भरकर चन्द्रमा की ओर ऊँचा उठा रही थीं, उधर से आकाश को मानों पृथिवी के समीप ले आ रही थीं, नदियों के रेतीले किनारों को मानों और विस्तृत बना रही थीं, कमलों को मूंदकर कमल बनों को मानों अलग-अलग खंडों में बाँट रही थीं, कुमुदों को खिलाकर मानों कुमुद बनों को एक में मिला रही थीं। फिर वे पर्वतों के शिखरों पर बिखर गईं। फिर प्रासादों के मस्तक पर आ गईं। फिर और घनी होकर मार्गों में भर गईं। फिर हंस समूहों में जाकर मिल गईं। फिर चाँदनी में सोती हुई सुन्दरियों के कपोल लावण्य में वे डूब गईं। चन्द्रकान्त मणियों की सहस्रों जलधाराएँ मानों उन्हें और भी प्रक्षालित करने लगीं। वे प्रासादों के गर्भगृहों में बेरोक टोक प्रविष्ट हो गईं। चाँदनी की पृष्ठभूमि में हाथी दाँत की मंडपिकाएँ (दन्तवलभी) और भी सुहावनी लगने लगीं। उपवनों में भरी हुई चन्द्रकिरणें ऐसी झलकती थीं मानों दिन निकल आया हो। वे सब ज्योत्स्ना के प्रवाह को चारों ओर कहीं उंड़ेलने, कहीं बरसाने, कहीं बिखेरने, कहीं फेंकने और कहीं झलकाने लगीं। कादम्बरी के साथ समागम में शीघ्रता कराने के लिये मानों कामदेव के सब बाणों को उन्होंने एकसाथ छोड़ दिया, जिससे कुमार का कामोत्साह दुगुना हो गया और उसने प्रयाण का सूचक शंख बजाने का आदेश दिया।

[२५७]

वह शंखध्वनि आकाश में ऊँची उठकर दिग्दिगन्त में फैलती हुई उज्जयिनी के परकोटे के भीतर, ऊँचे गोपुरों के अट्टालकों पर, हर्म्यों के अन्तराल में, मुख्य-मुख्य बाजारों के चौक में, राजमार्गों में, भवनों में, उद्यानों और सघन बनखण्डियों में, प्रासाद-कुक्षियों में,

गृह-पुष्करिणी के सारसों को और भवन कलहंसों को कलरव के लिये प्रेरित करती हुई और अधिक तारस्वर में सर्वत्र व्याप्त हो गई।[१] उस समय युवराज-भवन-द्वार के संमुख आँगन में सहस्रों घुड़सवार एकत्र हो गए। उनके हाथों के लम्बे भाले आकाश में ऊँचे उठे हुए थे। घोड़े हिनहिना रहे थे और उनके टापों से धरती काँप रही थी। वे पंक्तिबद्ध तैयार खड़े थे। शंख बजते ही पहले घोड़ों को उठाया गया। फिर साज खींचकर पलान रक्खा गया। तब साईस उन्हें सवारों के पास लेकर उपस्थित हुए और सवार उन पर चढ़कर राजद्वार के आँगन में एकत्र हो गए। घोड़ों की नीराजना विधि होने लगी। तब कुमार वर्दी से लैस होकर (गृहीतसमायोगः) और इन्द्रायुध पर चढ़कर सबके आगे आगे हो लिया। उसके भी आगे हंसधाम नामक मंगलातपत्र ले जाया जा रहा था जिससे लोगों को कुमार के बाहर निकलने की सूचना मिली। सहस्रों राजपुत्रों ने जैसे ही कुमार को देखा झुककर प्रणाम किया। यद्यपि रात होने के कारण पुरवासी सोए हुए थे और राजमार्ग अपेक्षाकृत विरल था, तो भी अश्वसेना की भीड़ को कठिनाई से पार करते हुए किसी प्रकार वह नगरी से बाहर आया और थोड़ी दूर चलने के बाद शिप्रा को पार करके दशपुर जाने वाले मार्ग पर चल पड़ा।

[२५८]

वैशम्पायन से मिलने की शीघ्रता में उसने रात-रात में तीन योजन मार्ग पार कर लिया। उस समय प्रातःकाल हो गया था। मार्ग का श्रम दूर करने वाली शीतल मन्द सुगन्ध वायु बहने लगी। वृक्षों पर पक्षिसंघ कलरव करने लगे। ऊसर में सोते हुए मृगों के झुंड जागकर इधर उधर छटकने लगे। वराहयूथ जलाशयों के किनारों पर लगे हुए नागरमोथे को इच्छानुसार खाकर जंगलों की ओर अभिमुख हुए। रात्रि के अन्त में गोधन भी ग्रामसीमा और अरण्यस्थली को धवलित करने लगा। जनपद और ग्राम सूर्य की किरणों में अपना स्वरूप प्रकट करने लगे। सूर्य उदयाचल के शिखर पर दिखाई देने लगे। उस समय चन्द्रापीड़ ने अपने स्कन्धावार को देखा जो रात में कूच करता हुआ दो कोस आगे बढ़ आया था।

[२५९]

देखकर उसने सोचा—'अहो, क्या ही अच्छा हो यदि मैं अचानक ही पहुँचकर वैशम्पायन से मिलूं। यह विचार कर छत्र चँवर आदि चिह्नों को और सब राजपुत्रों को पीछे

१—यहाँ स्थापत्य से सम्बन्ध रखनेवाले निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया गया है—प्राकारमण्डल, गोपुर, अट्टालक, शिखर, हर्म्यान्तराल, चतुष्कचत्वर, भवन संकट, उद्यान नग गह्वर, प्रासादकुक्षि। इनमें भवन संकट शब्द का अर्थ है मकानों के बीच की तंग गलियाँ। चतुष्कचत्वर में चतुष्क बड़े बाजारों के मुख्य चौक और चत्वर अन्य साधारण चौराहों के लिए प्रयुक्त है।

छोड़कर केवल तीन चार वेगशाली सवारों के साथ इन्द्रायुध को दौड़ाता हुआ उत्तरीय से मस्तक ढककर स्कन्धावार में पहुँच गया और भीतर जाकर डेरों में पूछने लगा कि वैशम्पायन का आवास कहाँ है। वहाँ पास में ही कुछ स्त्रियों से जो उसे न पहचानकर काम में लगी थीं उसने वही प्रश्न किया। स्त्रियों ने उत्तर दिया—'भद्र, आप क्या पूछ रहे हैं? यहाँ वैशम्पायन कहाँ?' उसे सुनकर कुमार स्तब्ध रह गया। उसने कहा—'अरे, यह क्या असंबद्ध प्रलाप करती हो?' तनशून्य हृदय के कारण उसकी औरों से पूछने की हिम्मत न हुई। सोचने लगा—'मैंने यह क्या किया? अब क्या करूँ?' तब वह उसी तरह घोड़ा दौड़ाता हुआ कटक के मध्य भाग में पहुँचा।

[२६०]

लोगों ने जैसे ही इन्द्रायुध को पहचान लिया चारों ओर बात फैल गई कि देव चन्द्रापीड़ आए हैं। राजपुत्र आँसू भरी हुई शून्य दृष्टि से लज्जावश दूर से ही प्रणाम करने लगे। कुमार ने पूछा—'वैशम्पायन कहाँ है?' उन्होंने कहा—'देव, इस वृक्ष के नीचे उतरें, सब कुछ सूचित करेंगे।' कुमार घोड़े से उतर पड़ा और बिछे हुए कालीन पर बैठ गया। वहाँ पिता के समान आयु वाले कई मूर्धाभिषिक्त राजाओं ने उसे सँभाला। वैशम्पायन को न देखकर उसकी बुरी दशा थी। मन में बहुत कुछ सोचते हुए उसने पूछा—

[२६१]

'मेरे आने के बाद क्या कोई संग्राम हो गया, या कोई व्याधि फैल गई, जिसके कारण अचानक कोई महावज्रपात हुआ?' उन लोगों ने कानों में उँगली रखकर कहा—'देव, विघ्न शान्त हो। देव के शरीर की भाँति ही वैशम्पायन भी सौ वर्ष जिएं।' यह सुनकर कुमार को कुछ ढाढ़स हुआ। उसने कहा—'जीवित अवस्था में वैशम्पायन क्षण भर भी अलग नहीं रह सकता था, यही सोचकर मैंने आप लोगों से प्रश्न किया। मैंने आपके वचनों से यह तो जान लिया कि वह जीवित है। पर उसे क्या हुआ? वह क्यों नहीं आया? कहाँ है? किस कारण से रह गया? उसे अकेले छोड़कर आप सब क्यों चले आए? उसे बलपूर्वक आप साथ क्यों नहीं लाए? यह जानने को मैं व्याकुल हूँ।' यह सुनकर उन्होंने कहा—'देव, जैसा हुआ है सुनें।'

[२६२]

'स्कन्धावार के साथ पीछे रहे हुए लोगों को आप यह आदेश देकर चले आए थे कि वैशम्पायन को लेकर शनैः शनैः आना। उस दिन घास ईंधन आदि सामग्री एकत्र करने में लग जाने के कारण सेना ने प्रयाण नहीं किया। अगले दिन प्रातःकाल जब कूच की भेरी बजी और सेना तैयार होने लगी तब वैशम्पायन ने हमसे कहा—'पुराणों में कहा है कि

अच्छोद[1] सरोवर अत्यन्त पवित्र है। तो उसमें स्नान करके और उसके तीर पर बने हुए सिद्धायतन में भगवान महेश्वर को प्रणाम करके ही चलेंगे। दिव्य जनों से सेवित इस भूमि को फिर क्या कोई स्वप्न में भी देख पाएगा ?' यह कहकर वे पैदल ही अच्छोद सरोवर के तटपर गए। वहाँ उन्होंने तट पर एक रमणीय लतामण्डप देखा।

[२६३]

उसे देखकर जैसे बहुत दिनों के बाद किसी अपने भाई, पुत्र या मित्र को देखा हो एकटक नेत्रों से देखते रह गए। वे अंगों से निश्चेष्ट होकर इस प्रकार अडिग रह गए मानों किसी प्रासाद के स्तम्भ बन गए हों, या चित्रलिखित हो गए हों, या शिल्प में उत्कीर्ण मूर्ति के समान अचल हो गए हों, या मिट्टी के खिलौने की भाँति निर्जीव रूप में ढाल दिए गये हों।[2] उन्हें उस अवस्था में देखकर हमारे मन में चिन्ता हुई—'रसिकजनों को परिपक्व बुद्धि होने पर भी रमणीय वस्तुएँ कभी कभी अपनी ओर खींच लेती हैं। फिर कुतूहल भरे हुए युवकों की तो बात ही क्या ? इसलिये यहाँ की सुन्दरता देखकर ही भावुकतावश इनका मन ऐसा हो गया है।' कुछ देरतक तो हम उनसे नहीं बोले। फिर हमने कहा— 'अब आपने सब देख लिया तो उठिए, स्नान कीजिए बहुत समय हुआ, सेना तैयार है, स्कन्धावार प्रयाण के लिये आपकी बाट जोह रहा है। अब विलम्ब किस लिये ?' यह सुनकर भी उन्होंने जड़ और मूक की तरह हमारी बात का कोई उत्तर न दिया। एकटक नेत्रों से आँसू बहाते हुए उसी लतामण्डप की ओर देखते रहे।

[२६४]

जब हमने चलने के लिये बार बार अनुरोध किया तो उसी ओर आँख गड़ाए उन्होंने निष्ठुर शब्दों में कहा—'मैं इस स्थान से न जाऊँगा। आप लोग स्कन्धावार के साथ लौट जायँ। चन्द्रापीड़ के चले जाने पर उनकी सेना को यहाँ लेकर इस भूमि में आप

१—हरिवंश पुराण में पितरों की उत्पत्ति बताते हुए अग्निष्वात्त नामक पितरों से उत्पन्न अच्छोद नाम की मानसी कन्या और नदी कही गई है। उसी के नाम से विख्यात सरोवर अच्छोद सर कहलाया—

अच्छोदं नाम विख्यातं सरो यस्याः समुत्थितम्।
तया न दृष्टपूर्वास्ते पितरस्तु कदाचन॥

—हरिवंश १।१८।२७

और भी मत्स्य पुराण (अ० १४।२३) एवं देवी भागवत (६।१२।१०-११) में अच्छोद सरोवर का उल्लेख आया है।

२—स्तम्भित इव लिखित इव उत्कीर्ण इव पुस्तमय इव ये उत्प्रेक्षाएँ स्थापत्य, चित्र, शिल्प, मृण्मयमूर्ति, इन चार प्रकार की कलाओं से ली गई हैं। पूर्वार्ध अनु० १०६, ११६, १४४, १५६ में भी स्वयं बाण ने इन उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया है।

लोगों का क्षणभर भी ठहरना उचित नहीं ।' उनके यह वचन सुनकर हमने सोचा कि कदाचित् दैवयोग से इन्हें अकस्मात् वैराग्य उत्पन्न हो गया है । इस आशंका से बार बार अनुनयपूर्वक चलने की प्रेरणा की । फिर उनके इस प्रकार के असंगत व्यवहार से दुःखी होकर हमने भी कुछ निष्ठुर शब्द कहे—'हमारा इस तरह यहाँ रहना ठीक नहीं । आर्य शुकनास और देवी विलासवती से लालित पालित हुए आपके लिये भी क्या ऐसा करना उचित है कि ज्येष्ठ भ्राता, सुहृत्, वत्सल, भर्ता, गुणवान् चन्द्रापीड़ को त्यागकर यहाँ रहें ? इस प्रकार उचित-अनुचित के प्रति तिनकातोड़ व्यवहार और कौन करेगा ? आपके साथ हमारे स्नेह या भक्ति की बात रहने दें तो भी आपको इस शून्यारण्य में अकेले छोड़कर लौटने पर देव चन्द्रापीड़ हमें क्या कहेंगे ? आप और चन्द्रापीड़ क्या दो हैं ? अतएव यह मोह छोड़कर चलने में मन कीजिए ।'

यह सुनकर उन्होंने कुछ खिसियाकर कहा—'क्या मैं इतना भी नहीं जानता जो चलने के लिये मुझे आपके उद्बोधन की आवश्यकता हो ? चन्द्रापीड़ के बिना मैं क्षण भर भी नहीं ठहर सकता । मेरे लिये वही परिबोधन पर्याप्त है । पर मैं क्या करूँ ? मेरा अपने ऊपर वश नहीं रहा । मन जैसे कुछ सोच रहा है, अन्यत्र नहीं जाता । दृष्टि जैसे कुछ देख रही है, दूसरी ओर नहीं जाती । हृदय कहीं लग गया है, उसे और कुछ नहीं सूझता । पैरों को जैसे किसी ने कसकर बाँध दिया है । देह को जैसे किसी ने यहीं कील दिया है । तो मैं अपने आप तो यहाँ से जा नहीं सकता । आप बलपूर्वक भले ही ले जायँ । पर यहाँ से हटने पर मुझे प्राणरक्षा संभव नहीं जान पड़ती । यदि मैं यहीं रहा तो हृदय के भीतर जो कोई छिपी भावना है जिसने मुझे ग्रस लिया है, उसीसे मेरे प्राणों की रक्षा होगी—ऐसा मन में आता है । अतः आप लोग आग्रह छोड़कर जाँय और जीवन पर्यन्त चन्द्रापीड़ के दर्शन करके सुखी हों । मैं अभागा हूँ जो दैव ने उसे मुझसे छीन लिया ।' तब हमने पूछा—'वह कौनसी बात है जिससे आप ऐसा कह रहे हैं और चन्द्रापीड़ के समीप भी चलने को उद्यत नहीं होते ?' बार बार पूछने पर उन्होंने कहा—'मुझे कहते लज्जा आती है, पर चन्द्रापीड़ के प्राणों की शपथ करके कहता हूँ कि न चल सकने का कारण मैं बिल्कुल नहीं जानता । आपने सब हाल अपनी आँखों से देखा ही है । तो आप लोग जायँ ।' यह कहकर वे चुप हो गए ।

[२६५]

कुछ देर बाद उठकर वे उन रमणीय लतागृहों में, वृक्षों के नीचे, सरोवर के तीर पर और उस देवायतन में जैसे कुछ खोई हुई वस्तु ढूँढ़ते हुए घूमने लगे । फिर शोकपूर्वक उच्छ्वास लेते हुए उसी लताकुंज में पुनः बैठ गए । हम लोग भी छिपकर सब देखते रहे । जब दोपहर से कुछ अधिक समय बीत गया तो हमने आहार आदि के लिये प्रार्थना की तो उन्होंने कहा—ये प्राण मित्र चन्द्रापीड़ के जीवन से भी अधिक प्रिय हैं । तो यदि आप बलपूर्वक भी मुझे छोड़कर चले जाते तो भी मैं इनकी रक्षा का प्रयत्न करता ही । आपके

रहने पर तो कहना ही क्या ? मुझे चन्द्रापीड़ के दर्शनों की इच्छा है, मृत्यु की नहीं। तो इसके लिये प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता ?' यह कहकर वे उठे और स्नान करके कंद मूल फल का आहार किया। फिर हमने भी वैसा ही किया। यों तीन दिन और तीन रात तक हम उनका वृत्तान्त देखते रहे। फिर निराश होकर वहीं उनके लिए आवश्यक प्रबन्ध करके और उनके परिचारकों को वहीं छोड़कर हम यहाँ आए हैं। आपके पास पहले ही दूत न भेजा उसका कारण यह है कि एक तो मार्ग में देव के पास वह पहुँच नहीं पाता, दूसरे आपको फिर आते ही लौटने का कष्ट न हो।'

[२६६]

चन्द्रापीड़ को स्वप्न में भी वैशम्पायन से उस प्रकार के व्यवहार की आशा न थी। सुनकर उसका हृदय विस्मय और उद्वेग से भर गया। वह बहुत प्रकार से मन में सोचने लगा। यों अकस्मात् सबको छोड़कर वनवास ले लेने वाले वैराग्य का क्या कारण हो सकता है ? मैंने तो उसके प्रति कभी कोई अपराध नहीं किया। मेरे समान उसके चरणों में भी अधीन राजा प्रणाम करते ही हैं। जैसे मुझे वैसे ही उसे भी किसी भोग की कमी नहीं। मेरी भांति उसकी आज्ञा भी अप्रतिहत है। जैसे मुझे वैसे ही उसे भी प्रसाद करने का अधिकार है। कहीं आते समय आर्य शुकनास या मनोरमा ने उसकी उपेक्षा तो नहीं की ? कोई कठोर बात तो नहीं कही ? ऐसा हो तो भी वह इतनी क्षुद्र प्रकृति का या दुर्विनीत नहीं जो गुरुजनों के प्रति क्रोध करे, या प्रेम करना छोड़ दे। उसके वैराग्य का यह काल नहीं। अभी तो उसने विद्वज्जनों के लिए उचित गृहस्थ आश्रम भी धारण नहीं किया, और न देव, पितर एवं मनुष्यों के ऋण से ही उऋण हुआ है। तीन ऋणों से बँधा हुआ वह कहाँ जाएगा। पुत्र-पौत्रों द्वारा उसने वंश की प्रतिष्ठा भी नहीं की। अनन्त दक्षिणा वाले महाक्रतुओं से यजन भी नहीं किया। सत्र, कूप, प्रपा, प्रासाद, तड़ाग, आराम आदि कीर्तनों[1] का निर्माण भी नहीं किया। न गुरुओं को ही सुख दिया है, न स्नेही बन्धुओं का ही उपकार किया है, न अनुरक्त जनों को विशेष धन ही प्राप्त कराया है। अभी जीवलोक के सुख ही उसने क्या देखे हैं ? धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थों में एक भी तो उसने प्राप्त नहीं किया। यह उसने क्या कर डाला ?

[२६७]

इस प्रकार व्याकुल चित्त से विचार करते हुए चन्द्रापीड़ देर तक उस वृक्ष के नीचे बैठा रहा। उसकी उस शून्य हृदयावस्था में भी राजा लोग आ-आकर यथायोग्य

१—न सत्र कूप प्रपाप्रासादतडागारामादिभिः कीर्तनैरलंकृता मेदिनी-कीर्तन शब्द देव मन्दिर एवं सार्वजनिक हित के लिये निर्मित अन्य इमारतों और कार्यों के लिये प्रयुक्त होता था। कीर्तन शब्द की व्याख्या के लिये देखिए अनु० १२३ में 'कुर्वन् कीर्तनानि'। सत्र=दानशाला।

प्रणाम आदि से उसका सम्मान कर रहे थे। तब उसने सब राजाओं को बिदा कर दिया और वह ठहरने के लिये उसी समय तैयार किए हुए बंगले (कायमान) में चला गया[२]।

२—राजाओं के लिये जब वे राजधानी से बाहर यात्रा में होते तो निवासस्थान के रूप में फूंस और बांस-बल्लियों के बंगले छाए जाते थे। हर्ष जब दिग्विजय के लिये चला तो पहले दिन के पड़ाव के लिये सरस्वती के तट पर विशाल तृणमय तोरण वेदिका आदि से युक्त एक मन्दिर बनाया गया (हर्षचरित पृ० २०३)। चन्द्रापीड़ जब दिग्विजय के लिये निकला तो उसके लिये भी तृणमय प्राकार मन्दिर की रचना की गई (१२३)। इसमें यह ध्यान देने योग्य है कि फूंस के बंगलों के साथ साथ चन्द्रापीड़ की वास भूमि में धवल पटमण्डप या कपड़े के बने हुए डेरे तम्बू भी लगाए गए थे। कालिदास ने इन पटमण्डपों के बने हुए राजभवनों को उपकार्या कहा है जो कि उद्यान-विहार के लिये बने हुए मकानों के ढंग पर बनाए जाते थे (रघुवंश ५।४१, ५। ६३, १३।७६)। ज्ञात होता है कि फूंस से छाए हुए बंगलों की परंपरा प्राचीन काल से चली आती थी। शकों के आगमन के साथ डेरे तंबुओं का रिवाज चल गया और गुप्तों के समय में इसे ही विशेष प्रश्रय मिला। किन्तु फूंस के बंगलों की पुरानी प्रथा भी चलती रही जैसा कि चन्द्रापीड़ की आवास भूमि के वर्णन से सूचित होता है।

कायमान शब्द गुप्तकालीन संस्कृत के महत्वपूर्ण कोष महाव्युत्पत्ति में भी आया है (महाव्युत्पत्ति ५५४६)। उसी सूची में उससे पूर्व तृणकुटी शब्द है जो कायमान का पर्याय था। गुप्तकाल की भाषा में 'काय' शब्द सेना के लिये भी प्रयुक्त होने लगा था, जैसे हस्तिकाय, पत्तिकाय, पदातिबलकाय (दिव्यावदान ६१८।२४; ललितविस्तर २२।१५)। माङ् धातु से बना हुआ 'मान' शब्द घर या इमारत के अर्थ में प्रयुक्त होता था जो ऋग्वेद के समय से ही प्रचलित था। यह गर्ववाची मान शब्द से बिल्कुल भिन्न था। (देखिए मोनियर विलियम्स संस्कृत कोश पृष्ठ ८०६)। अतएव कायमान का अर्थ वे मन्दिर या आवास थे जो सेना के प्रयाण के समय राजा के लिये बनाये जाते थे। ये छावनी या बंगले राजमहलों के वास्तु विन्यास के अनुसार ही निर्मित किये जाते थे। कालिदास ने इन्हें उद्यान विहार के सदृश लिखा है (रघु० ५।४१) नगर से बाहर बाह्योद्यानों में निर्मित होनेवाले आवासों के लिये जो वास्तु विन्यास था उसी के अनुसार इनका निर्माण किया जाता था। वस्तुतः इनका ठाट राजभवनों से मिलता था, जैसा कादम्बरी के इस वर्णन से ज्ञात होता है। मुगलकाल में भी कूच करते हुए बादशाहों के लिये जो दोमंजिल आशियाने बारगाह आदि बड़े डेरे तंबुओं का सरंजाम चलता था उनमें महलों जैसा ही ठाट रखने की कोशिश की जाती थी।

सिद्धिचन्द्र ने कायमान शब्द का अर्थ नहीं दिया किन्तु उससे पहले हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि कोश में यह शब्द सम्मिलित कर लिया था (कायमानं तृणौकसि ४।६२)। कायमान शब्द लोकभाषा में चालू होने योग्य न था, इसके लिये छादनिका या छावनी शब्द लोकप्रिय हुआ।

प्रस्तुत वर्णन से ज्ञात होता है कि चन्द्रापीड के तृणमय मन्दिर में ऊँचा तोरण बना हुआ था। उस पर चन्दनमाला बाँधी गई थी। चन्दनमाला शब्द पहले भी आ चुका है जो कि वंदनमाला या बन्दनवार का पर्याय था (अनु० २०९)। तोरण के दोनों पार्श्वों में पल्लवों से भरे हुए सोने के मंगलकलश स्थापित थे। तोरण द्वार से लेकर भीतर तक भूमिभाग पर छिड़काव किया गया था और सुगन्धित उपहार-पुष्पों की ढेरियाँ लगाई गई थीं। परिचारक अनेक प्रकार की झारियाँ लिये हुए थे। वार-वनिताएँ मणिजटित चामर, तालवृन्त और रत्नपादुका आदि व्यवहार की सामग्री लिए थीं। मन्दिर के एक भाग में अर्थात् पहली कक्षा में एक ओर राजहस्ती गन्धमादन और दूसरी ओर राजवल्लभ तुरंग इन्द्रायुध के लिये अवस्थान मंडप बनाए गए थे। राजद्वार के बाह्यांगण में उपवाह्य-करेणुका राजा की खासा हथिनी जिसे श्री करेणुका भी कहते थे, उपस्थित थी। सब द्वारों पर हाथों में वेत्रलता लिए हुए अनेक प्रतिहारी जन नियुक्त थे। पहरे पर बहुत से यामहस्ती खड़े थे और प्राहरिक जन मण्डल बनाए यत्रतत्र नियुक्त थे।

[२६८]

उस तृणमय मन्दिर में प्रवेश करके कुमार वारांगना, यामिक और कर्मान्तिक आदि का प्रणाम स्वीकार करता हुआ शनैः शनैः निजी वासभवन में आया। वहाँ उसने अपनी साजसज्जा उतार डाली[1] और अंगों को ढीला छोड़कर पलंग पर लेट रहा। अंगसंवाहक और पंखा झलने वाले उसकी थकान दूर करने लगे। यद्यपि वह रात भर जागता रहा था तो भी वह सो न सका और नये दुःख के कारण चिन्ता करता रहा—'यदि माता और पिता से बिना आज्ञा लिए चला जाऊँ तो उन्हें शोक सागर में डुबाना होगा। यदि पुत्रशोक में व्याकुल आर्य शुकनास और जननी मनोरमा को दिलासा न देकर यहीं से चला जाऊँ, तो मेरा कर्म भी वैशम्पायन के जैसा ही होगा। यदि उज्जयिनी लौटकर फिर जाने की अनुमति मांगूं तो उसके मिलने में संदेह है; अथवा आज्ञा न मिलने की आशंका करना ठीक नहीं है। प्रिय मित्र वैशम्पायन ने अपने आपको और मुझे छोड़ते हुए दूसरे प्रकार से मेरे जाने

१—अपनीत समायोगः—बाण में चार बार यह शब्द आया है। जिसे कादम्बरी में 'गृहीतसमायोग' (अनु० २५७) कहा है उसे ही हर्षचरित में 'समायोगग्रहण' कहा गया है (हर्ष० पृ० २०७)। कादम्बरी का 'अपनीत समायोग' ही हर्षचरित का 'प्रास्त-समायोग' है (हर्ष० पृ० २१४)। इन चारों स्थलों पर तुलनात्मक विचार करने से ज्ञात होता है कि समायोग का अर्थ वर्दी, साजसज्जा, हथियार या लैस करनेवाला सामान था जिसे आजकल की भाषा में सरअंजाम कहते हैं। सरअंजाम पहनकर और सरअंजाम उतार कर यही क्रमशः 'गृहीतसमायोग' और 'अपनीत-समायोग'का तात्पर्य था। हर्ष ने आस्थान-मण्डप में आकर जब सब राजाओं को बिदा कर दिया तभी सरअंजाम उतारा, ऐसा उल्लेख आया है।

की आवश्यकता का समर्थन कर दिया है और कादम्बरी के पास पहुँचने के उपाय का अवसर दिया है। अब वैशम्पायन को वापिस लाने के लिये यदि मैं जाऊँ तो पिता, माता या आर्य शुकनास कोई भी मुझे न रोक सकेंगे। वहाँ जाकर वैशम्पायन के साथ वहीं से फिर और आगे बढ़ जाऊँगा।' यह निश्चय करके उसका मन हल्का हो गया और कुछ विश्राम कर चुकने पर जब तीसरे पहर का शंख बजा तो वह स्नान आहार आदि के लिये उठ खड़ा हुआ।

[२६९]

'जहाँ कादम्बरी है उसी प्रदेश में इस समय वैशम्पायन हैं', इस धैर्य से उसने अपने हृदय को कुछ सहारा दिया और फिर राजाओं को एकत्र करके आहार आदि क्रियाएं की। आहार के अनन्तर वह भीतर जलती हुई कामाग्नि और वैशम्पायन के विरह की शोकाग्नि से अपने को कुछ शान्ति देने के लिये जलमण्डप में जाकर बैठ गया। उस समय सूर्य आकाश के मध्य में था और आठों दिशाओं में आतप के बहाने मानों पिघली हुई चांदी उँड़ेल रहा था। धूप के कण चिनगारी की तरह शरीर में प्रवेश कर रहे थे। दृष्टि बाहर देखने में भी असमर्थ थी। दिशाएं जलने लगीं। भूमितल का स्पर्श असह्य हो गया। मार्ग चलना बंद हो गया। बटोही सँकरी प्याऊओं के भीतर पानी पीने के लिये बटुर कर बैठ गए। हाँफते हुए पक्षी घोंसलों में आ घुसे। भैंसे पोखरों के जल में लोटने लगे। हाथियों के झुण्ड सरोवर के पंक में कमलों से कुलेल करने लगे। कामिनियों के कपोल लाल कमलों के समान तमतमा उठे। पिसे हुए मोतियों के मावे जैसी पसीने की बूँदे छलकने लगी। चांदनी का स्मरण आने लगा। बरफ के गुणों की प्रशंसा होने लगी।

यह जल मण्डप सरोवर के तीर पर बनाया गया था। निरन्तर बहते हुए झरने से सूर्य की किरणों का संताप कम किया गया था। उसके चारों ओर वेग से बहती हुई जल की नहर फेरी गई थी। मण्डप के भीतर जलजम्बू के पल्लव चारों ओर लटकाकर अंधकार किया गया था। उसके खम्भों पर मोतिए के फूल-पत्ते और लताएं लपेटी गई थीं। उसमें स्थान-स्थान पर हरिचन्दन का गाढ़ा छिड़काव किया गया था। भूमि पर कमलिनी के मरकत जैसे हरे पत्ते बिछाए गए थे और तुरत खिले हुए सुगन्धित कमलों के ढेर जहाँ तहाँ बिथुराए गए थे। उसकी छत में लगी हुई सिरवाल घास की मंजरियों से चारों ओर बूँदें टपक रही थीं, ज्ञात होता था जैसे अकस्मात् वर्षाऋतु आ गई हो। अनेक स्त्रियाँ वहाँ जलदेवताओं के समान उपस्थित थीं। कुछ स्नान से भीगे हुए केश हाथों में लेकर झाड़ रही थीं। कुछ के हाथों में सुगन्धि से बसाए हुए कोमल गीले तौलिये[1] थे। कुछ सरस

१—उपगृहीतसुरभिकोमलजलार्द्रिकाभिः—इसमें जलार्द्रिका शब्द पारिभाषिक है जो कि गीले तौलियों के लिये प्रयुक्त होता था। यह शब्द गुप्तकालीन संस्कृति की देन थी। हेमचन्द्र ने अपने कोश में इसका संग्रह किया-जलार्द्रा क्लिन्नवाससि (अभिधान चिन्तामणि ३।३४३)। माघ (१।६५) में भी जलार्द्रा शब्द आया है।

चंदन का अंगराग लिए थीं। कुछ केवल हार और वलय पहन कर कानों में हरी सिरवाल के कोमल टौंसे पहने हुए थीं। कुछ मृणाल, तालवृन्त, कपूर, पटवास, हरिचन्दन, और चन्द्रकान्तमणियों के दर्पण आदि नानाविध सामग्री लिए हुए थीं। वह जलमण्डप अत्युष्ण निदाघ को पराजित करने के लिये बनाया गया था। वह शीतकाल का बीजकारण था, मेघों का आश्रय स्थान था, एवं सरोवर का हृदय या हिमगिरि का सहोदर था।

जल मण्डप का यह वर्णन हिमगृह की विशद कल्पना (अनु० २०८) का ही संक्षिप्त रूप है। हिमगृह भी कमलवन दीर्घिका के तीर पर बनाया गया था। दोनों में जल की बहती हुई नहर और झरनों का प्रबन्ध था। हिमगृह में परिचारिकाओं का वर्णन अपेक्षाकृत विशद है

[२७०]

वहाँ काम की हिलोरों से और मित्र के विरह में दुख पाते हुए उसने किसी प्रकार अकेले वह दिन व्यतीत किया। सायंकाल होने पर जलमंडप से बाहर गोबर से लिपे हुए वासभवन के आंगन में आकर आस्थान मंडप में एकत्र राजाओं के साथ क्षण भर वैशम्पायन के सम्बन्ध में वात चीत की और बलाध्यक्ष को आज्ञा दी कि रात्रि के दूसरे पहर में ही चलना होगा, अतएव सब सेना तैयार रहे। फिर नक्षत्रोदय होते ही राजाओं को विसर्जित किया और स्वयं वासभवन में आ गया।[1]

तब बहुत समय तक उज्जयिनी से बाहर गई हुई सेना ने जो नगरी के दर्शन के लिये भटक रही थी प्रयाणनान्दी बजाए बिना ही कूच करना आरम्भ कर दिया। चन्द्रापीड़ को भी नींद न आई और वह जागता ही रहा। रात के तीसरे पहर में घोड़ों के और हथिनियों के वाहनों पर चढ़े हुए थोड़े से राज कुमारों को साथ लेकर सेना की भीड़भाड़ से बचता हुआ वह उछीर के मार्ग से चला और पौ फटते समय तक जब सेना पहुँची तभी राजकुमार भी उज्जयिनी में पहुँच गया।

१—वासभवन के इस वर्णन से स्पष्ट है कि उसमें भी आंगन या कक्ष्याएं बनाई जाती थीं। कायमान के भीतर वासभवन था जिसका उल्लेख अनु० २६८ में आया है। कायमान की पहली कक्ष्या में गन्धमादन और इन्द्रायुध के अवस्थान मण्डप थे [अनु० २६७]। उसी के बाद आस्थान मण्डप था, और यद्यपि यहाँ स्पष्ट नहीं कहा है तो भी यह आस्थान दूसरी कक्ष्या में ही होना चाहिए, जैसा कि राजभवन के वास्तुविन्यास में सर्वत्र होता था। दूसरी कक्ष्या के बाद तीसरी कक्ष्या में वासभवन होता था जो धवल गृह के समकक्ष था। इस प्रकार अनु० २६७, २६८ और २७० की सामग्री की एक सूत्रता करने से यात्रा में अस्थायी रूप से बनाए जाने वाले वासभवनों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

[२७१]

दूर से ही अनेक लोग नगरी से बाहर आ-आकर उससे वैशम्पायन के विषय में पूछने लगे। मण्डल बाँधकर बैठे हुए, आते हुए, जाते हुए, घूमते हुए, रोते हुए, कुछ ऊपर देखते हुए, कुछ नीचे देखते हुए, कुछ चुपचाप, कुछ महाकष्ट से कराहते हुए लोग एवं मुनि, मुमुक्षु, वीतराग, निःस्पृह, उदासीन, दुर्जन, सज्जन सभी चारों ओर से वैशम्पायन के विषय में ही पूछ रहे थे और कह-सुन रहे थे।

[२७२]

सुनकर कुमार ने सोचा—'जब बाहरी जनों की यह दशा है तो जिसने उसे गोद में खिलाया था, या उसकी बाल लीलाओं का अनुभव किया था उसकी क्या दशा होगी। वैशम्पायन के बिना तात शुकनास या मनोरमा का दर्शन बड़ा कष्टप्रद होगा।' यों सोचते हुए अपने अश्रुपूर्ण नेत्रों से कुछ भी न देखते हुए उसने उज्जयिनी में प्रवेश किया। राजकुल के द्वार पर उतरते ही उसने सुना कि राजा देवी विलासवती के साथ आर्य शुकनास के भवन में गए हैं। सुनकर वह भी वहीं पहुँचा। वहाँ उसने माता विलासवती द्वारा ढाढस दी जाती हुई मनोरमा को विलाप करते हुए सुना—'हा वत्स वैशम्पायन, आज भी तुम मेरी गोद में खिलाने योग्य बालक ही थे। कैसे अकेले उस शून्य वन में रुक गए? किसने वहाँ तुम्हारी रक्षा की होगी? किसने आहारादि का प्रबन्ध किया होगा? किसने सोने के लिये शयनीय रचा होगा? किसने भूख प्यास की चिन्ता की होगी? मेरी गोद से विरहित होकर, हे पुत्र, सुख दुःख में समान भाग लेनेवाली बधू भी तुमने प्राप्त न की। मैंने सोचा था कि तुम्हारे आते ही तुम्हारे पिता से कहकर बहू का मुँह देखूँगी। वह तो मेरे अभाग्य से नहीं हुआ, तुम्हारा मुँह देखना भी दुर्लभ हो गया। वत्स, जहाँ तुम रहना चाहो, पिता से कहकर वहीं मुझे भी ले चलो। तुम्हें देखे बिना मैं जीवित न रहूँगी। तुमने तो बालपन में भी कभी मेरा निरादर नहीं किया। अकस्मात् ऐसी निठुराई कैसे साध ली? तुम जहाँ हो चले आओ। बिनती करती हूँ। मेरा और कौन है? क्या देशान्तर में जाने से हमारा सब स्नेह भूल गए? क्षण भर भी जिससे ओझल न होते थे उस चन्द्रापीड के प्रति भी कैसे निठुर बन गए? तात, तुमने अच्छा नहीं किया। सुख देने योग्य गुरुजनों को ऐसे दुःख में डाल दिया। मैं नहीं समझती कि ऐसा करके तुम क्या पाओगे।'

[२७३]

इस अत्यन्त करुण विलाप को सुनकर चन्द्रापीड को बेहोशी सी आ गई। उसने किसी तरह स्वाभाविक सत्त्व गुण से अपने आपको सँभाला और भीतर प्रवेश करके नीचे मुँह किए ही शुकनास के साथ पिता को दूर से प्रणाम किया और एक ओर बैठ गया। उसे बैठे हुए देखकर राजा ने गद्गद कंठ से कहा—'वत्स चन्द्रापीड, मुझे विदित है कि तुम

अपने प्राणों से भी अधिक वैशम्पायन से प्रेम करते थे। किन्तु जिनसे एक मात्र सुख की आशा हो ऐसे निजी जनों से ही जब अनहोनी पीड़ा पहुँचे तो उस समय ऐसा कुछ नहीं जो न हो जाय। तुम्हारे भ्राता और मित्र के इस वृत्तान्त को सुनकर जो उसके जन्म, स्नेह, वय, शील, ज्ञान, गुरुजनानुशासन और विनय के अयोग्य है, मुझे इसमें तुम्हारा ही दोष दिखाई देता है।' यों कहते हुए राजा को बीच में ही टोककर शुकनास ने एक साथ ही शोक और अमर्ष से भर कर कहा —

[२७४]

'देव, यदि चन्द्रमा में उष्णता, अग्नि में शीतलता, रात्रि में दिन, समुद्र का सूखना, पृथिवी का शेष पर से हट जाना, साधु का परार्थ के लिये अनुद्योग, स्वजन-मुख से अप्रिय वचन संभव है तभी युवराज का दोष हो सकता है। बिना सोचे हुए, उस अनात्मज्ञ मूढ़ प्रकृति, दुरात्मा, राजद्रोही, मातृ-पितृ घाती, मित्रद्रोही, कृतघ्न, कर्मचाण्डाल और महापातकी के लिये सतयुग के अवतार अपने से भी अधिक गुणवान् उदारचरित चन्द्रापीड़ के प्रति आप ऐसी भावना क्यों करते हैं? गुणवान् के लिये इतरजन द्वारा भी दोष की संभावना से बढ़कर और अधिक कष्टप्रद कुछ नहीं। फिर गुरुजन ऐसा करें तो कहना ही क्या? जो गुणी है गुण-कथन द्वारा ही उसका सम्मान करना चाहिए। कुमार अपने गुणवान् अन्तःकरण को आपके सदृश और किसके सामने प्रकट करे? जिसने जन्म से लेकर आपकी और देवी विलासवती की गोद-खिलाई को कुछ न समझा उस दुःसाध्य स्वभाववाले के लिए चन्द्रापीड़ क्या कर सकते हैं? ऐसे लोग शरीर में प्रयत्न होनेवाले केंचुओं के समान बिना किसी की सहायता के पैदा हो जाते हैं। वे सब दोषों से भरी हुई महाव्याधियों के समान हैं। वे विषधर महासर्प, विनाशकारी महा उत्पात, भुजंग वृत्तिवाले महावातिक[1] वक्रचारी महाग्रह, तमोमय प्रदोष काल, मलिनकारी कुलपांसु, स्नेह रहित खल, निर्लज्ज क्षपणक (दिगम्बर साधु), संज्ञाहीन पशु के समान होते हैं। वे बिना काष्ठ की अग्नि, बिना गुणों के (डोरी रहित) जाल, बिना तीर्थ के जलाशय गौरवहीन खर और महाविनायक[2] से युक्त होकर भी अशिवमूर्ति होते हैं। वे सकलंक कृपाण की भाँति स्नेह और कठिन हो

१—भुजंगवृत्तयो महावातिकाः—असुर-विवर साधना करनेवाले आचार्य वातिक कहलाते थे (असुर विवरमिति वातिकैः—हर्ष० पृष्ठ ६७)। ऐसे लोग पाताल निवासी सर्पों को वश में करके उनकी मूल्यवान् मणियाँ प्राप्त करने का ढोंग रचते थे। भुजंग का दूसरा अर्थ गुंडा है। महावातिकों को लोग भुजंग के समान भयंकर समझते थे।

२—अशिवमूर्तयः महाविनायकाधिष्ठिताः—यहाँ महाविनायक गणपति की उन मूर्तियों की ओर उल्लेख है जो शिव के परिवार से बाहर बौद्ध ध्यानमूर्तियों के अन्तर्गत कल्पित की जा रही थीं।

जाते है, मलिन गंडलस्थल की भाँति दान से और भी मलिन बन जाते हैं। वर्तिहीन मणिदीपक की भांति प्रसाद से भी वे जलते हैं। इनके साथ दाक्षिण्ययुक्त व्यवहार किया जाय तो भी वे बांए ही रहते हैं। वे ज्यों ज्यों अपने से फल प्राप्त करते हैं त्यों त्यों दूर हट जाते हैं। समय बीतने के साथ उनका प्रेम भी कम हो जाता है। जितना उन्हें विभूति से युक्त किया जाय उतने ही सामने होकर विरोध करते हैं और सब कुछ उलटा समझते हैं। गाढ़ालिंगन से वे और अधिक कालुष्य को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे लोग स्नेहियों में रूक्ष, सीधों में टेढ़े, साधुओं में असाधु, गुणवानों में दुष्ट, स्वामियों में भी सेवक भाव से रहित, स्नेहालुओं में क्रुद्ध, तृष्णारहित से भी कुछ झपटनेके लिये तैयार, मित्रों में भी द्रोही, विश्वस्तों के भी घातक, डरे हुओं पर भी प्रहार करने वाले, विनीतों में भी उद्धृत, दयालुओं में भी निर्दयी, स्त्रियों में भी शूर, आश्रितों में भी क्रूर और दीनों में भी दारुण होते हैं। उनकी गति सर्वथा उलटी होती है। वे गुरुओं को लघु, नीचों को ऊँच, गम्य को अगम्य, कुदृष्टि को सुदर्शन, अकार्य को कार्य, अन्याय को न्याय, अस्थिति को स्थिति, अनाचार को आचार, अयुक्त को युक्त, अविद्या को विद्या, दुःशील को सुशील, अधर्म को धर्म और अनृत को सत्य मानते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वभाव के बड़े क्षुद्र होते हैं। उनकी प्रज्ञा दूसरों को ठगने के लिये होती है, ज्ञान के लिये नहीं; शास्त्रज्ञान आल जाल के लिये होता है, उपशम के लिये नहीं; पराक्रम प्राणियों के घात के लिये होता है, उपकार के लिये नहीं; उत्साह धनार्जन के लिये होता है, यश के लिये नहीं; स्थिरता व्यसनों में साथ देने के लिये होती है, चिर मैत्री के लिये नहीं; धन-परित्याग कामसाधन के लिये होता है, धर्म के लिये नहीं। बहुत क्या, उनका सब कुछ दोष के लिये ही होता है, गुण के लिये नहीं। तो यह भी कोई ऐसा ही पापी उत्पन्न हुआ जिसने यह नहीं सोचा कि मैं चन्द्रापीड़ का मित्र हूँ, उसके साथ द्रोह कैसे करूं। उसके मन में यह डर न हुआ कि आचार को उल्लंघन करनेवालों को अवश्य दण्ड देने वाले राजा तारापीड़ मेरे आचार से दुःखी होकर मुझ पर क्रोध करेंगे। माँ के जीवन का मैं ही एकमात्र आधार हूँ, वह मेरे बिना कैसे रहेगी? यह भी उस निष्ठुर ने नहीं सोचा। पिता ने वंश चलाने के लिये पिंडदाता के रूप में मुझे उत्पन्न किया है, कैसे मैं उनकी आज्ञा के बिना सब कुछ छोड़ बैठूँ? यह भी उस मूर्ख की बुद्धि में नहीं आया। यों असत्पथ पर जाते हुए नष्टात्मा कुदृष्टि उस मूर्ख ने अनिष्ट का कुछ विचार न किया। जो देखकर भी आँख मूंद ले, उस अज्ञान तिमिर से अंधे का क्या इलाज? देव ने उसे इतने यत्न से शिक्षित और पोषित किया, पर वह मनुष्य रूप में सुग्गा ही निकला। पक्षी भी मन बहलाकर अपना सिखाना सफल कर देते हैं, वे भी अपने स्वामी से स्नेह करते हैं, की हुई भलाई को पहचानते हैं, वे भी माता-पिता से स्नेह करते हैं। पर इस पापी ने दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर सब कुछ गंवा दिया। ऐसे आचरण के कारण निश्चय ही वह किसी पशु-पक्षियों की योनि में जाकर जन्म लेगा। उसने जन्म लेकर हमें कुछ सुख न दिया, बल्कि ऐसे शोकसागर में डाल दिया। सभी एकाग्रचित्त व्यक्ति स्वहित और परहित में प्रवृत्त होते हैं। पर उसने हमें ऐसा दुःख देकर न स्वहित

किया, न परहित। उस आत्मद्रोही ने यह क्या किया, कुछ समझ में नहीं आता। हमें दुःख देने के लिये ही उस पापी ने जन्म लिया था।'

[२७५]

इस प्रकार मन्युवेग से भरे हुए और अत्यन्त दुःखी मंत्री से राजा ने कहा—'मेरे जैसे व्यक्ति आप जैसे आर्यजन को क्या समझा सकते हैं ? यह तो प्रदीप से अग्नि को प्रकाशित करने, दिन के आलोक से सूर्य को तेज प्रदान करने, ओस के कणों से चन्द्रमा को प्रसन्न करने, या मेघ की बूंदों से समुद्र को भरने के समान है। तो भी शास्त्रज्ञान से युक्त, विवेकशील धीर और मनोबल सम्पन्न व्यक्ति का विशुद्ध मन भी दुःख पड़ने पर वर्षा के जल से सरोवर की भांति कुछ कलुष हो जाता है। मन के गंदला होने पर फिर ठीक-ठीक देख सकने की शक्ति नहीं रह जाती। न चित्त विचार कर पाता है, न बुद्धि को बोध होता है, और न विवेक विवेचन कर पाता है। इसलिये मैं कुछ कह रहा हूँ; नहीं तो लोक के सब आचारों को आप मुझसे कहीं अच्छा जानते हैं।

[२७६]

क्या लोक में ऐसा कोई है जिसका यौवन निर्विकार बीता हो ? यौवन आने पर गुरुजनों का स्नेह भी कम हो जाता है। जैसे आयु बढ़ती है, नई प्रीति उत्पन्न होने लगती है। वक्षःस्थल के साथ इच्छाएं, और बल के साथ मद बढ़ने लगता है। एक ओर दोनों भुजाएं स्थूल होती हैं, तो दूसरी ओर बुद्धि भी। मध्य भाग कृश होने लगता है, तो श्रुत ज्ञान भी। उरु-युगल भरने लगता है, तो हृदय में अविनय भी। एक ओर मसें भीनती हैं, तो दूसरी ओर मलिन करनेवाला मोह भी। ज्यों ज्यों शरीर का आकार स्फुट बनता है, त्यों त्यों हृदय के विकार भी। धवल और रागयुक्त नेत्र दीर्घ हो जाते हैं, पर दूर तक देख नहीं पाते। कान सब तरह सशक्त होने पर भी गुरुओं का उपदेश नहीं सुन पाते। हृदय स्त्री में रागी होता है, विद्या में नहीं। जो छोड़ने योग्य व्यसन हैं, उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है।

[२७७]

सरसता (रसिकता, आर्द्रता) प्रायः विकारों का कारण है। इससे सब कुछ जलमय (अथवा जडमय) बन जाता है, मानों वर्षा (वृष्टि या वर्ष=आयु) की वृद्धि हो गई हो। उस समय दिन भी दोषागम (रात्रि या दोषों के आगमन) के लिये होता है। दोषागम से आलोक मन्द हो जाता है। आलोक क्षीण हो जाने से दर्शनशक्ति मारी जाती है। असत् दर्शन से अविवेक होता है। अविवेक से असत् मार्ग में प्रवृत्ति होती है। असत् मार्ग में गया हुआ चित्त मोह से अंधा बनकर अवश्य स्खलित हो जाता है। चित्त के मार्ग-भ्रष्ट होने से लज्जा जाती रहती है। लज्जा से शून्य हृदय में अविनय के हेतु काम को

प्रवेश करने से कौन रोक सकता है ? काम से अभिभूत हो जाने पर आचार में अनेक छिद्र हो जाते हैं जिनसे अपने सत्त्व का अधःपतन हो जाता है। एक बार सत्त्व नीचे गया कि फिर शील, विनय, धैर्य, बुद्धि, मनोबल के लिये कोई आधार नहीं बचता। फिर मन को और इन्द्रियों को कैसे रोका जा सकता है ? निन्द्य आचरणों को किस प्रकार हटाया जा सकता है ? फिर अन्धकार की वृद्धि करने वाले, और दृष्टि को धुंधली करने वाले व्यसनों की आसक्ति को हटाने के लिये प्रकाश कहाँ से मिल सकता है ? यदि बहुनिरीक्षण की शक्ति न रही तो फिर दिखाई ही क्या पड़ेगा ? बहुदर्शन की शक्ति युवावस्था में हो ही कहाँ पाती है, जिससे 'यह अच्छा है' 'यह बुरा है', इस विवेक से मलिनता को त्यागा जा सके ? वृद्धावस्था में भी किसी पुण्यात्मा के ही केशों की धवलता के साथ चरित्र भी धवल बने रहते हैं। तो मोह और विषयरूपी अजगर से युक्त, मद विकाररूपी मस्त हाथी से युक्त, दुश्चेष्टाओं से भरे हुए, रति और निद्रा के विलास-भवनों से युक्त, नये नये रागों की कोंपल फूटने से अनेक दुश्चरितों का चक्रवर्ती राज्य जिसमें स्थापित हो जाता है, ऐसे यौवन के आने पर सभी लोग कठिन विषयों के मार्ग में पड़कर स्खलित हो जाते हैं। फिर क्यों लालन-पालन के योग्य शिशु वैशम्पायन पर ही आर्य ऐसा भारी आवेश करके पुत्र-स्नेह के कारण आक्रोशयुक्त वचन कह रहे हैं ? स्वप्न में भी गुरुजनों के मुख से जो शुभ या अशुभ वचन निकल जाते हैं वे बालकों के लिये अवश्य फलीभूत होते हैं। गुरुजन बालकों के देवता हैं। गुरुजनों का आशीर्वाद वरदान और आक्रोश शाप बन जाता है। तो वैशम्पायन के लिये कोपवश आपने जो परुषवचन कहे हैं उनसे मेरे चित्त को अति पीड़ा हुई है। अपने लगाए हुए वृक्षों पर भी स्नेह हो जाता है। फिर अपने शरीर से जन्म पाई हुई सन्तान पर तो कहना ही क्या ? कृपाकर वैशम्पायन के प्रति अपना यह क्रोध दूर करें। उसने कोई विरुद्ध आचरण तो अभी तक नहीं किया। वह सब कुछ छोड़कर वहाँ ठहर गया है, इसका भी कारण जाने बिना हम उसे दोष क्यों दें ? कदाचित् अविनय से हुआ यह दोष गुण ही हो। पहले उसे लाना चाहिए; फिर उसकी अवस्था के लिये अनुचित इस वैराग्य का कारण जाना जा सकेगा। तब जो ठीक होगा किया जायगा।

[२७८]

तारापीड़ के ऐसा कहने पर शुकनाश ने कहा—'हृदय की उदारता और वत्सलता से देव ऐसा कह रहे हैं। इससे अधिक उसका विरूप आचरण क्या होगा कि युवराज को छोड़कर क्षण भर भी अन्यत्र टिक गया ?' शुकनाश ने जब इस प्रकार कहा तो वैशम्पायन के प्रति पिता द्वारा की हुई उस दोष-सम्भावना से चन्द्रापीड़ ऐसे मर्माहत हुआ मानो किसी ने चाबुक से मारा हो। उसने बैठे ही बैठे कुछ आगे सरक कर आँखों में आँसू भर कर शुकनास से कहा—'आर्य, यद्यपि आपके कहने से यह प्रतीत हुआ कि वैशम्पायन के न आने में मेरा दोष नहीं है, तो भी जब पिता ने उसकी सम्भावना की है, तो और किस दूसरे के मन में भी वैसी सम्भावना उत्पन्न न हुई होगी ? मिथ्या होते हुए भी लोग और

विशेषतः गुरुजन जिसे सच समझें वही सच माना जाता है। संसार में दोष या गुण के आश्रय से भलाई बुराई यहीं फैल जाती है। लोक में फल देने वाले परमार्थ का यहाँ कोई उपयोग नहीं। इस दोष-सम्भावना का यही प्रायश्चित्त है कि आर्य वैशम्पायन को लाने की आज्ञा मुझे पिता से दिलवा दें, अन्यथा मेरे दोष की शुद्धि न हो सकेगी। वैशम्पायन के आए बिना पिता की यह आशंका नहीं मिटेगी और मेरे जाए बिना वैशम्पायन नहीं आएगा। यदि वह दूसरे किसी से लाया जा सकता तो पिता के अनुलङ्घनीय वचन से गए हुए अनेक राजा उसे ले ही आते। अतएव आर्य मेरे लिये आज्ञा दिलाने की कृपा करें। वह स्थान मेरा देखा हुआ है। वहाँ तक घोड़े पर जाने से मुझे कुछ भी कष्ट न होगा। बस वैशम्पायन को लेकर मुझे आया हुआ ही आप समझें। बाह्य खेद की अपेक्षा उसके वियोग का भीतरी खेद मेरे लिये अधिक असह्य है। मेरे पीछे ही वह स्कन्धावार को लेकर आ जाएगा, यही सोचकर मैं उसके बिना चला आया था, नहीं तो जन्म से लेकर मैं कभी वैशम्पायन के बिना अकेला नहीं रहा। उसका समाचार सुनते ही मैं वहीं से नहीं चला गया, इसका यही कारण है कि मैं आपकी दृष्टि में उसी के जैसा आचरण कर बैठने का अपराधी नहीं बनना चाहता था। तो उसे लाने के लिये तत्काल चले जाने की त्रुटि से आर्य मेरी रक्षा करें।'

[२७९]

चन्द्रापीड़ के यों कहने पर शुकनास ने धीरे से राजा से पूछा—'युवराज जाने के लिये बिनती करते हैं। देव की क्या आज्ञा है?' तारापीड़ ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—'आर्य, मैंने सोचा था कि कुछ ही दिनों में वत्स की बहू का मुँह देखूँगा। पर प्रतिकूल विधाता ने वैशम्पायन के इस वृत्तान्त के रूप में दूसरा विघ्न खड़ा कर दिया। आयुष्मान् कुमार ने जैसा कहा है वह ठीक ही है। कुमार के बिना उसे कोई दूसरा नहीं ला सकता, और न यही यह उसके बिना यहाँ रह सकता है। तो इसी नाव से हमें यह विपत्ति का सागर पार करना है। वैशम्पायन को लाने के लिये देवी विलासवती भी इसे अवश्य जाने की अनुमति दे देंगी, यह मुझे निश्चय है। तो यह जाय। पर इसे बहुत दूर जाना है। अतएव आर्य ज्योतिषियों से शुभ दिन और शुभ लग्न निकलवा लें और आवश्यक प्रबन्ध भी कर दें।' यह कहकर राजा ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से देर तक चन्द्रापीड़ की ओर देखा और फिर पास बुलाकर उसके प्रणत मस्तक, कंधों और बाहुओं पर हाथ फेरते हुए कहा—'वत्स, तुमही जाओ और भीतर प्रवेश करके मनोरमा सहित अपनी माता से अपने जाने का हाल कहो।' यह कहकर राजा शुकनास को साथ ले अपने भवन को चले आए। चन्द्रापीड़ जाने की अनुमति पाकर हृदय में ऐसा प्रसन्न हुआ मानो कादम्बरी की स्वयंवरमाला मिल गई हो। पर उसने नेत्रों में प्रसन्नता नहीं झलकने दी। भीतर जाकर उसने माता को प्रणाम किया और समीप में बैठ गया। फिर उसके देखने से जिसका शोक दूना उमड़ आया था ऐसी वैशम्पायन की माता मनोरमा को आश्वासन देते हुए कहा—

[२८०]

'हे माता, धैर्य धारण करो। वैशम्पायन को लाने के लिये पिता ने मुझे जाने की आज्ञा दे दी है। तो आप भी निश्चिन्त हो आज्ञा दें जिससे कुछ ही दिनों में वैशम्पायन से मिलने की उत्सुकता पूरी कर सकूं।' मनोरमा ने यह सुनकर कहा—'तात, अपने जाने की बात कहकर मुझे क्या दिलासा देते हो? मेरे लिये तुममें और उसमें क्या भेद है? पहले ही मैं उस निष्ठुर हृदय को नहीं देख पा रही हूँ। तुम्हारे चले जाने पर जीवन का जो सहारा बचा है वह भी दूर हो जायगा। तो वत्स, तुम मत जाओ। अकेले तुमसे ही हम दोनों पुत्रवती बनी रहेंगी। वह निष्ठुर हृदय तो नहीं ही आया।'

मनोरमा के यह कहने पर विलासवती ने धीर वाणी में कहा—'प्रिय सखी, तुम्हारे-हमारे बीच में तो वही सत्य है जो तुमने कहा है। पर इसे तो वैशम्पायन के बिना और देखने के लिये है ही क्या? इसे मत रोको। रोकने से भी यह रहेगा नहीं। मैं समझती हूँ कि पिता ने भी यही सोचकर इसे जाने की अनुमति दी है। अतएव यह जाए। कुछ दिनों के लिये हम दोनों इसका मुँह देखने से वञ्चित रहें, यह अच्छा है, न कि दिन दिन वैशम्पायन के बिना इसके दुःखी मुख को देखती रहें। तो उठो, वत्स चन्द्रापीड़ के जाने की तैयारी करें।'

[२८१]

रानी यह कह मनोरमा का हाथ पकड़कर उठीं और चन्द्रापीड़ के साथ अपने आवास में गईं। चन्द्रापीड़ भी माता से जाने के विषय में कुछ बात-चीत करके अपने भवन में आ गया। वहाँ वेष उतार कर जाने के लिये उत्सुक हृदय से उसने ज्योतिषियों को बुलाकर एकान्त में कहा—'जिस प्रकार विलम्ब के बिना मेरा जाना हो सके वह दिन आर्य शुकनास के पूछने पर या पिता से आप कहें।' यह सुनकर उन्होंने कहा—'देव, इस समय ग्रहों की जो स्थिति है उसके हिसाब से तो आपका जाना श्रेष्ठ नहीं बनता। फिर कार्य की जैसी आवश्यकता हो उसके अनुसार राजा की इच्छा ही मुहूर्त है। पर तब दिन का विचार न निकलवाना चाहिए। राजा समय का विधाता है (राजा कालस्य कारणम्), यही ठीक है। जिस घड़ी अपना मन कहे वही काम करने की उत्तम वेला है।' ज्योतिषियों के ऐसा कहने पर चन्द्रापीड़ ने फिर कहा—'पिता ने ऐसी आज्ञा दी, इसलिये मैंने कहा, नहीं तो प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले आवश्यक कार्यों में कार्यपरायण लोगों का दिन मुहूर्त पूछना कैसा? तो आप ऐसा कहें जिससे मेरा कल ही जाना हो सके।' 'देव की जैसी इच्छा,' यह कहकर वे चले गए, और चन्द्रापीड़ आहारादिक के लिये उठ गया।

उसके निवृत्त होने पर ज्योतिषियों ने पुनः आकर धीरे से कहा—'हमने आपकी आज्ञा का पालन किया। आर्य शुकनास के पुत्र-विरह में व्याकुल होने के कारण वह आदेश पूरा भी हुआ। तो कल का दिन बीतने पर रात्रि में आपको यहाँ से प्रस्थान करना चाहिए।' यह सुनकर उसने प्रसन्नचित्त से 'आपने अच्छा किया,' कहते हुए उनकी प्रशंसा की। फिर

कादम्बरी और वैशम्पायन को अपनी आँखों के सामने समझते हुए सोचने लगा कि मैं पत्रलेखा के पहुँचने के पहले ही पहुँच जाऊँगा। तब इन्द्रायुध के समान वेग वाले अनेक घोड़ों और उनकी सवारी के खेद को कुछ न समझने वाले उत्साही राजपुत्रों का चित्र अपने सामने लाते हुए उसने एक दिन और रात किसी प्रकार बिताई।

[२८२]

अगले दिन संध्या के समय सूर्यास्त हो जाने पर जब चन्द्रमा कुछ निकल आया, तो वह प्रस्थान-मंगल के समय प्रणाम करने के लिये माता विलासवती के भवन में गया। रानी ने अपने आँसुओं को अमंगल की आशंका से कठिनाई से रोकते हुए गद्गद कंठ से कहा—

[२८३]

'तात, गोद में प्रतिपालित बालक ऐसा ही है जैसे अभी गर्भस्थ ही हो। उसके पहली बार जाने पर हृदय को पीड़ा होना उचित ही है। किन्तु तुम्हारे पहली बार जाने से भी जो पीड़ा नहीं हुई वह आज इस समय हो रही है। मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। मर्मस्थान जैसे उत्पाटित हो रहे हैं। शरीर जैसे जला जाता है। चित्त मानों उड़ा जाता है। संधिबंधन जैसे टूटे जा रहे हैं। प्राण जैसे निकले जाते हैं। बुद्धि को कुछ समाधान नहीं मिलता। मुझे सब कुछ सूना दिखाई पड़ रहा है। बार बार प्रयत्न करने पर भी हृदय को आश्वस्त नहीं कर पाती। नेत्रों में आँसू उमड़े आते हैं। मंगल-सम्पादन के लिये स्थिर की हुई बुद्धि भी चलायमान हो रही है। मैं नहीं जानती कि क्या देख रही हूँ और क्यों मेरे हृदय में इतनी पीड़ा भर रही है। ऐसी पीड़ा के होते हुए भी 'वैशम्पायन को लेने तुम न जाओ' यह भी वाणी नहीं कह पाती। पर हृदय नहीं चाहता कि तुम जाओ। तो मेरी इस पीड़ा को जानकर जैसे पहले रुक गए थे, वैसे किसी व्यासंग में बहुत देर तक कहीं मत रुक जाना। मैं हाथ जोड़कर तुमसे यह माँगती हूँ।' यों कहती हुई माता के सामने अत्यन्त नम्रभाव से झुककर चन्द्रापीड़ ने बिनती की—'माता, तब तो दिग्विजय के प्रसंग से ठहर गया था। अब तो इतना ही समय लगेगा जितना वहाँ पहुँचने में। देर से आने की संभावना से किसी दुःख की आशंका मत करो।' चन्द्रापीड़ के ऐसा कहने पर रानी ने आँसुओं को रोककर किसी प्रकार अपने को सम्हालते हुए गमन के समय का उचित मंगल किया और प्रोक्षण करके सिर सूँघकर किसी प्रकार कठिनाई से उसे बिदा किया।

[२८४]

माता से बिदा लेकर वह पिता को प्रणाम करने के लिये उनके वासभवन में गया। वहाँ द्वारपाल ने राजा से निवेदन किया—'देव, युवराज प्रस्थान के समय प्रणाम करने आए हैं।' तब भीतर जाकर चंद्रापीड़ ने दूर से ही पृथिवी पर मस्तक टेककर पलंग पर लेटे हुए

पिता के चरणों की वंदना की। उसे प्रणाम करते हुए देखकर लेटे ही लेटे शरीर के पूर्व भाग को कुछ उठाकर पिता ने गाढ आलिंगन करके अप्रौढ़ की भाँति आँसू बहाते हुए भीतरी क्षोभ से कुछ विक्षिप्त जैसे अक्षरों में कहा—'वत्स, पिता ने मेरे ऊपर दोष की आशंका की है, यह सोचकर दुखी मत होना। हमने विनयाधान से लेकर आज तक तुम्हारी भली भाँति परीक्षा की है और तुम्हारे गुणों के कारण ही राज्य का भार तुम्हें सौंपा है, पुत्रस्नेह से नहीं। राज्य कार्य में समस्त पृथिवी का बोझा उठाना पड़ता है, इसलिये इसका वहन करना कठिन है। यह अनेक राजाओं से भरा हुआ होने के कारण अत्यन्त संकीर्ण है। कुटिल नीति के प्रचार के कारण इसका व्यवहार कठिन है। चार समुद्रों के छोर तक व्याप्त होने से यह बहुत बड़ा है। बड़े सैनिक बल से यह वश में आता है, अतएव दुःसाध्य है। इसमें फैले हुए कार्यतन्तुओं के जाल का अन्त नहीं है, इसलिये अतिगहन है। उच्च वंश पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस पर आरोहण करना कठिन है। सहस्रों शत्रुओं को उखाड़ने के कारण इसका धारण करना क्लेशसाध्य है। इसमें सबके साथ समान वृत्ति से व्यवहार करना पड़ता है, इसलिये यह अति विषम है। अनेक उपायों का अवलम्बन लेना पड़ता है, इसलिये यह दुस्तर है। राज्य में कण्टक या दुष्टों का शोधन करना सबसे अधिक आवश्यक है, इसलिये इसे वश में लाना कठिन होता है। सब प्रजाओं का पालन करने के लिये अनेक व्यवहारों से भरे होने के कारण इससे पार पाना कठिन है। इसमें सब आशाओं की पूर्ति करनी पड़ती है, इसलिये बह दुष्प्राप्य है। जो महासत्त्व नहीं है, जिसकी प्रकृति स्थिर नहीं है, जो दाता नहीं है, जो महत्त्वाकांक्षी नहीं है, जो अशुद्ध है, शौर्यहीन है, अग्रिम उत्साह से रहित है, प्रियवादी नहीं है, सत्यसन्ध नहीं है, बुद्धिमान नहीं है, अविवेकी है, कृतज्ञ नहीं है, व्यवहार में उदार नहीं है, उचित पुरस्कार आदि देने का जिसका स्वभाव नहीं है, जो न्यायपरायण नहीं है, जिसकी धर्म में रुचि नहीं है, जो शास्त्र के अनुसार व्यवहार नहीं करता, जो ब्रह्मण्य, कृपालु, मित्रवत्सल, वश्यात्मा, जितेन्द्रिय और सेवापरायण नहीं है, ऐसे व्यक्ति के पास राज्य नहीं ठहरता। जो अपने गुणों से इसे बलपूर्वक खींचकर बांध लेता है उसी के पास स्वभाव से चंचल राज्यलक्ष्मी रहती है। गुरुजन भी त्रुटि के भय से रहित होकर पूर्वापर का विचार करके ऐसे ही व्यक्ति को राज्य का भार सौंपते हैं। तो इसी से तुम्हें समझ लेना चाहिए कि तुममें दोष का अवसर नहीं है। फिर इस समय तो कौन दूसरा है जिस पर राज्य का भार सौंपकर तनिक भी दोष का आचरण कर सकोगे? तुम्हें ही अब सब लोगों का अनुरंजन करना है। हमारा समय तो हो लिया। हम बिना स्खलन के अपनी पद-मर्यादा में स्थित रहे। हमने लोभ से प्रजाओं को पीड़ा नहीं दी, अहंकार से गुरुजनों का उद्वेग नहीं किया, मद से सन्तों को विमुख नहीं किया, क्रोध से प्राणियों को त्रास नहीं दिया, हर्ष के वश में हो अपनी हंसी नहीं कराई, एवं काम से परलोक का नाश नहीं किया। हमने राजधर्म के अनुकूल काम किया, अपनी रुचि से नहीं; वृद्धों की सेवा की, व्यसनों की नहीं; सज्जनों के चरितों के पीछे चले, इन्द्रियों के नहीं; धनुष को ऊँचा नहीं किया; आचार की रक्षा को मुख्य समझा, शरीर की रक्षा को नहीं; निन्दा से डरते रहे, मरण से नहीं; स्वर्ग में भी दुर्लभ सब विषयों का सुखोपभोग किया; अकार्य को बचाते हुए

यौवन की इच्छाओं को पर्याप्त पूरा किया; कर्त्तव्य का अनुष्ठान करके परलोक का भी उपार्जन किया। ऐसा हम अपने मन में समझते हैं। तुम्हारे जन्म से हम कृतार्थ हुए, अब हमारी यही इच्छा है कि विवाह करके तुम प्रतिष्ठापित हो जाओ और हम सब राज्यभार तुम्हें सौंपकर हल्के मन से पूर्व राजर्षियों द्वारा स्वीकृत मार्ग का अनुसरण करें। अकस्मात ही वैशम्पायन की घटना के रूप में हमारे मार्ग में यह रोड़ा आ गया है। इसीसे जान पड़ता है कि हमारा मनोरथ पूरा न होगा, नहीं तो कहाँ वैशम्पायन और कहाँ स्वप्न में भी असम्भव उसका यह कार्य ? तो हे पुत्र, जाकर भी ऐसा करना जिससे बहुत समय तक हमारा यह मनोरथ मन में ही न रह जाय'। यह कह मुंह कुछ ऊँचा करके उन्होंने चन्द्रापीड़ को ताम्बूल देकर बिदा किया।

[२८५]

पिता के इस आदर से चन्द्रापीड़ ने हृदय में बहुत सम्मान का अनुभव किया। फिर झुककर प्रणाम करते हुए वह बाहर निकलकर वहाँ से शुकनास के भवन में गया। वहाँ पुत्र-चिन्ता से भरे हुए शून्यशरीर शुकनास को और अविरल अश्रु बहाती हुई मनोरमा को प्रणाम किया। उन्होंने आशीर्वाद देकर मानों अपने दुःख का भार उसे सौंप दिया। तब वह द्वार से बाहर निकलने तक उन्हें लौटाने के लिये बारबार उनकी ओर मुंह घुमाकर देखता रहा। बाहर आकर उसने इन्द्रायुध को देखा। वही इन्द्रायुध जो किसी समय उन्हें देखकर प्रसन्न हो जाता था इस समय दीन बना हुआ था। न उसने हिनहिनाकर प्रसन्नता प्रकट की, न कान खड़े किए, और न किसी प्रकार चलने में उत्साह दिखाया। किन्तु राजकुमार को वैशम्पायन के देखने की त्वरा एवं कादम्बरी के समागम की उत्सुकता थी। अतएव इस आशंका से कि कहीं फिर कोई रोक न ले वह तनिक भी विलम्ब किए बिना इन्द्रायुध पर चढ़कर शीघ्रता से उज्जयिनी से बाहर निकल आया।

[२८६]

तब वह शिप्रा के किनारे आया। वहाँ प्रस्थान मंगल के अवसर पर उसके ठहरने के लिये फूँस का बंगला (कायमान) छाया गया था। पर उसमें वह नहीं रुका। 'युवराज बाहर से ही चले गए, लोगों में यह कलकल ध्वनि फैल गई। उसके अचानक जाने से परिजन घबरा गए। राजपुत्र भी हड़बड़ी में इधर उधर भागकर उसके पीछे चलने लगे। तब तीन गव्यूति रास्ता तय करके उसने एक ऐसे स्थान पर जाकर पड़ाव किया जहाँ पानी और चारे की सुविधा थी। व्याकुल हृदय से अंधेरे में ही वह उठा और रातों रात फिर कूच कर दी। उस दिन से बराबर आगे बढ़ते हुए वह सोचता जाता था कि बिना सूचना के अचानक पहुँच कर, लज्जा से भागते हुए वैशम्पायन के पीछे जाकर, उसका कंठालिंगन करके 'अब भागकर कहाँ जाओगे' यह कहते हुए उसकी लज्जा दूर करूँगा। फिर उसके समागम का सुख लेकर, निष्कारण अनुकूल और निष्पाप एवं अकस्मात् मेरे पहुँचने

से प्रसन्न हुई महाश्वेता से मिलकर आगे जाने की बात तय करूंगा। फिर महाश्वेता के आश्रम के पास सब सेना रखकर उसको साथ लेकर हेमकूट जाऊंगा। वहाँ मुझे आया हुआ देखकर पहचानने वाले कादम्बरी के परिजन शीघ्रता से आ आकर प्रणाम करेंगे और भीतर प्रवेश करके मेरे आने की सूचना कादम्बरी को देंगे। तब उस प्रसन्नता में सखियाँ वस्त्र आभरण के रूप में उससे पूर्णपात्र लेंगी। वह उनसे पूछेगी—वे कहाँ हैं ? किसने सूचना दी ? कितनी दूर पर हैं ? तब तत्क्षण प्राप्त होने वाले सन्ताप की शान्ति और लज्जा के कारण कमलिनी का पत्ता हटाकर वह उत्तरीय के आंचल से अपने स्तनों को ढक लेगी। मृणाल के आभूषणों को हटाकर अपने शरीर की नैसर्गिक शोभा से ही वह अत्यधिक सुन्दर दिखाई देगी। ताप की शान्ति के लिये केवल वह एक मोतियों की माला उस समय पहने होगी। शरीर में गाढ़े हरिचन्दन के लगाने से छिपे हुए लावण्ययुक्त अपने अंगों पर हाथ फेर कर वह उन्हें और भी रमणीय बनाती होगी। कमल, कुमुद और नीलोत्पल की शरीर से चिपकी हुई पंखड़ियाँ रोमांच हो जाने से उस समय छूटकर गिर जाएंगी। गाल पर लगी हुई वेणी को मणिदर्पण में देखकर अपने हाथ से कंधे पर सजाती होगी। उसके नेत्रों में उस समय आनन्द-जल भरा हुआ होगा मानों वह कामाग्नि की शान्ति के लिये जलांजलि अर्पित करती होगी। कुछ सूखा हुआ चन्दनरस उसके शरीर में होगा, मानो कामाग्नि के बुझ जाने से उसकी कुछ राख लग गई हो। वह उस समय कुसुमशय्या छोड़कर उठ गई होगी। इन मुद्राओं में कादम्बरी के दर्शन करके मैं अपने नेत्रों को सफल बनाऊंगा। फिर अंजलियुक्त प्रणाम और कंठालिंगन से मदलेखा का सम्मान करूंगा। चरणों में प्रणाम करती हुई पत्रलेखा को उठाऊंगा और बार-बार केयूरक का आलिंगन करूंगा। फिर महाश्वेता मेरा विवाह मंगल रचाएगी। सखियाँ वैवाहिक स्नान-मंगल की विधि पूरी कराएंगी और तब मैं देवी का पाणिग्रहण करूँगा। तब कुंकुम, पुष्प, धूप, अनुलेपन के आमोद से कामोद्दीपन करनेवाले वासभवन में मैं शयन पर लेटूंगा। क्षणभर के लिये मदलेखा पास बैठकर नर्मयुक्त आलाप से मेरा मन बहलाकर जब बाहर चली जायगी, तो मैं लज्जा से अवनतमुखी देवी कादम्बरी को बलपूर्वक भुजाओं में कसकर शयनीय पर जाऊंगा। शयनीय से अंक में और अंक से उन्हें हृदय के पास लाऊंगा। फिर जब वे अपने दोनों हाथ नीवी पर रख लेंगी और लज्जा से नेत्र बन्द कर लेंगी तब चुम्बन लेकर अपने को कृतार्थ करूंगा। देवताओं के लिये भी दुर्लभ जो उनका अधरामृत है, तृप्त होने तक उसका पान करके जीवन सफल करूंगा। यों जब वह अपने अति कोमल भाव से मानों अपने ही भीतर विलीन हो रही होगी तब गाढालिंगन के सुख से कामदेव की अग्नि में इस जलते हुए शरीर को बुझाऊँगा। यद्यपि वह पराधीन है पर मेरे साथ स्वेच्छा से प्रवृत्त होगी। प्रयत्नरहित होते हुए भी मानों वह मुझ से मिलने का प्रयत्न करती होगी। पीछे हटती हुई भी मानों मेरी ओर आती होगी। सब अंगों को सिकोड़ती हुई भी जैसे अपना भाव प्रकट करती होगी। ऐसी देवी कादम्बरी के साथ मैं सुरत नाम के किसी सुखविशेष का अनुभव करूँगा। वह सुख एकमात्र योग (समाधि) से ही प्राप्त हो सकता है। वह स्पर्शेन्द्रिय का विषय होते हुए भी हृदयग्राही है, मोहनात्मक होते हुए भी चित्त प्रसन्न करने वाला है। एक ओर इन्द्रियों

का उद्दीपन करता है, तो साथ ही मदनाग्नि को शान्त भी। सब अंगों को खेद पहुँचाते हुए भी वह अत्यन्त आह्लादकारी है। एक ओर उससे विषम श्वासोच्छ्वास और श्रमजनित स्वेद उत्पन्न होता है, दूसरी ओर सीत्कार रोमाञ्च का भी वह जन्मदाता है। अनुभव करते हुए भी वह नित्य-नये अनुभव की इच्छा उत्पन्न करता है। सहस्रवार अनुभव कर लेने पर भी वह कभी पुनरुक्त नहीं होता। अतिस्पष्ट होते हुए भी, वह कैसा है, यह बताना कठिन है। वह अचिन्त्य, सब प्रकार की आसक्तियों में अनुपम, अद्वितीय स्पर्श से युक्त चंदन रस के समान और अनिर्वचनीय आनन्द का उत्पन्न करनेवाला होता है। वह सहस्र प्रकार के परमोच्च ध्यान की पराकाष्ठा से मिलने वाला विलक्षण प्रकार का निर्वाण[1] सुख है। इस प्रकार के सुखों का उन-उन रम्य प्रदेशों में निरन्तर अनुभव करते हुए अपने मनोहर यौवन को और अधिक मनोहर बनाऊंगा। और देवी की अनुमति से वैशम्पायन की जोड़ी मदलेखा के साथ मिलाऊँगा। इस प्रकार सोचता हुआ वह भूख, प्यास, धूप, श्रम और जागरण के दुःखों को भूलकर दिन और रात चलता ही रहा।

[२८७]

मार्ग तय करते हुए दूरी के कारण अभी आधा रास्ता ही कटा था कि जल्दी जाने में विघ्न-स्वरूप वर्षाकाल आ पहुँचा। वह मार्ग के लिये काला सांप, ग्रीष्म के लिये दलदल, सूर्य के लिये सायंकाल, चन्द्रमा के लिये राहु, मकरध्वजरूपी हाथी के लिये मद बहने का समय था। वज्राग्नि कड़कने के लिये वह उठते हुए धुएँ के समान होता है। विरही जनों को वह मरण के अन्धकार में प्रविष्ट करा देता है। उत्कंठित कामीजनों को वह हिरन के समान अमोघकाल के फंदों में जकड़ देता है। दिग्गजों के लिये वह लोहे का अर्गलादण्ड है जिसके कारण वे कुछ समय तक एक स्थान पर बँध जाते हैं। उसके आने से घोड़ों के पैरों में जैसे न टूटनेवाली जंजीरें पड़ जाती हैं और वे मार्ग के लिये व्यर्थ हो जाते हैं। पथिकों के पैरों में वह मानों बेड़ी डाल देता है। जैसे कोई गहन वन को पार न कर सके ऐसे प्रोषित जन उसके कारण वियुक्त ही रह जाते हैं। वह मानों सब प्राणियों को लोहे के पिंजड़े में बन्द करके जहाँ का तहाँ ठप कर देता है। भौंरों की हल्की भनभनाहट से लेकर जंगली भैंसों के समान काली काली घटाओं के गर्जन से वह काल अत्यन्त भीषण लगता है। कभी उसमें भयंकर गड़गड़ाहट होती है, कभी और भी अधिक भीषण रूप में बिजली कड़कती है, कभी नभमंडल में विकट इन्द्रधनुष छा जाता है, कभी निरन्तर मूसलाधार वृष्टि होती है, कभी चारों ओर से उठती हुई अंधेरी द्वारा वह आगे का मार्ग रोक देता है, और कभी इस प्रकार आँखों को चौंधिया देता है जैसे लाखों वज्रों की वृष्टि हो रही हो।

१—इस प्रकार का दृष्टिकोण सहजयान दर्शन में इष्ट था। ज्ञात होता है सातवीं शती में इसकी मान्यता चल गई थी।

[२८८]

उस समय मेघागम से चन्द्रापीड़ की विचित्र दशा हुई। पहले उसके मन में मूर्छा आने लगी, फिर दसों दिशाओं में मेघों का अंधकार भरने लगा। पहले उसका तड़फड़ाता हुआ मन कहीं आगे उड़कर पहुँचा, पीछे से हंस उड़ते हुए गए। पहले उसका निःश्वास वायु मलिन हुआ, पीछे कदम्ब की धूल से हवाएं मलिन हुईं। पहले नीलोत्पल के समान नेत्रों से जल बरसने लगा, पीछे मेघों से झड़ी लग गई। पहले मन में उद्वेग तरंगें भर गईं, पीछे नदियों में बहिया की लहरें उठीं। दुस्तर नदी के प्रवाहों के समान ही उसकी कामवेदना बढ़ी। वर्षाजल में डूबे हुए कमल सरोवर की भाँति कादम्बरी से मिलने की आशा डूबने लगी। वृष्टिधाराओं के वेग को सहने में अशक्त कंदली के अंकुरों के साथ ही उसका हृदय भी विदीर्ण होने लगा। मेघों की शीतल वायु से आहत एक ओर कदम्ब के कुड्मल, दूसरी ओर उसका रोमांचित शरीर कांप उठा। निरन्तर वृष्टि से जर्जरित पक्ष्म युक्त शिलीन्ध्रों के समान उसके नेत्र भी लाल हो गए। जल से नदियों के ढहते हुए तटों के समान उसके प्राण भी उत्क्रान्त होने लगे। परिमल युक्त मालती कुसुमों के साथ उसकी उत्कंठा भी बढ़ी। तूफानी आँधियों के साथ उठते हुए मनोरथ भी भंग हो गए। नुकीली केवड़े की बालों ने निकल कर मानों उसके मर्मस्थलों को छेद दिया। मेघों का अंधकार एक ओर दिशाओं में भरा, दूसरी ओर उनके मन में मोह का अंधकार भर गया। बिजली की कड़क से अंधकार तो हटा, पर सन्ताप बढ़ गया। रंगबिरंगे मोर कुहक-कुहक कर अग्नि के समान उसके अंगों को जलाने लगे। मेघकाल में अनेक प्रकार के शब्द सुन-सुनकर राजपुत्र की उत्कंठा अधिक बढ़ती गई। आकाश में नये उठते हुए मेघों का रह-रहकर गम्भीर गर्जन, अन्तरिक्ष में जलधाराओं की चोट से चातकों का चिहुकना, पृथिवी पर मेढकों की टर्र-टर्र, दिशाओं में हवाओं की साँय-साँय, जंगलों में भौंरों की भनक, पहाड़ी ढोकों पर रपटते हुए झरनों की कलकल नदियों के तरंगित प्रवाह का निर्घोष, वनस्थलियों में, कंदराओं में, पर्वतों की चोटियों पर तथा तटान्त में उठती हुई प्रचण्ड ध्वनि, तालीवनों में वर्षा का मर्मर शब्द, इन सबको सुनते हुए न रात में, न ग्राम में, न दिन में, न अरण्य में, न वन में, न उपवन में, न मार्ग में, न आवास में, न भीतर, न बाहर, न चलते हुए, न ठहरे हुए, न वैशम्पायन के स्मरण से, न कादम्बरी के समागम के विचार से, कहीं भी राजकुमार को किसी प्रकार की शान्ति प्राप्त होती थी।

[२८९]

जब उसको धैर्य प्राप्त न हुआ तो मानों उसे भस्म कर डालने के लिये उद्यत कामाग्नि ने उसके स्वभाव की धीरता को लुप्त कर दिया। यद्यपि चारों ओर जल ही जल था पर उसके भीतर शोष था। दिशाओं में विद्युत का प्रकाश होते हुए भी वह मूर्छा के अन्धकार में पड़ गया। बरसाती हवाएं औरों को आनन्द देने लगीं, पर उसको जलाने लगीं। जल भरे हुए मेघों को देखकर उसका शरीर कृश होने लगा। हरी घास पर लाल

बीरबहूटियां देखकर उसका रंग पीला पड़ने लगा। कुटज के श्वेत पुष्प उसमें राग उत्पन्न करने लगे। उस समय किनारों को तोड़ फोड़कर बहते हुए नदीप्रवाहों पर तैरते हुए, पंक पटल में गिरते पड़ते, जल से रुके हुए मार्गों में स्खलित होते हुए, धाराकदंबों की उड़ती हुई धूलि में आंखें मींचते हुए, मेघगर्जन से मोहित होते हुए, अनेक स्रोतों को लांघते हुए, जल प्रवाहों के वेग से आगे खींचे जाते हुए वह किसी प्रकार विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ आगे बढ़ने लगा। अपने जीवन की परवाह न करके वह मनुष्यों और तुरंगों को पीछे छोड़ता हुआ चला जाता था। जिस वर्षाकाल ने सब प्राणियों को अपने-अपने स्थान में कील दिया था उसमें भी वह क्षणमात्र का विलम्ब किए बिना मार्ग में आगे बढ़ रहा था। जलधाराओं की चोट से जिनके नेत्र मिचे जाते थे, जो बार-बार अपने मुंह को मोड़ते और झुकाते थे, जिनके अयाल पसीने से चिपट कर इकट्ठे हो गए थे, जिनके खुर बार-बार कीचड़ में गड़ने से भर गए थे, ऊंचे नीचे पैर पड़ने से जिनकी चाल डगमगा रही थी, जिनकी ज़ीन और साज के बन्धन ढीले पड़ गए थे, बार-बार नदियां पार करने से जिनकी पीठ गीली हो गई थी और जिनका बल, वेग और उत्साह घट रहा था, ऐसे घोड़ों की सवार सेना उसके पीछे पीछे आ रही थी। सम्मान्य राजा लोगों के कहने से शरीर का संस्कार किए बिना ही वह प्राण धारण के लिये थोड़ा सा आहार ले लेता था। यों दिन बिताते हुए वह बराबर चल रहा था।

[२९०]

जब एक तिहाई मार्ग रह गया तो उसने मेघनाद को आते हुए देखा। मेघनाद ने दूर से ही नमस्कार किया तो कुमार ने पूछा—'पत्रलेखा के आने की बात पीछे होगी, पहले वैशम्पायन का हाल कहो। क्या अच्छोद के तटपर तुमने उसे देखा? क्या तुमने उसके ठहरने का कारण पूछा? क्या पूछने पर उसने कुछ कहा? क्या हमें त्यागकर उसमें कुछ पश्चात्ताप का भाव आया? क्या यह हमारा स्मरण करता है? क्या उसने हमारे विषय में कुछ पूछा? क्या उसके अभिप्राय का कुछ पता चला? क्या तुम दोनों की बातचीत हुई? क्या माता पिता का सन्देश उसे सुनाया? क्या तुमने लौटने के लिये उसे समझाया? क्या हमारे आने की बात तुमने उससे कही? वह उस स्थान से चला तो न जाएगा? क्या हमसे मिलेगा? क्या हमारे मनाने से मानेगा? क्या हमारे साथ वापिस आएगा? दिन में वह क्या करता है? उसका मन कैसे लगता है?'

[२९१]

इस प्रकार पूछने पर मेघनाद ने निवेदन किया—'देव, आपने मुझे यह आदेश देकर भेजा था कि तुम आगे चलो, मैं वैशम्पायन से मिलकर शीघ्र ही घोड़े पर सवार हो पीछे-पीछे आता हूँ। तब तक वैशम्पायन के अच्छोद सरोवर की ओर चले जाने की बात ही न खड़ी हुई थी। हम लोग आगे चले आए थे। पर जब आपके आने में विलम्ब हुआ पूर्व

वर्षा ऋतु आ गई तो हमने सोचा कि कदाचित् देव तारापीड, देवी विलासवती और आर्य शुकनास से प्रयत्न करने पर भी आपको आने की अनुमति न मिली होगी। तब केयूरक और मदलेखा ने कहा—'तुमको अकेले इस स्थान में न रहना चाहिए, हम लोग अब लगभग आ ही पहुँचे हैं, और अब अच्छोद सरोवर भी केवल तीन-चार पड़ाव दूर रह गया है।' यह कहकर उन दोनों ने मुझे बलपूर्वक लौटा दिया।' यह कहकर मेघनाद चुप हो गया। तब कुमार ने पूछा—'तुम क्या समझते हो कि पत्रलेखा अबतक पहुँच गई होगी?' उसने कहा—'देव, यदि बीच में कोई विघ्न नहीं हुआ होगा तो बिना सन्देह वह वहां पहुँच गई होगी, ऐसा मेरा मन कहता है।'

[२६२]

मेघनाद ने जब इस प्रकार कहा तो चन्द्रापीड ने कल्पना की कि कादम्बरी वर्षाऋतु के कारण बढ़े हुए कामसमुद्र में डूबती उतिराती होगी। सोचकर उसके मन को ऐसा लगा मानों मेघ कालपुरुष बन गए, बिजलियां कामाग्नि की लपटें बन गईं, मेघों का गर्जन यम का नगाड़ा हो गया, जलधाराएँ कामबाण सी दीखने लगीं। मंद गर्जन काम के धनुष की टंकार, मोरों का कुहकना यम के दूतों का संदेश, केतकी की सुगन्धि विषवृक्ष की गंध जैसी लगने लगी। चारों ओर फैले हुए खद्योत प्रलयाग्नि की चिनगारियाँ, भौंरों के मण्डल यमपाश, बलाकाएं यम की पताकाएं, नदियां प्रलय की लहरें, मेघ दुर्दिन कालरात्रि, और कुटज के श्वेत फूल यमराज का हास जैसे जान पड़ने लगे। फिर उसके शरीर में भी सत्त्व की जगह कातरता, बल की जगह कृशता, कान्ति की जगह विवर्णता, मति की जगह मोह, धैर्य की जगह विषाद, हास्य की जगह शोक, नेत्रदृष्टि की जगह अश्रुजल, भाषणशक्ति की जगह मौन व्याप गया। शरीर के अवयव अक्षम हो गए, इन्द्रियां जड़ हो गईं और सर्वत्र उद्वेग व्याप्त हो गया। बीतते हुए दिन मानों उसे खरोंच रहे थे। निरन्तर उमड़ते हुए आंसू मानों उसे ढाहे देते थे, श्वासोच्छ्वास की वायु उखाड़े देती थी, काम की लहरें जर्जर किए डालती थीं, कामदेव के सहस्रों बाण उसके शरीर को क्षीण किए देते थे। कल्पना में चित्रित कादम्बरी के शरीर के साथ कंठ लगाकर वह किसी प्रकार प्राण धारण किए था। यों होते होते वह उसी अच्छोद सरोवर के किनारे जा पहुँचा। पर वहाँ की अवस्था कुछ दूसरी ही थी। वृक्षों को मेघों ने गीला कर दिया था। चारों ओर की घास पानी में डूब गई थी। किनारे के लताकुंज बैठने उठने के योग्य न रह गए थे। तट भाग में जल भर जाने से चारों ओर का प्रदेश कलुषित हो गया था। कुमुद और कमल की बनखण्डियाँ पानी में डूबकर बिगड़ गई थीं। उनके पत्ते और केसर गलकर सूख गऐ थे एवं भौंरे और हँस उड़ गए थे। बैठने का ठिकाना न होने से सारस कराहते हुए चिल्ला रहे थे। जहाँ तहाँ बचे हुए पत्तों के नीचे छिपे हुए चकवा चकई डरे हुए बैठे थे। किनारे के पास नरसल के वन में छिपे हुए कादम्बक हंस काँप रहे थे। आस-पास के पेड़ों में मोर बगुले और बलाकाएँ बेकली से रट

लगा रही थीं। बरसात ने उसे चौपट करके कुछ का कुछ बना दिया था। पहले देखा हुआ भी वह अपरिचित सा लगता था। देखकर आँखों को कुछ सुख न मिला और हृदय को आनन्द न हुआ। उस अच्छोद ने उसके दुःख को मानों और दूना बढ़ा दिया।

[२९३]

वहाँ पहुँचते ही उसने सब सवारों को आज्ञा दी—'ऐसा न हो कि वह हमें देखकर लज्जा से कहीं चला जाय। तो तुम लोग चारों कोनों पर सावधान हो जाओ।' स्वयं घोड़े पर चढ़कर वह लताकुञ्जों में, वृक्षों के नीचे, शिलातल और मण्डपों में उसे खोजने लगा। खोजते हुए जब कहीं भी उसके रहने का चिह्न न मिला तो मन में सोचा—अवश्य ही यह पत्रलेखा से मेरे आने का समाचार जानकर पहले से ही कहीं चला गया है जिससे इसके रहने का भी कोई चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। वह किसी ऐसे गुप्त स्थान में गया है कि ढूंढ़ने पर भी दिखाई नहीं दिया। यह तो बड़ा कष्ट हुआ। वैशम्पायन को देखे बिना यहाँ से एक पैर भी जाना कठिन है। कामदेव के बाण से विंधे हुए जो प्राण अब तक केवल कादम्बरी के दर्शन की आशा से ठहरे हुए हैं वे क्षण भर का विलम्ब भी नहीं सह सकते; कहीं ऐसा न हो कि वे निकल जाँय। मेरा सब तरह नाश हुआ। न कादम्बरी ही मिली और न वैशम्पायन ही।' ऐसी स्थिति में उसने सोचा—'शायद महाश्वेता इस वृत्तान्त से परिचित हो। पहले उससे मिलकर फिर जो उचित होगा करूंगा।' यह निश्चय करके आश्रम से थोड़ी दूर पर अपनी अश्वसेना छोड़कर, सैनिक बाना उतारकर, साँप की केंचुल के समान झीने और मेघों में चमकती हुई बिजुली के समान सुन्दर दो वस्त्र पहनकर वैसे ही जीन कसे हुए इन्द्रायुध पर सवार हो महाश्वेता के आश्रम में पहुँचा। वहाँ इन्द्रायुध से उतर कर प्रवेश करते ही उसने गुफा के द्वार पर धवल शिलातल पर बैठी हुई मुँह नीचा कर के निरंतर अश्रुजल बहाती हुई महाश्वेता को देखा। असह्य मन्युवेग से उसके अंग-अंग कांप रहे थे और तरलिका किसी प्रकार उसे पकड़े हुए थी। उसे देखकर इसके मन में विचार आया—'कहीं देवी कादम्बरी का तो कुछ अनिष्ट नहीं हुआ जिससे मेरे आगमन रूप हर्ष के समय भी महाश्वेता की ऐसी अवस्था बनी है।' इस आशंका से हृदय में खिन्न हो शीघ्रता से आगे बढ़कर उसी शिलातल के एक कोने पर बैठकर शोकाकुल उसने तरलिका से पूछा—'यह क्या बात है?' वह भी महाश्वेता का मुँह देखने लगी।

[२९४]

महाश्वेता का मन्यु तनिक भी कम नहीं हुआ था। उसने गद्गद कंठ से स्वयं ही कहा—'महाभाग, यह बेचारी क्या कहेगी? दुःखों की चोट से वज्र हृदय बनी मैंने जैसे सुकुमारचित्त वाले आपको अपना दुखड़ा सुनाया था वैसे ही मंदभागिनी निर्लज्ज और निष्ठुर मैं इस दुःख को भी कहूँगी, कृपया सुनें। केयूरक से जब मैंने सुना कि आप चले गए तो मेरा मन विदीर्ण हो गया कि न मैंने चित्ररथ का मनोरथ पूरा किया, न देवी मदिरा की

प्रार्थना सफल की, न अपनी ही इच्छा पूरी की, न घर आए हुए चन्द्रापीड़ का ही मनोरथ पूरा किया, और न हृदयवल्लभ के समागम से ही प्रसन्न हुई, न प्रिय सखी कादम्बरी से ही मिल पाई। इन अनेक कारणों से मेरे मन में वैराग्य का भाव आया और कादम्बरी के साथ अपने स्नेह के दृढ़ बन्धनों को भी तोड़कर मैं फिर और अधिक कठोर तप करने के लिये यहाँ चली आई। यहाँ आकर मैंने आपके ही सदृश आकृतिवाले, अन्तःकरण से उन्मुक्त, शरीर से शून्य, खोए हुए की तरह इधर उधर देखते हुए एक ब्राह्मण कुमार को देखा। वह मेरे पास आकर एकटक मेरी ओर देखने लगा। यद्यपि मैंने उसे पहले कभी न देखा था, तो भी उसने परिचित की भाँति बड़ा प्रेम दिखलाकर और अपने आपको सर्वथा प्रेम के वशीभूत करके कुछ सोचते हुए, कुछ प्रार्थना करते हुए, अपनी अवस्था प्रकट करते हुए, देरतक मेरी ओर देखकर मुझसे कहा—'वरतनु, संसार में सब लोग अपने जन्म, आयु और आकृति के सदृश आचरण करते हुए निन्दा के भागी नहीं होते, तो तुम सर्वथा विपरीत विधाता की प्रेरणा से यह क्या कर रही हो? क्यों मालती पुष्प के समान इस कोमल शरीर से कठोर तपश्चरण का क्लेश सहन कर रही हो? रूप और वय के अनुसार इस देहयष्टि को रसीले फल से क्यों संयुक्त नहीं करतीं? रूप गुण से विहीन व्यक्ति भी इस जीवन के सुखों का अनुभव करके अपनी तपश्चर्या को सुशोभित बनाता है। फिर रूपवान व्यक्ति का तो कहना ही क्या? तुम्हारे इस मृणाल की भाँति सुकुमार शरीर पर हिमपात की तरह तप का क्लेश देखकर मुझे बहुत दुःख हो रहा है। यदि तुम्हारे जैसी सुन्दरी जीवन के सुखों से मुँह मोड़कर तप द्वारा अपने को कष्ट देने लगे तो कामदेव का धनुष चढ़ाना, चन्द्रमा का उदय होना, वसन्त मास का आगमन सब व्यर्थ हैं।'

[२९५]

मैं तो देव पुण्डरीक के वृत्तान्त से ही सब प्रकार के कुतूहलों से अपने मन को मोड़ चुकी थी, अतएव इस प्रकार कहते हुए उससे मैंने कुछ न पूछा कि तू कौन है, कहाँ से आया है, और क्या करता है, और मैं दूसरी ओर चली गई। वहाँ जाकर देवार्चन के लिये पुष्प चुनते हुए मैंने तरलिका को बुलाकर कहा-'जो यह ब्रह्माकृति कोई युवक है उसके देखने और कहने का भाव मुझे विपरीत जान पड़ता है। तू इससे कह दे कि फिर यहाँ न आवे और यदि हटाने पर भी आएगा तो अवश्य इसका अकल्याण होगा।' निवारण किए जाने पर भी उसने काम के दोष से और होनहार के वश अपना वह स्नेह न छोड़ा। जब कई दिन बीत गए तो एक दिन अधिक रात बीतने पर जब तरलिका सोई हुई थी और मैं जागती हुई चन्द्रमा की ओर देखकर सोच रही थी कि कहीं यह चन्द्रमा अपनी इन अमृत बरसाने वाली किरणों के साथ मेरे उस हृदयवल्लभ को भी बरसा दे तो कैसा हो। मन में यह आशा बाँधकर देव पुण्डरीक का स्मरण कर रही थी और सोच रही थी कि मैं कैसी अभागिनी हूँ कि वैसे दिव्याकृति महापुरुष ने आकाश से उतर कर जो कहा था वह भी मिथ्या हो गया, अथवा हो सकता है कि उसने केवल मुझे दिलासा देने के लिये ही ऐसा कह दिया

हो। देव पुण्डरीक स्वयं क्या करें ? उनके मृत शरीर को तो वह उठाकर ले गया। कपिंजल भी सशरीर पीछे-पीछे चला गया। उस निष्ठुर ने तो मेरी सुध भी न ली। यों बहुत सी आल-जाल बातें सोचकर जागती हुई लेटी थी।

[२९६]

तब मैंने चुपके से आते हुए और चाँदनी में पहचाने जाते हुए उसी युवाकुमार को देखा। सिर से पैर तक रोमांचित उसका शरीर ऐसा ज्ञात होता था मानों कामदेव के बाणों से बिंधा हुआ हो। केतकी धूल से धवल उसका शरीर ऐसा लगता था मानों कामाग्नि ने पहले ही उसे भस्म कर दिया हो। उसके हाथ में पहना हुआ मृणालवलय ऐसा लगता था मानों संसार पर अप्रतिहत शासन रखनेवाले कामदेव ने अवश्य मरण के लिये उसके हाथ में तुरन्त शासन-वलय बाँध दिया था। कान में पिरोई हुई केवड़े की बाल मन्मथ के सहायक चन्द्रमा की कला के समान कह रही थी—'अब कहाँ जाते हो ? मैंने ही तुम्हारा अन्त कर दिया है।' उद्वेग के कारण नयनों से बहते हुए जल से मानों उसने स्वयं अपने लिये जलांजलि अर्पित कर दी थी। अपनी इच्छा से ही मेरा पाणिग्रहण करने के लिये मानों उसने स्वेदजल से स्नान कर लिया था। दूर से ही मेरे आलिंगन की मिथ्या आशा से वह दोनों हाथ फैलाकर काम की लहरियों से भरे हुए राग के समुद्र में मानों तैर रहा था। उसकी लम्बी उसासें उसे आगे की ओर खींच रही थीं। उसका सत्त्व, धैर्य और लज्जा छूट चुकी थी। चपलता और धृष्टता ने उसपर अधिकार कर लिया था। वह सर्वथा काम के वश में था और मानों उन्माद से भरा हुआ चला आ रहा था।

[२९७]

यद्यपि मुझे अपनी परवाह न थी तो भी उसे उस दशा में देखकर मैं डर गई और सोचने लगी—'अहो यह बड़ी विपत्ति आई। यदि यह उन्माद से आगे बढ़कर हाथ से मुझे छू भी लेगा तो मैं अपने अपवित्र शरीर को किसी तरह न रक्खूँगी। अतः देव पुण्डरीक के फिर मिलने की आशा से जो मैंने अबतक अपने प्राण दुःखपूर्वक धारण किए हैं वह सब व्यर्थ जायगा। मैं यह सोच ही रही थी कि उसने मेरे पास आकर कहा—'चन्द्रमुखी, काम का सहायक यह चन्द्रमा मुझे मारने पर तुला है, तो मैं शरण में आया हूँ। अशरण, अनाथ, आर्त, प्रतीकार में असमर्थ मेरी तुम रक्षा करो। मेरा जीवन तुम्हारे अधीन है। शरणागत की रक्षा तपस्वियों का भी धर्म है। इसलिये यदि तुम आत्मदान से मेरी रक्षा न करोगी तो ये कामदेव और चन्द्रमा मिलकर मुझे मार डालेंगे।'

उसे सुनते ही मेरे मस्तक से लपटें निकलने लगीं। रोषानल से जलती हुई मेरी दृष्टि से चिनगारियाँ उछटने लगीं और क्रोध से काँपते हुए अपने आपको भूलकर मैंने रोष के आवेग में बड़े रूक्ष वचन उससे कहे—'अरे पापी, मुझसे ऐसा कहते हुए तेरे सिर पर वज्र नहीं गिर गया ? तेरी जिह्वा के टुकड़े क्यों नहीं हो गए ? तेरी वाणी विह्वल क्यों न हो

गई ? उसके शब्द नष्ट क्यों न हो गए ? मैं समझती हूँ कि सब लोगों के शुभाशुभ कर्म के साक्षी पंच महाभूत तेरे शरीर में नहीं है, जो ऐसा कहते हुए तुझे अग्नि ने भस्म नहीं किया, वायु ने उड़ा नहीं दिया, जल ने डुबो नहीं दिया, धरती ने फटकर तुझे रसातल नहीं पहुँचा दिया और न आकाश ने तुझे अपने जैसा कर डाला। इस मर्यादा-सम्पन्न लोक में तू ऐसा मर्यादाहीन कहाँ से उत्पन्न हुआ, जो पक्षी के समान कामवश होकर कुछ नहीं समझता ? जिस मुए विधाता ने तेरे मुख पर ऐसा राग प्रकट करके, केवल अपने पक्षपात की प्रवृत्ति देकर, बोलने में उचित अनुचित का विचार खोकर, सुग्गे की तरह ऐसा कहना सिखाया उसने तुझे सुग्गे की योनि में ही क्यों न उत्पन्न कर दिया ? तू नितान्त परिहास के योग्य है, इसीलिये तेरे कहने पर मुझे क्रोध नहीं आया। तेरे वचनों से दुःखित होकर मैं उस दुःख को तेरे साथ इस रूप में बांट लेती हूँ कि तू अपने वचन के अनुरूप योनि में जाकर जन्म ले, जिससे फिर मेरे जैसी स्त्रियों की कामना न करे।'

यह कहकर मैंने चन्द्रमा के सामने मुंह करके हाथ जोड़कर फिर कहा—'भगवान्, परमेश्वर, सब भुवनों के चूड़ामणि लोकपाल, यदि मैंने देव पुण्डरीक के दर्शन से लेकर आजतक मन से भी किसी दूसरे पुरुष का चिन्तन न किया हो तो मेरे इस सत्य वचन से यह मिथ्याकामी मेरी कही हुई सुग्गे की योनि में जन्म ले। वह मेरे ऐसा कहते ही न जाने कामज्वर के असह्य होने से, या अपने पाप के तुरंत फल से, या मेरे वचन की सामर्थ्य से, तत्काल छिन्नमूल वृक्ष की भांति पृथिवी पर गिर पड़ा। उसके प्राण चले जाने पर विलाप करते हुए परिजनों से मैंने सुना कि वह आपका ही मित्र था।' यह कहकर वह लज्जा से मुँह नीचा करके चुपचाप रोती हुई अपने आंसुओं से पृथिवी को डुबाने लगी।

[२९८]

उसे सुनकर चन्द्रापीड़ के दोनों नेत्र मुंद गए और देखने की शक्ति जाती रही। उनका वचन-सौन्दर्य जाता रहा। उन्होंने किसी प्रकार इतना कहा—'भगवती, तुम्हारे प्रयत्न करने पर भी मुझ पुण्यहीन को इस जन्म में देवी कादम्बरी की चरणसेवा का सुख नहीं मिला, तो जन्मान्तर में तुम मुझे उसकी प्राप्ति कराना।' यों कहते हुए कादम्बरी का समागम प्राप्त न कर सकने के दुःख से विदीर्ण होने के लिये उन्मुख उनका स्वभाव से सरस हृदय ऐसे फट गया जैसे भ्रमर के आघात से भेदोन्मुख मुकुल स्फुटित हो जाता है।

तब महाश्वेता का शरीर छोड़कर शीघ्रता से चन्द्रापीड़ के शरीर को सम्हालती हुई तरलिका ने कहा—'भर्तृदारिका, अब लज्जा से क्या ? देखो, देव चन्द्रापीड़ का कुछ और ही हाल हो गया है। उनकी ग्रीवा भग्न हुई जैसी मस्तक को नहीं सम्हाल पा रही है, हिलाने से भी उनमें चेतना नहीं आती। पुतलियों के भीतर घुस जाने से नेत्र नहीं खुलते। अङ्ग जैसे झूल गए हैं, उन्हें सम्हालते नहीं। हृदय धड़कता नहीं। हा देव चन्द्रापीड़, चन्द्राकृति, कादम्बरीप्रिय, तुम्हारे बिना अब मैं कहाँ जाऊँ ?' यों कहकर वह आर्तस्वर से विलाप करने लगी। महाश्वेता ने तिरछे मुड़े हुए चन्द्रापीड़ के मुंह को एकटक दृष्टि से

देखा और मूर्च्छित हो गई। चन्द्रापीड़ के परिजन भूतल पर लोटते हुए विलाप करने लगे—'अरी पापिनी, दुष्ट तापसी, तूने यह क्या किया ? संसार में किसी को भी पीड़ा न देनेवाले देव तारापीड़ का कुल नष्ट कर दिया। हमारे साथ प्रजाओं को अनाथ बना दिया। गुणों के मार्ग नष्ट हो गए। याचकों की दिशाएं बंद हो गईं। अब लक्ष्मी किसका मुंह देखेगी ? भूमि का आधार कौन होगा ? सेवक किसकी सेवा करेंगे ? देव चन्द्रापीड़, तुम्हारे बिना सेवा व्यसन हो गई, समान-शीलता नष्ट हो गई, परिजनों की प्रशंसा अस्त हो गई, सेवकों का आदर कम हो गया, प्रिय आलाप दूर हो गए, दान की कथाएं समाप्त हो गईं। हा, तुम्हारी कहानीमात्र रह गई ! तुम्हारी प्रजा अब किसकी शरण में जाय ? साधुओं का सन्तोष अब किससे होगा ? पृथिवी का बोझा धारण करने वाले तुम्हारे नष्ट हो जाने पर देव तारापीड़ से वहन किए हुए इस बोझे को कौन धारण करेगा ? तुम तो धीर थे, कायर की तरह शोक से हृदय को भिन्न क्यों होने दिया ? दयालु होकर भी आज तुम हमारे प्रति ऐसे निर्दय क्यों हो गए ? हे देव, प्रसन्न होकर हमें आज्ञा दो। तुम्हारे बिना पुत्रवत्सल देव तारापीड़, देवी विलासवती, आर्य शुकनास, मनोरमा, राजा और प्रजा क्षणभर भी जीवित न रहेंगे। सबको छोड़कर अकेले कहाँ चले ? अकस्मात् तुममें ऐसी निष्ठुरता कैसे आ गई ? तुम्हारी गुरुजनों की वह भक्ति कहाँ चली गई जो आज यों उनकी ओर ध्यान न देकर छोड़े जा रहे हो।' राजा लोग भी उसे सुनकर 'हा, यह क्या हो गया' यह कहते हुए दौड़कर आने लगे। इन्द्रायुध आँखें फाड़कर चन्द्रापीड़ की ओर देखने लगा और बड़े दीन स्वर से हिनहिनाने लगा। वह शोक से क्रमशः अपने चारों खुरों को पृथिवी पर पटकने लगा, कटीली लगाम और स्वर्णशृंखला के बंधन से अपने को बार बार छुड़ाने लगा, मानों वह उस समय अपनी अश्वयोनि छोड़ना चाहता था।

पत्रलेखा से चन्द्रापीड़ के आने का समाचार पाकर समुद्रवेला के समान चन्द्रोदय से हुलसती हुई सकामा कादम्बरी माता पिता के सामने महाश्वेता से मिलने का बहाना करके, शृङ्गार सजाकर, नूपुर और मेखला झंकारती हुई, रम्य उज्ज्वल वेष पहन कर, कामदेव की सजी हुई सेना के समान हाथ में सुगन्धित माल्य, अंगराग, पटवास आदि लेकर पीछे आती हुई कुछ परिचारिकाओं के साथ, केयूरक को मार्गदर्शक रूप में आगे करके, पत्रलेखा का हाथ पकड़कर और मदलेखा के साथ बात करती हुई, उस समय चन्द्रापीड़ के दर्शन के लिये उत्कंठित होकर वहीं अच्छोद सरोवर के तीर पर झमकती हुई आई। वह कह रही थी—'अरी मदलेखा, पत्रलेखा तो प्रतिदिन कहती है, पर मैं अति निठुर हृदय, शठबुद्धि, निर्दयी उस चन्द्रापीड़ के आने का विश्वास नहीं करती कि वह मेरे लिये ही आवेगा। क्या तुझे याद नहीं है कि उस दिन हिमगृह में मेरी अवस्था का विश्वास न करके मेरा हाल जानने के लिये उस दुर्विदग्ध बुद्धि ने कैसी वक्रोक्तियाँ कही थीं जब मन्द मुस्कान के साथ मैंने तेरी ओर देखा था और तैंने ही निःसन्दिग्ध उत्तर दिया था ? तो वह मेरे मरने पर भी मेरी इस अवस्था का विश्वास न करेगा। यदि उसके मन में यह बात होती कि यह मेरे लिये ऐसा दुःख सह रही है, तो यहाँ से जाता ही नहीं। इसलिये यदि वह आया हो तो जो कहना हो तू ही कहना। उसे देखकर मैं तो न बोलूँगी, न उपालम्भ

दूँगी, और न चरणों में पड़ने पर भी उसका अनुनय स्वीकार करूँगी। हे प्रिय सखी, उस समय तू मुझे मत मनाना।'

[२९९]

कादम्बरी ने आते ही चन्द्रापीड़ को देखा जिसके प्राण उड़ चुके थे। वह ऐसे समुद्र की भाँति था जिसमें से अमृत मथकर निकाल लिया गया हो। अथवा चन्द्रविहीन रात्रि, या अस्त हुए तारागण वाले आकाश, या कुसुम लूटे हुए उपवन, या पुष्पलुंचित हुए कमल पादप, या अंकुर से खण्डित मृणाल, या उस हार की भाँति शोभाहीन था जिसका मध्यस्थ पदक टूटकर गिर गया हो। देखते ही वह 'हा यह क्या हुआ!' कहती हुई सहसा पछाड़ खाकर पृथिवी पर गिर पड़ी। मदलेखा ने कठिनाई से उसे सम्हाला। पत्रलेखा भी कादम्बरी का हाथ छोड़कर बेहोश होकर गिर गई। बहुत देर बाद जब कादम्बरी होश में आई तो भी उसी प्रकार मोह दशा में एकटक दृष्टि किए हुए जैसे आविष्ट या स्तम्भित हो, या सांस लेना भी भूल गई हो, शोक के भार से निश्चेष्ट बनी हुई चन्द्रापीड़ के मुख की ओर ही आँखें गड़ाए उस पूर्णिमा की रात्रि के समान भीषण काली और लाल दिखाई पड़ने लगी जिसके चन्द्रमा को ग्रहण लग गया हो। उस लता के समान हो गई जिस पर तीक्ष्ण कुठाराघात गिरा हो। वह चित्रलिखित सी बनकर स्त्रियों के स्वभाव के विरुद्ध नितान्त स्थिर हो गई। उसे उस अवस्था में देखकर मदलेखा ने रुदन के साथ पैरों पर गिरकर कहा—'प्रिय सखी, कृपाकर इस शोक के भार को रोकर हलका करो। यदि रोकर इसे दूर न करोगी तो अत्यन्त भार की पीड़ा से तुम्हारा यह सरस और मृदु शरीर गर्मी में बिहरे हुए तडाग की भाँति सहस्रों टुकड़ों में फट जायगा। देवी मदिरा और देव चित्ररथ की ओर देखो। तुम्हारे बिना दोनों कुल नष्ट हो जाएंगे।'

[३००]

यों कहती हुई मदलेखा से कादम्बरी ने हँसकर कहा—'अरी पगली, फौलाद के समान कठोर यह मेरा हृदय जब उन्हें देखते ही टुकड़े-टुकड़े नहीं हुआ, तो अब क्या फटेगा? और जो जीवित हो उसी के माता, पिता, बन्धु, अपना-आपा, सखियाँ और परिजन होते हैं। मैं तो मर रही थी उसे प्राणों का आधार प्रियतम का यह शरीर मिल गया है, जो जीवित रहता तो सम्भोग से, और अब मृत अवस्था में मेरे अनुमरण से सब दुःखों की शान्ति करेगा। देव ने यहाँ आकर और मेरे लिये प्राण त्यागकर मुझे जो ऊँचा गौरव दिया उसे केवल आँसू बहाने से हलका बनाकर मैं क्या नीचे गिराऊँ? स्वर्ग जाते हुए देव का अपने रुदन से अमंगल क्यों करूँ? उनकी चरणधूलि के समान मैं उनके चरणों का अनुगमन करती हुई हर्ष के स्थान में रोऊँ, ऐसा मुझे क्या दुःख है? अब तो मेरे सारे दुःख ही दूर हो गए। अब भी मैं क्यों रोऊँ? जिनके लिये कुल की मर्यादा नहीं मानी, गुरुजनों की भी परवाह न की, धर्म का विचार न किया, जन-निन्दा से न डरी, लज्जा छोड़ दी, मदनोपचार कराकर सखियों को पीड़ा पहुँचाई, दुखियारी प्रियसखी महाश्वेता के लिये की

हुई प्रतिज्ञा को भी भुलाकर मन में कुछ विचार न किया, उन प्राणनाथ ने मेरे लिये ही प्राण छोड़ दिए। अब मैं प्राणों के साथ जाने की बाट देख रही हूँ। तो तूने यह क्या कहा? ऐसे समय तो मरना ही जीना है और जीना ही मरना है। यदि मेरे ऊपर स्नेह है और मेरा प्रिय या हित चाहती है, तो मेरे स्नेह से बँधकर तू अपने प्राण मत छोड़ देना, बल्कि ऐसा उपाय करना कि तात और अम्बा मेरे शोक से कहीं अपनी देह न त्याग दें, और जो मनोरथ उन्होंने मुझसे किया था उसे वे तेरे द्वारा पूरा कर लें। मैं परलोक चली जाऊँ तो भी जलांजलिदान के लिये तुझसे एक पुत्र तो उन्हें प्राप्त हो ही जाय। मेरी सखियाँ और परिजन मेरा स्मरण करके दुःखी न हों और सूने घर को देखकर कहीं भाग न जांय, वैसा उपाय तू करियो। महल के आंगन में लगे हुए मेरे पुत्र के समान बाल सहकार का जैसा मैंने सोचा था माधवी लता के साथ स्वयं ही विवाह रचाइयो। मेरे चरणतल के स्पर्श से बढ़े हुए अशोक-विटप का पल्लव कर्णफूल के लिये भी न तोड़ियो। मेरी लगाई हुई मालती लता के पुष्प देवार्चन के लिये ही लीजियो। मेरे वासभवन में कामदेव का चित्रित पट फाड़ डालियो। जिन आम्रवृक्षों को मैंने अपने हाथ से लगाया था उन्हें इस प्रकार बढ़ाइयो कि उनमें फल आने लगें। पिंजड़े में बन्द होने से दुःखी बेचारी कालिन्दी सारिका और परिहास शुक दोनों को मुक्त कर दीजियो। मेरी गोद में विश्राम करने वाली उस नेउली को अपनी गोद में लिटाइयो। पुत्र के समान प्यारे मेरे उस मृगछौने तरलक को किसी तपोवन में पहुँचवा दीजियो। मेरे हाथ से पाला हुआ क्रीड़ापर्वत पर रहनेवाला चकोर का वह जोड़ा कहीं मर न जाय ऐसा प्रबन्ध करियो। मेरे साथ घूमनेवाले उस हंस को कोई मारे नहीं ऐसा विधान करियो। घर रहने का जिसे अभ्यास नहीं है और जिसे बलपूर्वक पकड़वा मंगाया था ऐसी उस बिचारी बनमानुषी को बन में ही छुड़वा दीजियो। क्रीड़ापर्वत को किसी उपशान्त तपस्वी को सौंप दीजियो। शरीर-प्रसाधन की मेरी सामग्री ब्राह्मणों को देकर वीणा अपने ही लिये रख लीजियो। और भी तू जो चाहे ले लीजियो। मैं अपने इस शरीर को देव के कंठ लगकर अग्नि के अर्पित करती हूँ। इसे मैंने चन्द्रमा की किरणों से, गीले चन्दन की चर्चा से, निरन्तर धारागृह की धाराओं से, चन्द्रमा की किरणों में रखे हुए मोतियों के उज्ज्वल हारों से, मणिदर्पणों से, चन्दन जल से यत्नपूर्वक बचाया था। सरस बिस-किसलयों का प्रस्तर बनाकर, उसपर कमलिनी के गीले पत्तों का आस्तरण बिछाकर, सुकुमार मृणालतल्प बना, उसपर खिलते हुए कमल, कुमुद और नीलोत्पल से विरचित शयनीय[1] पर अपनी इस अङ्गयष्टि को पहले किसी प्रकार रखती रही, पर मदन

१—मृणाल तल्प की रचना एक कला थी। वह किस प्रकार बनाया जाता था, उसका स्पष्ट वर्णन यहाँ आया है। मृणालिनी के चार भाग होते हैं—एक जड़ जिसे बिस, भसींड या कमलककड़ी कहते हैं; दूसरा उस जड़ में से फूटनेवाला अंकुर या किसलय, जो बिस किसलय या कमलनाल कहा जाता है; तीसरे उस नाल में निकलनेवाले पत्ते; और चौथा नाल के ऊपर खिला हुआ कमलपुष्प। मृणालतल्प की रचना में सबसे पहले बिस किसलय या लम्बे कमलनाल एक दूसरे से मिलाकर कई तहों में बिछाए जाते थे इसे

सन्ताप से उसका जो अंश अबतक बचा रहा है उसे आज धू-धू करती लपटोंवाली चिता के समर्पण करूँगी ।' यों कहते हुए उसने हठपूर्वक रोकती हुई मदलेखा को हटाकर महाश्वेता के पास जाकर उसके गले से चिपटकर मुंह पर किसी प्रकार का विकार लाए बिना कहा—

[३०१]

'प्रिय सखी, तुझे तो कुछ आशा भी है जिससे अनुराग के वशीभूत हो प्रियतम से पुनः समागम की आकांक्षा करती हुई प्रतिक्षण मरण से भी अधिक दुःख सहती हुई इस जीवन को रख रही है, और तेरा यह जीवन किसी प्रकार भी लज्जा, शोक, उपहास या निन्दा के योग्य नहीं है । पर मुझ मन्दभागिनी के लिये तो यह आशा भी नहीं है । इसलिये जन्मान्तर में मिलने के लिये मैं अब तुझसे बिदा माँगती हूँ ।' यह कहकर उसने अपने मस्तक के जूड़े में से टपकते हुए पुष्पों से चन्द्रापीड़ की अर्चना की और स्वेदामृत से गीले अपने हाथों से उठाकर उसका शरीर अपनी गोद में रख लिया ।

कादम्बरी के कर स्पर्श से जैसे चन्द्रापीड़ फिर उज्जीवित हो उठा और उसकी देह से तत्काल कोई चंद्रधवल ज्योति निकलकर उस प्रदेश को हिममय बनाती हुई फैल गई । तब अन्तरिक्ष में मानों अमृत भरती हुई आकाशवाणी सुनाई पड़ी—'वत्सा महाश्वेता, मैं तुझे फिर आश्वासन देता हूँ । तेरे उस पुण्डरीक का शरीर मेरे लोक में मेरे शरीर से पुष्ट होता हुआ तेरे साथ पुनः समागम के लिये अविनाशी रूप में रखा हुआ है । दूसरा यह चन्द्रापीड़ का शरीर है जो मेरे ही तेज से बना हुआ होने के कारण स्वतः ही अविनाशी है । कादम्बरी के हाथ का स्पर्श पाकर यह विशेष रूप से और पुष्ट होता रहेगा । उस योगी के शरीर की भाति जिसकी आत्मा दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है इसका शरीर—यद्यपि यह शाप के दोष से छूट चुका है—शाप की अवधि समाप्त होने तक यहीं मर्त्यलोक में बना रहेगा, जिससे तुम दोनों का हृदय आश्वस्त रहे । इसका अग्नि-संस्कार मत करना और न इसे जल में फेंकना, और न अरक्षित छोड़ना । जब तक इसके साथ फिर समागम न हो, यत्न से इसकी रक्षा करना ।'

[३०२]

आकाशवाणी सुनकर, पत्रलेखा के अतिरिक्त और सब परिजन 'यह क्या हुआ' इस आश्चर्य से आकाश की ओर देखने लगे । पत्रलेखा उस ज्योति के हिमशीतल और आनन्द-प्रद स्पर्श से होश में आकर उठी और आविष्ट की भाँति उसने वेग से दौड़कर इन्द्रायुध

बाण ने 'प्रस्तर' कहा है । उसके ऊपर जल में भींगे कमलिनी के पत्ते आस्तरण या चादर के रूप में बिछाए जाते थे । इन दोनों को मिलाकर 'तल्प' कहा गया है । अन्त में पत्तियों के ऊपर खिले हुए कुमुद और कुवलय पुष्प फैलाकर 'शयनीय' बनाया जाता था ।

को साईस के हाथ से छीन लिया। फिर यह कहते हुए कि हम सब लोगों की जो चाहे हालत हो, उन देव के अकेले ही दूर चले जाने पर तेरा एक क्षण भी यहाँ ठहरना अच्छा नहीं लगता, उसे साथ लेकर अपने आप भी अच्छोद सरोवर में कूद गई।

[३०३]

उन दोनों के डूबने के साथ ही उस सरोवर के जल में से एक तापसकुमार सहसा ऊपर उठा। उसके सिर के ऊपर बहुत दिनों का बंधा हुआ जटा-कलाप था और शरीर पर बिसतन्तुओं का बना हुआ यज्ञोपवीत सुशोभित था। वह पुराने मन्दार वृक्ष का वल्कल बाँधे हुए था और एक हाथ से मुँह पर आती हुई जटाओं को हटा रहा था। उसके लाल नेत्रों से आँसू झर रहे थे और उसकी आकृति शोकयुक्त थी। जल से ऊपर आकर उसने दूर से ही आँसुओं को रोककर एकटक देखती हुई महाश्वेता के पास जाकर शोक से गद्गद होकर कहा—'गन्धर्वराजपुत्री, मानो जन्मान्तर से मानो लौटे हुए इस जन को क्या तुमने पहचाना ?' यह सुनते ही महाश्वेता शोक और आनन्द की सम्मिलित भावना से शीघ्रता-पूर्वक उठ खड़ी हुई और उसके चरणों की वंदना करके कहने लगी—'भगवन् कपिञ्जल, क्या मैं ऐसी मंदभागिनी हूँ जो आपको भी न पहचानूँगी ? अथवा मुझ जड़ के विषय में आपका ऐसा सोचना ठीक ही है, क्योंकि देव पुण्डरीक के स्वर्ग चले जाने पर भी व्यामोह से सताई हुई मैं आज भी जी रही हूँ। तो कृपाकर कहिए कि उन्हें उठा कर ले जानेवाला कौन था ? वह क्यों ले गया ? उनका क्या समाचार है और वे कहाँ हैं ? तुम्हें क्या हुआ था जो इतने समय तक सूचना ही न दी, और फिर तुम देव के बिना अकेले क्यों आए हो ?' महाश्वेता के ऐसा पूछने पर कादम्बरी के परिजन और चन्द्रापीड के साथ आए हुए राजपुत्र विस्मय के साथ कपिञ्जल के मुँह की ओर देखने लगे। तब उसने उत्तर दिया—

[३०४]

'गन्धर्वराजपुत्री, सुनो। विलाप करती हुई तुम्हें अकेले छोड़कर मित्र के स्नेहवश मैं फेंटा बाँधकर 'मेरे प्रिय सुहृत् को कहाँ लिये जाते हो ?' यह कहकर उसी पुरुष का पीछा करता हुआ वेग से चला। वह मुझे उत्तर दिए बिना तारिकाओं से भी ऊपर चन्द्रिका से सुशोभित चन्द्रलोक में चला गया। मार्ग में वैमानिक देव अचरज भरे नेत्रों से उसकी ओर देखने लगे। अभिसार करती हुई अवगुण्ठनवती दिव्यांगनाएँ मार्ग छोड़कर अपने चंचल नेत्रों से उसकी ओर देखने लगीं। आकाश की तारिकाएँ उसे प्रणाम करती हुई उसका स्वागत करने लगीं। वहाँ चन्द्रलोक में महोदय नाम की सभा में इन्दुकान्त मणियों के बड़े पर्यंक पर पुण्डरीक के शरीर को रखकर वह मुझसे कहने लगा—'कपिञ्जल, मुझे चंद्रमा जानो। मैं संसार के अनुग्रह के लिये आकाश में उदित होकर अपना कार्य कर रहा था कि तुम्हारे इस मित्र ने काम के अपराध से प्राण छोड़ते हुए मुझ निर्दोष को शाप दिया—'अरे दुरात्मा पापी चंद्रमा, जैसे तुमने मुझे अपनी किरणों से संतप्त किया, मेरे भीतर

अनुराग उत्पन्न हो गया और अपनी हृदयवल्लभा का समागमसुख में प्राप्त भी न कर पाया था कि तुमने मेरे प्राण ले लिए तो तुम भी उसी तरह कर्मभूमिस्वरूप इस भारतवर्ष में उत्पन्न होगे, पर जन्म-जन्म में अनुराग के वशीभूत होते हुए भी समागम सुख से वंचित रहोगे एवं अति कठिन वेदना का अनुभव करते हुए अपना प्राण त्यागोगे।' उसके शाप की अग्नि से मैं तत्काल मानों जल गया। 'अपने दोष के कारण बिना विचारे तूने मुझे शाप क्यों दिया ? इस कारण मुझे भी क्रोध आया और मैंने भी उसे बदले में शाप दे डाला कि तू मेरे समान दुःख सुख का भागी होगा। जब मेरा क्रोध शांत हुआ और बुद्धि में विवेक आया तो विचार करने पर मुझे महाश्वेता के साथ इसके प्रेम का पता लगा। वत्सा महाश्वेता ने मेरी किरणों से उत्पन्न होनेवाले कुल में गौरी से जन्म पाया है। उसने स्वयं ही इसे अपना पति चुन लिया है। अपने किए हुए दोष के कारण इसे मेरे साथ दो बार मर्त्यलोक में अवश्य जन्म लेना पड़ेगा, अन्यथा जन्म-जन्म में यों दुहराया हुआ इसका वाक्यांश पूरा न हो सकेगा। तो जबतक यह उस शाप के दोष से छूट नहीं जाता तबतक आत्मा से विरहित इसके शरीर का नाश न हो जाय, इसलिये मैं इसे उठाकर अपने लोक में ले आया। वत्सा महाश्वेता को भी मैंने धैर्य बँधाया। अतः शाप क्षीण होने तक यह मेरे तेज से पुष्ट होता हुआ यहीं रहेगा। अब तुम जाकर इस वृत्तान्त की सूचना श्वेतकेतु को दो। ऐसा न हो कि वे अति तेजस्वी होने के कारण इस विषय में कुछ प्रतिकूल कर बैठें।' यों कहकर उन्होंने मुझे भेजा है।

[३०५]

मैं अपने मित्र के बिना शोक से अन्धा हुआ देवों के मार्ग से चला आता था कि एक अतिक्रोधी वैमानिक से मैं टकरा गया। उसने मानों क्रोधानल से मुझे भस्म करते हुए टेढ़ी भौंहों से देखकर कहा—'दुरात्मा, झूठे तपोबल से फूले हुए तूने इतने चौड़े आकाशमार्ग में भी घोड़े की तरह दौड़ते हुए मेरा उल्लंघन किया है, इसलिये तू घोड़ा होकर मर्त्यलोक में जन्म ले।' मैंने आँखों में आँसू भरकर उससे कहा—'भगवन्, मित्र के शोक से कुछ न सूझने के कारण मैंने आपका उलंघन किया, अपमान की भावना से नहीं। कृपया प्रसन्न होइए और अपने शाप को वापिस लीजिए।' उसने मुझ से फिर कहा—'मैंने जो कह दिया, वह अन्यथा न होगा। पर तेरे लिये इतना कर देता हूँ कि कुछ समय तक तू जिसका वाहन बनेगा उसके अन्त हो जाने पर स्नान करके तू शाप से छूट जायगा।' उससे यह सुनकर मैंने कहा—'भगवन् यदि ऐसा है तो मेरी यह बिनती है कि जब मेरे मित्र पुण्डरीक को चन्द्रमा के साथ शापवश मर्त्यलोक में जन्म लेना पड़े, तो आप अपने दिव्यचक्षु से देखकर मेरे ऊपर इतनी कृपा करें कि घोड़ा बन कर भी मैं अपने मित्र के साथ अवियुक्त रहकर समय बिता सकूँ।' उसने यह सुनकर थोड़ी देर ध्यान करके फिर मुझसे कहा—'तेरा यह मित्र-स्नेह देखकर मेरा हृदय आर्द्र हो गया है। दिव्य दृष्टि से विचारने पर मुझे ज्ञात हुआ है कि उज्जयिनी में सन्तान के लिये तप करते हुए तारापीड नामक राजा के यहाँ चन्द्रमा

उसे स्वप्न में सूचना देकर उसके पुत्र रूप में जन्म लेंगे। तेरा मित्र पुण्डरीक भी उनके मन्त्री शुकनाश का पुत्र होगा। तू भी महोपकारी चन्द्रमा के अंश से निर्मित उन राजपुत्र का वाहन होगा।' उनके यह कहते ही मैं नीचे समुद्र में गिर पड़ा और घोड़े के रूप में वहाँ से बाहर आया। तुरग-योनि में भी मेरी स्मृति बनी रही। इसीलिये मैं उस वरदान की पूर्ति के लिये चंद्रमा के अवतार देव चन्द्रापीड़ को लेकर किन्नर-मिथुन का पीछा करते हुए इस प्रदेश में आया। पुराने प्रेम के कारण तुम्हारे लिये जो अभिलाषी बना हुआ था जिसे तुमने अनजान में शाप देकर भस्म कर डाला है, वह भी मेरे मित्र पुण्डरीक का अवतार ही था।'

[३०६]

यह सुनकर महाश्वेता विलाप करने लगी—'हा, देव पुण्डरीक, जन्मान्तर में भी मेरा अनुराग नहीं भूले! मुझमें ही प्राण लगाए रहे! मेरी ही शरण लिए रहे! मेरा ही मुख देखने का चाव तुम में बना रहा! संसार में सर्वत्र तुम मुझे ही देखते रहे! दूसरे जन्म में उत्पन्न हो जाने पर भी तुम्हारा नाश करने के लिये मैं ऐसी राक्षसी बन गई! क्या मुझे इतना लम्बा जीवन देकर रचने में विधाता को यही इष्ट था कि बार-बार आपकी हत्या करूँ! स्वयं आपके मरण का कारण बनकर मैं पापिनी और किसी को क्या उपालम्भ दूँ? क्या कहूँ? क्या रोऊँ? किसकी शरण में जाऊँ? कौन मुझ पर दया करेगा? तुमसे ही अब मैं स्वयं माँगती हूँ। देव, प्रसन्न हो, दया करो और मुझे उत्तर दो। इतना कहते हुए भी मुझे लज्जा आ रही है। मैं जानती हूँ कि तुम में मेरे लिये इतना वैराग्य का भाव आ गया है कि मेरा विलाप सुनकर भी उत्तर नहीं देते। मेरा अपने प्राणों पर जो इतना छोह है वही मेरे नाश का कारण है।' यह कहकर वह छाती पीटती हुई पृथिवी पर गिर गई।

[३०७]

कपिंजल ने उसका दीन वचन सुनकर करुणापूर्वक कहा—'गन्धर्वराज पुत्री, तुम्हारा इसमें क्या दोष है जो अपनी निन्दा के अयोग्य आत्मा को यों दोष देती हो? अब सुखमय परिणाम के अनुभव का अवसर आना ही चाहता है। इस समय क्यों शोक करती हो जो अत्यधिक असह्य था उसे तो तुमने इसके समागम की आशा से हृदय कड़ा करके सह लिया। शाप के कारण तुम दोनों पर यह कष्ट आया है, यह तुमसे कह ही चुका हूँ। चन्द्रमा की भारती भी तुम दोनों सुन चुकी हो। तो अपने और अपने सखा के अमंगल का कारण छोड़ो। दोनों के कल्याण के लिये जो तुमने तप का व्रत लिया था उसे तुम पूरा करो। अच्छी तरह किए हुए तप के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। देवी पार्वती ने तप के प्रभाव से अत्यन्त दुष्प्राप्य शिव के शरीर का अर्धभाग प्राप्त कर लिया। वैसे ही तुम भी तप के प्रभाव से मेरे मित्र के अंक में स्थान पाओगी।' यह कहते हुए उसने महाश्वेता को समझाया।

[३०८]

जब महाश्वेता के शोक का उपशम हुआ तो विषाद से दीन बनी हुई कादम्बरी ने कपिंजल से पूछा—'भगवन्,पत्रलेखा ने और तुमने साथ ही इस सरोवर में प्रवेश किया था, कृपाकर बताइए कि पत्रलेखा का क्या हुआ ?' उसने कहा—'जल में गिरने के बाद का कुछ हाल मुझे नहीं मालूम। अब चन्द्रात्मक चन्द्रापीड़ ने और पुण्डरीकात्मक वैशम्पायन ने कहाँ जन्म लिया है और पत्रलेखा का क्या हुआ, इस वृत्तान्त के जानने के लिये तीनों कालों को प्रत्यक्ष जाननेवाले भगवन् श्वेतकेतु के चरणों में मैं जाता हूँ।' यह कहता हुआ वह आकाश में उड़ गया।

[३०९]

उसके चले जाने पर रोते हुए परिजन और राजपुत्र हटकर अपने अपने स्थान में खड़े हो गए। तब शोक और विस्मय से भरी हुई कादम्बरी ने महाश्वेता से कहा—'प्रिय सखी, भगवान् विधाता ने तेरे जैसी दुखिया बनाकर कुछ मुझे सुखहीन नहीं किया। आज मेरा सिर ऊँचा हुआ। अब तेरे सामने मुंह दिखाती हुई और तुझे प्रियसखी कहती हुई मैं लज्जित नहीं हो रही हूँ। आज ही मैं तेरी सच्ची प्रियसखी बनी हूँ। अब मरने और जीने में मुझे दुःख नहीं। तो मैं और किससे पूछूँ ? कौन दूसरा मुझे सिखाएगा ? ऐसी अवस्था में जो मेरे करने योग्य हो, तू ही बता। मुझे स्वयं कुछ नहीं सूझता कि क्या करने में मेरा कल्याण है।' यों कहती हुई कादम्बरी से महाश्वेता ने कहा—'प्रिय सखी, इस विषय में प्रश्न या उपदेश से क्या ? प्रियतम समागम की यह दुर्दमनीय आशा जो करावे वही करना चाहिए। पुण्डरीक का वृत्तान्त आज कपिंजल से मालूम हुआ। पहले तो वाङ्मात्र का भरोसा पाकर मैं और कुछ न कर सकी। तेरे विश्वास के लिये तो यह चन्द्रापीड़ का शरीर ही तेरी गोदी में है। यदि यह बात न होती तो कुछ चिन्ता हो सकती थी। जबतक यह अविनाशी है, तबतक इसकी सम्हाल के अतिरिक्त और कुछ करना नहीं है। कल्याण साधन के लिये अप्रत्यक्ष देवताओं की मिट्टी, पत्थर या काष्ठ प्रतिमाओं का पूजा-सत्कार से उपचार किया जाता है, तो फिर चन्द्रापीड़ नाम धारण करके आए हुए चन्द्रमा की इस मूर्ति का कहना ही क्या, जो बिना आराधना के प्रसन्न हुई है ?'

[३१०]

महाश्वेता के यों कहने पर कादम्बरी चुपचाप उठी और उसने तरलिका एवं मदलेखा की सहायता से चन्द्रापीड़ के शरीर को उठाकर शीत, वात, आतप, वर्षा आदि दोषों से रहित शिलातल पर धीरे से रख दिया। अपना शृंगार, वेश और आभूषण उतारकर मंगल सूचक केवल एक रत्नवलय हाथ में पहन लिया और स्नान से पवित्र हो धुले हुए श्वेतदुकूल धारण कर होठों में लगा हुआ ताम्बूल राग बार-बार धोया। रोकने पर भी आँसुओं का

वेग नेत्रों में आ रहा था। उस समय अकार्य में कुशल उल्टी प्रकृति वाले दुष्ट विधाता के प्रभाव से वह बाला बलपूर्वक कुछ ऐसा आचरण करने लगी जो उसने पहले कभी न सोचा था, न देखा था, न सीखा था, न अभ्यास किया था। जो सुगन्धित पुष्प, धूप और अनुलेपन सुरत सुख के लिये लाए गए थे, उनसे ही उसने चन्द्रापीड़ की मूर्ति का देवता की मूर्ति के समान पूजन किया। वह शोक की साक्षात् मूर्ति बन गई थी। उसी क्षण से मानों उसका रूपान्तर हो गया था। वह ऐसी शून्यमुखी हो गई जैसे निष्प्राण हो। बराबर चन्द्रापीड़ के मुख की ओर देखती हुई अत्यन्त कष्टप्रद पीड़ा से भरा हुआ हृदय होने पर भी आँसुओं को किसी प्रकार रोके रख रही थी। प्रबल शोक के कारण मरण से भी अधिक कष्टदायक अवस्था का अनुभव करने लगी। उसी प्रकार चन्द्रापीड़ के चरणों को गोद में रखकर निराहार रहकर उसने वह दिन बिताया। उसके साथ दूर से आए हुए भूखे प्यासे राजपुत्र और परिजनों ने भी जिन्हें अपने-आपे की सुध न थी, न स्नान किया, न कुछ खाया, न पिया।

[३११]

जैसे सारा दिन वैसे ही सारी रात भी उसने जागकर बैठे-बैठे बिताई। वह रात्रि गम्भीर मेघों के छा जाने से भयंकर जान पड़ती थी। मेघों के निरन्तर गर्जन से हृदय कम्पायमान कर रही थी। मोरों के कोलाहल और दादुरों के रटने से व्याकुलता और बढ़ती थी। चारों ओर दिशाओं में बिजलियाँ टूटकर गिर रही थीं। वज्र के समान मेघों के गर्जन से भुवनों को मानों ज्वर उत्पन्न हो रहा था। वृक्षों के नीचे भरा हुआ गहन अंधकार जलते हुए खद्योतों के रूप में मानों लपटें छोड़ रहा था। ऐसी भयंकर रात्रि को उसने स्त्रीजनोचित भय दूर करके, चन्द्रापीड़ के चरण अपनी गोद में लेकर, अपने शारीरिक खेद की परवाह न करते हुए क्षणभर के समान व्यतीत किया। प्रातःकाल चन्द्रापीड़ के शरीर को उन्मीलित चित्र की भाँति देखकर शनैः शनैः उस पर हाथ फेरते हुए उसने पास में बैठी मदलेखा से कहा—'प्रिय सखी मदलेखा, मैं नहीं जानती कि अपनी रुचि के कारण, या सचमुच इसकी निर्विकारता के कारण मैं इस शरीर को वैसा ही देख रही हूँ, तो तू भी तनिक सावधानी से देख।' यह सुनकर मदलेखा ने कहा—'प्रिय सखी, इसमें देखना क्या है? अन्तरात्मा के चले जाने से इसकी चेष्टामात्र रुक गई है, नहीं तो इसका मुख खिले हुए कमल के समान उसी प्रकार लक्ष्मी से युक्त है। इसके केश भी वैसे ही चिकने और घुंघराले हैं। चन्द्रमा के समान ललाट की कान्ति भी वैसी ही है। नीलोत्पल की शोभा का अपहरण करनेवाले कान तक लम्बे कुछ कुछ खुले हुए दोनों नेत्र भी वैसे ही हैं। होंठों के अन्त के दोनों भाग बिना हंसी के भी हंसते हुए जान पड़ते हैं। अभिनव किसलय के समान अधर का राग भी वैसा ही है। विद्रुम के समान लाल हाथ पैर भी वैसे ही बने हैं। अंगों में लावण्य और सौकुमार्य भी पूर्ववत् है। मुझे लगता है कि वह आकाशवाणी और कपिंजल का कहा हुआ वह शाप का वृत्तान्त सत्य ही है।' मदलेखा के यह कहने पर

कादम्बरी ने ये सब लक्षण महाश्वेता को भी दिखलाए और फिर चन्द्रापीड के चरणों को देखकर अपना जीवन धारण करनेवाले राजपुत्रों को भी उन्हें दिखाया।

[३१२]

राजपुत्रों के नेत्र विस्मय से प्रफुल्लित हो गए। सब ने पृथिवी में सिर रखकर चन्द्रापीड के चरणों को प्रणाम किया और दोनों घुटने पृथिवी पर टेककर हाथ जोड़कर कादम्बरी से कहा—'देवी, यह तुम्हारा ही प्रभाव है जो हम अभागों को छोड़कर दूर गए हुए भी देव का मुख प्रसन्न चन्द्रमण्डल के समान वैसा ही कान्तियुक्त दिखाई पड़ रहा है। ये दोनों चरण खिले लाल कमल की कान्ति से युक्त वैसे ही लग रहे हैं। हमारा हृदय भी उनका प्रसाद प्राप्त करने की आशा से उसी प्रकार लालायित है। मनुष्यलोक में कब किसने ऐसा देखा, सुना या अनुभव किया है जैसा हमारा सौभाग्य है?' राजाओं के यह कहने पर वह सखीजन और परिजनों को साथ लेकर उठी और अपने हाथ से देवार्चन योग्य पुष्प चुनकर पहले स्नान किया और तब चन्द्रापीड के शरीर की पूजा और उचित संस्कार किए। फिर सब राजाओं को भी आहारादि करने की आज्ञा दी। राजाओं के स्नान आहार कर लेने पर स्वयं भी महाश्वेता के लाए हुए फलों का परिवार के साथ मिलकर भोग लगाया। आहार से निवृत्त होकर फिर उसी प्रकार चन्द्रापीड के चरणों को गोद में रखकर वह दिन भी व्यतीत किया। अगले दिन चंद्रापीड के शरीर के अविनाशी होने में उसका विश्वास और भी दृढ़ हो गया और उसने मदलेखा से कहा—'प्रिय सखी, देव के शरीर की सेवा करते हुए हम सबको शाप का मोक्ष होने तक यहीं रहना होगा। तो तू जाकर इस अद्भुत वृत्तांत को तात से और अम्बा से कह जिससे वे मेरे विषय में और कुछ न सोचें, या मेरे दुख से दुखी न हों। तू ऐसा करियो कि वे मुझ दुखियारी को इस अवस्था में आकर न देखें। मैं पिता या माता को देखकर अपना शोक न रोक सकूंगी। जब मैं देव को प्राणों से वियुक्त देखकर नहीं रोई तो अब देव के फिर जीवित होने के विषय में निसंशय होकर व्रतचारिणी बनी हुई क्या रोऊंगी?' यों कह उसे बिदा किया। मदलेखा जाकर लौट आई और उसने कहा—'प्रिय सखी, तेरा मनोरथ सिद्ध हुआ। तात चित्ररथ ने और अम्बा मदिरा ने संदेश दिया है कि हमारी ओर से बार बार गाढ़ालिंगन करके और सिर सूंघकर वत्सा कादम्बरी से कहना—'इतने समय तक हमारे मन में यह बात आई ही न थी कि जामाता के सहित हम प्रियपुत्री को कभी देखेंगे, तो हमारे लिये तो यही परम आनन्द है कि वत्सा ने स्वयं जामाता का वरण किया है। उससे भी अधिक यह कि वह लोकपाल भगवान् चंद्रमा का अवतार है। शाप का अन्त हो जाने पर ही कल्याणों से युक्त होकर हम जामाता के साथ तेरा आनंदाश्रुओं से भरा हुआ मुखकमल देखेंगे।' माता पिता का यह संदेश पाकर कादम्बरी का मन प्रसन्न हुआ और वह देवता के समान चंद्रापीड के शरीर की सेवा करने लगी।

[३१४]

जब वर्षाकाल समाप्त हो गया तो शरद् के आगमन से सब जीव जैसे घन निरोध के बंधन से उन्मुक्त हुए। दिशाएं प्रसन्न हुईं। गावों के चारों ओर की भूमि बालों के सम्पाञ्चलन से युक्त धान के खेतों से पीली दिखाई देने लगी। वनखण्ड फूले हुए श्वेत काशों से भर गए। प्रासादों की खुली हुई छतें फिर उठने बैठने के काम आने लगीं। पल्लवों में श्वेत कमल खिल गए। रात्रियां कुमुद की सुगंध से शीतल हो गईं। रात्रि के अंतिम भाग में हरसिंगार के फूलों की सुगन्धि से लदी हुई हवाएं बहने लगीं। संध्याकाल चंद्रमा की छिटकती हुई चांदनी से अत्यधिक सुशोभित हो उठा। दिन में उद्दाम खिले हुए नीले कमलों की सुगंधि सब दिशाओं में फैलने लगी। नदियों का जल उतर जाने से किनारे की बालू पर लहरों के चिह्न दिखाई देने लगे। नदियों के पार उतरना सहल हो गया। कीचड़ सूख जाने से और घास फूँस हट जाने से एवं नई पगडंडियों के पड़ने से मार्ग स्पष्ट हो गए तथा चारों ओर घोड़ों का आना जाना सरल हो गया। तब एक बार चंद्रापीड़ के चरणों में बैठी हुई कादम्बरी के समीप आकर मेघनाद ने निवेदन किया—'देव युवराज को लौटने में देर हुई, अतएव व्याकुल हृदय से देव तारापीड़, देवी विलासवती और आर्य शुकनास ने संदेशहर भेजे हैं। उनसे देवी के शोक की घटना को बचाते हुए जो कुछ हुआ है सब सूचित करके हमने कहा—'देव चंद्रापीड़ को तुम्हारे द्वारा कोई संदेश भेजना नहीं है, और न देवी कादम्बरी को ही कुछ कहना है। तुम लोग बिना विलम्ब लौट जाओ और सब हाल देवदेव तारापीड़ से जाकर कहो।' हमारे ऐसा कहने पर उन्होंने आवेश में भरकर उत्तर दिया—'आपने जैसा कहा वह ठीक है। हमारा परम्परा से चला आया हुआ स्नेह, भक्ति और आज्ञाकारिता एक ओर रही, जिस कार्य से हम लोग आए हैं उसके गौरव के कारण भी हमारा देव के दर्शन करना आवश्यक है। यदि आपको केवल किसी के कहने से ही यह सूचना प्राप्त हुई है तो हमारा आपसे सुनकर चले जाना ठीक है। यदि आपने प्रत्यक्ष देखा हो तो क्यों हम ही ऐसे मंदभागी हों जो देव के दर्शन न कर सकें? हमने भी बहुत काल तक देव के चरणों की सेवा करके अपने आपको पवित्र किया है। वे सदा अपने दर्शन देकर हमें कृतार्थ करते रहे हैं। आज क्या हो गया जो देव के चरणों को देखे बिना ही हमें लौटना पड़ रहा है? हम तो पूर्ववत् उनके चरणों की धूलि हैं। अतः देवी से बिनती करके देव युवराज के चरणों में प्रणाम द्वारा हमारे आने का परिश्रम सफल कराइए; अन्यथा यहाँ तक आकर सम्भव होते हुए भी युवराज के दर्शन न करके यदि हम जाएँगे तो देवदेव तारापीड़ हमें क्या कहेंगे और हम उनसे जाकर क्या निवेदन करेंगे? उनकी इस प्रार्थना पर देवी की जो आज्ञा हो किया जाय।' यह कहकर मेघनाद चुप हो गया। उस समय कादम्बरी ने अपने मन में ससुर कुल की उस विकलता का विचार किया जिसका कोई समाधान न था। फिर मानों शोक से गलकर कठिनाई से आँसुओं को रोकते हुए गद्गद कंठ से बहुत देर बाद उत्तर दिया—'उनका लौटने से इन्कार करना ठीक ही है। यदि देव को बिना देखे वे यहाँ से चले जाँय तो

वहाँ जाकर क्या बताएंगे ? फिर यह वृत्तान्त ऐसा अलौकिक है कि देखने पर भी विश्वास करना कठिन है, बिना देखे तो बात ही क्या है ? झूठा प्रेम प्रदर्शित करनेवाले और अपने प्राणों को ही अधिक प्यार करनेवाले हमलोग भी जब देव को देख रहे हैं, तब स्नेह सद्भावना से अपना प्राण निछावर करनेवाले सद्भृत्य उन्हें न देखें यह नहीं हो सकता। बिना विलम्ब उन्हें भीतर ले आओ, वे देव को देखें। अपना आगमन, परिश्रम और नेत्रों को सफल करके तब जाएं।' आज्ञा पाते ही मेघनाद उन्हें भीतर ले आया। उन्होंने दूर से ही पंचांग प्रणाम[1] किया और सद्भाव से अश्रुपात करते हुए चन्द्रापीड़ के चरणों को देखने लगे। तब कादम्बरी ने एकटक दृष्टि से उनकी ओर देरतक देखते हुए स्वयं कहा—

[३१५]

'भद्रजन, क्रमागत स्नेह और सद्भाव से उत्पन्न हुआ अपना यह शोक दूर करो। जिसकी कोई अवधि नहीं है और जिसके अन्त में केवल दुःख ही दुःख है, ऐसी आपत्ति में जो मरने से डरकर अपने प्राणों को बचा ले उसे भले ही शोक का आवेग हो, पर जिस दुःख के अन्त में सुख है वहाँ अन्त में सुख मिलने की आशा से दुःख हृदय में प्रवेश ही नहीं कर पाता। यह वृत्तान्त कुछ इस प्रकार का है कि इसमें न केवल शोक के लिये अब कोई अवकाश नहीं, बल्कि महान् विस्मय का अवसर है। इसमें बहुत कहने से क्या ? मनुष्यों में जो पहले कभी नहीं देखा गया ऐसा यह वृत्तान्त प्रत्यक्ष देखने में आया है। तुम लोगों ने भी पहले की भाँति देव का विकारहीन मुख देखा है। उसे देखकर ऐसा ज्ञात होता है मानों देव अभी जीवित होकर बोलने ही वाले हैं। तो समाचार जानने के लिये उत्सुक देव तारापीड़ के चरणों में तुम लोग अभी लौट जाओ। यद्यपि तुमने स्वयं देखा है, पर इस मृत शरीर के अविनाशी होने का हाल वहाँ जाकर मत कहना। केवल यही कहना कि हम उन्हें अच्छोद सरोवर पर देख आए हैं। किसी न किसी कारण से प्राणियों का मरण अवश्यम्भावी है, अतएव उसके विषय में विश्वास किसी न किसी प्रकार हो ही जाता है। किन्तु प्राणों से विहीन शरीर के अविनाशी रहने का हाल देखने पर भी विश्वास योग्य नहीं होता। अतएव यह कहकर दूरस्थित गुरुजन के मन में उसके मरण का सन्देह उत्पन्न करना उचित नहीं। जब प्राणनाथ पुनः जीवित हो जायंगे तो अपने आप यह अद्भुत वृत्तान्त गुरुजनों को प्रकट हो ही जायगा।' इस प्रकार आज्ञा पाकर उन्होंने बिनती की—'देवी हम क्या निवेदन करें ! केवल दो ही प्रकार से इस घटना की सूचना वहाँ न होगी—एक तो हमारे न जाने से, दूसरे हमारे कुछ न कहने से। हमारे हाथ में ये दोनों नहीं हैं। युवराज और वैशम्पायन का समाचार न पाकर दुःखी हुए देव तारापीड़, देवी विलासवती

१—पञ्चांग प्रणाम—दोनों घुटने मोड़कर आगे को ओर झुककर, मस्तक और दोनों हाथों को पृथिवी में लगाकर यह प्रणाम किया जाता है।

और आर्य शुकनास ने सम्मानपूर्वक हमें भेजा है। जबतक हम जीवित हैं हमारे न लौटने की बात सम्भव नहीं। लौटने पर प्रियपुत्र का समाचार जानने के लिये उत्सुक राजा, देवी और आर्य शुकनास के दुःख भरे हुए मुखों को देखकर हम निर्विकार बने रहें, यह भी असम्भव है।' उनके ऐसा कहने पर कादम्बरी ने कहा—'इनकी बात ठीक है।' तब वह मेघनाद से कहने लगी—'मेघनाद, मैं जानती हूँ कि परिचित जन के लिये ऐसा करना अनुचित है, तो भी गुरुओं के चित्त को पीड़ा न हो यही सोचकर मैंने वह बात कही थी। सामान्य दुःख भी यदि आ जाय तो कैसा कठिन होता है? फिर इस महावज्र प्रहार के समान दुःख का तो कहना ही क्या? तो ऐसा होना चाहिए कि इनके साथ कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति जाय जिसने सब वृत्तान्त स्वयं देखा हो और जिसके कहने से वहाँ विश्वास उत्पन्न हो जाय।' यह आज्ञा पाकर मेघनाद ने कहा-'देवी, राजा लोगों की तो बात ही क्या, समस्त भृत्यवर्ग भी कन्दमूल फल खाते हुए यह निश्चय करके यहाँ ठहर गया है कि कोई भी देव के बिना लौटकर न जायगा। भृत्य भी वही हैं जो सम्पत्ति की अपेक्षा विपत्ति में अधिक सेवा करें, उच्च पदपर नियुक्त किए जाने पर भी नम्र रहें, सम्भाषण किए जाने पर भी कभी बराबरी के दर्जे से बातचीत न करें, प्रशंसा किए जाने पर गर्व से फूल न जांय, दोष निकाले जाने पर विमुख उपेक्षावृत्ति न धारण कर लें, डांटे जाने पर उलटकर जवाब न दें; सलाह पूछने पर हितकारी और प्रिय सम्मति दें, बिना कहे भी अपना काम करें, काम करके कहें नहीं, पराक्रम करके शेखी न बघारें, प्रशंसा की जाय तो लज्जा का अनुभव करें, बड़े युद्धों में ध्वजा के समान आगे रहें, दान के समय भागकर पीछे छिप रहें, धन की अपेक्षा स्नेह को अधिक समझें, जीने से पहले मरने की इच्छा करें, घर की अपेक्षा स्वामी के चरणों में रहने में अधिक सुख मानें; जिनकी तृष्णा स्वामी के चरणों की सेवा में रहे, जो स्वामी का चित्त प्रसन्न करने में कभी तृप्ति का अनुभव न करें, स्वामी के मुख की ओर देखना ही जिनका व्यसन हो, स्वामी के गुण वर्णन में जिन्हें सदा उत्साह हो, स्वामी को न छोड़ने में जिनका हृदय कृपण हो, अपना आत्मा होते हुए भी जिनकी सब इन्द्रिय वृत्तियाँ स्वामी के अधीन हों, जो देखते हुए भी अंधे के समान, सुनते हुए भी बहरे के समान, जानते हुए भी जड़ के समान हों, और हाथ पैर होते हुए भी पंगु के समान हों, एवं नपुंसक के समान कुछ अपने लिये न करते हुए भी अपनी आत्मा को स्वामी की हितचिन्ता रूपी दर्पण में प्रतिबिंबित कर दें। तो सेवक वर्ग का तो यह हाल है और देव के स्थान में देवी हैं। अतएव अब जो आज्ञा है उसे देवी तत्काल पूर्ण हुआ समझें।' यह कहकर मेघनाद ने त्वरितक नामक चन्द्रापीड के बालसेवक को बुलाकर उनके साथ भेज दिया।

[३१६]

बहुत दिन बीत जाने पर समाचार के बिना घबराकर देवी विलासवती चंद्रापीड के लौटने के विषय में अवंती नामक नगरीदेवताओं की मानता मानने के लिये अवंति-माताओंके

मंदिर में गईं[1]। वहाँ अकस्मात् उन्होंने दौड़कर आए हुए परिजनों से सुना—'देवी आपके भाग्य की वृद्धि हो। आप पर अवन्ती की माताएं प्रसन्न हैं। युवराज के पास गये हुए संदेशहर लौट आए हैं।' सुनते ही देवी ने आनन्द से गद्गद होकर प्राकृत स्त्रियों की भाँति आर्तभाव से पुकारते हुए कहा—'किसने शब्दों का यह अमृत मेरे लिये बरसाया है? किसने मुझपर कृपा की है? किसने उन दूतों को देखा है? वे कितनी दूर हैं? उन्होंने क्या कहा है? मेरा बच्चा तो कुशल से है?' वे यह कह ही रही थीं कि क्या देखती हैं कि उज्जयिनी के झुंड के झुंड व्यक्ति जो राजा की सेवा में थे और जो सेवा में नहीं भी थे दूतों को देखकर तत्काल उनकी ओर दौड़े और पूछने लगे—'क्या युवराज आगए? तुमने उन्हें कितनी दूर छोड़ा है? इन दिनों वे कहाँ होंगे? तुम उनसे कहाँ जाकर मिले थे? उन्होंने केवल अश्वसेना साथ में लेकर कठिन वर्षाऋतु कहाँ व्यतीत की? वे घोड़े पर चढ़कर गए थे। ज्ञात होता है कि घोड़े की पीठ पर ही उनका वर्षाऋतु का सारा समय बीता। त्वरितक को यह हाल ज्ञात होगा। पर इसके जानने से भी क्या लाभ? जिसके लिये युवराज ने यह कष्ट उठाया था उस वैशम्पायन को इसने देखा या नहीं? वह लौटा या नहीं? पत्रलेखा के साथ मेघनाद क्या युवराज को मिला?' किसी ने पूछा—'क्या देववर्धन ने मेरे लिये कोई सन्देश भेजा है? आजतक बराबर वह मेरा मित्र रहा।' किसी ने कहा—'मैं अपने बालधर्म नामक पुत्र की कुशल पूछते हुए भी डरता हूँ जिसने जवानी के जोश में आकर जबर्दस्ती सेना में भरती होकर अपना नाश कर लिया। क्या उसका वह घोड़ा अभी जीवित है जिसे युवराज ने उसे इनाम में दिया था?' किसी ने कहा—'अरे, घुड़सवारों में प्रथम पृथुवर्मा नामक मेरे मामा का हाल तो सुनाओ? जान पड़ता है घुड़सवारों ने बहुत तकलीफ पाई है।' किसी ने कहा—'महाअश्वपति अश्वसेन तो कुशल से हैं,? वे मेरे मामा हैं।' कोई बोला—'आश्चर्य है जो हमारे पिता ने कोई चिह्न तक आपके हाथों न भेजा! युवराज के भवन में दायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त मेरे भाई भरतसेन को तो आपने नहीं देखा?' एक ने पूछा—'सपरिजन सेनापति भद्रसेन तो कुशल से हैं?' दूसरे ने कहा—'क्या काम में हटने वाला मेरा पुत्र कुमारवर्मा वहाँ जमा है?' दूसरे ने कहा—'बलाधिकृत अवन्तिसेन का क्या हाल-चाल है? आगे चले जाने के कारण युवराज उससे रुष्ट हो गए थे। राजकुल में कौन प्रसाद[2] से युक्त है और किसकी पदवृद्धि हुई है? इतने दिनों में किसने कहाँ इनाम

१—अवन्ती माता का मन्दिर महाकालेश्वर के प्रांगण के एक भाग में है। नगर यात्रा के समय अवन्तिका देवी का विशेष दर्शन पूजन किया जाता है। स्कन्द पुराण के अवन्ती खण्ड में इसका सविस्तार वर्णन भी है। मैं इस सूचना के लिये अपने मित्र श्री सूर्यनारायण जी व्यास का आभारी हूँ।

२—राजकुले कः प्रसादवित्तः—प्रसाद यहाँ पारिभाषिक शब्द है। सेवा करते हुए उसकी कुशलता के विषय में राजा का प्रमाणपत्र प्राप्त करना या किसी रूप में उनकी प्रसन्नता अभिव्यक्त होना प्रसाद कहलाता था। हर्षचरित में 'प्रसाद वित्त' पैदल सैनिकों

पाया है ? इन दिनों बहुत से नौकरिहे नये सेवक बन गए हैं।' किसी ने कहा—'और सब बातें रहने दें, जिसने देखा हो वही बतावे कि सर्वसेन के पुत्र वीरसेन का क्या हाल है ? पिता के मरने पर वह पहली ही बार सेना में भर्ती होकर कूच पर गया है। उसकी माँ ने पतिमरण के शोक से बढ़कर इस दुःख में खाना पीना ही छोड़ दिया है। न मालूम ऐसे वह कैसे जिएगी ?' इस तरह के और बहुत से प्रश्न पद-पद पर लोग पूछ रहे थे, पर सवार उत्तर दिए बिना ही अपनी शोकपूर्ण दृष्टि से नासिका के अग्रभाग को देखते हुए आविष्ट की भाँति थके हुए अंगों को किसी तरह घसीटते हुए, मैले कुचैले वेश में, फटे वस्त्रों से, धूल के जमने से कड़े बालों को बार बार बाँधते हुए आ रहे थे, मानों सब दुःखों के समूह थे या मार्गक्लेश की साक्षात् मूर्ति थे बने हुए थे। त्वरितक के साथ उन लेखहारकों को देखकर देवी विलासवती ने माता के मन्दिर में रुककर उनको वहीं बुला लाने की आज्ञा दी]।

[३१७]

तब अकस्मात् रानी का दर्शन मिलने से उनके दुःख का आवेग दूना हो गया, मानों उनके मन का उत्साह और इन्द्रियाँ उन्हें छोड़ गई हों, या उन्हें काठ मार गया हो। इस प्रकार आगे आए हुए दूतों से जबतक वे प्रणाम भी न कर पाए थे, रानी ने डगममाते हुए दो-चार पैर आगे रखकर गद्गद कंठ से चिल्लाकर पूछा—'भद्रजनो, मेरे पुत्र का जो समाचार हो चटपट कहो। मेरा हृदय कुछ और ही बता रहा है, उसे विश्वास नहीं होता। तुमने मेरे पुत्र को देखा है या नहीं ?' इस प्रकार पूछे जाने पार उन्होंने भूमि पर मस्तक टेककर प्रणाम किया और रोते हुए मुख को कठिनाई से ऊपर उठाकर निवेदन किया—'देवी, अच्छोद सरोवर के तीर पर युवराज को देख आए हैं, शेष वृत्तान्त यह त्वरितक निवेदन करेगा।' ऐसा कहते हुए उनसे विलासवती ने आँखों में आँसू भरकर कहा—'यह बेचारा और क्या कहेगा ? तुमलोग दूर से ही बिना हर्ष प्रकट किए मेरे समीप आए। मस्तक पर उत्तरीय भी बंधा हुआ न था। मुख शोक से दीन था। नेत्रों में भरे हुए आँसू कठिनाई से रुके थे। दृष्टि भी मेरी ओर न हो पाती थी। इतने से ही जो कहना था तुमने कह दिया।' यह कहकर रानी विलाप करने लगी—'हा वत्स, संसार के एक चन्द्रमा चन्द्रापीड़ चन्द्रानन, चन्द्रशीतलप्रकृति, चन्द्राभिरामगुण, लोचनानन्ददायक, तुम्हें क्या हुआ जो नहीं आए ? तात चन्द्रापीड़, मैं दुखिया हूँ, इसलिये कह रही हूँ, क्रोध से उपालम्भ देकर नहीं। 'मैं तनिक भी विलम्ब न करूँगा', यह मुझसे पहले प्रतिज्ञा करके कहीं अन्यत्र ठहरना तुम्हारे लिये उचित न था। वत्स, जब तुम जा रहे थे तभी मेरे हृदय में यह खुटक हुई थी कि अपने बच्चे का मुखड़ा अब फिर न देख पाऊँगी। तुम हठ करके चले गए। मैं क्या करूँ ? तुम्हारा भी क्या दोष ? मुझ अभागिनी के पापों का ही यह खेल है। लोक में अपुण्यवती स्त्रियाँ भी होती हैं, पर मेरे जैसी पापिनी कोई न होगी जिसके अकेले पुत्र को यों अचानक कोई

का उल्लेख है। उन्हें गौरव दिया जाता था कि वे राजा के खासा घोड़ों को पकड़कर ले चलें [हर्षचरित] पृष्ठ २०५; सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १४३, ३७, ४६ ।

कहीं छीनकर ले गया। दुष्ट ब्रह्मा ने मुझे छल लिया। वत्स, दूर से ही तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। एक बार तो लौट आओ। माँ कहकर तुम्हें पुकारते हुए देखकर एक बार तो छाती ठंढी कर लूँ? मेरे अनूप पुत्र, मैं नहीं जानती कि जन्म से लेकर शैशव तक की तुम्हारी बालक्रीड़ाओं का स्मरण करके तुम्हारे लिये शोक करूँ, या यौवन में उपचित तुम्हारी रूप-शोभा का स्मरण करूँ, या तुम्हारे व्यक्तित्व की गरिमा से जो भविष्य में स्थायी रूप से आनेवाली प्रभुता थी उसे सोच-सोचकर दुःखी होऊँ? मुझे यों विलाप करती हुई देखकर, मेरे हृदय में बैठे हुए पुत्र, यों मत सोचना कि मेरे बिना भी विलासवती जीवित रह सकती है। हे पुत्र, तेरे बिना जीकर भी तेरे पिता को मैं कैसे मुंह दिखाऊँगी? नहीं मालूम तुझे प्यार करने से, या तेरी भोली आकृति का विश्वास होने से, या स्त्री-स्वभाव की सहज मूढ़तावश आज भी मेरा मन यह नहीं मानता कि तेरा कुछ अनिष्ट हुआ है, इसीलिये उसके सहस्त्र टुकड़े नहीं हो जाते। मैं डर के कारण त्वरितक से भी स्पष्ट बात पूछना नहीं चाहती। अच्छा हो कि न सुनने योग्य उस वृत्तान्त के सुनने से पहले ही मेरा मरण हो जाय। पुत्र, क्या तुम ऐसा कहते हो कि पुत्रस्नेह के अयोग्य लोकलज्जा करनेवाले इस दैन्य भाव से क्या लाभ? तो लो, तुम्हारे कहने से मैं चुप हो गई, अब न रोऊँगी।' यों कहती हुई पास की सखी के शरीर का सहारा लेकर वह मूर्छित हो गई।

[३१८]

तत्काल ही रानी के अनेक परिजनों ने दौड़कर राजा से जाकर कहा। वे मन्दराचल से उद्वेलित समुद्र के समान घबराकर तुरंत आर्य शुकनास के साथ पहरे के लिये स्थापित वेगवती हथिनी पर चढ़कर जैसे गोपुर, अट्टालक, प्राकारभवन और तोरण के साथ सारी उज्जयिनी को अपने पीछे खींचते हुए वहाँ आए। अवन्तिमाता के भवन में आकर उन्होंने परिचारिकाओं द्वारा चन्दन छिड़कने और केले के पंखों से हवा करने से किसी प्रकार होश में आई हुई विलासवती को देखा। रानी को देखकर राजा के नेत्रों से आँसुओं की धारा बह निकली। उन्होंने पास में बैठकर अपना अमृतवर्ती हाथ रानी के ललाट, नेत्र, कपोल पर फेरते हुए शनैः शनैः वाष्प गद्गद कंठ से कहा—'देवि, यदि सचमुच वत्स चन्द्रापीड का कुछ अनिष्ट हुआ है, तब तो हमारा जीवन धारण करना ही सम्भव नहीं। तब वत्स के लिये इस प्रकार साधारण लोगों की भाँति रो धोकर अपने को तुच्छ क्यों बनाया जाय? हमारे शुभकर्म इतने ही थे। और अब क्या करें? हम अधिक सुख के पात्र नहीं। जो वस्तु अप्राप्य है वह छाती कूटने से भी क्या मिल सकती है? इस लोक में ब्रह्मा नाम का कोई है, उसे जो सुहाता है वही वह करता है, उस पर किसी का वश नहीं। इस तरह सभी पराधीन हैं। तो हमें तो क्या नहीं मिला? अपने प्यारे बच्चे का जन्मोत्सव हमने मनाया। गोद में लेकर उसका मुंह देखा। चित्त लेटे हुए चूमकर उसके चरण अपने मस्तक पर छुआए। बकैयाँ चलते हुए उसका धूल में सना हुआ शरीर गोद में लेकर स्पर्श सुख का अनुभव किया। उसकी तोतली बातें सुनकर कानों को सुख पहुँचाया। खेल में उसकी

बाल-लीलाएँ देखीं। सब विद्याओं को पढ़कर आए हुए उसकी गुणवत्ता से हृदय में आनन्द प्राप्त किया। यौवन में प्रवेश करने पर उसकी दिव्य रूपशोभा और शक्ति को प्रत्यक्ष देखा। युवराज पद पर उसका अभिषेक करके उसका मस्तक सूँघा। दिग्विजय से लौटकर प्रणाम करने पर उसके शरीर का आलिंगन किया। सैकड़ों मनोरथों के बीच में बस इतना न हो पाया कि उसका ब्याह करके उसे अपने पद पर बैठाकर हम लोग तपोवन में चले जाते। मन की सभी इच्छाओं का पूरा होना तो बड़े पुण्य से होता है। वत्स को वस्तुतः क्या हो गया है, यह आजतक किसी ने स्पष्ट न बताया। इतना मैंने परिजनों की बातचीत में आज सुना कि हमने जिन लेखहारकों को भेजा था उनके साथ वत्स चन्द्रापीड़ का बालसेवक त्वरितक भी आया है, वह सब वृत्तान्त जानता है। तुमने उससे भी अभी नहीं पूछा। तो उससे पूछ देखें, फिर जीवन और मरण इनमें के किसी एक बात का निश्चय करेंगे।' राजा यह कह ही रहे थे कि प्रतीहार ने परिजनों के पीछे खड़े हुए त्वरितक को बुलाकर निवेदन किया—'देव, पृथिवी में मस्तक टेककर प्रणाम करता हुआ त्वरितक समीप में उपस्थित है। उसे देखने का अनुग्रह करें।'

[३१९]

राजा ने उसे देखकर चन्द्रापीड़ के स्नेहवश 'आओ-आओ' कहते हुए उसके मस्तक पर हाथ फेरकर आज्ञा दी—'भद्र, कहो, वत्स को क्या हुआ है जो मेरे, उसकी माता के और अमात्य के लिखने पर भी वह नहीं आया और न आने का कारण भी उसने कुछ लिखकर नहीं भेजा।' राजा की यह आज्ञा पाकर उसने चन्द्रापीड़ के जाने से लेकर सब हाल कहना आरम्भ किया! राजा ने जब चन्द्रापीड़ के हृदय फटने का वृत्तान्त सुना तो शोक समुद्र के फट पड़ने से अत्यन्त व्याकुल होकर आर्तस्वर में त्वरितक से कहा—'भद्र अब रुक जाओ। जो कहना था तुम कह चुके। जो सुनना था मैंने भी सुन लिया! मेरे प्रश्न की इच्छा पूरी हो गई। सुनने का कुतूहल भी मिट गया। काम सफल हो गए। हृदय आनन्दित हो गया! प्रीति उत्पन्न हुई, मैं सुखी हो गया। हा वत्स, तूने अकेले ही हृदय फटने की वेदना का अनुभव किया। वैशम्पायन के ऊपर तूने पूरी प्रीति दिखाई। हम दुःखभागी क्रूर कर्म-चाण्डाल हैं जो तेरा हृदय फटने पर भी निर्विकार बने हुए हैं। देवि, मेरा हृदय फौलाद से भी अधिक कठोर है जो स्वयं विदीर्ण नहीं हो जाता। मरणदुःख से डरकर ये प्राण भी वत्स के पीछे नहीं जाते। उठो जबतक वत्स अकेला दूर न चला जाय तब तक उसके पीछे जाने का प्रयत्न करें। हे शुकनास अभी भी क्या शोक में खड़े हो? अब तो स्नेह दिखाने का समय है। महाकाल के मन्दिर के समीप चिता रचने के लिये परिचारकों को आदेश दो। लकड़हारे तत्काल काष्ठ इकट्ठा करें। अरे कंचुकियो, यों सिकुड़े हुए क्यों खड़े हो? जाकर अग्निप्रवेश का सामान बाहर निकालो। अब व्यर्थ रोने से क्या लाभ? देवी विघ्न और विलम्ब के बिना सारा कोश ब्राह्मणों को दे डालो। अब किसके लिये उसे रक्खें? पुण्यहीन मेरे लिये अब कोश की रक्षा का कुछ प्रयोजन नहीं

रहा। हे राजा लोगो, अपने-अपने देश को जाओ, अब तुम स्वतंत्र हुए। प्रजाजन आज ही इस दुःख को न जान पावें ऐसा उपाय करो। मेरे पुत्र की अब केवल कहानी रह गई। अब किसे राज्य सौंपकर मैं जाऊँ ?' यों आर्त प्रलाप करते हुए तारापीड़ से जिन्हें अपनी पीड़ा की चिन्ता न करते हुए विलासवती ने पकड़ रखा था, दुःखी होकर त्वरितक ने कहा—'देव, हृदय फट जाने पर भी युवराज अभी जीवित हैं। शाप के कारण उनका और वैशम्पायन का जिस प्रकार जन्म हुआ उसका पूरा वृत्तान्त महाराज सुनें।'

[३२०]

यह अद्भुत बात सुनकर कुतूहल ने तारापीड़ के शोकावेग को दबा दिया और उन्होंने एकटक नेत्रों से आविष्ट की भाँति एकाग्र होकर त्वरितक ने जैसा देखा सुना और अनुभव किया था वह सारा वृत्तान्त उससे सुना। उसे सुनकर उन्हें प्रतीत हुआ कि युवराज और वैशम्पायन का यह वृत्तान्त विश्वास योग्य न होने पर भी अनेक लक्षणों से विश्वास के योग्य है, अत्यन्त शोक का कारण होने पर भी आश्चर्य से भरा हुआ है, और दुःखसे सुने जाने पर भी कौतुक उत्पन्न करता है।' तब उन्होंने कुछ मुंह फेरकर अपनी विचारभरी निश्चल दृष्टि निर्विकार रूप में बैठे हुए शुकनास के मुँह की ओर घुमाई। सुहृत् स्वयं दुःखी होने पर भी अपने दुःख को भीतर ही रोककर मित्र का दुःख दूर करने का ही यत्न किया करते हैं। तभी शुकनास ने उस प्रकार की दशा होते हुए भी स्वस्थ की भाँति राजा से कहा—

[३२१]

'देव, संसार विचित्र है। देवता, तिर्यक् योनि और मनुष्य योनि में जन्मे हुए प्राणी इसमें सुख दुःख पाते हुए जीते और मरते हैं। त्रिगुणमयी प्रकृति के परिवर्तन से ही यह सब हो रहा है। परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक ईश्वर की इच्छा के अनुसार उत्पत्ति, स्थिति और नाश को प्राप्त हो रहे हैं। धर्म और अधर्म का साधन करनेवाले शुभ और अशुभ कर्मों के परिपाक से प्राणियों को यहाँ इष्ट और अनिष्ट फल भोगने पड़ते हैं। वे स्वयं अनेक रूपों में जन्म लेकर यहाँ आते हैं और नाश को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार निश्चित व्यवस्था के अनुसार भोग भोगते हुए स्थावर और जंगम प्राणियों को ऐसी कौन सी अवस्था है जिसका होना सम्भव न हो ? देव को इस घटना के विषय में क्यों सन्देह है ? यदि आप युक्ति से विचार करते हैं तो यहाँ कितनी ही बातें युक्तिरहित होती हैं जिनकी प्रामाणिकता शास्त्रों से ही जानी जाती है, पर वे बिल्कुल ठीक हैं। विष से मूर्छित हुए व्यक्ति का विष मुद्राबन्ध (मंत्र पढ़कर हाथ फेरने) या ध्यान से उतार दिया जाता है; इसमें युक्ति कैसी ? चुम्बक द्वारा लोहे के खींचने या घुमाने में भी युक्ति कहाँ ? अनेक प्रकार के वैदिक और अवैदिक मंत्रों से अनेक प्रकार के कर्मों की सिद्धि प्राप्त होती है। नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से मरण, कामोत्पादन, अपहरण, वशीकरण, विद्वेषण आदि की शक्ति उत्पन्न होती है। और भी इस तरह की अनेक सिद्धियों में शास्त्र प्रमाण हैं

पुराण, रामायण, महाभारत आदि सब आगमों में अनेक प्रकार के शाप के जो वृत्तान्त आए हैं वे ठीक ही हैं। जैसे इन्द्रपद पर बैठे हुए राजर्षि नहुष को अगस्त्य के शाप से अजगर होना पड़ा। सुदास के पुत्र कल्माषपाद को वशिष्ठ के पुत्रों द्वारा दिए गए शापवश मनुष्य-भक्षी बन जाना पड़ा। असुरों के गुरु शुक्राचार्य के शाप से ययाति को यौवन में ही बुढ़ापा देखना पड़ा। त्रिशंकु को पिता के शाप से चाण्डाल योनि में जन्म लेना पड़ा। सुना जाता है कि महाभिष राजा ने शान्तनु के रूप में जन्म लिया और गंगा उनकी पत्नी हुई जिनके गर्भ से शापवश आठ वसुओं ने मनुष्य योनि में अवतार लिया। औरों की बात रहने दें तो स्वयं आदिदेव भगवान् अज जमदग्नि-पुत्र परशुराम के रूप में उत्पन्न हुए। फिर सुना जाता है कि उन्हीं भगवान् प्रजापति ने अपने आपको चार भागों में बाँटकर राजर्षि दशरथ के यहाँ जन्म लिया और वे ही मथुरा में वसुदेव के यहाँ जन्मे। तो मनुष्यों में देवताओं की उत्पत्ति कुछ असम्भव नहीं है, और न पूर्वकथित मनुष्यों से किसी प्रकार भी आप गुणों में कम हैं। चन्द्रमा भगवान् ब्रह्मा से बढ़कर नहीं हैं, उनका अवतार लेना असंभव नहीं। और भी, गर्भारंभ के समय महाराज ने देवी के मुख में प्रवेश करते हुए चन्द्रमा को देखा ही था। वैसे ही मुझे भी स्वप्न में पुण्डरीक का दर्शन हुआ था। अतएव उनके जन्म के विषय में तो कोई सन्देह है ही नहीं। विनष्ट हुए शरीर का अविनाशी बने रहना कैसे असंभव है और फिर भी जीवित हो जाना क्या हो सकता है? इस विषय में भी सब लोकों में अमृत ही एकमात्र कारण है जिसका प्रभाव सब लोग जानते हैं। वह अमृत चन्द्रमा में है, यह भी प्रसिद्ध है। अतएव महाराज इस वार्ता को सत्य ही समझें। सब लोकों को आनन्ददायक उस प्रकार के स्वरूप का जन्म अन्यत्र संभव नहीं है। तो शीघ्र ही शाप का अन्त होने पर स्वयं लोकपाल चन्द्रमा ही जिन्होंने आपके यहाँ चन्द्रापीड़ के नाम से पुत्ररूप में जन्म लिया है गंधर्वराजपुत्री के साथ विवाहमंगल मनाकर आनन्दाश्रुपूरित नेत्रों से आपके चरणों में प्रणाम करेंगे और जन्म से लेकर आजतक के आपके सब दुःख दूर करेंगे। उनका यह शाप हमारे लिये वरदान ही हुआ। इस विषय में अब महाराज को और देवी को शोक न करना चाहिए, बल्कि मंगल आरंभ करने चाहिएं। इष्ट देवताओं के आराधन से एवं धन और द्रव्य के दान से पूर्वजन्म में उपार्जित पुण्य की वृद्धि करनी चाहिए। यम, नियम, कष्टदायक व्रत, उपवास आदि से एवं तप द्वारा जो कुछ अपुण्य हो उसका भी क्षय करना चाहिए। और भी ऐसी स्थिति में जो कुछ श्रेयस्कर जान पड़े उसे आज से ही आरंभ कर देना चाहिए और कराना चाहिए। वैदिक और अवैदिक कर्मों के लिए असाध्य कुछ भी नहीं है। चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन दोनों का जन्म भी इसी प्रकार के कर्मकांड और मनौतियों से हुआ था।'

[३२२]

शुकनास के ऐसा कहने पर राजा ने शोक की अवस्था में ही उत्तर दिया—'आर्य ने जो कुछ कहा है और कौन इस तरह कहता? दूसरा कौन हमें इस तरह समझाता? और

किसकी बात हमें इस प्रकार माननीय होती ? किन्तु वैशम्पायन के दुःख से वत्स चन्द्रापीड़ का हृदय फट गया, यह बात मेरी आँखों के आगे नाचती हुई और सब कुछ तिरोहित कर देती है। मैं वही देख रहा हूँ, वही सुन रहा हूँ, उसी की कल्पना कर रहा हूँ। अब चन्द्रापीड़ का मुख प्रत्यक्ष देखे बिना मैं अपने को ढाढ़स न दे पाऊँगा। जब मेरा ऐसा हाल है तो देवी को क्या दिलासा दूँ ? अतएव वहाँ चलने के अतिरिक्त प्राणरक्षा का और कोई उपाय नहीं है। यह सुनकर आप जो निश्चय करें।'

तारापीड़ के यह कहने पर देवी विलासवती ने पुत्र के दुःख से उनके सामने लज्जा त्यागते हुए हाथ जोड़कर ऊँचे स्वर में कहा—'आर्यपुत्र, यदि ऐसा है तो विलम्ब क्यों करते हैं ? हम लोग बाहर तो निकल ही आए हैं कूच करने की आज्ञा दीजिए। मेरा भी हृदय वत्स को देखने के लिये व्याकुल है। दुःख से छूटने के लिये मैंने सोचा था कि मेरा हृदय फट जाय, वह भी अब पुत्र का मुँह देखने की लालसा से मुझे नहीं रुचता। मैं समझती हूँ कि दीर्घकाल तक दुःखों का अनुभव करते हुए मैं इसीलिये जीवित रही थी कि एक बार वत्स का मुँह देख लूँ। असह्य दुःख से बचने के लिये मैं इसी समय नहीं मरी। तो फिर से आशा का सूत्र जोड़नेवाले और सब विघ्नों को हटानेवाले पुत्र के मुख का दर्शन पाने के लिये प्रस्थान से मेरे हृदय को कुछ विनोद प्राप्त होवे।'

रानी यों कह रही थी कि शुकनास के विश्वासपात्र एक वृद्ध ब्राह्मण ने पास आकर स्वस्तिपूर्वक कहा—'देवी, चारों ओर उठती हुई वार्ता के कलकल से कुछ भी स्पष्ट न जानकर मनोरमा स्वयमेव दौड़कर आई हैं। राजा से लजाकर यहाँ तक नहीं आईं। वे मातृभवन के पिछवाड़े खड़ी हैं और देवी से पूछती हैं कि इन लोगों ने क्या समाचार दिया ? क्या मेरा वत्स वैशम्पायन जीवित है ? क्या वह स्वस्थ है ? क्या वह युवराज से मिला था ? वह कहाँ है ? वे दोनों कितने दिन में आएंगे ?' उनकी मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक इन वचनों को सुनकर राजा का हृदय जैसे विदीर्ण हो गया और सौगुने शोक से रोती हुई विलासवती से उन्होंने कहा—'देवि, तुम्हारी प्रिय सखी ने दोनों वत्सों के विषय में कुछ सच्चा हाल नहीं जाना। ऐसा न हो कि कहीं से कुछ सुनकर वे अपने प्राण ही छोड़ दें। तुम उठो और सब वृत्तान्त सुनाकर उन्हें धीरज कराओ जिससे कि आर्य शुकनास के साथ वे भी चल सकें।' यह कहकर राजा ने स्वयं विलासवती को उठाकर परिजनों के साथ भेजा और स्वयं भी शुकनास के साथ जाने का प्रबन्ध कराने लगे।

[३२३]

जब राजा ने इस प्रकार प्रस्थान का आदेश दिया तो कुछ उनके अनुराग से, कुछ चन्द्रापीड़ के स्नेह से, कुछ पहले गए हुए पिता, पुत्र, भाई, मित्र और स्वजनों के मिलने के लिये, केवल घर के रखवालों को छोड़कर उज्जयिनी के सारे लोग चलने के लिये तैयार हो गए, पर राजा ने शीघ्र यात्रा में उन्हें विघ्न जानकर सबको रोक दिया। केवल थोड़े से लोगों को साथ लेकर वे एक ही दिन में मानों सारा मार्ग तय कर लेने की इच्छा से बार-

बार अश्वारोही त्वरितक से पूछते हुए कुछ दिनों में अच्छोद सरोवर के पास पहुँच गये। वहाँ मन में नाना प्रकार के संकल्प विकल्प करके स्वयं दूर रहकर चुने हुए विश्वासपात्र सवारों को हाल जानने के लिये त्वरितक के साथ भेजा।

[३२४]

शीघ्र ही त्वरितक मेघनाद को आगे करके राजाओं के साथ लौटकर आया। उन्हें देखकर तारापीड़ का हृदय उच्छ्वसित हुआ और चन्द्रापीड़ के शरीर के अविनाशी होने का विश्वास उनके मन में दृढ़ हुआ। उन्होंने परदेदार जीन (सावरण पर्याण) पर बैठी हुई विलासवती से मुँह घुमाकर कहा—'देवि, तुम्हारे भाग्य की वृद्धि हो। सचमुच वत्स चंद्रापीड़ का शरीर जीवित है। देखो, उनके चरण कमलों के सेवक ये राजपुत्र उसी शरीर के पास से आ रहे हैं।' रानी ने यह सुनकर अपने हाथ से परदे का अंचल कुछ हटाकर निश्चल दृष्टि से राजपुत्रों की ओर पुत्रवत् प्रेम से देरतक देखा और फिर रोते हुए धैर्य खोकर कहा—'हा वत्स, एक साथ धूल में खेले हुए इतने राजपुत्रों के मध्य में अकेले तुमही क्यों नहीं दिखाई पड़ते।' इस प्रकार रोती हुई रानी को कुछ दिलासा देकर राजा ने सब लोगों के साथ पृथिवी में मस्तक टेककर प्रणाम करते हुए मेघनाद को पास आने की आज्ञा दी और उससे पूछा—'मेघनाद, कहो, वत्स का क्या समाचार है?' उसने निवेदन किया—'देव, प्राणों के न रहने से शरीर में केवल चेष्टा नहीं देखी जाती, अथवा दिन प्रति दिन उसकी कान्ति बढ़ती जाती है।' यह सुनकर राजा को चन्द्रापीड़ के जीवित होने के विषय में अधिक इविवास हुआ और उन्होंने रानी से कहा—'देवि, तुमने मेघनाद की बात सुनी। आओ अब वत्स का मुँह स्वयं देखकर अपनी बहुत दिनों की आशा सफल करें।' यह कहकर वे हथिनी को तेजी से बढ़ाते हुए महाश्वेता के आश्रम में आ गए।

[३२५]

अचानक गुरुजनों का आना सुनकर महाश्वेता आँसू बहाकर रोती और विलाप करती हुई दौड़कर गुफा के भीतर चली गई—'हा, मैं अभागिनी दुःखों को सहने के लिए ही उत्पन्न हुई! मेरे लिये मरण भी नहीं रहा! न जाने उपकार करने में चतुर दुष्ट विधाता कबतक मुझे जलाता रहेगा।' कादम्बरी भी यह सुनकर दौड़कर आई हुई सखियों के शरीर का सहारा लेकर मोह के अन्धकार में निमग्न हो मूर्च्छित हो गई। उन दोनों के उस अवस्था में होनेपर शुकनास का सहारा लेकर तारापीड़ ने प्रवेश किया। उनके पीछे मनोरमा का सहारा लेकर रानी विलासवती भी 'मेरा वत्स कहाँ है?' इस प्रकार पूछती हुई बड़े-बड़े डबडबाए नेत्रों से आगे दौड़ती हुई वहाँ आई। स्वाभाविक कान्ति से युक्त पर निश्चेष्ट सुप्त जैसे चन्द्रापीड़ के शरीर को देखकर रानी ने राजा के पहुँचने से पहले ही मनोरमा को परे हटाकर दोनों भुजाओं को फेंकते हुए और धाड़ मारकर रोते हुए कहा—'हा प्रिय पुत्र, तुम्हें कितने दिनों में देखा है, कुछ तो उत्तर दो! एकबार तो मुझे देखो! तुम्हारा इस तरह

पड़े रहना उचित नहीं। उठकर मेरे अंक में आकर पुत्रोचित स्नेह पूरा करो। बालपन में तुमने कभी मेरा वचन नहीं टाला। आज यों विलाप करती हुई की बात क्यों नहीं सुनते ? पुत्र, किस बात से रुष्ट हो गए हो। पैरों में पड़कर तुम्हें मनाती हूँ। पुत्र चन्द्रापीड़, उठकर प्रणाम करो। तुम्हारे स्नेह से इतनी दूर चलकर आए हुए पिता का स्वागत करो। तुम्हारी वह गुरुभक्ति, वे गुण, वह स्नेह, वह धर्मज्ञता, वह पितृपक्षपात, वह बन्धुप्रीति, वह परिजनों का प्यार कहाँ गया ? क्या मेरे अभाग्य से सब कुछ छोड़कर एकदम उदासीन हो गए हो ? अथवा तुम्हें जो रुचे वैसा करो। हम तुम्हारे प्रति अपना हृदय उदासीन किए हुए हैं।' यों अतिप्रलाप के साथ बार-बार उसका आलिंगन करके सिर सूंघकर, कपोल चूमकर, और पैरों को अपने मस्तक से लगाकर उन्मुक्त कंठ से रुदन करने लगी। उसको रोते देखकर राजा अपनी पीड़ा तो भूल गए और चन्द्रापीड़ का आलिङ्गन किए बिना ही रानी को अपनी भुजाओं में रोककर कहने लगे—'देवि यद्यपि हमारे पुण्य से यह हमारा पुत्र बन गया तो भी देवता का अवतार होने के कारण यह अशोचनीय है। अतः मनुष्यलोक के जैसा यह शोक का व्यवहार इस समय छोड़ो। इस प्रकार शोक से कुछ न होगा। रोने से गला ही फटेगा, हृदय नहीं। मुख से व्यर्थ के प्रलाप वचन निकलेंगे, प्राण नहीं। फिर वत्स के अदर्शन मात्र से ही हम दुःखी थे। वह दुःख तो इसका मुख देखने से हट गया। फिर इस अवस्था में हम दोनों को धैर्य धारण करके मनोरमा और शुकनाश को भी धैर्य बँधाना चाहिए क्योंकि उनका वैशम्पायन भी परलोक में चला गया है। इन दोनों को भी जाने दो; जिसके प्रभाव से फिर पुत्र के प्राण समागम का महोत्सव हमें सुलभ होगा उस गन्धर्वराज पुत्री बहू को तो सम्हालो जो हमारे आने के शोक में मूर्च्छित हो गई है और नाम ले लेकर पुकारनेवाली सखियों के प्रयत्न से भी होश में नहीं आ रही है। उसे गोद में उठाकर, होश में लाओ, फिर जितना चाहे रो लेना।'

[३२६]

'मेरे वत्स के प्राणों को फिर जीवित करनेवाली वह बहू कहाँ है' कहती हुई रानी विलासवती ने जल्दी से उठकर बेहोश कादम्बरी को अपनी गोद में लिया और मूर्छाकाल में अधिक सुन्दर प्रतीत होनेवाले उसके मुख को देख-देखकर अपने कपोल को उसके कपोल पर, ललाट को ललाट पर, नेत्रों को नेत्रों पर रखकर चंद्रापीड़ के स्पर्श से शीतल हुए हाथसे उसके हृदय का स्पर्श करती हुई कहने लगी—'धीरज रक्खो, माता, आश्वस्त हो। तुम्हारे बिना किसने आजतक मेरे चन्द्रापीड़ के शरीर को जीवित रखा है ? हे माँ, तुम अमृतमयी उत्पन्न हुई थीं, तुम्हारे ही कारण हमें पुत्र का मुँह फिर देखने को मिला।' चंद्रापीड़ का नाम लेने से तथा चन्द्रापीड़ के समान ही विलासवती के शरीर का स्पर्श पाकर कादम्बरी होश में आ गई, पर लज्जा से मुँह नीचा करके वह न समझ सकी कि वह क्या करे। तब मदलेखा ने उसे विलासवती की गोद से उतार कर उससे यथाक्रम सब गुरुजनों की वंदना कराई। तब सबने उसे आशीर्वाद

दिया—'हे आयुष्मति, तुम दीर्घकाल तक सौभाग्यवती रहो।' यों आशीर्वाद देकर उसे विलासवती के पास में ही बिठाया। कादम्बरी के होश में आनेपर राजा ने यही अनुभव किया मानों चन्द्रापीड़ ही जी गया हो। फिर उसका गाढ़ आलिंगन करके चूमकर और हाथ फेरकर मदलेखा को संबोधित करके कहा—'हमें तो दर्शन का सुख ही प्राप्त करना था सो मिल गया। तो जिस उपचार से इतने दिनतक बहू ने वत्स के शरीर की रक्षा की है वही उपचार हमारे आने से या लज्जा से तनिक भी कम न होना चाहिए। हम तो व्यर्थ के दर्शक हैं। हमारे यहाँ रहने या जाने से भी क्या? जिसके हाथों का स्पर्श प्राप्त कर यह अभीतक अविनाशी बना है वही बहू इसके पास रहे।' यह कहकर वे बाहर चले गए। बाहर आकर अपने लिये बनाए हुए आवास में न जाकर तपस्वीजनों के रहने योग्य पास के ही एक आश्रम के तरुलता मंडप में शिलातल पर बैठ गए और सब राजाओं को बुलाकर सम्मान के साथ कहा—'आप यह न समझें कि आज शोक के आवेग में मैंने यह आश्रम धर्म स्वीकार किया है। मैंने पहले ही सोचा था कि चंद्रापीड़ का ब्याह करके उन्हें राज्य का भार सौंपकर किसी आश्रम में आयु का शेष भाग बिताऊंगा। वह बात भगवान यमराज ने या पहले किये हुए विपरीत कर्मों ने आज उलट-पुलट कर डाली। अब क्या किया जाय? भाग्य बलवान् है। चंद्रापीड़ के प्रयत्न से उत्पन्न सुख हमें मिलने वाला न था, इसलिये उसका अनुभव न कर सके। प्रजारक्षण का भार तो आपकी भुजाओं पर पूर्ववत स्थापित है ही। हम जब अन्यथा रहते थे तो भी वह भार आप सब पर ही था। तो अब हम अपने उस चिराभिलषित मनोरथ को पूरा करना चाहते हैं। वे धन्य हैं जो वृद्धावस्था में शरीर जीर्ण होने पर अपना भार पुत्रों को सौंपकर सर्वथा हल्के होकर परलोक यात्रा की तैयारी करते हैं। यमराज गले पर पैर रखकर बलपूर्वक उठा ही ले जाता है। इसलिये यदि पात्र को अपना दायित्व सौंपकर वृद्धावस्था के अवशिष्ट आयुर्भाग से जब शरीर किसी काम का नहीं रहता और यह मांसपिंड सब सुखों के उपभोग से बहिष्कृत हो जाता है, कुछ भी परलोक साधन कर लिया जाय उसे लाभ ही मानना चाहिए। आप लोगों से अब मुझे यही प्रार्थना करनी थी। यह कहकर राजोचित जितने सुख बच गए थे उन्हें भी त्याग दिया और वनवास के अनुकूल मन बनाकर दुःखों को कुछ न गिनते हुए राजा तारापीड़ विलासवती और शुकनास के साथ वहीं समय बिताने लगे। वे वृक्षों के नीचे निवास करते, लताओं को देखकर प्रसन्न होते, आश्रम के हिरनों में स्नेह बुद्धि रखते, वल्कल चीर से सुख मानते, सिर पर जटाएँ रखते, कन्दमूल फल खाते, अक्षमाला धारण करते, कुशा और पुष्पों का संग्रह करते, एवं धर्म की कथाएँ सुनते हुए वहाँ रहने लगे। उन्होंने अपने समररस को उपशम में, जय की इच्छा को परलोक में, कोशसंग्रह की वृत्ति को तप में, आज्ञा देने की प्रवृत्ति को मौन में, सब वस्तुओं के उपभोग की लालसा को वैराग्य में लीन कर दिया। कादम्बरी और महाश्वेता लज्जा त्यागकर गन्धर्व लोक में जैसी चाहिए वैसी सेवा सुश्रूषा करतीं। वे सायं प्रातः चन्द्रापीड़ का दर्शन करके दुःखों की अवहेलना करते हुए वहीं समय बिताने लगे।

[३२७]

इतनी कथा सुनकर भगवान् जाबालि ने वृद्धावस्था के योग्य मंदहास के साथ हारीत आदि श्रोताओं से कहा—'आप सबने चित्ताकर्षक इस कथारस की आकर्षण शक्ति देखी। मैंने जो कहना आरम्भ किया था उससे बहककर कथा के रस से कहता हुआ बहुत दूर निकल आया। यह जो कामोपहत चित्तवाला, अपने ही किये हुए अविनय के कारण देवलोक से परिभ्रष्ट होकर मर्त्यलोक में शुकनास के पुत्ररूप में वैशम्पायन नाम से जन्मा था वही फिर अपनी ही अविनय के कारण पिता के कोप और महाश्वेता के सत्य शाप से इस शुक योनि में पड़ा है।'

[३२८]

भगवान् जाबालि यह कह ही रहे थे कि बाल्यकाल होते हुए भी पूर्वजन्म की सब विद्याएँ इस प्रकार मेरी स्मृति में आ गईं जैसे सोकर जाग उठा होऊँ। सब कलाओं का ज्ञान उत्पन्न हो गया। बातचीत के लिये मनुष्यों जैसी विस्पष्ट अक्षरवाली वाणी मुझे मिल गई। सब वस्तुओं के सम्बन्ध का विज्ञान तथा स्मरण मुझे प्राप्त हो गया। बहुत क्या, एक मनुष्य शरीर को छोड़कर और सब कुछ उसी क्षण वैसा ही वैशम्पायन के समान हो गया। वही चन्द्रापीड़ के ऊपर स्नेह, वही कामपरवशता, वही महाश्वेता में अनुराग और वही उससे मिलने की उत्सुकता। पंख न निकलने से पूर्वजन्म में प्राप्त की हुई वह शरीर चेष्टा मुझे उस क्षण प्राप्त नहीं हुई। पूर्वजन्म का सब वृत्तान्त स्मरण आजाने से मेरे अन्तःकरण में यह जानने की इच्छा हुई कि मेरे माता पिता का क्या हुआ? तात तारापीड़ और अम्बा विलासवती का क्या हुआ? वयस्य चन्द्रापीड़ का क्या हुआ? और प्रथम जन्म के सुहृत् कपिंजल एवं महाश्वेता का भी क्या हुआ? यह सब मुझे कुछ न जान पड़ा। और भी किसके विषय में मैंने क्या-क्या सोचा यह समझ में न आया। फिर हृदय में उत्सुकता से भरकर पृथिवी पर मस्तक रखकर देरतक सोचते हुए मानों अपने अविनय को सुनकर लज्जा से गलते हुए, या जैसे पाताल में प्रवेश करते हुए मैंने भगवान् जाबालि से बिनती की—'भगवन् आपकी कृपा से मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया। मुझे अपने पूर्वजन्म के सब बन्धुओं का स्मरण हो आया। मूढ़ता की दशा में मुझे उनका स्मरण न था तो विरह की पीड़ा भी न थी। पर अब उनके स्मरण से मेरा हृदय फटा जाता है। उनके स्मरण से भी वैसा नहीं जैसा उन चन्द्रापीड़ के स्मरण से, जिनका मेरे प्राण त्यागने का समाचार सुनकर ही हृदय विदीर्ण हो गया था। भगवन्, उनके जन्म की कथा सुनाने की भी कृपा करें, जिससे मैं इस पक्षी योनि में भी उनके साथ रहकर अपने दुःख को हलका कर सकूँ।'

यह सुनकर असूया के साथ मेरी ओर देखकर भगवान् जाबालि ने कुछ प्यार दिखाते हुए कहा—' मूढ़, जिस हृदय की चंचलता से इस दशा को प्राप्त हुआ था उसे आज भी नहीं छोड़ता? अभी तो तेरे पंख भी नहीं निकले। कुछ चलने लायक हो जा, फिर मुझसे पूछना।'

जाबालि के ऐसा कहने पर उत्सुकता से हारीत ने पूछा—'मुझे यह बड़ा आश्चर्य है, कृपाकर कहिए कि मुनि योनि में रहते हुए भी इसे ऐसी कामपरायणता क्यों हुई जो यह कामाहत होकर अपने प्राण भी धारण न कर सका। दिव्यलोक में जन्म लेकर भी इसे ऐसी स्वल्प आयु क्यों मिली ?' पुत्र का यह प्रश्न सुनकर भगवान् जाबालि ने अपनी मन्द मुस्क्यान से मानो पापमल का प्रक्षालन करते हुए कहा—'वत्स, इसका कारण स्पष्ट है। कामेच्छा के मोह से युक्त अल्पसार वाले केवल स्त्रीवीर्य से ही यह उत्पन्न हुआ था।[1] श्रुति में कहा गया है कि जैसे कारण से प्राणी जन्म लेता है वैसा ही वह हो जाता है। लोक में भी कारणगुण के अनुसार कार्य देखे जाते हैं। आयुर्वेद में भी ऐसा ही सुना जाता है। जो प्राणी अल्पसार केवल स्त्रीवीर्य से जन्म लेता है वह स्थिर सारमय पुरुषवीर्य के अभाव से या तो गर्भ में ही विलीन हो जाता है, या मरा हुआ जन्म लेता है, या उत्पन्न होकर दीर्घ काल तक नहीं जीता। इसीलिए यह जन्म पाकर ऐसा हुआ कि इसमें इतना कामुकता रही। मदनवेग के ज्वर-सन्ताप को न सह सकने के कारण इसका मरण हुआ। इस समय भी यह वैसा ही अल्पायु है किन्तु शाप समाप्त होने पर इसे अक्षय आयु का लाभ मिलेगा।'

[३२६]

यह सुनकर मैंने फिर पृथिवी पर सिर रखकर प्रणाम करते हुए भगवान् जाबालि से कहा—'भगवन्, पक्षी योनि में उत्पन्न हुआ मैं अपुण्यात्मा स्वयं कुछ भी करने में असमर्थ हूँ। वाक् शक्ति भी आपकी ही कृपा से अभी मुझे मिली है। पहले जन्म का ज्ञान भी अभी मन में आया है। अब आपकी ही कृपा से मुझे आयु बढ़ानेवाले कर्मों के संपादन योग्य दूसरा शरीर अगले जन्म में प्राप्त होगा। उस हेतु कौन से महाकर्म मुझे करने चाहिएं जिनसे अक्षय आयु मैं पा सकूँ ? यह भी कृपा कर कहें।' मेरी यह विनती सुनकर दिशाओं की ओर दूरदर्शिनी दृष्टि डालते हुए भगवान् जाबालि ने कहा—'यह भी जैसे होगा तुझे ज्ञात हो जायगा; अब तो इस कथा को यहीं रहने दे। कथा के रस के कारण हमें ज्ञात ही न हुआ कि प्रातःकाल होने को है। यह चन्द्रमा फीकी कान्ति से बिना पोंछे हुए चाँदी के दर्पण के समान जान पड़ रहा है और पश्चिम दिशा के छोर पर पहुँच गया है। उधर पूर्व में उदय के अनुसार बिस्तार पाती हुई अरुण की प्रभा पुराने कमल-पत्र के समान ललाई लिए हुए प्राची दिशा के केशपाश पर मानों मांग बनाती हुई प्रकाशित हो रही है। आकाश में

१ कादम्बरी का यह सबसे साभिप्राय वाक्य है। हारीत ने पूछा कि मुनि होकर भी यह कामी क्यों हुआ। जाबालि कहते हैं कि जिसका मानस कामेच्छामय स्त्रीवीर्य अर्थात् चान्द्रतत्त्व से निर्मित होता है, उसमें आर्षप्राणमय सौर तत्त्व की दृढ़ता नहीं आती। उसमें भावुक मन तो रहता है, दृढ़ विज्ञान या बुद्धितत्त्व नहीं रहता जो ऋषिबुद्धि या मुनि मन की विशेषता है।

अन्धकार कम होकर सूर्य का प्रकाश बढ़ने से तारे क्रमशः विलीन हो रहे हैं। पम्पासर के पक्षी जागकर कोलाहल करने लगे हैं। रात्रि की परिसमाप्ति की सूचक प्रातःकाल की वायु वनपुष्पों की सुगन्धि लेकर बहने लगी है। अब अग्निहोत्र का समय निकट आ रहा है।' यह कहते हुए उन्होंने गोष्ठी भंग कर दी और उठ खड़े हुए।

[३३०]

भगवान् जाबालि के उठ जाने पर भी तपस्वियों की वह परिषद्, जो वीतराग निष्कौतुक और मोक्षमार्ग में स्थित थी, कथा के रस में डूबकर गुरु के योग्य सेवा भी भूल गई और मानों रोमांचित और विस्मय से उत्फुल्ल नेत्रों से सुनने की मुद्रा में बहुत देर तक वैसे ही बैठी रह गई। शोक और आनन्द के कारण एक साथ ही श्रोताओं के नेत्रों से आँसू निकल पड़े और वे सब कहने लगे—'हा! इसे महान् कष्ट हुआ।' फिर सब यथा स्थान गए। पास में मुनिकुमारों के होते हुए भी हारीत अपने ही हाथ से मुझे उठाकर अपनी पर्णशाला में ले गए और अपनी शैय्या के पास रखकर प्राभातिक क्रियाओं के लिये चले गए। उनके जाने के बाद पक्षीयोनि में पड़ा हुआ मैं अपने को कुछ भी करने के योग्य न पाकर दुखित मन से सोचने लगा—'इस लोक में अनेक जन्मों में किए हुए सैकड़ों सहस्रों पुण्यों से प्राप्त होनेवाला यह मनुष्य जन्म कठिनाई से मिलता है। उसमें भी सब जन्मों में विशिष्ट ब्राह्मण का जन्म तो और भी दुर्लभ है। उससे भी विशिष्टतर मुनित्व की प्राप्ति है जो मोक्षपद प्राप्त करानेवाली है। उसमें भी दिव्यलोक का निवास बढ़कर है। वैसे स्थान से मैंने अपने दोषों के कारण अपने आपको गिरा लिया। सब क्रियाओं से हीन इस पक्षी योनि से अब कैसे अपना उद्धार करूँ? अथवा पूर्वजन्म में जिनके साथ स्नेह था उनके साथ समागम का सुख फिर कैसे मिलेगा? उस सुख के बिना व्यर्थ इस जीवन की रक्षा करने से क्या लाभ? यातनाभोगी यह शरीर जहाँ चाहे वहाँ नष्ट हो जाँय। केवल दुःख भोगने के लिये उत्पन्न इसे सुख तो मिलने से रहा। तो इसे त्याग ही देना ठीक है। मुझे दुःख देनेवाले विधाता की मनचाही भी पूरी हो ले।' यों आँख मींचकर मरण की बात सोचते हुए मुझे मानों फिर जीवित करते हुए हंसी से खिले मुख से हारीत ने भीतर आकर कहा—'भ्राता वैशम्पायन, तुम्हारे भाग्य की वृद्धि हो, तुम्हारे पिता भगवान् श्वेतकेतु के पास से कपिंजल तुम्हें ढूढ़ते हुए यहीं आए हैं।'

[३३१]

सुनकर मुझे ऐसी प्रसन्नता हुई मानों पंख निकलने पर उड़कर उनके पास पहुँच जाऊँ। मैंने गर्दन निकाल कर देखते हुए पूछा—'वे कहाँ हैं?' उन्होंने कहा—'पिता के पास हैं।' मैंने उनसे फिर कहा—'यदि ऐसा है तो मुझे भी वहाँ ले चलिए। मेरा हृदय उनसे मिलने के लिये व्याकुल है।' मैं यों कह ही रहा था कि मैंने उसी समय कपिंजल को अपने सामने देखा। आकाशमार्ग से आने के कारण उनकी जटाएँ बिखुर गई थीं। वायुपथ

से संचरण करने से उत्तरीय का एक अंचल खिसककर नीचे लटक गया था। वल्कल का फेंटा कटि भाग में दृढ़ता से बँधा हुआ था। वक्षस्थल के अस्थिपंजर पर अर्धत्रुटित यज्ञोपवीत दिखाई दे रहा था। सुरपथ से नीचे उतरने के श्रम से शरीर हाँफने लगा था। मरुत्पथ में यात्रा के कारण और आकाशगंगा के जल में प्रवेश करके निकलने के कारण उनके मुख पर संचित हुए जलबिन्दु टपक रहे थे। जैसे ही उन्होंने मुझे देखा एक साथ ही उनके नेत्रों से बाष्पबिन्दु गिरने लगे। मुमुक्षु होते हुए भी वे मेरे स्नेह के कारण बंधे हुए थे। वीत राग होते हुए भी मेरे हित में रत थे। निःसंग होते हुए भी मुझसे मिलने के लिये उत्सुक थे। निःस्पृह होते हुए भी मेरा अभीष्ट सम्पादन करने के लिये व्याकुल थे। क्लेशों से ऊपर उठे हुए भी मेरे लिये क्लेश सह रहे थे। मिट्टी पत्थर और सुवर्ण को समान समझने की स्थिति में पहुँच कर भी वे मेरे दुःख से दुःखी थे। उन स्नेहात्मा, कृतज्ञ, सुकृती और भावार्द्र हृदयवाले महात्मा कपिंजल को रूक्षचित्त अपुण्यवान् उल्टे स्वभाव वाले एकान्त निष्ठुर और दुरात्मा मैंने देखा। देखते ही मेरे नेत्रों से जल धारा बहने लगी। उस अवस्था में भी उनके स्वागत का प्रयत्न करते हुए मैंने पुकार कर कहा—'सखे कपिंजल, दो जन्मों के बाद आपका दर्शन पाकर भी क्या मैं शीघ्रतापूर्वक उठकर दूर से ही भुजा फैलाकर आपके गाढ़ालिंगन का सुख पा सकूँगा? क्या हाथ पकड़कर आपको आसन पर बैठा सकूँगा? क्या सुखपूर्वक बैठे हुए आपका संवाहन करके श्रम दूर कर सकूँगा?' मैं यों अपने लिये सोच ही रहा था कि कपिंजल ने दोनों हाथों से मुझे उठा लिया। विरह दुःख से दुर्बल मेरे वक्षःस्थल पर अपने हाथ रखकर मानों वे मुझे अपने हृदय में रख लेना चाहते थे। मेरे साथ आलिंगन-सुख का अनुभव करके शोक से मेरे चरणों को अपने मस्तक पर रखकर साधारण मनुष्यों की भाँति वे रोने लगे।

[३३२]

उन्हें इस प्रकार रोते देखकर केवल शब्द मात्र से ही प्रतीकार करने में समर्थ मैंने कहा—'सखे कपिंजल, सब क्लेशों से हारे हुए मुझ पापी के लिये तो ऐसा रोना ठीक है। पर जैसा तुम कर रहे हो तुम्हारे लिये यह उचित नहीं। संसार के बंधन में डालनेवाले और मोक्षमार्ग में बाधक ऐसे दोषों ने बालपन से ही तुम्हें कभी नहीं छुआ। अब मूढ़जनों के इस मार्ग पर क्यों चलते हो? बैठो और जैसा वृत्तान्त घटा है उसकी वार्ता मुझसे कहो। पिता कुशल से हैं? कभी मुझे याद करते हैं? मेरे दुःख से कभी दुःखी भी हुए हैं? मेरा वृत्तान्त सुनकर उन्होंने क्या कहा? कुपित तो नहीं हुए?' यह पूछने पर कपिंजल ने पहले मुझे हारीत के शिष्य द्वारा बनाए हुए पल्लव आसन पर बैठाया और फिर गोद में लेकर हारीत के दिए हुए जल से मेरा मुंह धोया और कहा।

[३३३]

'सखे, तात कुशल से हैं। हमारे इस वृत्तान्त को उन्होंने दिव्यचक्षु से पहले ही देख लिया था। देखकर इसके प्रतीकार का उपाय भी आरंभ कर दिया था। उनके उस

आरम्भ किए हुए कर्म के प्रभाव से ही मैं तुरग योनि से छूटकर उनके चरणों में उपस्थित हुआ। मुझे दूर से ही देखकर उनके नेत्रों में जल भर आया। शोक से दीन मुख और भय के कारण पास जाने में डरते हुए मुझे बुलाकर उन्होंने आज्ञा दी—'वत्स कपिंजल, अपने दोष का डर छोड़ दो! यह सब तो शठमति मेरा ही दोष था जिसने सब जानते हुए भी जन्म के समय ही वत्स पुण्डरीक के लिये दीर्घ आयुष्य सम्पादन करनेवाला उपाय नहीं किया। अब वह कर्म प्रायः सिद्ध हो चुका है। अतः अब उसके विषय में दुःख की भावना न करनी चाहिए। उसके आनेतक मेरे पास ही ठहरो।' तात की इस आज्ञा से मेरा भय दूर हुआ और मैंने कहा—'तात यदि प्रसन्न हैं तो जहाँ वह उत्पन्न हुआ है वहीं जाने की आज्ञा मुझे भी प्रदान करें।' यह बिनती सुनकर उन्होंने कहा—'वत्स, वह पुण्डरीक तो शुकयोनि में पड़ा है। जाकर भी तुम उसे न पहचान सकोगे, और न वह तुम्हें जान पाएगा। तो तब तक यहीं रहो।' आज प्रातःकाल ही उन्होंने बुलाकर मुझे आज्ञा दी—'वत्स कपिंजल, तुम्हारा वह मित्र महामुनि जाबालि के आश्रम में पहुँच गया है। उसे अपने जन्मान्तर का स्मरण हो आया है। तो तुम अब जाकर उससे मिलो। मेरे आशीर्वाद के साथ उससे कहना—'तेरे लिये किया हुआ यह आयुष्कर कर्म जबतक समाप्त हो तबतक तू यहीं जाबालि के चरणों में ठहर। तेरे दुःख से दुःखी हुई तेरी माता लक्ष्मी भी उसी कर्म में परिचारिका बनकर तेरी सहायता कर रही है। उसने भी तेरा मस्तक सूंघकर बार-बार यही संदेश भेजा है।' यह कहकर कोमल शिरीष पुष्प के बालों जैसे सुकुमार रोओं से युक्त मेरे शरीर पर बार-बार हाथ फेरकर कपिंजल हृदय में दुःखी होने लगा। दुःखी होते हुए उससे मैंने कहा—'सखे कपिंजल, तुम दुःखी क्यों होते हो? तुमने भी मुझ अभागे के लिये घोड़े की योनि में जन्म लेकर परवश रहते हुए बहुत दुःख उठाए। सोमपान के योग्य अपने इस मुख से रुधिर मिला हुआ फेन बहाकर कटीली लगाम की रगड़ से क्या तुम क्षत विक्षत नहीं हुए? फूल चुनते समय बाल वनलताओं के स्पर्श को भी न सह सकनेवाले शरीर पर कोड़ों की मार तुमने कैसे सही होगी? ब्रह्मसूत्र धारण करनेवाले इस शरीर पर चमड़े का तंग कसे जाने की पीड़ा कैसे सही होगी?' इस प्रकार के पूर्ववृत्तान्त सम्बन्धी वार्तालाप से पक्षीयोनि का दुःख भुलाकर मैंने उस समय सुख का अनुभव किया।

[१३४]

मध्याह्न होने पर हारीत ने कपिञ्जल के साथ मुझे भी यथोचित आहार कराया। आहार के बाद कुछ देर ठहरकर कपिञ्जल ने मुझसे कहा—'तात ने तुम्हें आश्वस्त करने के लिये मुझे भेजा है और आदेश दिया है कि आयुष्कर कर्म की परिसमाप्ति तक तुम जाबालि के चरणों को छोड़कर कहीं और न जाना। मैं भी वहीं उस कर्म में लगा हूँ, अतएव अब जाता हूँ।' उसे सुनकर मैंने खिन्न होकर कहा—'सखे कपिञ्जल, ऐसी अवस्था में मैं क्या कहूँ? तात के लिये या अम्बा के लिये क्या संदेश दूँ? तुम सब जानते हो।' मेरे ऐसा

कहने पर वह बार बार मेरे वहाँ रुकने के लिए मुझसे और हारीत से भी आग्रह करके और मुझे आलिंगन देकर आकाश में उड़कर अदृश्य हो गया। सब मुनिकुमार आश्चर्यचकित होकर देखते रह गए।

उसके चले जानेपर हारीत मुझे धैर्य देकर शरीर स्थिति के लिये उठ गए और दूसरे मुनिकुमार को मेरे पास बैठा गए। स्नान आदि क्रिया करने के अनन्तर अपने साथ ही अपराह्न समय में उन्होंने मुझे भी आहार कराया।

[३३५]

इस प्रकार मन लगाकर हारीत मेरा पालन करने लगे। तब कुछ ही दिनों में मेरे पंख निकल आए। जब उड़ने की शक्ति आ गई तो मैंने सोचा—'अब जाने योग्य तो मैं हो गया हूँ। चन्द्रापीड़ के जन्म का कुछ हाल मालूम नहीं हुआ। महाश्वेता तो वहीं होगी। चित्त में बोध होने पर चन्द्रापीड़ को देखे बिना अब मेरा क्षण भर भी दुःख उठाना ठीक नहीं है। तो वहीं चलकर साथ रहूँ।' यह निश्चय करके एक दिन प्रातःकाल घूमने के लिये निकला हुआ ही उत्तर की दिशा पकड़कर उड़ चला। मुझे चलने का अभ्यास बहुत ही थोड़े दिनों का था। अतएव कुछ ही दूर जाकर थकान से मेरे अंग बिखरने से लगे। प्यास से चोंच सूख गई। गला गहरी साँस से काँपने लगा। उस हालत में पंखों ने शक्ति छोड़ दी और अब गिरा, अब गिरा, यों बेबस होकर पास में ही सरोवर के तट पर हरे पत्तों से छतनार तरुनिकुंज के ऊपर गिर पड़ा। कुछ देर में जब मार्ग की थकावट दूर हुई तब वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर पहले शीतल मन्द सुगन्ध वायु का पान किया और फिर तृप्तिपूर्वक जल पिया। फिर वहाँ जो कमल के सुकुमार बीज और अर्जुनवृक्ष के पर्णांकुर और फल थे उन्हें खाकर वहीं एक पेड़ की छाया में शाखापर बैठकर सोचने लगा कि अब दोपहर के बाद फिर कुछ मार्ग तय करूंगा।

बैठते ही मुझे मार्ग की थकान के कारण नींद आ गई। जब मैं सोकर उठा तो मैंने अपने आपको कठिन पाशों में बँधा हुआ पाया और अपने सामने साक्षात् यमराज के समान एक काले रंग के भयंकर पुरुष को खड़े हुए देखा। वह मानों ठेठ काले लोहे के परमाणुओं से बना था। दूसरे प्रेतपति सा जान पड़ता था। पुण्यों का शत्रु और पाप का भंडार ज्ञात होता था। क्रोध के बिना भी उसकी भौंहें भीषण थीं और लाल पुतली तिरछी खिंची हुई थी। उसे देखकर यम को भी एक बार डर लगने लगता। ऐसे वर्ण और चरित में काले, वस्त्र और कर्म से मैले, शरीर और वाणी से कठोर, आकार से ही क्रूर उसे देखकर मुझे प्राणों की आशा न रही। फिर भी मैंने पूछा—'भद्र, तुम कौन हो? मुझे किसलिये बाँधा है? यदि मांस की इच्छा से ऐसा किया हो तो सोते हुए मुझे क्यों मार डाला? मैं पापरहित हूँ, मुझे बंधन के दुःख में क्यों डाला? यदि केवल खेल के लिये ऐसा किया हो तो वह हो चुका। अब मुझे कृपा करके छोड़ दो। मुझे अपने प्रियजनों से मिलने की उत्सुकता है और बहुत दूर जाना

है । मेरा हृदय बिलम्ब नहीं सह सकता । तुम भी प्राणिधर्म से परिचित होने से यह बात समझते हो ।'

यह सुनकर उसने कहा—'महात्मन्, मैं क्रूर कर्म करनेवाला जाति का चाण्डाल हूँ। मैंने न मांस के लोभ से, न तमाशे के लिये तुम्हें बाँधा है । मेरा स्वामी चाण्डाल बस्ती का राजा है । वह यहाँ से थोड़ी ही दूर पर चाण्डालों से घिरे हुए स्थान में ठहरा हुआ है । उसकी पुत्री अभी खेल-खिलार की छोटी अवस्था में है । किसी ने जाकर तुम्हारे विषय में उससे कह दिया कि जाबालि के आश्रम में ऐसा गुणभरा अचरज का सुग्गा है ।' सुनते ही उसका जी तुम्हारे लिये ललचा गया और तुम्हें पकड़ने के लिये मेरे जैसे बहुत से आदमी छोड़ दिए । आज भाग्य से ही तुम मुझे मिल गए हो । मैं तुम्हें उसी के पास ले चलूँगा । वह चाहे बांधे, चाहे छोड़े ।'

[३३६]

उसे सुनते ही जैसे मेरे सिर पर बिना बादलों के गाज गिरी और दुःखी हृदय से मैं सोचने लगा—'अहो, मुझ मन्दभागी के कर्मों का और भी दारुण फल होने को है । कहाँ मैंने देव और असुरों से वन्दित चरण कमलवाली माता श्री से जन्म लिया, एवं त्रिलोकी के वन्दनीय महामुनि श्वेतकेतु के हाथ से लालित पालित होकर दिव्यलोक के आश्रम में निवास किया, और कहाँ अब मैं ऐसी चाण्डालबस्ती में प्रवेश करूँगा जहाँ म्लेच्छ जाति के लोग भी जाने से डरते हैं ! चाण्डालों के पास मुझे रहना पड़ेगा । बुड्ढे मातंगों की स्त्रियाँ जो चुग्गा खिला देंगी उसी से पेट भरना पड़ेगा । चाण्डालों के छोकरे मुझे अपना खिलौना बनाएँगे । अरे अभागे दुरात्मा पुण्डरीक, तेरे जन्म लेने को धिक्कार है जिसे कर्मों का ऐसा फल मिलनेवाला था ! गर्भ में ही तेरे सहस्र टुकड़े क्यों नहीं हो गए ? हा माता श्री, महानरक में गिरने से मुझे बचाओ । हा तात, तुम तो तीनों लोकों की रक्षा कर सकते हो, अपने अकेले इस कुलतंतु को बचाओ ! तुमने ही मुझे पाला था । मित्र कपिंजल, यदि तुरंत आकर इस पापी से मुझे न छुड़ाओगे तो जन्मान्तर में भी फिर मिलने की आशा मत रखना ।' इस प्रकार बहुत भाँति मन में विलाप करके मैंने फिर उससे गिड़गिड़ाते हुए कहा—

[३३७]

'भलेमानुस, मुझे अपने पूर्वजन्म का स्मरण है । तब मैं मुनियोनि में जन्मा था । इस अति नीच संकट से मुझे बचाकर तुम्हें धर्म होगा और आगे सुख मिलेगा । यदि अदृष्ट फल को न मानो तो भी प्रत्यक्ष संसार में यदि तुम मुझे छोड़ दोगे तो इस कारण तुम पर कुछ आँच न आएगी, क्योंकि किसी दूसरे ने तुम्हें मुझे बाँधते नहीं देखा जो जाकर कहेगा । इसलिये हे भलेमानुस, मुझे छोड़ दो ।' यों कहते हुए मैं उसके पैरों में गिर पड़ा । उसने हंसते हुए कहा—'अरे मोह से अंधे बने हुए, शुभ और अशुभ कर्म की साक्षी भरने

वाले पाँच लोकपाल[1] तो तेरे ही शरीर में बैठे हुए मुझे देख रहे हैं। जिसे ये न देखते हों वही औरों के डर से अकार्य करने से रुकने की बात सोच सकता है। अपने स्वामी की आज्ञा से मैं तुझे पकड़कर ले जा रहा हूँ।' यों कहकर वह मुझे बाँधकर चाण्डाल बस्ती की ओर ले चला।

[३३८]

उसका वह वचन मस्तक पर वज्र प्रहार की तरह मुझे लगा और मैंने यह सोचकर कि कौन से कार्यों का यह फल मुझे मिल रहा है निश्चय कर लिया कि अब प्राण त्याग कर दूंगा। जब वह मुझे ले जा रहा था तो भी मेरे मन में आशा लगी थी कि कदाचित् यह छोड़ देगा और मैं आगे ही देख रहा था। तब मुझे चांडालों की बस्ती दिखाई पड़ी। वहाँ चांडालों के छोकरे झुंड बनाकर फैले हुए भीम रूप में दिखाई पड़ रहे थे मानों कोई उनके सिर आ गया हो। उनमें से कुछ मछली पकड़ने के लिये भँवर में जाल फेंककर उसे घुमाते हुए दबके बैठे थे। कुछ उन पुरानी वागुराओं को फिर से गूँथ रहे थे जिन्हें मृगों ने तोड़ डाला था। कुछ टूटे हुए कूटपाशों[1] की फिर से मरम्मत करने में लगे थे। कुछ हाथों में धनुष और बाण लेकर शिकार की ताक में खड़े थे। कुछ हाथों में प्रास और कुछ सेल[1]

१—सिद्धिचन्द्र ने इन्द्र, यम वरुण, सोम, कुबेर को पाँच लोकपाल लिखा है। सम्भव है पाँच महाभूतों के पाँच अधिष्ठात्री देवता, जो घट घट व्यापी हैं यहाँ अभीष्ट हों।

१—वागुरा और कूटपाश में अन्तर था। वागुरा हिरनों के लिए और कूटपाश बड़े हिंस्र पशुओं के लिए काम में लाया जाता था। हर्षचरित में भी इन दोनों का उल्लेख आया है (हर्षचरित पृष्ठ २२८, सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ १८२)। वागुरा को आज भी देहात में बंगुरा कहते हैं। बंगुरा बनाने के लिये पहले दो खूंटे गाड़कर उनमें एक रस्सी बाँधकर या ताँत बाँधकर सरकने वाले फंदे लगाए जाते हैं। बंगुरे के पास दाने डाल दिए जाते हैं। उन दानों को चुगने के लिए चिड़ियाँ आती हैं। उनके पंजे जब फन्दे में पड़ते हैं तब फँस जाते हैं [अम्बाप्रसाद सुमन, कृषक जीवन की शब्दावली, अप्रकाशित निबन्ध, पृष्ठ ४०४]। बाण ने वागुरा के वलय या फन्दों को मृगों की ताँत की डोरी से बनाना लिखा है। [गृहीतमृगतंतुतंत्रीजालवलयवागुरैः, हर्षचरित]।

१—प्रास का पर्याय अमरकोष में कुन्त है। प्रास या कुन्त का ही दूसरा नाम भाला या नेजा था। नेजे की डंडी बाँस की बनी हुई १२ से १५ फुट तक लम्बी होती थी और उसके सिरे पर पत्तीनुमा या तिकोनिया फली लगी रहती थी। कुन्त का इस्तेमाल घुड़सवार या हाथी पर बैठकर लड़ने वाले ही करते थे (पदमावत संजीवनी व्याख्या, ५१८।६, चित्र ३)। आईन अकबरी में नेजा, बरछा, सांग, सेंठी और सेलार

लिए थे। कुछ कई जाति के शिकारी पक्षियों को टिटकार से ही बुलाने में कुशल थे[२]। कुछ कुत्तों के शिकार के ऊपर लहकाने और दौड़ाने में सधे थे। ये लोग बस्ती से बाहर दूर पर ही थे। कुछ और पास पहुँचकर मैंने घने बाँस के जंगल के बीच से उठते हुए मांस की गन्ध वाले धुएँ से घरों का अनुमान किया। घरों के चारों ओर हड्डी गाड़कर बाड़े बनाए गए थे। आने जाने के मार्ग में कूड़े के ढेर लगे थे जिनमें हड्डियाँ थीं। झोपड़ियों के आँगन में कटे-कुतरे मांस, मेद, वसा और रक्त का कीचड़ सा फैला हुआ था। प्रायः शिकार से ही लोगों की जीविका थी। मांस ही भोजन था। चर्बी से ही तेल का काम लिया जाता था। पहनने के लिये जंगली रेशम और बिछाने के लिए चमड़ा काम में आता था। हरएक परिवार में कुत्ते खूब थे। वाहनों में प्रायः गाएँ (धवली) जुती थीं। उनका पुरुषार्थ प्रायः स्त्री और मद्य तक सीमित था। देवताओं की बलि पूजा प्रायः रुधिर से और धार्मिक क्रिया प्रायः पशुबलि से की जाती थी। वह पक्कण बस्ती मानों सब नरकों की खान, सब अकुशल कर्मों का उत्पत्ति स्थान, सब श्मशानों का जमघट, सब पापों की मंडी और सब यातनाओं का डेरा था। उसका स्मरण भी भयंकर था, सुनने से भी जी घबराता था, देखने से भी पाप लगता था। जन्म और कर्म दोनों से ही वहाँ के लोग मलिन थे। सबका व्यवहार अत्यन्त निष्ठुर था। बालक, बुड्ढे, जवानों के आचरण में कोई भेद न था। स्त्रियों के उपभोग में गम्यागम्य की पहचान भी न थी।

[३३९]

नरक तुल्य उस स्थान को देखकर मेरा मन घिन से भरकर सोचने लगा—'क्या यह संभव है कि चांडालों के राजा की वह पुत्री दूर से ही देखकर करुणावश मुझे छुड़वा देगी और अपनी जाति के प्रतिकूल आचरण करेगी? क्या मेरा ऐसा पुण्य संभव है? यदि ऐसा हुआ तो मैं क्षण भर भी यहाँ न ठहरूंगा?' मैं यह आशा कर ही रहा था कि उस चाण्डाल ने कुरूप आकार और वेषवाली उस कन्या के सामने मुझे ले जाकर रख दिया और दूर से ही प्रणाम करके कहा—'मैं इसे पकड़ लाया।' उसने अत्यधिक प्रसन्न होकर कहा—'बहुत अच्छा किया', और उसके हाथ से मुझे अपने हाथ में लेकर कहने लगी—'अरे

पाँच प्रकार के भाले कहे हैं। उनमें सेलार ही सेल ज्ञात होता है। आईन में सेलार का वर्णन नहीं किया, केवल चित्र दिया है। ज्ञात होता है सेल लोहे का बना हुआ छोटा बर्छा था।

२—नानाविध ग्राहक विहंगवाचलनकुशलैः—ग्राहक विहंग चिड़ियों का शिकार करनेवाले श्येन या बाज जो बोली के इशारे से हवा को चीरते हुए शिकार पर टूट पड़ते हैं। इनकी कई जातियाँ हैं जैसे लग्गड़, झग्गड़, जुर्रा, बटई, बहरी, शिकरा आदि।

पुतवे, अब तो तू मेरे पास आ गया। अब फिर कहाँ जायगा ? तेरी यह मनमानी घुमक्कड़ी चाल मैं छुड़ा दूंगी।' वह यह कह ही रही थी कि एक चाण्डाल बालक दौड़कर पिंजड़ा ले आया। वह सूखे गाय के चमड़े से बने हुए गंधीले और रोंएँदार तस्मों से कसकर बाँधा गया था और उसमें पानी पीने और खाने के लिये लकड़ी की कटोरियाँ बँधी थीं। उसने लड़की के पिंजड़े का द्वार थोड़ा सा खोलकर मुझे उसमें बन्द कर दिया और साथ ही महाश्वेता से मिलने की मेरी आशाओं पर पानी फेर दिया। तब वह मुझसे बोली—'अब तू सुख से यहीं रह।' यों कह वह चुप हो गई।

उससे इस प्रकार बंद किए जाने पर मैंने मन में सोचा—'अब तो मैं बड़े संकट में पड़ा। यदि इसे अपनी अवस्था जता कर सिर से प्रणाम करके छुटकारे के लिये प्रार्थना करूँ तो जो मेरा बोलने का गुण है वही दोष बनकर मुझे बंधन में रखने का कारण बन जायगा। मैं स्पष्ट बोल लेता हूँ, इसीलिए इसने मुझे पकड़वाया है। मेरी बंधन पीड़ा से इसे क्या दुःख ? न मैं इसका पुत्र हूँ, न भाई, न बंधु। तो बस चुप ही भली है। मौन को मेरी शरारत समझ कर कहीं और कुपित होकर मेरी दुर्दशा न करे। यह जाति बड़ी क्रूर होती है। भले ही इससे भी अधिक विपत्ति में पड़ूँ, पर चाण्डालों के साथ बात न करूँगा। यह भी हो सकता है कि मेरे चुपचाप रहने से खीजकर यह मुझे छुड़वा दे। यदि बोला तो फिर यह मुझे कैसे भी न छोड़ेगी। मैं दिव्य लोक से गिरकर मर्त्यलोक में जन्मा, फिर पक्षी की योनि में पड़ा और फिर चाण्डाल के हाथ में आया—यह सब इन्द्रियों को संयम में न रखने के अपराध का ही फल है। तो अकेले वाणी को ही रोकने से क्या, अब सभी इन्द्रियों को वश में करूँगा।' यह सोचकर मैंने मौन ग्रहण कर लिया। उसने मुझसे बातचीत की, डराया, मारा और जबरदस्ती मेरे पंख तोड़ने लगी, तो भी मैं कुछ न बोला। केवल जोर से टें-टें करता रहा। मुझे दाना-पानी दिया गया पर मैंने वह दिन बिना खाए ही बिता दिया। अगले दिन जब आहार का समय बीतने को हुआ और मेरा हृदय बैठा जा रहा था तब वह अपने हाथ से भाँति-भाँति के कच्चे-पक्के फल और सुगन्धित शीतल जल ले आई। जब मैंने उन्हें भी स्वीकार न किया तो मेरे ऊपर प्रेम से दृष्टि डालती हुई बोली—'भूख और प्यास से व्याकुल, पशु-पक्षी लाए हुए आहार का उपभोग न करें, यह बात समझ में नहीं आती। यदि तू ऐसे ही भोज्य-अभोज्य का विवेक करनेवाला अपने पूर्वजन्म का स्मरण करके हमारा दिया हुआ आहार लेता हो, तो यह पक्षी की योनि भक्ष्य और अभक्ष्य के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करती। कौन सा अभक्ष्य है जो तुझे इस योनि में न खाना पड़ेगा ? तूने ऊँची जाति में जन्म लेकर स्वयं ऐसा कोई कर्म किया जिससे तुझे पक्षी की योनि में आना पड़ा है। तुझे अब और क्या सोचना है ? पहले तैने अपने आपको विवेक में नहीं रक्खा। अब तुझे अपने कर्म के अनुसार जो जाति मिली है उसके अनुसार आचरण करने में क्या दोष मानता है ? जिनके लिये भक्ष्य-अभक्ष्य का नियम है उन्हें भी आपत्काल में प्राणों की रक्षा के लिये अभक्ष्य का सेवन शास्त्र में कहा है। तेरे जैसों की तो बात ही क्या है ? फिर मैं तो तेरे खाने के लिये ऐसी कोई वस्तु नहीं लाई जिससे तुझे चाण्डाल के घर का

भोजन कर लेने में डर हो। फल तो चाण्डालों से भी स्वीकार किए जा सकते हैं। पानी भी यदि चाण्डाल के पात्र से पृथिवी पर बहने लगे तो लोग उसे पवित्र मानते हैं। तो तू अपने को भूखा-प्यासा क्यों मारता है? क्यों मुनिजनों के स्वीकार करने योग्य इन वनफलों को नहीं खाता और पानी पीता?' चाण्डाल कन्या के लिये कुछ विलक्षण उसके उस कथन और उस ज्ञान को देखकर मेरे मन में आश्चर्य हुआ और मैंने शाप की दशा में घृणा छोड़कर जीने की इच्छा से भूख और प्यास की शान्ति के लिये आहार स्वीकार कर लिया, पर अपना मौन नहीं छोड़ा।

[३४०]

यों कुछ समय बीतने पर जब मैं बड़ा हो गया तो एक दिन प्रातःकाल मैंने अपने आपको सोने के पिंजड़े में बंद पाया। वह चांडाल कन्या उस समय जैसी थी उसे महाराज ने देखा ही है। वह समस्त चांडाल बस्ती मुझे स्वर्गपुरी जैसी लगने लगी और चाण्डालों के बीच में रहने का मेरा शोक जाता रहा। अचरज से भरकर मैं जबतक 'यह सब क्या है?' इस प्रकार पूछूँ, यह मुझे लेकर देव के चरणों में आ उपस्थित हुई। तो यह कौन है? क्यों इसने अपने को चाण्डाल रूप में प्रसिद्ध किया? क्यों मुझे पिंजड़े में बंद किया? बाँधकर क्यों यहाँ लाई? इस विषय में जैसा देव को जानने का कुतूहल है वैसे ही मुझे भी है।'

[३४१]

राजा ने यह सुनकर और भी अधिक कुतूहल से भरकर सामने खड़ी हुई प्रतीहारी को आदेश दिया—'उस चाण्डाल कन्या को बुलाकर लाओ। तत्काल ही वह उसके दिखाए हुए मार्ग से भीतर आई और सामने सीधी खड़ी होकर अपने तेज से राजा को भी चाँपते हुए निधड़क बोली—'भुवन-भूषण, रोहिणीपते, तारारमण, कादम्बरीलोचनानंद चंद्र, आपने न केवल इस दुर्बुद्धि का, वरन् अपने भी पूर्वजन्म का सारा वृत्तांत सुन लिया है। इस पक्षीजन्म में ही पिता के निषेध करने पर भी यह कामराग से अंधा होकर पिता की आज्ञा का उल्लंघन करके ऋषि का आश्रय छोड़कर वधू महाश्वेता से मिलने के लिये चल पड़ा, यह तो इसने स्वयं ही बता दिया। मैं इस दुरात्मा की माता लक्ष्मी हूँ। इस तरह प्रस्थान करते हुए इसे दिव्यचक्षु से देखकर इसके पिता ने मुझे आज्ञा दी—'अविनय के मार्ग में पड़ा हुआ हरेक व्यक्ति पश्चात्ताप के बिना उससे छुटकारा नहीं पाता। ऐसा न हो कि तेरा यह पुत्र पक्षी जाति से भी अधम और किसी योनि में जा पड़े। इसलिये तू तब तक इसे मर्त्यलोक में ही बाँधकर रख, जब तक उसके कल्याण के लिये किया हुआ मेरा कर्म समाप्त नहीं हो जाता। तू ऐसा यत्न करना कि जिससे इसके मन में अपराध के लिये पश्चात्ताप उत्पन्न हो।' अतः मैंने ही इसे विनय सिखाने के लिये यह सब रचना रची थी। अब वह कर्म समाप्त हो चुका है। शाप के अन्त होने का समय आ गया है। शाप के अंत में आप

दोनों एक ही साथ मिलकर सुखी हों, इसलिए मैं इसे आप समीप ले आई थी। यहाँ भी जो मैंने अपनी जाति चाण्डाल बताई, वह लोक सम्पर्क से बचने के लिए ही। अब आप दोनों साथ-साथ जन्म जरा-व्याधिमरण आदि दुःखों से भरे हुए अपने-अपने शरीर त्यागकर प्रियजनों के साथ समागम का सुख अनुभव करें।' यह कहकर वह आभूषणों को झंकारती हुई पृथिवी से आकाश में उड़ गई और सब लोग आश्चर्य से उत्फुल्ल नेत्रों से अन्तरिक्ष की ओर देखते हुए रह गए।

[३४२]

लक्ष्मी का वचन सुनकर राजा को भी अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और उसने कहा—'सखे वैशम्पायनाख्य पुण्डरीक, यह हर्ष की बात है कि हम दोनों के शाप का अन्त साथ ही हुआ।' राजा के यों कहते ही कामदेव कान तक धनुष तानकर कादम्बरीरूपी परम अस्त्र को आगे करके लुटेरे के समान उसके प्राण लेने के लिये सब दिशाओं को रोककर सामने डट गया। काम ने जैसे ही अपना पैर जमाया, राजा का हृदय मानों अपने स्थान से निर्वासित होकर कादम्बरी की शरण में चला गया। काम के बाण हमें छेद न डालें, इस डर से भीतर के प्राण गरम उसांसों के रूप में बाहर आ गए। काम के बाणों में लगे हुए पंखों से उठी हवा ने जैसे उसके शरीर को कँपा डाला। उसके बाणों से जो धूल उठी उससे नेत्रों से अश्रुजल गिरने लगा और उसी ने मुख के लावण्य को पीला बना दिया। उसके धनुष की टंकार सुनकर हृदय में जो वेदना हुई उससे नेत्रों का तिहाई भाग मिचमिचाने लगा। इस प्रकार काम के बाणों की चौमुखी मार ने उसके सारे रूप को बिगाड़ डाला। भीतर जो कामाग्नि भभक उठी, उसके धुएँ से काँपता हुआ अधर-किसलय सूख गया। काम के ताप से विरस बना हुआ ताम्बूल मुँह से गिर पड़ा, मानों भीतर से निष्पीड़ित रागयुक्त हृदय ही बाहर आ गया हो। जैसे गीली लकड़ी सिमसिमाती है ऐसे ही काम-ताप से जलते हुए उसके अंगों से स्वेद निकलने लगा। काम के बाणों ने उसके सारे अंगों को कील कर पराधीन कर दिया। कादम्बरी को सामने करके कामदेव जो पीड़ा देने लगा, उसे हटाने में सब ताप हरनेवाली वस्तुएँ भी समर्थ न हुईं, क्योंकि कादम्बरी के अंगों की रूप शोभा के सामने वे स्वयं परास्त हो चुकी थीं। जैसे, कादम्बरी के हाथ और पैरों की शोभा ने कमल किसलयों को, दृष्टि ने नीलोत्पल पुष्पों की माला को, कपोलों ने मणिदर्पणों को, बाहुलता ने मृणालों को, नखरश्मियों ने चन्द्र किरणों को, मंद स्मित ने कपूर धूलि को, दन्त किरणों ने मुक्तामालाओं को, मुख ने चन्द्रमा के बिम्ब को, लावण्य ने ज्योत्स्ना को, नितम्बों ने मणि-वेदिका कुट्टिमों को जीत लिया था। कादम्बरी के उन उन अवयवों के स्मरण से उत्पन्न हृदय की पीड़ा को इनमें से कोई भी सामग्री कम न कर पाती थी, क्योंकि ये स्वयं उसकी रूप शोभा के सामने हार चुकी थी। इस प्रकार जब बाह्य उपचार व्यर्थ हो गए और अन्य किसी भी विनोद से उसके हृदय को शांति न प्राप्त हुई, तो वह उसी का ध्यान करने लगा, उसी की कल्पना हृदय में भरने लगा, उसी की अभिलाषा करने लगा, उसी को देखने लगा, उसी की चर्चा करने लगा, उसी का आलिंगन करने लगा, उसी के साथ रहने लगा, उसी

के साथ मान-मनावन करने लगा, उसी के पैरों में पड़ने लगा, और उसी के साथ केलि करने लगा, सब काम छोड़कर एकमात्र उसी के साथ रमण में लीन हो गया, यहाँ तक कि दिन में भी आँख न खोलता था, रात में भी न सोता था, मित्रों से भी बात न करता था, न्याय-व्यवहार (कार्य) के लिए आए हुए व्यक्तियों से भी न मिलता था, गुरुजनों को भी प्रणाम न करता था, धार्मिक क्रियाओं के लिए भी समय न देता था, सुखों से भी उसने मन खींच लिया था, दुःखों से भी उसे कुछ भय न होता था, मरने से भी वह न डरता था, गुरुओं की भी उसे लज्जा न रही, अपने ऊपर भी कुछ छोह न रहा। और तो क्या, कादम्बरी के साथ समागम के लिये भी उसने चेष्टा छोड़ दी। बार-बार मूर्छित होकर मानों प्राण त्यागने के व्यायाम का अभ्यास करने लगा।

उसके परिजनों की उस समय विचित्र दशा हुई। वे व्याकुल होकर उसके लिए भाँति भाँति की उपचार सामग्री लाने लगे। उनके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी और मुंह सूख गया। उनके पास कहने के लिये शब्द न रहे। जिस वैशम्पायन के कारण उनकी यह दशा हुई थी उसे ही बुरा भला कहने लगे। फिर उन्होंने उसके मदनानल को शान्त करने के लिये एवं सूखकर काष्ठ हुए देह को जलने से बचाने के लिये नाना प्रकार के उपचार करना आरम्भ किया। वे पैरों से लेकर सिर तक सारी देह में चंदन की चर्चा करने लगे। उसके पैरों में कमलिनी के गीले पत्तों का स्पर्श कराने लगे। कपूर चूरा छिड़क कर बरफ के टुकड़े उसके हाथों पर रखने लगे। बरफ में ठंढी की हुई हारयष्टियाँ उसके हृदय पर पहनाने लगे। कुछ स्फटिक के मणिदर्पण कपोल पर रखने लगे। चन्द्रकांत मणि ललाट के किनारे रख कर शीतलता पहुँचाने लगे। कुछ कंधे पर कमलनाल रखने लगे। कुछ केलों के पत्तों से हवा करने लगे। कुछ तालवृंत के पंखे झलकर जल से आर्द्रवायु का संचार करने लगे। कुछ पुष्पों की शय्या रचने लगे। कुछ धारागृह में जलयंत्र चलाकर पीड़ा हरने लगे। कुछ मणिकुट्टिम को ठंढे जल से धोकर उस पर गीले परागवाले कमल के फूलों के ढेर रखने लगे। कुछ शीतल किए हुए भूमिगृहों में उसकी देख-भाल करने लगे। उद्यान-दीर्घिका के तट पर लताओं के मण्डप में जल की फुहार छिड़क कर उसका संताप हरने लगे। कुछ उसे चन्दन के रस, चंद्रमा द्वारा चंद्रकांत से चुए हुए जल, और कपूर (चंद्र) की सहायता से शांति पहुँचाने लगे। इस प्रकार आप्त परिजन उसकी परिचर्या में लगे थे। राजा के साथ-साथ पुण्डरीकात्मा वैशम्पायन की भी महाश्वेता के लिये उत्कंठित होने से वैसी ही अवस्था हो गई।

[३४३]

उसी समय मानों उस कामाग्नि को और भड़काने के लिये चैत्र मास अपने पूरे रूप में आ पहुँचा। लताओं के सरस किसलयों को नचाती हुई मलयानिल वायु बहने लगी। अशोक वृक्ष के झूलते हुए लाल झुग्गे हिलने लगे। बाल सहकार नई मंजरी के भार से झुक

गए। कुरबक, बकुल, तिलक, चम्पा और नीप में कलियों ने फुटाव लिया। किंकिरात[1] वृक्षों से दिशाएँ पीली हो गईं। अतिमुक्तक लता की सुगंधि चारों ओर फैल गई। किंशुक के लाल वन लहलहा उठे। कामियों के मनों को निरंकुश बनाता हुआ, मान को निर्मूल करता हुआ, लज्जा को विगलित करता हुआ, कोप को हटाता हुआ, हठचुम्बन आलिंगन आदि को स्थापित करता हुआ, काम की रक्त ध्वजाओं के समान पलाशवृक्षों को हुलसाता हुआ वसंत चारों ओर छा गया। उसने सब प्राणियों को जैसे रागमय, मदनमय, उन्माद-मय, प्रेममय, उत्सवमय, उत्कण्ठामय बना डाला और सब को पाण्डुवर्ण करके स्वर्ण से निर्मित के समान कर दिया। कान्तार, कानन और उपवनों के वृक्षों में लाल कोपलें फूट आईं। दसों दिशाओं में फूली हुई आम्रमंजरी गमक उठी। पुष्पों का मधु चखने से मत्त हुई कोयलों का मधुर आलाप पांथों को दुःखित करने लगा। पुष्पों के मकरन्द की झरती हुई फुहार से लोगों के हृदय झूमने लगे। मदाकुल मत्त भौंरों की झंकार सुनकर विरहीजनों का मन कातर हो उठा।

[३४४]

कामदेव के प्रधान सहायक उस वसंत ने कादम्बरी के हृदय को भी पर्याकुलित कर दिया। उसी समय भगवान् कामदेव का मह (उत्सव) मनाने की पुण्य तिथि आई। कादम्बरी ने कठिनाई से वह दिन व्यतीत किया। सायंकाल के समय स्नान करके मदन की पूजा की। भगवान् कुसुमायुध के सामने चन्द्रापीड़ को सुगंधित शीतल जल से पहले स्नान कराया, फिर क्रमशः सिर से लेकर पैर तक उनकी देह में कस्तूरी से सुगंधित हरिचंदन का लेप लगाया। केशों में सुगंधित पुष्प मालाएं गूँथीं। एक कान में किसलय सहित अशोक के पुष्प का कर्णपूर पहनाया और कर्पूर और पुष्पों से बने हुए आभरणविशेषों से उनका प्रसाधन किया।[1] तब पलक मारना भूलकर भावार्द्र दृष्टि से उनके रूप का पान करने लगी। देरतक उनकी ओर देखकर उत्सुकतावश पुनः उसासें छोड़ते और काँपते हुए शरीर से रोमांचित और स्वेदजल से युक्त होकर सहसा त्रिलोकी को उन्माद से भर देनेवाले भगवान् कामदेव को वह वश में न रख सकी। महाश्वेता कहीं देख न ले, इस आशंका से इधर उधर चकित नयनों से देखकर चंद्रापीड़ के शरीर के और निकट आकर वह अबला-जनोचित भय और लज्जा छोड़कर एवं नेत्र मीचकर सहसा उनके कंठ से लिपट गई मानों वे जीवित ही हों।

१—किंकिरात पीले पुष्पों का कोई वृक्ष होना चाहिए। यह आरग्वध या अमल-तास का वृक्ष ज्ञात होता है जो वसन्त में फूलता है और अपने पीले रंग से किरातों के पीले रंग को भी जैसे तिरस्कृत करता है (किंक्रियते किरातः येन)।

१—कर्पूरकुसुमप्रायैः प्रसाध्याभरणविशेषैः—प्राचीनकाल में कर्पूर गुटिकाओं से हार आदि भाँति-भाँति के आभूषण बनाए जाते थे। अब भी यह कला कहीं-कहीं बच गई है।

[३४५]

अमृत की वृष्टि से जैसा आह्लाद मिलता है वैसा ही कादम्बरी के कंठालिंगन से चन्द्रापीड़ को हुआ एवं शूद्रक के शरीर में दूर गए हुए उनके प्राण तत्काल कंठदेश में लौट आए। दिन के ताप से मुकुलित कुमुद जैसे शरत् की चाँदनी छिटकने से खिल जाता है ऐसे ही उनके निष्पन्द हृदय में पुनः श्वास प्रश्वास चलने लगा। जैसे प्रभातकालीन किरणों के स्पर्श से नीलोत्पल के मुकुल खिल जाते हैं वैसे ही कान तक दीर्घ नेत्र खुल गए। मुख कमल के समान प्रफुल्लित हो गया। सोते से जागे हुए के समान सब अंगों में चेष्टा लाते हुए चंद्रापीड़ ने कंठलग्न कादम्बरी को चिरविरह से दुर्बल अपने बाहुओं में और भी कसकर भर लिया। तब वायु से कँपाई हुई बालकदली के समान कादम्बरी की शरीर यष्टि काँपने लगी। उसके नेत्र आमीलित हो गए। वह जैसे उनके वक्षःस्थल में प्रवेश कर जाने की इच्छा करती हुई न उन्हें छोड़ने में और न पकड़ने में स्वतः समर्थ हो सकी। तब श्रोत्र और हृदय को आनन्द देनेवाले पूर्वपरिचित स्वर में चंद्रापीड़ ने उससे कहा—

[३४६]

'भीरु, भय दूर करो। तुम्हारे कंठालिंगन से ही मैं पुनः जीवित हुआ हूँ। अमृत से उत्पन्न हुए अप्सराओं के कुल में तुमने जन्म लिया है। क्या तुम्हें मेरा वह वचन याद नहीं ? मैंने कहा था कि अमृतमय चान्द्र तेज से बना हुआ मेरा शरीर स्वतः ही अविनाशी है, पर कादम्बरी के स्पर्श से पुष्ट हुआ तो और भी विशेष है। इतने दिनों तक तुम्हारे हाथों का स्पर्श करते हुए भी जो मैं फिर जीवित नहीं हुआ यह शाप का दोष था। आज तुम्हारे कारण दूसरी बार असह्य मदन ज्वर की सन्ताप वेदना के परम दुःख का अनुभव करने के बाद वह शाप दूर हुआ है। तुम्हारा विरह दुःख अनुभव करानेवाले शूद्रक की मानुषी देह मैंने छोड़ दी। मेरे इस शरीर के लिये तुम्हें अनुराग उत्पन्न हो गया था, इसी कारण तुम्हारी प्रीति से यह देह सुरक्षित और पालित हुई। अब यह लोक और चन्द्रालोक दोनों ही तुम्हारे चरणों के अधीन हैं। तुम्हारी प्रियसखी महाश्वेता के प्रियतम का भी शाप मेरे ही साथ दूर हो गया है।' जब चन्द्रापीड़ के शरीर में छिपे हुए भगवान् चन्द्रमा ने इस प्रकार कहा, तो चन्द्रलोक में निवास के कारण शरीर में बसी हुई अमृत की सुगंधि फैलाते हुए, उसी वेष में जिसमें वह महाश्वेता की उत्कण्ठा लेकर उपरत हुआ था, वैसे ही कंठ में एकावली पहने हुए, श्रृंगार रहित अंगों और पांडु मुख से पुंडरीक भी कपिंजल का हाथ पकड़े हुए आकाश से उतरता हुआ दिखाई पड़ा।

[३४७]

उसे दूर से देखते ही कादम्बरी चंद्रापीड़ के वक्षस्थल को छोड़कर स्वयं दौड़ती हुई महाश्वेता के कंठ से लिपट गई। जबतक वह पुण्डरीक के आने की प्रसन्नता में उसे

बधाई भी न दे पाई थी तबतक पुण्डरीक चन्द्रापीड का रूप धारण किए हुए चन्द्र के पास जा पहुँचा। चन्द्रापीड ने उसे कण्ठ से लगाकर कहा—'सखे पुण्डरीक, यद्यपि पूर्व जन्म के सम्बन्ध से तुम मेरे जामाता हुए, उसके बाद के जन्म में जो मित्र स्नेह तुमने प्रकट किया अब उसी भाव से तुम्हें मेरे साथ व्यवहार करना है।'

चन्द्रापीड इस प्रकार कह ही रहे थे कि केयूरक चित्ररथ और हंस दोनों को बधाई देने के लिये हेमकूट चला गया। मदलेखा भी दौड़ती हुई मृत्युंजय मंत्र का जप करते हुए तारापीड के और विलासवती के पास पहुँची और उनके चरणों में प्रणाम करके उच्च स्वर से कहने लगी—'देव, देवी के साथ आपको बधाई है। वैशम्पायन के साथ युवराज जीवित हो उठे हैं।' राजा यह सुनकर ऐसे प्रसन्न हुए कि उन्होंने शरीरसंस्कार न होने के कारण घने बालों से भरी हुई अपनी भुजाओं में समाचार लाने वाली मदलेखा को भर लिया। फिर हर्ष से परवश हो विलासवती के कंठ से लगकर डगमग पैरों से ताललयरहित नाचने लगे। उनके कंधों में जरा के कारण झुर्रियाँ पड़ गई थीं। उत्तरीय कुछ नीचे खिसक आया था। उसे उन्होंने फिर सरकाकर कंधे पर डाल लिया। अनेक राजाओं ने उन्हें घेर लिया और उस समय नाचते हुए वे मलयानिल से इतस्ततः प्रेरित कमल सरोवर के समान सुशोभित हुए। फिर वे मदलेखा से पूछने लगे—'वह कहाँ है? वह कहाँ है?' अपने ही समान हर्ष से भरे हुए शुकनास से कंठ मिलकर वहीं पर आए।

चंद्रापीड को उस प्रकार पुण्डरीक से गले मिलते देखकर आनन्द में भरकर तारापीड ने शुकनास से कहा—'यह सौभाग्य है कि पुत्र के फिर जीवित होने के आनन्द का मैंने अनुभव अकेले ही नहीं किया।' चन्द्रापीड ने उस प्रकार हर्षविभोर पिता को देखते ही पुण्डरीक को छोड़कर पहले की भाँति पृथिवी पर सिर रखकर पिता के चरणों में प्रणाम किया। तारापीड ने शीघ्रता से आगे बढ़कर उन्हें उठाया और कहा—'शाप दोष से या अपने पुण्य से मैं तुम्हारा पिता हूँ, पर तुम तो जगद्-वन्दनीय लोकपाल हो। मुझमें भी नमस्कार के योग्य जो दैवी अंश था वह मैं तुमको ही सौंपता हूँ। अतः दोनों रूपों में अब तुम्हीं नमस्कार के योग्य हो।' यों कहते हुए राजा तारापीड सहस्रों राजपुत्रों के साथ चन्द्रापीड के चरणों में गिर गए। विलासवती पिता को यों प्रणाम करते देख अत्यन्त प्रसन्न हुई और अपने अंगों में न समाकर पुनः पुनः चंद्रापीड के मस्तक, ललाट और कपोलों को चूमती हुई देर तक गाढ़ालिंगन करती रही। माता से छूटकर चंद्रापीड ने शुकनास के पास जाकर बार बार उन्हें प्रणाम किया और शुकनास ने अनेक आशीर्वाद दिए। तब वे क्रमशः अपने माता-पिता एवं शुकनास-मनोरमा के पास जाकर विनय और लज्जा से नम्रमुख पुण्डरीक को दिखाते हुए कहने लगे—'यही आपका वैशम्पायन है।'

[३४८]

उसी समय कपिंजल ने आकर शुकनास से कहा—'भगवान् श्वेतकेतु ने आपके लिये यह संदेश भेजा है। इस पुण्डरीक को मैंने केवल पाल-पोस कर बड़ा किया, पुत्र तो

यह आपका ही है। इसका भी आप में ही प्रेम है। यह वैशम्पायन ही है, आप ऐसा जानकर अविनय से इसे बचावें। यह दूसरा है, इस भाव से उपेक्षा न करें। शाप से छूट जाने पर भी जो मैंने इसे अपने पास नहीं बुलाया वह इसी कारण कि यह आपका ही है। इसे चन्द्रमा के बराबर आयुष्य देकर मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ। अब मेरी सत्वनामक ज्योति (मन) दिव्यलोक से भी ऊपर जाने के लिये उद्यत है।'

शुकनास ने विनयानवत पुण्डरीक के कन्धेपर हाथ रखकर कपिंजल से कहा—'सब जगत् का अभिप्राय जाननेवाले भगवान् श्वेतकेतु ने यह संदेश क्यों भेजा ? मैं तो स्वयं ही इसके स्नेह से कभी तृप्त न हो सकूँगा।' इस प्रकार पूर्वजन्म के वृत्तांत के स्मरण की बातचीत करते हुए और एक दूसरे को सुखपूर्वक देखते हुए उन सबकी वह रात अनजाने में ही बीत गई। प्रातःकाल मदिरा और गौरी के साथ गन्धर्वराज चित्ररथ और हंस सब गन्धर्वों को लिए हुए वहाँ आए। आकर उन्होंने अपनी लजीली पुत्रियों को देखकर हृदय में आनंद पाया। दोनों जामाताओं के दर्शन से उनके मुख प्रफुल्लित हुए। फिर वे तारापीड़ और शुकनास के साथ समधियाने के योग्य बातचीत करते रहे। इस प्रकार वह महोत्सव सहस्रगुना आनन्ददायक हुआ।

[३४९]

उसी महोत्सव के बीच में चित्ररथ ने तारापीड़ से कहा—'अपना भवन विद्यमान होते हुए यह महोत्सव अरण्य में क्यों किया जाय ? यद्यपि परस्पर की अभिरुचि से निष्पन्न हुआ यही विवाह हम सबके लिये धर्मसंमत है, तो भी लोक विधि का पालन होना ही चाहिए। अब कृपया मेरे स्थान पर चलें। वहाँ से इच्छानुसार अपने देश को या चन्द्रलोक में जाइएगा।' तारापीड़ ने कहा—'गन्धर्वराज, जहाँ सर्वाधिक संपत्ति सुख मिले वह बन भी भवन के समान है। ऐसा सम्परसुख मैंने और कहाँ पाया ? और इस समय तो सब भवनों को मैं आपके जामाता को सौंप चुका हूँ। बहू के साथ उन्हें आप सुखानुभव के लिये राजभवन में ले जायँ।' यह सुन चित्ररथ ने कहा—'राजर्षि, जैसी आपकी इच्छा।' और फिर चन्द्रापीड़ को साथ ले हेमकूट को चले गए। वहाँ जाकर उन्होंने अपना सारा राज्य कादम्बरी सहित चन्द्रापीड़ को अर्पित करने की इच्छा की। हंस ने भी महाश्वेता के साथ पुंडरीक को उसी प्रकार अपना राज्य देने का मनोरथ कहा। पर वे दोनों तो बहू पाने से ही मन में प्रसन्न थे, उन्होंने और कुछ न लिया।

[३५०]

जन्म से चाहे हुए हृदयेश्वर के लाभ से प्रसन्न हुई और स्वजनों के बीच में सब भाँति सुखी कादम्बरी ने किसी समय वासभवन में बैठे हुए चंद्रापीड़ रूपी चंद्रमा से खिन्नमुख से पूछा—'आर्यपुत्र, हम सब तो मरकर फिर जी गए और आपस में मिल भी गए। वह बेचारी पत्रलेखा हमारे बीच में नहीं दिखाई देती। उस अकेली का समाचार हमें विदित

नहीं।' चंद्रापीड़ रूपी चंद्रमा ने सुनकर प्रसन्न मन से कहा—'प्रिये, वह यहाँ कहाँ? वह तो मेरे दुःख से दुःखी हुई रोहिणी थी जिसने मेरे शाप को सुनकर 'तुम अकेले मर्त्यलोक में रहने का दुःख कैसे सहोगे?' यह कहकर मेरे रोकने पर भी मुझसे पहले ही मेरे चरणों की सेवा के लिये मर्त्यलोक में जन्म ले लिया था। मर्त्यलोक से जब मैं जन्मान्तर में शूद्रक के शरीर में गया तब मेरे साथ ही शरीर छोड़कर वह फिर मर्त्यलोक में उत्पन्न होना चाहती थी, पर मैंने हठपूर्वक उसे रोककर चंद्रलोक में ही भेज दिया। तुम वहीं उसे देखोगी।' यह सुनकर कादंबरी रोहिणी की उदारता, स्नेहालुता, महानुभावता, पातिव्रत्य, सुकुमारता और दक्षता से हृदय में विस्मित होकर अत्यन्त लज्जित हुई, पर कुछ कह न सकी।

[३५१]

इतने में ही काल के स्वामी भगवान् चंद्रमा को कादंबरी के साथ जिस सम्भोग सुख की दो जन्मों से इच्छा थी उसे सुलभ बनाने के लिए दिवस हट गया और ललाई लिए हुए संध्या आ गई, मानों अनुराग की पताका फहराने लगी। फिर अभिसार के लिये हुलसाती हुई संध्या रूपी बहू की लज्जा को ढकने के लिये नीला अवगुण्ठन अर्पित करती हुई रात्रि फैल गई। सारा जगत चंद्रमा के उदय से रमणीय हो उठा। यों जब रात भर गई, तो चंद्रापीड़ ने कादम्बरी के साथ चिरवांछित प्रथम सुरत सुख का अनुभव किया और दस रात तक वहाँ इस प्रकार ठहरे रहे मानों एक दिन निवास किया हो। फिर वे हृदय में सन्तुष्ट हुए सास-ससुर से बिदा लेकर पिता के पास चले आए।

[३५२]

वहाँ आते ही उन्होंने अपने साथ क्लेश भोगने वाले सब राजाओं को अपने समान सुखी करके राज्य का भार पुण्डरीक को सौंप दिया। स्वयं वे सर्वस्वत्यागी अपने माता पिता के चरणों की सेवा करते हुए कभी जन्मभूमि के स्नेह से उज्जयिनी में निवास करते जहाँ इस अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त से प्रसन्न हुए नैगमजन उनकी ओर स्नेहभरी दृष्टि से देखते थे, कभी गन्धर्वराज का सम्मान करते हुए अनुपम रमणीय और अति महिमा-शाली हेमकूट में जाकर निवास करते, कभी रोहिणी के सम्मान की इच्छा से अमृत की सुगन्धि से सुरभित और शीतल चन्द्रलोक में जाकर रहते, और कभी पुंडरीक को प्रसन्न करने के लिये रात दिन खिलनेवाले सहस्रपत्र कमलों से भरे हुए लक्ष्मी के उस वासस्थान अच्छोद के तटपर निवास करते थे। कादम्बरी की रुचि के अनुसार और भी अधिकाधिक रमणीय स्थानों में दो जन्मों से चाहे हुए एवं कभी न समाप्त होनेवाले सुखों का उसके साथ उपभोग करते हुए न केवल चन्द्रमा कादम्बरी के साथ, बल्कि कादम्बरी महाश्वेता के साथ, महाश्वेता पुण्डरीक के साथ, और पुण्डरीक फिर चन्द्रमा के साथ परस्पर अवियुक्त रहकर आनन्द की परमकोटि को प्राप्त हुए।

परिशिष्ट १

कादम्बरी : एक अध्यात्म-संकेत

कादम्बरी एक अनुपम कथा-काव्य है। कथा-रस की दृष्टि से वह भव्य और पूर्णतम कृति है। परन्तु इस महती कथा के पीछे कवि का एक ध्येय था। समस्त कथासूत्र और उसके पात्र उस ध्येय के लिये समर्पित हैं। उसके प्रकाश में वे अध्यात्म के प्रतीक हैं। शूद्रक के वर्णन से कथा का आरम्भ होता है। राजा के लिये शूद्रक नाम कुछ विचित्र है। शूद्रक कौन है? कवि ने यह नाम क्यों चुना? शूद्रक की सभा में पंजरबद्ध वैशम्पायन सुग्गा किसका प्रतीक है? चन्द्रापीड़ कौन है? पुण्डरीक कौन है? अच्छोद सरोवर क्या है? महाश्वेता और गौरी किसके प्रतीक हैं? इन्द्रायुध कौन है? क्यों पत्रलेखा उसे लेकर अच्छोद सरोवर में कूद जाती है? जैसा ऊपर कहा है कादम्बरी कथा के मुख्य मानवीय पात्र चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन तीन जन्मों में हमारे सामने आते हैं। ये तीन जन्म कौन से हैं? कवि ने क्या जानकर यह जन्म-शृङ्खला रक्खी है? अप्सरा-तत्त्व क्या है? गन्धर्व कौन हैं? अप्सराओं के चौदह कुलों का अभिप्राय क्या है? दो ही गन्धर्व-कुलों से सृष्टि क्यों होती है? जाबालि ऋषि किसके प्रतीक हैं? अन्त में कादम्बरी तत्त्व क्या है जिसके विलक्षण सौरभ से यह कथा सुरभित है? इन प्रश्नों पर जिस दृष्टि से प्रकाश पड़े वही बाण का मूल अर्थ था।

कालिदास और बाण भारत की स्वर्णयुगी संस्कृति के प्रतिनिधि थे। वे अपने युग के लिये कुछ सन्देश देना चाहते थे। वही वाणी उनकी कृतियों की पृष्ठभूमि है। सृष्टि और मानव की सबसे महती समस्या काम है। उसी का समाधान इन क्रान्तदर्शी कवियों को अभीष्ट था। काम के दो रूप हैं—उच्चरूप प्रेम है, सामान्यरूप वासना है। एक ऊर्ध्वगामी, दूसरा अधोगामी है। प्रेम नित्य है, वासना अनित्य है। प्रेम मुक्ति का कारण है, वासना बन्धन का हेतु है। प्रेम का फल आनन्द है, वासना का शोक है। भौतिक स्थूल रूप की आसक्ति वासना है। वही शाप है। तप द्वारा उसकी शुद्धि होती है। तप से ही शापग्रस्त मानव का उद्धार होता है। तप द्वारा शापमोक्ष—यही कालिदास का मेघदूत है। यही शकुन्तला है। तप द्वारा रूपासक्ति से मुक्ति—यही कुमारसम्भव है, जैसा कवि ने स्पष्ट कहा है—

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां तपोभिरास्थाय समाधिमात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

(कुमार० ५।१-२)

शिव ने तप और समाधि के नेत्र से पार्वती के सामने ही काम को भस्म कर दिया। पार्वती के मन में जो स्थूलरूप का गर्व था, वह ध्वस्त हो गया। अतएव पार्वती ने तप के मार्ग से समाधि प्राप्त करके रूप को सफल बनाने का संकल्प किया। इसी मार्ग से उन्हें अखण्ड अमृत प्रेम और शिव तत्त्व की उपलब्धि हुई।

जो कालिदास ने काव्य और नाटक द्वारा कहा था, वही बाण ने कथा द्वारा कहा। काव्य, नाटक और कथा, ये अभिव्यक्ति की तीन शैलियाँ हैं। काव्यरूप में गाकर, नाटकरूप में देखकर, कथारूप में कहकर मानव अपने अनुभव के अर्थों को वाङ्मय का रूप देता है। अर्थ और वाक् या अक्षर का परस्पर यही तीन प्रकार का सम्बन्ध बनता है। कुमारसंभव, शकुन्तला, कादम्बरी—ये तीन महान् ग्रन्थ उस स्वर्णयुग की अध्यात्मवाणी को तीन प्रकार से प्रख्यात कर रहे हैं। कवियों का लिखना उद्देश्यपूर्ण था। उन्होंने जिस अध्यात्म तत्त्व का साक्षात् अनुभव और दर्शन किया था उसे ही इन ग्रन्थों में अभिव्यक्त किया है। शुद्ध प्रेम सृष्टि के विधान के अनुकूल है। नर-नारी का संपृक्तभाव, दाम्पत्यभाव—यही शिव-पार्वती की प्रेम-लीला का भाव है। वहाँ स्थूलरूपगत कामवासना, कामबन्धन, कामसंग या कामरति नहीं है। कामराग का अन्त तो मदन-दहन के साथ ही हो जाता है। शिव समाधि प्राप्त करते हैं। पार्वती भी तपश्चर्या करती हैं। यक्ष और यक्षपत्नी दोनों तपश्चर्या की अग्नि में परिशुद्ध बनते हैं। पुरूरवा और उर्वशी, दुःषन्त और शकुन्तला—ये सब तप और संयम द्वारा वासना के विनिपात से ऊपर उठकर पुनः अपनी प्रातिस्विक महिमा प्राप्त करते हैं। कामवासना का अनिवार्य फल शोक है। उस शोक से मुक्ति ही मन की पुनः सहज स्वच्छता या आनन्द भाव में स्थिति है। वासना बन्धन या शृंखला है जिसे बौद्ध दर्शन में 'संयोजन' कहते थे। प्रेम शापमुक्त, बन्धनहीन चित्ततत्त्व की आनन्दमयी स्थिति है। प्रेम शिवतत्त्व है। वासना शिवेतर भूततत्त्व है। शिवेतर की क्षति हो, तभी शिवतत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। उत्तम काव्य का यही प्रयोजन है। अतएव यह स्वाभाविक था कि कालिदास और बाण की काव्य-साधना शिवतत्त्व की साधना के रूप में परिणत हुई।

यक्ष किसी दिव्यलोक का प्राणी था। वह रागान्ध होकर स्वाधिकार से भ्रष्ट हुआ। उसे शुद्धि के लिये ऐसे स्थान रामगिरि में भेजा गया जहाँ विदेहराजपुत्री जनकतनया की तपश्चर्या के पुण्यजल प्रवाहित हैं, जहाँ मर्यादापुरुष राम ने निवास किया था। कादम्बरी के पात्र भी शापवश अपनी महिमा खो बैठते हैं। चन्द्रापीड़ दिव्यलोक का प्राणी है। वह चन्द्रमा का अवतार है। किन्तु कामप्रविष्ट उसके हृदय का विस्फोटन हो जाता है और वह शूद्रक के रूप में जन्म लेता है।

शूद्रक कौन है? शूद्र ही शूद्रक है। किन्तु यहाँ शूद्र आध्यात्मिक संज्ञा है, जातिवाची किसी हीन वर्ण का वाचक नहीं। उपनिषदों में कहा है—तरति शोकमात्मवित्। आत्मज्ञानी को शोक नहीं होता। शोक का तात्पर्य भूतभौतिक सृष्टि में लिप्त होने के कारण मन का खेद है। यह शोक जिसको होता है वही शूद्र है। यही अर्थ अध्यात्म-परम्परा में स्वीकृत था, जैसा शंकराचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है—

संवर्ग विद्या के प्रकरण में जानश्रुति पौत्रायण राजा को सयुग्वा रैक्व ऋषि ने सम्बोधित किया—हे शूद्र, यह निष्कयुक्त हार, रथ और गौएँ जो तुम लेकर आए हो, तुम्हें ही प्राप्त हों, मुझे नहीं चाहिएँ (अह हारे त्वा शूद्र तवैव सहगोभिरस्तु, छान्दोग्य उप० ४।२।३)। क्योंकि राजा को शोक हुआ था, इसलिये ऋषि ने उसे शूद्र कहा—

शुचमभिदुद्राव, शुचा वाभिदुद्रुवे, शुचा वा रैक्वमभिदुद्रावेति शूद्रः। अवयवार्थसम्भवाद् रूढ्यर्थस्य चासम्भवात्। दृश्यते चायमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम्।

(ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य १।३।३४, अपशूद्राधिकरण)

जो शोक को प्राप्त हुआ हो, अथवा शोक ने जिसके अध्यात्म मानस पर आक्रमण किया हो, वही शूद्र है। यहाँ यौगिक धात्वर्थ ही लेना आवश्यक है, जातिशूद्र वाला रूढ़ अर्थ नहीं।

कामवासना के कारण शापग्रस्त होना ही शोक है। वह जिसे प्राप्त हुआ है, जो शाप के चंगुल में पड़ा हो, जो इन्द्रिय-जाल के पाँच कामगुणों से बद्ध हो, वह शूद्र है। जो कामों में लिप्त नहीं होता वह ब्राह्मण है। जैसे पुष्कर-पत्र पर जलबिन्दु और सूए की नोंक पर सरसों का बीज नहीं ठहरता, ऐसे ही ब्राह्मण के चित्त में काम नहीं चिपकता—

वारिपोक्खरपत्तेव आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ (धम्मपद ४०१)

चाहे जैसे दिव्य काम हों बुद्धिमान् को उनमें रति नहीं होती। प्रत्येक मानव अपने स्वाधिकार में ब्रह्मभूत है। जब वह अधिकार छिन जाता है तभी मानव ब्रह्मपद से च्युत होता है। प्रमादवश कामराग से अन्धा होकर मनुष्य अपनी ब्रह्मदृष्टि खो देता है। इसी से उसके स्वरूप की हानि होती है।

जैसा बाण ने लिखा है कादम्बरी कथा का मुख्यसूत्र शाप है। चन्द्रापीड़ का मन जब कादम्बरी के प्रति अपनी रागात्मिका वासना से लबालब भर उठा तो उसने यही अनुभव किया—

मनोव्यामोहकारी कोऽपि शाप एवायम् (अनु० २३२)

'मेरे मन को व्यामोहित करने वाला यह कोई शाप ही है।' जिस वैशम्पायन के कारण चन्द्रापीड़ के सरस हृदय का विस्फोटन हुआ, उसके जीवन में शाप के उग्र प्रभाव का उल्लेख कई बार आया है। वैशम्पायन कामविह्वल होकर कहता है—'चन्द्रमुखी, काम का सहायक यह चन्द्रमा मुझे मारने पर तुला है। मेरा जीवन तुम्हारे अधीन है। इसलिये यदि तुम आत्मदान से मेरी रक्षा न करोगी तो ये कामदेव और चन्द्रमा मिलकर मुझे मार डालेंगे।' इसे सुनते ही रोषानल से जलती हुई महाश्वेता ने कहा—

'अरे पापी, इस मर्यादासम्पन्न लोक में तू ऐसा मर्यादाहीन कहाँ से उत्पन्न हुआ जो पक्षी के समान कामवश होकर कुछ नहीं समझता ? जिस विधाता ने तेरे मुख पर

ऐसा राग प्रकट करके तुझे उचित-अनुचित का विचार खोकर सुग्गे की तरह ऐसा कहना सिखाया उसने तुझे सुग्गे की योनि में ही क्यों न उत्पन्न कर दिया ? जा तू, अपने वचन के अनुरूप सुग्गे की योनि में जन्म ले।'[1]

महाश्वेता के अनुसार वैशम्पायन अलीक कामी या मिथ्याकामी है। बौद्ध परिभाषा में इसे ही 'कामेसु मिच्छाचार' कहा जाता था। काम या कामना के अनेक रूप हैं, उन सब में स्त्री-सम्बन्धी राग ही घोर मिथ्याचार है। चन्द्रापीड और वैशम्पायन के शाप का तथा शाप के अन्य दृष्टान्तों का बहुत अच्छा उल्लेख शुकनास के कथन में पाया जाता है।[2]

शाप के कारण वैशम्पायन की क्या गति होती है ? पहले तो जो महर्षि श्वेतकेतु का आर्ष तेज था उसे देखकर लक्ष्मी के कामरागात्मक मोहमय अल्पशक्ति स्त्रीवीर्य से पुण्डरीक का जन्म हुआ (अनु० ३२८)। दूसरे स्थान पर उसी पुण्डरीक या कमल का दर्शन मन्त्री शुकनास को वैशम्पायन के जन्म के समय हुआ[3]। तृतीय स्थान में उसी वैशम्पायन ने शापवश सुग्गे के रूप में जन्म लिया।

शापवश वैशम्पायन शुक अपना पूर्व तेज खोकर पिंजड़े में बँध जाता है। न उसे अपने जन्म की स्मृति है, न वह पहली प्रज्ञा है। कामराग से अन्धा होकर उसने अपना ज्ञानचक्षु खो दिया है (कामरागान्धः पितुराज्ञामुल्लंघ्य वधूसमीपं प्रस्थितः, अनु० ३४१)। इस अविनय के कारण वह पक्कण या चांडालों की बस्ती में जा पहुँचता है जहाँ विवेक का पूरा पराभव है। जीवन का एक सन्तत नियम है कि विवेक के बिना मोह का नाश नहीं होता एवं तप के बिना कुमार्ग की प्रवृत्ति नहीं हटती—

सर्व एव हि अविनयप्रवृत्तोऽनुतापात् विना न निवर्तते। (अनु० ३४१)

विनय ही संयम और साधना का पथ है। अनुताप या मानस पश्चात्ताप से ही मानव अविनय-कृत अधोगति से ऊपर उठना आरम्भ करता है। श्वेतकेतु, पुण्डरीक, मन्त्रिपुत्र वैशम्पायन, शुक वैशम्पायन, यह ऋषि प्रज्ञा या ज्ञान की धारा है। महाश्वेता प्रज्ञा का प्रतीक है। वह सर्वशुक्ला या गौरी है। सरस्वती भी सर्वशुक्ला और गौरी कही गई हैं। महाश्वेता अच्छोद

१—अव्यवस्थितो व्यवस्थितेऽस्मिंल्लोके कुतस्त्वमुत्पन्न एवंविधः। यस्तिर्यग्जातिरिव कामचारी न किंचिदिव वेत्सि······अनिरूपितस्थानास्थानवादी शुक इव वक्तुमेवं शिक्षितस्तेनैव किमुत तस्यामेव जातौ न निक्षिप्तोसि। त्वदुक्ते दुःखिताहं ते सम्विभागमिमं करोमि येनात्मवचनानुरूपां जातिमापन्नो नैवास्मद्विधाः कामयसे (अनु० २९७)।

२—आगमेषु सर्वेष्वेव पुराणरामायणभारतादिषु सम्यगनेकप्रकाराः शापवार्ताः। तद्यथा······ तयोरेवं शापोऽस्माकं पुनर्वर एव (अनु० ३२१)।

३—तथा ममापि स्वप्ने पुण्डरीकस्य दर्शनं समुपजातम् (अनु० ३२१)।

सरोवर के तट पर तप करती है। ऋग्वेद में कहा है—गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती, अर्थात् गौरी वाक् सलिलों का तक्षण करती हुई उनका मापन करती है। ये सलिल ज्ञान या प्रज्ञा के निर्मल भावजल हैं। अच्छोदसर बुद्धि का ब्राह्मसर है। कवि ने कहा है—

ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति। (रघु० १३।६०)

उसी तट पर वह महाश्वेता स्वयं क्लिश्यमान होती हुई पुण्डरीक रूप ज्योति के साथ समागम के लिये तपश्चर्या करती है।

पुंडरीक वह महापद्म या सहस्रारदल कमल है जो सूर्य या विज्ञानतत्त्व का प्रतीक है, जो बुद्धि का परमस्थान है, जिसे बौद्ध परिभाषा में मणिपद्म भी कहा जाता था। महाश्वेता या प्रज्ञा से उसका सम्मिलन आवश्यक है। प्रज्ञा की साधना ही गुप्तयुग का प्रेरक आदर्श था। ज्ञान और प्रज्ञा का शाश्वत युग्म है। उनमें जन्मसिद्ध आकर्षण है। किन्तु उनका सम्मिलन कामोपहत चित्त से सम्भव नहीं। उसके लिये तो संयमजनित तप की आवश्यकता है। महाश्वेता और पुंडरीक दोनों के प्रणय का यही मार्ग है। इसी साधना की कथा के लिये कादम्बरी में उनका चरित्र है। ज्ञान की दो गतियाँ कही गई हैं। शुकगति और पिपीलिकागति। शुकगति से प्राप्त होने वाला ज्ञान ही प्रातिभ प्रज्ञा है। नास का अर्थ है ऊर्ध्वदारु, सिरदल या उत्तरांग, द्वार की चौखट का ऊपरी भाग। मन्त्री शुकनास प्रातिभ ज्ञान का उत्तमांग या प्रतीक है। मनोरमा उसकी प्रिय पत्नी है। मनोरमा तपोमय जीवन की शोभा है। इन्हीं दोनों से वैशम्पायन का जन्म होता है।

वेश आसक्तियुक्त कामभावों का प्रतीक है। वेश का भाव ही वैश है। उसका पायन या पान अथवा शुद्धि या निराकरण, ये दोनों भाव वैशम्पायन शब्द में हैं। इसे ही बौद्ध परिभाषा में काम-निस्सरण कहते थे, जिसका अर्थ है—काम के भाव से उद्धार या छुटकारा, उसका सर्वथा बुझ जाना या शान्त हो जाना। सब प्रकार के राग या कामास्वादों का मिटना ही प्रज्ञा की निर्मलता है। पुण्डरीक और प्रज्ञा का स्थायी मिलन, यही इष्ट आदर्श था। बुद्धि-तत्त्व, प्रज्ञा, ज्ञान अग्नि या तेज का रूप है। अलग रहना या विश्लेषण उसका स्वभाव है। दूसरी ओर चन्द्रापीड़ चन्द्र या मन का प्रतीक है। स्नेहन या चिपकना उसकी विशेषता है। यही कारण है कि चन्द्रापीड़ का कादम्बरी से एक बार मिलन हुआ तो उसका शव भी कादम्बरी के पास ही रहता है। पर प्रज्ञारूपी जल में स्थित ज्ञानरूपी पुण्डरीक मिला हुआ भी है और अनमिला भी है। कमल जल में रहता है, उससे निर्लेप भी रहता है। उसमें रह कर भी उससे पृथक् है। महाश्वेता के प्रभावक्षेत्र में आकर भी वह पृथग्भूत है। ज्ञान आता है और ओझल हो जाता है। ठीक यही तेज का स्वभाव है। वह तब तक टिमटिमाता रहता है जब तक नितान्त भास्वर नहीं बन जाता। फिर उसकी लौ अखण्ड बन जाती है। अखण्ड ज्ञानज्योति और प्रज्ञा का सम्मिलन ही पुण्डरीक-महाश्वेता का अन्तिम प्रणय-सम्मिलन है। पुण्डरीक ऋषिपुत्र है। ऋषि उसी भास्वर ज्ञान परम्परा का प्रतिनिधि है। पुण्डरीक

प्रज्ञासाधना का प्रतीक है। यही उस युग का महान् आदर्श था। प्रज्ञा निष्प्रतिघ चक्षु है। इसी चक्षु के विषय में कहा है—

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति॥ (रघु० ८।७८)'

इसी प्रातिभ चक्षु को बुद्ध की अप्रतिहत प्रज्ञा पारमिता कहा गया। बुद्धि द्वारा आत्म-दर्शन, यही ज्ञानचक्षु है। यह जीवन का सूर्यपथ है। महर्षि श्वेतकेतु, हंस और गौरी, महाश्वेता और पुण्डरीक, वैशम्पायन और शुक ये सब पात्र इसी प्रातिभ ज्ञान की सर्वशुक्ला परम्परा के प्रतीक हैं। इनमें एक छोर पर श्वेतकेतु और दूसरे पर पंजरबद्ध शुक है। महर्षि श्वेतकेतु महाज्ञान, महती प्रज्ञा, पारमिता प्रज्ञा या ज्ञानचक्षु के साक्षात् प्रतीक हैं। वे ज्ञानघन या प्रज्ञाघन हैं, नितान्त अविकारी, राग-दोष-शोक-मोह आदि से सर्वथा असंस्पृष्ट और अविचल। दिव्यलोकनिवासी वे महामुनि जब मन्दाकिनी के कमल वन में आते हैं तब भी उनमें कोई विकार नहीं होता। उनके दर्शन से कमलवन की लक्ष्मी का मन मन्मथाविष्ट होजाता है और केवल अल्पसार स्त्रीवीर्य से पुण्डरीक का जन्म होता है (अनु० १४८)। पुण्डरीक की प्रज्ञा की यही त्रुटि है। अतएव वह महाश्वेता के प्रति मदनजनित वैधुर्य से आक्रान्त होता है (अनु० १६२)। पुण्डरीक ऋषि-परम्परा का प्रतिनिधि है। उसका मित्र कपिंजल उसे प्रबोध देते हुए प्रज्ञा, इन्द्रियजय, चित्तसंयम, प्रशान्ति, ब्रह्मचर्य, विषयों में निरुत्सुकता, श्रुतज्ञान, वैराग्य-बुद्धि, ज्ञान-तप में अभिनिवेश आदि अनेक आर्ष गुणों की ओर ध्यान दिलाता है और सरलता से कहता है—'सखे पुण्डरीक, काम का यह मार्ग क्षुद्रजनों के लिये है, तुम्हारे योग्य नहीं' (अनु० १५२)। मूढ़ व्यक्ति अपने आपको काम के हाथों में सौंपता है। विषयों में आदर तो प्राकृतजनों के लिये है। 'मूढो हि मदनेनायास्यते। का वा सुखाशा प्राकृतजनबहुमतेषु विषयेषु'। यह कथन बौद्ध धर्म के उस वाक्य से मिल जाता है जिसमें कामसुख को गन्दा (मीढसुख), सामान्यजन-सेवित (पुथुज्जन-सुख) और अनार्योचित (अनरिय सुख) कहा गया है। उसके पीछे भटकना बुद्धिमान् को शोभा नहीं देता।

जाबालि ऋषि मर्त्यलोक में श्वेतकेतु के आदर्श के प्रतिनिधि हैं। उनके आश्रम का भव्यचित्र महाकवि की प्रतिभा का फल है। वह आश्रम ऋतम्भरा प्रज्ञा का सिद्ध क्षेत्र है। उस स्थान में ज्ञानभ्रष्ट शुक को पूर्वस्मृति प्राप्त होती है। वही शुक शूद्रक की सभा में पञ्जरबद्ध है, पर ऋषि जाबालि के आश्रम में वह खुला हुआ है। ऋषि को देखकर वह सर्वप्रथम यही सोचता है—'अहो प्रभावस्तपसाम्'—अहा! तप का भी क्या प्रभाव है। ये भगवान् अपने दिव्य चक्षु से जगत् को करतलगत आमलक की भाँति प्रत्यक्ष देखते हैं। ये

१—तुलना।

एष वेत्ति जगत्यत्र मत्प्रसादादनागतम्। यथाहं समतीतं च वर्तमानं च सर्वतः॥
(मार्कण्डेयपुराण ६९।५३)

संसार-समुद्र के तरने के सेतु हैं, क्षमा के आधार हैं, तृष्णालता को काटने के कुठार हैं, सिद्धि का मार्ग बताने वाले गुरु हैं, उपशम-विटप के मूल हैं, प्रज्ञाचक्र की नाभि हैं, रागरूपी पल्लव को जलाने वाले दावानल हैं, धर्म की ध्वजा को ऊँचा उठाने वाले स्थितिवंश हैं। ऐसे ऋषि की दृष्टि पड़ते ही वैशम्पायन शुक का अन्तरात्मा प्रक्षालित हो जाता है। ऋषि की सन्निधि में जो शुकशावक था उसे अपनी महिमा की स्मृति पुनः प्राप्त हो जाती है। वह शुक क्या है? निजस्वरूप से वह ज्ञानात्मा है। वह साक्षी सुपर्ण के साथ एक ही अश्वत्थ-शाखा पर बैठने वाला भोक्ता सुपर्ण है। वही जीव है जो ज्ञानी बनकर सहस्र महिमा से युक्त है। पर विषय-राग से आकृष्ट होकर वह साधारण शरीरधारी सुग्गा बन जाता है। ऋषि के आश्रम में पहुँचने के बाद भी वह अपनी उसी रागान्ध प्रवृत्ति को न छोड़ सकने के कारण पिंजड़े में बँध जाता है (अत्रापि जन्मनि यथायं निषिद्धोऽपि पित्रा कामरागान्धः पितुराज्ञामुल्लंघ्य वधूसमीपं प्रस्थितः, अनु० ३४१)। इसी पञ्जरबद्ध दशा में चाण्डालकन्या उसे शूद्रक की सभा में लाती है। कामोपहत चित्त ही साक्षात् शूद्रत्व है। वह आत्मा का अधिकतम पतन है। इस परम दुरवस्था को पहुँचने के बाद उसका भवचक्र ऊपर की ओर घूमना आरम्भ करता है। उसे तिर्यग् जाति से और नीचे नहीं गिरना पड़ता। केन्द्र से विच्युति या दूर रहना, इसे ही बौद्ध भाषा में अपाय या प्रियापाय कहा गया है। कथा के अन्त में लक्ष्मी कहती है—

'महर्षि श्वेतकेतु जो इसके लिये स्वस्त्ययन कर्म कर रहे थे वह समाप्त हो गया है। अब इसके शाप का अन्त आ गया है। जन्म, जरा, व्याधि और मरण के दुःख से भरे हुए इस शरीर को छोड़ कर अब यह अपने प्रियजन का समागम-सुख प्राप्त करे।'[1] मानसिक अनुताप या पश्चात्ताप से ही प्रज्ञा के उन्मेष की पहली रश्मि फूटती है। वहीं से शाप का अन्त होकर अध्यात्मविकास का आरंभ होता है।

पुण्डरीकाख्य वैशम्पायन को शुकयोनि में जन्म लेना पड़ता है। शुकयोनि क्या है? यह उस ज्ञान का प्रतीक है जो केवल रटा हुआ है, जो आत्मसंस्कृति द्वारा जीवन में नहीं उतारा गया। जो दूसरे के सिखाने से बोलता है वही तोता है। परतःप्रकाश ज्ञान सुग्गे की भाँति रटकर कंठ से दोहराना मात्र है। इसे ही वैदिक परम्परा में राख में हवन करना या कंठ से घोखना कहा है—

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

ज्ञान वही है जो सूर्य के समान स्वतःप्रकाश हो।

१—सर्वमधुना तत्कर्म परिसमाप्तम्। शापावसानसमयो वर्तते। तदनुभवतां संप्रति द्वावपि सममेव जन्मजराव्याधिमरणादिदुःखबहुले तनू परित्यज्य यथेष्टजनसमागमसुखम्।
(अनु० ३४१)

वाक् या ज्ञान का यही सच्चा तेजस्वी रूप है। धीर ज्ञानी अपने योगयुक्त मन की चलनी से छान कर इस वाक्तत्त्व को पवित्र करते हैं। यही वह वाक् है जो ज्ञानी के सम्मुख अपने आप को इस प्रकार अभिव्यक्त करती है जैसे शुभ्रवसना कामवती जाया पति के लिये अपने शरीर को विवृत कर देती है[1]। परा वाक् के इसी तत्त्व की लोकप्रत्यक्ष मूर्ति महाश्वेता है। वह सर्वशुक्ला सरस्वती की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। हर्षचरित में सरस्वती को भगवती महाश्वेता कहा ही गया है (हर्ष० पृ० ५७)। महाश्वेता का आश्रम अच्छोद सरोवर के तट पर है। वह सच्चे अर्थों में सरस्-वती है। वहीं पुंडरीक को उसके प्रथम दर्शन होते हैं। वहीं वह निवास करती है। श्वेतवस्त्रावृता महाश्वेता का शुक्लाभिसार कवि की भव्य कल्पना है जो वैदिक पृष्ठभूमि के अनुरूप है। महाश्वेता का व्यक्तित्व प्रज्ञा के शुभ्र आलोक से मंडित है। प्रज्ञा ही मेधा और धी है। प्रथमस्थानीय मेधा वह है जिसका पान ब्रह्मचारी करते हैं, जो ऋषियों से स्तुत और ब्रह्मतत्त्व से प्रेरित होती है।[2]

सर्वशुक्ल का क्या अर्थ है? जो ज्ञान भूतभौतिक भावों से रंजित हो जाता है वह उस वर्ण का हो जाता है। किन्तु जो ज्ञान आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व के अभिमुख है वह शुक्ल या भास्वर वर्ण का होता है। उसमें भूतकृत राग नहीं होता। सरस्वती या प्रज्ञा का प्रातिस्विक निजी रूप गौर है। वह परा वाक् का रूप है। वही वाक् जब सगुण बनती है तो अर्थों और अक्षरों के विविध वर्ण उसमें व्यंजित हो जाते हैं। यही वाक् का पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी रूप है। महाश्वेता दोनों की प्रतीक है। जब वह पुंडरीक के लिये मदनाविष्टा या रागवती दशा में है तब पुण्डरीक के लिये रक्तांशुक का शिरोवगुंठन करती है, उसके बाद तपश्चर्या की अवस्था में सर्वशुक्ला है।

बौद्ध मान्यता के अनुसार प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है-श्रुतमयी, चिन्तामयी, भावनामयी। पहला ग्रन्थानुमोदित शास्त्रीय ज्ञान है। दूसरा अपनी बुद्धि से उद्भासित ज्ञान है। तीसरा वह है जो भावना-बल से जीवन में प्रत्यक्ष किया जाता है, अर्थात् जितना ज्ञान जीवन की संस्कृति का अङ्ग बन जाता है वही भावनामयी प्रज्ञा है। यही तीसरी उत्तम प्रज्ञा अर्हत्तत्त्व या ऋषितत्त्व के लिये परमावश्यक है। पुण्डरीक में श्रुत और चिन्तन तो हैं, किन्तु भावनामयी प्रज्ञा या जीवन में चरितार्थ ज्ञान की कमी है। इसी कारण वह काम से उपहत होकर तिर्यग् योनि में जन्म लेता है। सुग्गे की पक्षीयोनि इस प्रकार के परतःप्रकाश श्रुतज्ञान की ठीक प्रतीक है। श्वेतुकेतु और जाबालि योग संसिद्ध या साक्षात्कृत ज्ञान के प्रतीक हैं, श्वेतकेतु देवलोक में और जाबालि प्रत्यक्षभूत इस

१—सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥ (ऋग्वेद १०।७१।२)
उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः॥ (ऋग्वेद १०।७१।४)

२—मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥
(अथर्व ६।१०८।२)

मर्त्यलोक में। श्वेतकेतु तो देवलोक से भी और उच्चतर भूमिका में जाने के लिये प्रयत्नशील हैं। कथा के अन्त में शुकनास के लिये श्वेतकेतु का सन्देश महत्त्वपूर्ण है—'मैंने तो इस पुण्डरीक को केवल पाल-पोसकर बड़ा किया है। पुत्र तो यह आपका ही है। इसे भी आपसे ही प्रेम है। यह वैशम्पायन का ही रूप है, ऐसा जानकर आप अविनय से इसकी रक्षा करें। यह दूसरा है इस भाव से कहीं इसकी उपेक्षा न करें। शाप से छूट जाने पर भी जो मैंने इसे अपने पास नहीं बुलाया वह इसी कारण कि यह आपका ही है। इसे चन्द्रमा के बराबर आयुष्य देकर मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ। अब मेरी सत्त्व नामक ज्योति (मन) दिव्यलोक से भी ऊपर जाने के लिये उद्यत है (अनु० ३४८)। सत्त्व नामक ज्योति मन या बुद्धितत्त्व की ही संज्ञा है। निर्गुण अव्यक्त निराकार भाव ही ब्रह्म है। जब यह सत्त्व से अवच्छिन्न होता है तभी साकार या सगुण रूप में व्यक्त हो पाता है। चिद्वस्तु स्वरूपतः अव्यक्त है। वह जब प्रकृति के सत्त्व-गुण से सम्बन्धित होती है तभी व्यक्त भाव में आती है। यह सत्त्वगुण या सत्त्वाख्य ज्योति ही मन है। व्यक्त होकर भी यह सत्त्वात्मक मन एक ही रहता है। रजोगुण या क्रियाशक्ति के सम्पर्क से ही वह एक तत्त्व नाना भाव या विचित्र रूप में प्रकट हुआ करता है। इस प्रकार महर्षि श्वेतकेतु सत्त्व नामक दिव्य ज्योति से भी ऊपर जिस लोक में जाना चाहते हैं अथवा जो पद प्राप्त करना चाहते हैं वह गुणातीत अव्यक्त ब्रह्मपद या वाक् का परम स्थान ही है। यही ऋषि प्रज्ञा की परा निष्ठा है।

कथा के दो सूत्र

कादम्बरी कथा के दो सूत्र स्पष्ट पहचाने जाते हैं। एक का प्रतीक पुण्डरीक—वैशम्पायन है और दूसरे का चन्द्रापीड है। एक ब्रह्मतत्त्व है। दूसरा क्षत्रतत्त्व है। पुण्डरीक बुद्धितत्त्व का प्रतीक है। चन्द्रापीड मनस्तत्त्व का प्रतीक है।

बुद्धि या प्रज्ञा ऋषियों की परम्परा है। वह एक ओर संसार के कामगुणों से निर्लेप श्वेतकेतु और जाबालि के रूप में स्वयंप्रतिष्ठ और स्वतःप्रकाश है। उसमें कहीं किसी प्रकार का स्खलन नहीं है। यही स्वाभाविक ज्ञान की संयमशील स्थिति है। ऋषियों के आश्रम का यही प्रभाव और वातावरण है। वहाँ भास्वर ज्ञान का सहज प्रकाश कभी तिरोहित नहीं होता। उस प्रकार के विवेक के समक्ष कामभाव अपनी मर्यादा में रहता है, वह जीवन के छन्द को विकृत नहीं कर पाता। ऋषि जाबालि के आश्रम में जब वैशम्पायन शुक की कथा समाप्त हो चुकी, तब मुनिकुमार हारीत ने एक अत्यन्त सरल प्रश्न किया जो ऋषि-प्रज्ञा की ऋजुता का प्रतीक है—

'हे तात, मुझे यह बड़ा आश्चर्य है कि मुनियोनि में जन्म लेकर भी इसे ऐसी काम-

परायणता क्यों हुई, जो यह पुंडरीक और वैशम्पायन के रूप में अपना प्राण भी धारण न कर सका ?'[१]

जाबालि ने इस प्रश्न का ऐसा ही सरल और स्पष्ट उत्तर भी दिया है—

'पुत्र का यह प्रश्न सुनकर भगवान् जाबालि ने अपनी विमल ज्ञानदृष्टि से मेरे पापमलों का प्रक्षालन करते हुए कहा—वत्स, इसका कारण स्पष्ट है। इसने जिस वीर्य से जन्म लिया उसमें कामराग या वासना और मोह का अंश मिला हुआ था, वह अल्पसार था, वह केवल स्त्रीवीर्य था। श्रुति में कहा है कि जो जिस प्रकार के कारण से जन्म लेता है वह वैसा ही उत्पन्न होता है।'[२]

केवल स्त्रीवीर्य मातृतत्त्व है। वह ऋतात्मा होता है। उसका अपना केन्द्र दृढ़ नहीं होता। सृष्टि का स्वयम्भूतत्त्व ही पितृ-तत्त्व है। वह बीजप्रद पिता महर्षि श्वेतकेतु के रूप में विद्यमान था। वह अविकृत है। उसके दर्शनमात्र से मातृतत्त्व स्खलित हो जाता है। यह मातृतत्त्व वैदिक भाषा में आप्, विराज्, महत्, परमेष्ठी आदि नामों से विश्रुत है। बीजप्रद पिता या स्वयम्भू स्वप्रतिष्ठ नर है। आपोमय परमेष्ठी या विराज् या जन्म देनेवाला मातृतत्त्व केन्द्रप्रतिष्ठा से विच्युत नारीतत्त्व है। स्वयम्भू सत्य और परमेष्ठी नारी ऋत कहा जाता है। पुंडरीक यद्यपि ज्ञान का प्रतीक है, किन्तु वह सत्यात्मक केन्द्रबल या ब्रह्मबल से विरहित है; वह केवल ऋतात्मा स्त्रीवीर्य से जन्म लेकर स्वयं वैसा ही बना रहता है।

वैदिक परिभाषा के अनुसार 'ऋतमेव परमेष्ठि' अर्थात् परमेष्ठी ऋतरूप या जलरूप है। यही वह जल है जिसके विषय में कहा जाता है—अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् (मनु० १।८)। यहाँ स्थूल भौतिक जल का ग्रहण नहीं, वरन् सर्वव्यापक शक्तितत्त्व को ही 'आपः' कहा गया है (यदाप्नोत् तस्मादापः, शतपथ ६।१।१।९)। यही सब का आरम्भक मातृतत्त्व या नारी है—

> द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
> अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥ (मनु० १।३२)

यह आप्, विराज् या मातृतत्त्व भूतभौतिक प्राकृत भाव है। इसमें जब तक ऋषितत्त्व या प्राणतत्त्व की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक यह मेरुपृष्ठविहीन बना रहता है। यही पुंडरीक का स्वरूप है। उसके लिये ऋषि श्वेतकेतु का आयुःप्रद स्वस्त्ययन-कर्म आवश्यक है। यही प्रातिभ सत्यात्मक स्वयंज्योति स्वप्रतिष्ठ ज्ञान का ऋतात्मा प्रज्ञा में संक्रांत होना है। तभी पुंडरीक का उद्धार संभव होता है।

१—तात महानयं विस्मयो मे। कथय कथमस्य मुनिजातौ वर्तमानस्य तादृशी कामपरता जाता यया जीवितमपि न सन्धारयितुं पारितम् (अनु० ३२८)।

२—स्पष्टमेवात्र कारणं वत्स। अयं हि कामरागमोहमयादल्पसारात् स्त्रीवीर्यादेव केवलादुत्पन्नः। श्रुतौ च पठ्यते एतद् यादृशाद्वै जायते तादृगेव भवतीति (अनु० ३२८)।

अच्छोद सर

क्यों पुंडरीक अच्छोद सरोवर में डूबता है? क्यों वैशम्पायन उसी सरोवर से आकृष्ट होकर उसके तट पर प्राण छोड़ता है? जिसे वैदिक भाषा में पारमेष्ठ्य समुद्र कहते हैं, जो सृष्टि के आरम्भ में शक्ति का महान् समुद्र है, वही अच्छोद सरोवर है। वह गुणों से असंस्पृष्ट भी है और गुणसंपृक्त भी होता है। उसका निजी रूप सदा स्वच्छ या गुणातीत है। जितनी मातृमयी सृष्टिरचना है वह वहीं से जन्म लेती है। अतएव उसी के तट पर कादम्बरी-कथा के सब पात्र उत्तर के हेमकूट से और दक्षिण की उज्जयिनी से आकर एकत्र होते हैं। सृष्टि के विराट् स्वस्तिक में प्राण की बलवती धारा प्राण से अपान और अपान से प्राण की ओर नित्य प्रवाहित है। इसे ही प्राणद् अपानत् रोचना कहा जाता है।[1] यही उत्तर-दक्षिण का दिक्स्वस्तिक है। एक का प्रतीक उज्जयिनी दक्षिण दिशा में है, दूसरे का हेमकूट उदीची दिशा में है। दक्षिण पार्श्व ही पुरुषभाग है। वामपार्श्व का प्रतीक नारीभाग है। ये ही दो देहार्धों के सम्मिलन से एक अर्धनारीश्वर की संघटना के प्रतीक हैं।

अच्छोद सरोवर भावसृष्टि का मूल है। वही मानसरोवर या मानस या मन का प्रतीक है। उसे ही बौद्ध परिभाषा में अनवतप्त ह्रद कहा जाता है। जिसमें कभी कामराग की उष्णता नहीं आती, वही अनवतप्त मानस है। जो कामराग से रञ्जित नहीं होता वही स्वच्छ जलों का निधान अच्छोद मानस है। जो भावजल सदा अमृत के समान शीतल, स्वच्छ, निर्मल हैं और कालकृत मृत्युधर्मों से अतीत हैं वे ही अच्छोद में हैं। वहीं शक्ति का अक्षुब्ध समुद्र है। मृत्यु को वश में करने या जीतने का उपाय उसके जलों का सान्निध्य है। पुण्डरीक उसी के जल में विलीन होता है। ऋषिपुत्र की पवित्रता के सम्पादन का साधन अच्छोद है। उसके राग का प्रक्षालन अच्छोद के जल से ही सम्भव है। पुण्डरीक का अवतार वैशम्पायन अच्छोद सर की ओर आकृष्ट होकर कहता है—'मैं इस स्थान से न जाऊँगा, मैं क्या करूँ, मेरा अपने ऊपर वश नहीं रहा। मन अन्यत्र नहीं जाता। दृष्टि दूसरी ओर नहीं जाती। हृदय को और कुछ नहीं सूझता। देह को यहीं किसी ने कील दिया है। मैं अपने आप यहाँ से नहीं जा सकता। यहां से हटने पर मुझे प्राणरक्षा सम्भव नहीं जान पड़ती। अपने न चल सकने का कारण भी मैं नहीं जानता (अनु० २६४)। ज्ञान या बुद्धि अच्छोद सरोवर है। वहीं बुद्धि की देवी प्रज्ञा का निवास है। श्वेतकेतु निर्मल गुणातीत ज्ञान है। वही सत्त्वगुण से संपृक्त रूप में पुण्डरीक है, रजोगुण से कलुषित रूप में वैशम्पायन है, और तमोगुणी अन्धकार से मूर्छित अवस्था में शुक-शावक के रूप में है। प्रज्ञा की देवी महाश्वेता सत्त्वरूप में उसकी आराधना करती है और तपश्चर्या एवं शिवतत्त्व की आराधना के फलस्वरूप दोनों का विशुद्ध प्रेममय सम्मिलन होता है।

१—अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ (ऋग्वेद १०।१८९।२)

चन्द्रापीड़

कादम्बरी कथा का दूसरा सूत्र चन्द्रापीड़ और कादम्बरी के अध्यात्म-प्रतीकरूप में सामने आता है। अध्यात्मदर्शन का पहला पथ सूर्यपथ था। दूसरा मार्ग चान्द्रपथ है। इसमें श्रद्धातत्त्व या मन की साधना प्रधानतया आवश्यक है। चन्द्रमा और चन्द्रापीड़ मनस्तत्त्व के स्वरूप हैं। सोम या मन स्नेहधर्म से युक्त होता है। वह जिसकी ओर एक बार प्रवृत्त होता है वहीं चिपक जाता है। स्नेहगुण ही मेध्य कहलाता है। चन्द्रापीड़ का शरीर अच्छोद के तट पर ही कादम्बरी के अमृतअंश से रक्षित और आप्यायित होता है। पुण्डरीक विज्ञान और चन्द्रापीड़ प्रज्ञान का रूप है। एक अग्नि, दूसरा सोम है। एक सत्य, दूसरा ऋत है। एक सूर्य, दूसरा चन्द्र है। एक श्वेत, दूसरा रक्त वर्ण है।

चन्द्रापीड़ या मन का जन्म सोमतत्त्व से होता है (चन्द्रमा मनसो जातः)। मन का धर्म रस है। मन का स्नेह या तो द्रुत भाव में बाहर आता है, या हिमरूप में सिमट कर अपने ही केन्द्र में रह जाता है। चन्द्रापीड़ द्रुतिभाव से कादम्बरी के पास तक पहुँचता है। पर जब तक ज्ञान या बुद्धि का उद्धार न हो तब तक मन का भी उद्धार नहीं हो सकता। वैशम्पायन और चन्द्रापीड़ के शाप का अन्त एक साथ सम्भव होता है।[1] जन्म, जरा, व्याधि, मरण आदि जो सांसारिक प्रवृत्तियां हैं वे दोनों को साथ-साथ अनुभव करनी पड़ती हैं। यही विज्ञान और प्रज्ञान, बुद्धितत्त्व और मनस्तत्त्व का अविनाभूत युग्म है। जीवनपर्यन्त उसका विधान साथ-साथ पूरा होता है। चन्द्रापीड़ अपने शून्य शरीर से कादम्बरी के पास रहते हुए किसी उच्चतर परिवर्तन की प्रतीक्षा करता है। पुंडरीक के उद्धार के बाद चन्द्रापीड़ के शाप का अन्त होता है। इसका तात्पर्य क्या है? जैसा गीता में कहा है—

> इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ (३।४२)

अर्थात् इन्द्रियों से युक्त स्थूल शरीर प्रथम कोटि में है। यही स्थूल दृश्य भौतिक मानवी देह है। इससे पर या सूक्ष्म मन है। मन से सूक्ष्म या पर बुद्धि है। मन और बुद्धि को ही क्रमशः प्रज्ञान और विज्ञान कहा जाता है। मानवी चेतना का सर्वप्रधान लक्षण बुद्धितत्त्व ही है। उसी के ये दो रूप हैं। इन्द्रियोन्मुख रूप मन है। आत्मोन्मुख रूप बुद्धि है। वस्तुतः मनस्तत्त्व के ही ये दो रूप हैं।

मनस्तत्त्व और काम

वैदिक सृष्टि-विज्ञान के अनुसार काम सृष्टि का मूल है। वह सृष्टि क्रमशः निम्नलिखित कोटियों में अवतीर्ण होती है। संसार में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है उसे ब्रह्म कहते हैं। यह विश्व उसकी सृष्टि होने से ब्रह्माण्ड है। वह ब्रह्म चतुष्पाद् है। उसका

१—शापावसानेन च युवयोः सममेव सुखेन भवितव्यम्। तदनुभवतां संप्रति द्वावपि सममेव जन्मजराव्याधिमरणादिदुःखबहुले तनू परित्यज्य यथेष्टजनसमागमसुखम् (अनु० ३४१)।

पहला पाद शुद्ध रसरूप परात्पर ब्रह्म है। वह शक्तितत्त्व की प्रसुप्त अप्रतर्क्य अविज्ञात प्रथमावस्था है। उस रस के धरातल पर बल का आविर्भाव होता है। शान्त शक्तिसमुद्र में कहीं पर कोई बल या क्षोभ उत्पन्न होता है। यही दूसरी अवस्था है। इसी का नाम मन, अव्यय ब्रह्म या बलविशिष्ट रससृष्टि है। मन की संज्ञा ही हृदय है। मन को हृत्प्रतिष्ठ कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस शक्तिसमुद्र में अभिव्यक्ति का कोई एक केन्द्र नहीं होता, उसमें अभिव्यक्ति का जो हृदय या केन्द्र बनता है वही मन है। मन को ही 'एक' कहा जाता है। ऋतात्मा व्यापक शक्तितत्त्व में जो केन्द्र बनता है वही 'एक' या मन है। वह एक केन्द्र या हृदयतत्त्व तप की शक्ति से अस्तित्व में आता है। तप ही सत्य है। सत्य ही ऋत के केन्द्र या गर्भ में 'एक', 'हृदय', या मन के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसे ही नासदीय सूक्त में यों कहा है कि इदं सर्वम् या विश्व जगत् सलिल या व्यापक शक्तिसमुद्र में कहीं खोया हुआ था (अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्)। इदं सर्वम् या विश्व ही भूततत्त्व है। वह भूत, या मूल प्राकृत तत्त्व प्राण या शक्ति के गर्भ में कहीं लीन था। उसका जो पहला बीज, या केन्द्र प्रकट हुआ, अर्थात् जिस बिन्दु पर पहली अभिव्यक्ति या हलचल हुई वही एक केन्द्र मन कहा जाता है—

तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।

सिसृक्षा या सृष्टिक्रम में एक या मनस्तत्त्व ही पहली अभिव्यक्ति है। यह तत्त्व ही मनु है। इसे हम अपने ही केन्द्र में स्पष्ट देख और समझ सकते हैं। किसी अप्रज्ञात पृष्ठभूमि से जब हम अस्तित्व में आते हैं तो वह हमारी मानसी चेतना ही प्रथम अभिव्यक्ति है। वही मन है। उस मन की शक्ति या बीज की संज्ञा काम है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् (ऋक्० १०।१२९।४)

मन से पूर्व की अवस्था भी एक है, पर वह 'एकमेवाद्वितीयम्' वाला एकत्व है। मन वह एक है जो संख्या-सापेक्ष है, जिसमें एक के साथ दो–तीन–चार आदि संख्याओं की कल्पना लगी हुई है। जहां एक मानस केन्द्र या हृदय की कल्पना होती है, वहां उसी के साथ अनन्त मन या केन्द्रों की अभिव्यक्ति माननी पड़ती है। जो व्यापक विराट् शक्तिसमुद्र है, उसी के अनेक अभिव्यक्त मानसीरूप एक-एक सरोवर हैं। उसी अच्छोद पारमेष्ठ्य समुद्र, अम्भोसमुद्र, क्षीरसागर या सोमसमुद्र या ऋततत्त्व के जो अनेक केन्द्र या अभिव्यक्त रूप हैं उनमें से प्रत्येक एक-एक सरोवर है। वे ही अच्छोद सरोवर हैं। वहीं अपनी-अपनी सृष्टि का अनवतप्त ह्रद है। उसी के तट पर मनस्तत्त्व की यह सम्पूर्ण लीला हो रही है।

कादम्बरी क्या है?

मन की अप्रतिहत शक्ति काम है। सृष्टि की कामना ही सिसृक्षा है। वही मन का रेत या वीर्य है। काम विश्व का मूल है। कामतत्त्व ही कादम्बरी है। मन सोम है। काम सुरा है। कादम्बरी काममयी सुरा है। कामशक्ति के रूप में मन की वही सबसे दुर्धर्ष

अजय्य शक्ति है। चन्द्रापीड सोमतत्त्व है। मदिरा की पुत्री कादम्बरी सुरा है। पारमेष्ठ्य शक्तिसमुद्र के मन्थन से सोम और सुरा दोनों का जन्म होता है। सुरा वारुणी है। सोम दैवी है। सुरा ही तपाने से सोम में परिणत होती है। सुरा मादक रूप है। सोम उसी का स्वच्छ प्रशान्त रूप है। सोम का सुराभाव केवल तप द्वारा ही विशुद्ध बनता है।

कादम्बरी का शब्दार्थ क्या है ? वह कदम्ब पुष्प से निर्मित सुरा है। कदम्ब वर्षा का पुष्प होने से वर्षा का प्रतीक है। वर्षा वह ऋतु है जिसमें आकाशस्थित अव्यक्त रसतत्त्व पृथिवी पर आता है। वर्षा ही सृष्टि के अनुकूल ऋतुकाल है। शक्ति के महासमुद्र में जो सिसृक्षा के मेघ उठते हैं वे जिस ऋतु में सूक्ष्म से स्थूल भाव में परिणत होते हैं, वह काल वर्षा है। वर्षा सब ऋतुओं का समाहार या सब में प्रमुख है। कदम्ब पुष्प उसी का प्रतीक है। उसीसे चुआया हुआ रस कादम्बरी सुरा है। वही कामशक्ति है। वृष शक्ति या रेततत्त्व की वर्षणशील प्रवृत्ति काम है। यह सारा विश्व काममत्त है, अर्थात् कादम्बरी सुरा से छका हुआ है—

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव मत्तो न किंचिदपि चेतयते जनोऽयम्।

सब कादम्बरी के रसिक हैं। उससे मत्त बने हुए जनों को और कुछ सुहाता ही नहीं। कादम्बरी गुप्तयुग की सर्वश्रेष्ठ सुरा थी। कवि ने उसी नाम से ग्रन्थ का नामकरण किया। पर यह स्थिति स्वस्थ और स्वाभाविक नहीं कि सब लोग काम-शक्तिरूपी कादम्बरी सुरा के वशीभूत होकर अपके निजी रूप को भूले रहें। वही काम-भाव तो आत्मा के लिये महाशोक है। कामरूपी शाप का उद्धार केवल तपद्वारा सम्भव है। चन्द्रतत्त्व या सोमरूपी चन्द्रापीड को (चन्द्रापीडवपुषे शशांकाय, अनु० ३४७), जो स्वतः अविनाशी और शुद्ध तेजोमय है, कादम्बरी के साथ तपजनित विशुद्धि की आवश्यकता है। कादम्बरी सुरा है। बौद्ध परिभाषा में कामसुख को काम का आसव और कामास्वाद कहा जाता था। मूलतः वह भी अप्सराओं के अमृतकुल से उत्पन्न है। चन्द्रापीड को कादम्बरी के अमृतकरस्पर्श की आवश्यकता है और कादम्बरी को चन्द्रापीड के साथ तपश्चर्या की।[1] कादम्बरी और चन्द्रापीड—कामशक्ति और मन—को एक साथ मिलकर विशुद्ध बनना चाहिए, तभी उनका प्रणय-परिणय सच्चा है। चन्द्रापीड अपने शूद्रक नामक मानुषी शरीर को छोड़ता है। वह शूद्र अंश ही उसे उच्च धरा-तल पर कादम्बरी से नहीं मिलने दे रहा था। उस शूद्र भाव के मिटने पर ही यह लोक और चन्द्रलोक दोनों उसके लिये उन्मुक्त होते हैं। शूद्रक के शापकृत जन्म में पुनः कामभाव होना उचित नहीं। अतएव उसे वनिता-पराङ्मुख कहा गया है (वनिता संभोगसुख पराङ्मुखः; प्रथमे वयसि वर्तमानस्यापि रूपवतोऽपि सन्तानार्थिभिरमात्यैरपेक्षितस्यापि सुरतसुखस्योपरि द्वेष इवासीत्, अनु० ३)। किन्तु मनरूपी चन्द्रापीड तभी विगतशाप बनता है जब

१—प्रत्युज्जीवितोऽस्मि तवैवामुना कण्ठग्रहेण। त्वं खल्वमृतसम्भवादप्सरसां कुलादुत्पन्ना किं न स्मरसि तन्मे वचनमिदम्। तत्तेजोमयं वपुः स्वत एवाविनाशि विशेषतोऽमुना कादम्बरीकर-स्पर्शेनाप्यायितमिति (अनु० ३४६)।

पुंडरीकरूपी बुद्धितत्त्व और कादम्बरी की प्रिय सखी प्रज्ञारूपी महाश्वेता शापमुक्त और तपः-विशुद्ध बन जाती हैं।[1]

चन्द्रलोक मन है जो मानव के लिये अकेला उपयोगी नहीं। इधर यह लोक भूतभौतिक शरीर है। यह भी शूद्र तनू है। मनसंयुत शरीर ही मानव है। उसी से हमें काम लेना है। उसे ही तप द्वारा शापमुक्त करना है; तभी चन्द्रापीड और कादम्बरी का सच्चा तपःपूत मिलन संभव है। काम का अर्थ है पति-पत्नी-भाव की सिद्धि (स्त्रीपुमांसौ परिष्वक्तौ—पतिश्च पत्नी चाभवताम्, बृ० उ० १।४।३)।

सृष्टि और जीवन में काम को हेय नहीं माना जा सकता। वह सृष्टि की महनीय शक्ति है। उसके बिना मानव की कल्पना ही नहीं है। मन ही मनुष्य है और काम उस मन का रेत, वीर्य या शक्ति है। तब क्या करना उचित है? साधना या तपस्या के बिना एवं संयमरूपी प्रक्षालन के बिना इन्द्रियों के मल या विकार शुद्ध नहीं होते। यही जीवन का नियम है। जिसने कभी तपद्वारा आत्मसंयम के मार्ग से कुछ साधना न की हो, उसके लिये न भूतदेह की महिमा है, न मन की; न इस लोक के चन्द्रपीड़ की और न उस लोक के देवतात्मा चन्द्रमा की।

इन्द्रायुध अश्व

चन्द्रापीड़रूपी मन का वाहन इन्द्रायुध अश्व है। इन्द्र मन का देवता है। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा—यही इन्द्र का स्वरूप है। प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा और भूतमात्रा इन तीनों की समष्टि आत्मा है। इसमें प्रज्ञामात्रा की संज्ञा इन्द्र है जिसे सूर्य भी कहते हैं। प्राणमात्रा की संज्ञा वायु है। भूतमात्रा की संज्ञा अग्नि है। ये ही तीन देवता हैं जिनकी शक्तियों के सम्मिलन से मानव का स्वरूप पूर्ण बनता है—

इन्द्र—प्रज्ञामात्रा—मन।
वायु—प्राणमात्रा—प्राणापान।
अग्नि—भूतमात्रा—पंचमहाभूत।

मन, प्राणापान, पंचमहाभूत—ये ही शिव के आठ प्रत्यक्ष शरीर हैं जिनसे हम सबका मूर्तरूप अभिव्यक्त हुआ है। जब तक ये आठों मिले हैं तभी तक हम मूर्तरूप में रह सकते हैं। इनमें मन इन्द्र है। उस मन का वाहन जो काम-संकल्प है वही इन्द्रायुध अश्व है। वस्तुतः इन्द्र और उसका आयुध या वाहन परस्पर एक हैं, अविनाभूत हैं। इन्द्र का आयुध वज्र है।

१—परित्यक्ता सा मया त्वद्विरहदुःखदायिनी मानुषी शूद्रकाख्या तनूः। एषापि च तवास्यां रुचिरुत्पन्नेति त्वत्प्रीत्या प्रतिपन्ना पालिता च। तदयं लोकश्चन्द्रलोकश्चते द्वावप्यधुना चरणतल-प्रतिबद्धौ। अपि च प्रियसख्या अपि ते महाश्वेतायाः प्रियतमो मयैव सह विगतशापः सञ्जातः (अनु० ३४६)।

संकल्पवान् मन वज्रधर इन्द्र है। संकल्प ही मन रूपी चन्द्रापीड़ का देवनिर्मित वाहन है। वह अश्व समुद्र से जन्म लेता है (जलधिजलादुत्थितमयोनिजमिदमश्वरत्नम्, अनु० ७४)। जिस शक्तिसमुद्र के मन्थन से सोम या चन्द्र की उत्पत्ति है उसी से इन्द्रायुध अश्व की है। इन्द्रायुध अश्व के प्रथम दर्शन के समय ही चन्द्रापीड़ ने उसका मर्म समझ लिया—अवश्य ही यह कोई महात्मा है। मेरा अन्तःकरण इसकी दिव्यशक्ति का अनुभव कर रहा है (असंशयमनेनापि महात्मना केनापि शापभाजा भवितव्यम्। आवेदयतीव मदन्तःकरणमस्य दिव्यताम्, अनु० ७७)। मन चन्द्रापीड़ है, तो उसका वाहन काम-संकल्प अश्व है। अश्व-तत्त्व ही गतितत्त्व है। उसकी प्रतीक-व्याख्या और कल्पना अतिविस्तृत है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार अप्सुयोनिर्वा अश्वः (तैत्तिरीय ३।४।४।३), वज्रो वा अश्वः (शतपथ ४।३।४।२७), इन्द्रो वा अश्वः (कौषीतकी १५।४) आदि अनेक परिभाषाएँ हैं जिनकी पृष्ठभूमि में अश्वतत्त्व की व्याख्या परिगृहीत होती थी। बाण के युग में तो बौद्धधर्म की परिभाषाएँ भी लोक में विदित और मान्य थीं। उनके अनुसार बुद्ध प्रज्ञापारमिता का साक्षात् रूप है। वज्रधर इन्द्र बुद्ध का पार्श्वचर सखा था। वह इन्द्र शैलगुहा में बुद्ध के दर्शन करता है। इन्द्र देव है। मन उसका वाहन है (मनो वै देववाहनम्)। इन्द्रायुद्ध वज्र बुद्ध का अविचल ज्ञान है, वही उनका दृढ़ समाधियुक्त मन है। बुद्ध वज्रसत्त्व या वज्रधर भी कहे जाते थे।

इन्द्रायुध अश्व प्रज्ञामय पुण्डरीक के सखा कपिंजल का अवतार है। प्रज्ञातत्त्व से उसका सम्बन्ध स्वयंसिद्ध है। वह चन्द्रापीड का वाहन बनकर उसे अच्छोद तक ले जाता है। चन्द्रापीड़ की मृत्यु के साथ ही वह अच्छोद सरोवर में विलीन हो जाता है और शापमुक्त होकर पुनः पुंडरीक के मित्र कपिंजल के रूप में प्रकट होता है। चन्द्रापीड़ सोम का मूर्त अवतार है। अच्छोद दिव्य अम्भ या सोम का सरोवर है। इन्द्रायुध अश्व की उसके लिये यही महती सेवा है कि वह उसे उस सरोवर के तट तक पहुँचा देता है। पुनः वह स्वयं उसी सोमतत्त्व में मिल जाता है। ज्ञान का वाहन अन्ततः ज्ञान के समुद्र में ही विलीन हो जाता है, उसकी भौतिक सीमाओं का विलय वहीं होता है। पुण्डरीक के लिये उसका सखा कपिंजल आवश्यक है। पुण्डरीक कमल है तो कपिंजल उसका मधु। वैदिक उपाख्यान में त्रिशिरा विश्वरूप का जो सोम पीने का मुख था वह कपिंजल था।[1] जैसे मन के लिये संकल्प है, वैसे ही ज्ञान के लिये उसका स्फुरण या उन्मेष है। दोनों परस्पर मिले हैं।

अप्सरा-तत्त्व क्या है ?

कादम्बरी की कथा में अप्सराओं और उनके चौदह कुलों का अत्यधिक महत्त्व है। यह अप्सरा-तत्त्व क्या है और अप्सराओं के चौदह कुलों का अभिप्राय क्या है ? यह प्रकट विश्व किसी अव्यक्त शक्ति समुद्र में लीन था। वहीं से इसकी अभिव्यक्ति होती है। उस

१—स यत्सोमपानं (विश्वरूपस्य मुखम्) आस ततः कपिंजलः समभवत् (शतपथ १।६।३।३)।

महती शक्ति की वैदिक संज्ञा अदिति है। अदिति सब देवों की माता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में, माता, पिता और पुत्र के रूप में जो कुछ भूत, भविष्य और वर्तमान है सब अदिति का ही रूप है।[1] अदिति देवमाता है। विश्व की अविनाशी शक्ति अदिति है। देवमाता शक्ति का पुत्र दक्ष है। दक्ष सृष्टिप्रक्रिया का सक्रिय विधायक तत्त्व है। वस्तुतः दक्ष और अदिति में पुत्र और माता का भाव औपचारिक है। ऋग्वेद में कहा है—

> अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि।
> अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव॥
> तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः। (ऋ० १०।७२।४–५)

अर्थात् अदिति ने दक्ष से जन्म लिया और दक्ष ने अदिति से। अदिति दक्ष की दुहिता हुई। उसीसे कालान्तर में देवों ने जन्म लिया।

ये प्राण-सृष्टि के संकेत हैं। सृष्टिविज्ञान में पिता-पुत्री की कल्पना उपचारमात्र है। शक्ति का जो पारमेष्ठ्य समुद्र है, उसे वारुण तत्त्व कहा गया है, क्योंकि उसी के सीमाभाव या पाशों से सृष्टि सम्भव होती है। वारुण आसुरी तत्त्व और ऐन्द्र दैवी तत्त्व दोनों शक्ति केही रूप हैं। दोनों को प्रजापति के पुत्र माना जाता है। देव और असुर दोनों शक्ति के रूप हैं। यज्ञ से पूर्वकालीन और बहिर्गत शक्ति आसुरी होती है। वही यज्ञप्रक्रिया की परिधि में आकर दैवी बन जाती है। मेघों में जो दुर्धर्ष विद्युत् है वह आसुरी शक्ति है। जब उसके विनियोग का छन्द और देवता बन जाता है तब वही यज्ञीय बन जाती है, जैसे विद्युत् प्रकाश के रूप में आई हुई शक्ति। वह नियामक बिन्दु से नियन्त्रित होती है। छन्द रहित आसुरी विद्युत् विध्वंसक है, जहाँ गिरती है नाश कर डालती है। पर यज्ञ के छन्द से छन्दित विद्युत् निर्माणात्मक शक्ति है। वह अमृत रूप है। वैदिक परिभाषा में जब कभी विश्वनिर्मात्री शक्ति की महिमा कही जाती है तब देवमाता अदिति दक्ष की पुत्री है। कभी विश्वातीत महाशक्ति की महिमा कही जाती है तब अदिति दक्ष को अपने गर्भ में लिये रहती है (दक्षाद् उ अदितिः परि), और अदिति दक्ष की माता कही जाती है। दक्ष तत्त्व भी वारुण तत्त्व है (वरुणो दक्षः, शतपथ ४।१।४।१)। वह सृष्टि का सक्रिय मातृ तत्त्व है।

अन्ततोगत्वा यही सृष्टि का मौलिक सत्य है कि सब से पूर्व में एक दुर्धर्ष शक्ति समुद्र था। वही सृष्टि का विराट् मातृ तत्त्व था। पुराणों में उसकी संज्ञा दक्ष है। उसी दक्ष से मातृ तत्त्व के अनेक रूप उत्पन्न हुए जिन्हें दक्ष की कन्याएँ कहा गया। दक्ष की अनेक कन्याओं में दो मुनि और अरिष्टा हुई। उन्हीं से अप्सराओं के दो कुल उत्पन्न हुए जिन्होंने गन्धर्वों से विवाह करके सृष्टिक्रम को आगे बढ़ाया। सृष्टि के जिस विराट् मातृ तत्त्व की संज्ञा पारमेष्ठ्य समुद्र या आपः है उसी के लिये कहा जाता है—

१—अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ (ऋ० १।८९।१०)

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनु १।८)

स्वयंभू पितृतत्त्व ने अपने ही शरीर में से आपः या समुद्र या मातृतत्त्व को उत्पन्न किया और उसमें सृष्टि का बीजाधान किया। आपः का अर्थ स्थूल जल न समझना चाहिए। भौतिक स्थूल जलों का निर्माण तो सृष्टिप्रक्रिया में बहुत बाद में होता है। यदाप्नोत् तस्माद् आपः (शतपथ ६।१।१।९), इस परिभाषा के अनुसार सर्वत्र समभाव में व्यापक उस शक्ति तत्त्व को 'आपः' कहा गया। उसी ने सृष्टि के बीज को अपने गर्भ या सीमाभाव में लिया, इसलिये 'यदवृणोत् तस्माद् वाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे वार् या वारि कहा गया। यही सीमाभाव वारुणभाव कहा जाता है। इसीलिये वरुण उस महासमुद्र का अधिपति देवता है।

इस प्रकार सृष्टि के मूल में जो अप्तत्त्व था, उससे जो मातृभाव उत्पन्न हुए वे ही अप्सराएँ कहलाईं—

अद्भ्यः सरन्तीति अप्सरसः

जो अप्तत्त्व, पारमेष्ठ्य शक्तिसमुद्र या जलों से उत्पन्न हुईं वे अप्सराएँ हैं। अप्सरा-तत्त्व के बिना सृष्टि सम्भव नहीं। जब कभी सिसृक्षा की प्रवृत्ति आगे चलती है तभी अप्सरातत्त्व और उनसे विवाह करके गर्भाधान करानेवाले गन्धर्वतत्त्व की आवश्यकता होती है, जैसा हम आगे देखेंगे। सृष्टि का तृण से ब्रह्म-स्तम्ब-पर्यन्त जितना विस्तार है वह सब मातृतत्त्व के बिना जन्म नहीं लेता। अतएव अप्सराओं के या मातृतत्त्व के चतुर्दश कुल कहे गए हैं।

कुलतत्त्व की व्याख्या

अकेले प्रजापति से सृष्टि नहीं होती। उसे कुलभाव या दाम्पत्यभाव में आना पड़ता है। 'स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स ह एतावान् आस यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ'—अर्थात् आत्मरूपी प्रजापति का मन नहीं लगा, इसलिये आज भी अकेले किसी का मन नहीं लगता। उसने दूसरे की इच्छा की। तब वह इतना हुआ जितने स्त्री-पुरुष दाम्पत्यभाव में होते हैं (बृहदारण्यक उप० १।४।३)। निर्विशेष निर्धर्मक प्रजापति अकेला था। जब अकेला था तो कुल कहाँ? वह अकुल प्रजापति सत्-असत्, मृत्यु-अमृत, अहोरात्र, स्त्री-पुरुष आदि द्विविरुद्ध या कुल-भावों से परे केवल निर्विशेषरूप में था। अकुलरूप उसका मन नहीं लगा, तो वह दो हो गया, वही उसका कुलरूप हुआ। अकुल प्रजापति सृष्टि से बाहर है। उसके निर्लेप रूप का कोई विचार या गणना नहीं की जाती। सृष्टि कुल-कर्म है। अतएव जो अकुल था वह कुलरूप में आया। कुलों से प्रजाओं की सृष्टि हुई।

अकुल ही निष्कल होता है। अकुल में कलाभाव या खंडभाव नहीं होता। खंडभाव के बिना सृष्टि सम्भव नहीं। शक्ति साम्यावस्था में रहे तो कोई अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। जब अलग-अलग केन्द्र बनते हैं तभी प्रत्येक केन्द्र में सृष्टि का बीजाधान होता है। बीजाधान और केन्द्रभाव दोनों पर्याय हैं। एक-एक केन्द्र एक-एक कला है। इस प्रकार की अनन्त या सहस्र कलाओं की संज्ञा सृष्टि है। जिसमें केन्द्र होता है उसे सत्य कहते हैं, उसके रूप की सत्ता होती है। जिसमें केन्द्र न हो वह ऋत कहलाता है। सत्य आग्नेय और ऋत सौम्य होता है। पुरुष-तत्त्व सत्यधर्मा और स्त्री-तत्त्व ऋतधर्मा होता है। जब ऋत सत्य से गर्भित होता है तब वह केन्द्र बनता है जहाँ से सृष्टि सम्भव होती है। केन्द्र को ही सृष्टिविज्ञान की भाषा में 'एक' कहते हैं। जो एक भाव है वही व्यक्ति भाव या मन कहलाता है। मन से ही व्यक्तिभाव या पृथक् भाव का अनुभव होता है।

सृष्टि के आरम्भ में अकुल प्रजापति था। उसने अप्संज्ञक मातृतत्त्व की सृष्टि की। आगे उत्पन्न होने वाले समस्त कुल उसी 'अकुल' समुद्र में लीन थे। सृष्टिप्रक्रिया में वे क्रमशः प्रकट होने लगे। कुलभाव को गणभाव भी कहते हैं। पृथक् पृथक् भाव जब एक दूसरे से मिलते है तभी सृष्टि होती है। वायु में, जल में, वृक्ष-वनस्पतियों में, सूर्य-चन्द्र में, प्राणियों और मानवों के रूप में कितने पृथक् भावों का सम्मिलन हुआ है। सृष्टि के मूल में जो अविभक्त प्राणतत्त्व था वही असत् या एकर्षि कहा जाता है। वेद में प्राण की ही संज्ञा ऋषितत्त्व है। वह एकर्षि प्राणसृष्टि के लिये द्वयर्षि, त्र्यर्षि, पंचर्षि, सप्तर्षि, दशर्षि आदि अनेक रूपों या गणभावों में प्रकट होता है। उन्हीं की विविध समष्टि से कुल या गण बनते हैं। सृष्टि के मूलभूत चौदह कुल हैं, यद्यपि कुलों से उत्पन्न अवान्तर कुल अनन्त हैं।

अप्सराओं के चौदह कुल कौन से हैं ?

महाश्वेता इन कुलों का परिचय देते हुए चन्द्रापीड से कहती है—कल्याणरूप आपने यह सुना ही होगा कि स्वर्ग में अप्सरा नाम की कन्याएँ हैं। उनके चौदह कुल हैं—उनमें से एक ब्रह्मा के मन से, एक वेदों से, एक अग्नि से, एक वायु से, एक अमृत से, एक जल से, एक सूर्यरश्मियों से, एक चन्द्ररश्मियों से, एक भूमि से, एक विद्युत् से, एक मृत्यु से और एक काम से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार ये बारह कुल हुए। दो कुल दक्ष की मुनि और अरिष्टा नामक दो कन्याओं से गन्धर्वों के साथ समागम से उत्पन्न हुए।[1] इन चौदह कुलों की व्याख्या सृष्टिविज्ञान की ही व्याख्या है।

१—एतत्प्रायेण कल्याणाभिनिवेशिनः श्रुतिविषयमापतितमेव यथा विबुधसद्मन्यप्सरसो नाम कन्यकाः सन्ति। तासां चतुर्दश कुलानि। एकं भगवतः कमलयोनेर्मनसः समुत्पन्नम्। अन्यद्वेदेभ्यः सम्भूतम्। अन्यदग्नेरुद्भूतम्। अन्यत्पवनात्प्रसूतम्। अन्यदमृतान्मथ्यमानादुत्थितम्। अन्यज्जलाज्जातम्। अन्यदर्ककिरणेभ्यो निर्गतम्। अन्यत्सोमरश्मिभ्यो निष्पतितम्। अन्यद्भूमेरुद्भूतम्। अन्यत् सौदामिनीभ्यः प्रवृत्तम्। अन्यन्मृत्युना निर्मितम्। अपरं

इन चौदह कुलों के दो वर्ग हैं—एक ओर बारह और दूसरी ओर दो कुल हैं। पहले बारह कुल सृष्टि में यद्यपि आवश्यक हैं, पर दाम्पत्यभाव के लिये उपयोगी पिछले दो कुलों का वर्ग ही है। वे बारह कुल इस प्रकार हैं—

(१) वेद या ऋषितत्त्व या निर्लेप निर्गुण अकुल प्रजापति।
(२) सृष्टि में आए हुए सगुण प्रजापति का मन।
(३) मन का प्रथम रेत काम।
(४)-(५) अमृत-मृत्यु।
(६)-(७) सूर्य-चन्द्र।
(८)-(१२) विद्युत् या आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी नामक पञ्च महाभूत।

यह सृष्टि का विधान है। ये बारह तत्त्व प्रत्येक पदार्थ की रचना और उत्पत्ति में उपयोगी हैं। इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है।

सबसे पहले निर्लेप, गुणातीत, परात्परसंज्ञक प्रजापति की सत्ता थी। वस्तुतः वह अकुल था। उसे ही यहाँ वेदों से उत्पन्न कुल कहा गया है। ऋषितत्त्व को वेदतत्त्व कहते हैं। जहाँ वेद है वहीं ऋषि की अनिवार्य आवश्यकता होती है। यह ऋषितत्त्व सृष्टि की मौलिक सत्ता है। सत्ता में सत्ता की अपेक्षा नहीं होती, जैसे भाव में भाव या जाति में जाति नहीं रहती। इसलिये मौलिक सत्तातत्त्व या प्राणतत्त्व को वैदिक भाषा में असत् भी कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है—

असद्वा इदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद् ऋषयः।
(श० ६।१।१।१)

आरम्भ में असत् था। प्रश्न है कि वह असत् क्या था? ऋषितत्त्व को ही आरम्भ की अवस्था का असत् कहते हैं। प्रश्न है कि वे ऋषि क्या थे? प्राण की ही संज्ञा ऋषि है। क्योंकि प्राण में गति या हलचल हुई जो प्राणव्यापार (तप) और भूतव्यापार (श्रम) के रूप में प्रकट हुई, इसलिये रिष् गत्यर्थक धातु के आधार पर मूलभूत प्राणतत्त्व को संकेत-भाषा में ऋषितत्त्व कहा जाता है। यह ऋषितत्त्व ही वेदतत्त्व है जिससे अप्सराओं के एक कुल की उत्पत्ति कही गई है। स्पष्ट वैज्ञानिक भाषा में गति ही सृष्टि का मूल तत्त्व है। वही एकर्षि प्राण है। वही अकुल प्रजापति है।

इस गुणातीत प्रजापति ने सृष्टिप्रक्रिया में सर्वप्रथम शक्ति की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करके मनस्तत्त्व को उत्पन्न किया। सृष्टि के लिये जिस प्रथम केन्द्र की उत्पत्ति

मकरकेतुना समुत्पादितम्। अन्यत्तु दक्षस्य प्रजापतेरतिप्रभूतानां कन्यकानां मध्ये द्वे सुते मुनिररिष्टा च बभूवतुस्ताभ्यां गन्धर्वैः सह कुलद्वयं जातम्। एवमेतान्येकत्र चतुर्दशकुलानि (अनु० १३९; द्रष्टव्य मार्कण्डेय पुराण, १०४।६-७)।

हुई वह मन था। उसे ही एक भी कहा जाता है। 'एक' तत्त्व ही हृदय या केन्द्रतत्त्व है। यह दो प्रकार का होता है—एक तो वह 'एक' है जो 'एकमेवाद्वितीयम्' होता है जिसमें निरपेक्ष एकभाव है, उसमें संख्या का संस्पर्श नहीं है। ऐसा 'एक' सृष्टि के लिये अनुपयोगी है। वही 'एकाकी न रेमे' वाली स्थिति है। दूसरी ओर वह एक है जो सृष्टि में उपयोगी है, जिसमें एक-दो-तीन-चार आदि संख्याओं की सत्ता है। इनमें हर एक संख्या 'एक' है, एक के योगों से ही संख्याओं की सारिणी अस्तित्व में आ जाती है। जितने बुद्धितत्त्व हैं सब एक-एक केन्द्र से अवच्छिन्न है। एक-एक केन्द्र का एक-एक मन है। तपसस्तन्महिम्ना जायते एकम् (नासदीय सूक्त) इसी के लिये कहा है। इस एक की संज्ञा ही मन है। बुद्धि या मन की सत्ता ही व्यक्तिभाव का अस्तित्व है। यही अप्सराओं का वह कुल है जो प्रजापति के मन से उत्पन्न हुआ। अर्थात् प्रजापति का मन ही इस दूसरे कुल का उपकरण बनता है। निर्गुण प्रजापति वेदतत्त्व या ऋषितत्त्व है, तो मन उसका सत्त्व नामक गुण है।

मन का गुण है काम या कामना। यही वह तीसरा कुल है जिसे काम से उत्पन्न कहा गया है—'अपरं मकरकेतुना समुत्पादितम्'। जब सत्त्वरूप मन हुआ तो उससे उसका वीर्य रजोरूप काम उत्पन्न हुआ—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। (ऋ० १०।१२९।४)

वेदरूपी प्रजापति या ऋषितत्त्व शुद्ध रसरूप है। मन उसमें सबसे पहला बल है जिसे मायाबल कहते हैं। मन से ही अनन्त प्रजापति में मायाभाव या सीमाभाव उत्पन्न होता है। मनरूपी मायाबल में दूसरा कामबल उत्पन्न होता है। इसे ही जायाबल कहते हैं। प्रजापति-मन-काम ये तीन कुल एक ओर हुए। सत्त्व और रज के कारण प्रजापति में द्विविरुद्ध भाव उत्पन्न होने लगे। उनके दो युग्म हैं—एक युग्म अमृत और मृत्यु का है, दूसरा युग्म सूर्य और चन्द्र का है। अमृत और मृत्यु निरपेक्ष और सापेक्ष काल के प्रतीक है। महाकाल अमृत है। महाकाल सृष्टि के लिये निरुपयोगी है। वह जब संवत्सर के रूप में परिणत होता है तभी सृष्टि में उपयोगी बनता है। संवत्सर विद्या ही सृष्टिविद्या या अग्निविद्या है। प्रजापति सृष्टि के लिये संवत्सर बन जाता है और सृष्टियज्ञ का चक्र प्रवर्तित होने लगता है। संवत्सर सापेक्ष काल या मृत्यु का प्रतीक है। जहाँ काल की अवधि, परिणति या परिपाक है वहीं मृत्यु है। संवत्सर के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं—एक सूर्य, दूसरा चन्द्र। सूर्य अमृत और चन्द्र मृत्यु का प्रतीक है। सूर्य विज्ञानमय अखण्ड तेज है जो सृष्टि में अथ से इति तक एक समान रहता है। चन्द्रमा घटता बढ़ता या उत्पन्न-विनष्ट होता है। यही मृत्यु का रूप है। बुद्धि सूर्य और मन चन्द्रमा का स्वरूप है। तात्त्विक दृष्टि से तो काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, भीति—ये सब मन के ही नाना रूप हैं। (बृ० उप० १।५।३)। गुणों की साम्यावस्था के बाद जब गुणभाव की उत्पत्ति होती है तो उसके सत्त्व नामक प्रकाशक गुण को मन कहा जाता है। मन न हो तो किसी वस्तु की व्यक्ति या पृथक् सत्ता की ख्याति हो ही नहीं सकती। उस मन के कई नाम हैं। वायु-

पुराण में उसे ही महान्, मति, बुद्धि, ख्याति, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संवित् आदि कहा गया है (वायु० ४।२७–२८)। किन्तु जीवन और जगत का जो प्रातिस्विक द्विविरुद्ध भाव है उसमें मूलभूत एक मनस्तत्त्व ही बुद्धि और मन या सूर्य और चन्द्र के रूप में अभिव्यक्त होता है। एक ब्रह्म, दूसरा क्षत्र है जिनकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है।

यहाँ यह स्मरण रखना उचित है कि अमृत-मृत्यु और सूर्य-चन्द्र दोनों सापेक्ष तत्त्व हैं। दोनों युग्म भातिसिद्ध हैं, सत्तासिद्ध नहीं। सूर्य-चन्द्र प्राण और अपान के प्रतीक हैं। सूर्य और चन्द्र के जो दो पिण्ड आकाश में दिखाई पड़ते हैं, उनका सृष्टिविज्ञान में स्थूल ग्रहण नहीं किया जाता, बल्कि उनसे अग्नि-सोम, शीत-उष्ण, प्राण-अपान की दो मूलभूत धाराओं का ग्रहण किया जाता है। अमृत-मृत्यु महाकाल और संवत्सर काल के रूप हैं। महाकाल सूर्य से ऊपर है। संवत्सररूपी काल सूर्य से प्रवृत्त है। महाकाल में उषा एकरस है। संवत्सर में प्रतिदिन वह नई होती है। 'यत्किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्'—संवत्सर मृत्युका रूप है, यही अहोरात्र द्वारा आयु का क्षय करता है (एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोत्यथ म्रियन्ते, शतपथ १०।४।३।१)। सूर्य के उदयास्त से ही दिक्तत्त्व का निश्चय होता है। काल और दिशा ये दोनों सृष्टिरचना के लिये आवश्यक हैं।

सृष्टि के लिये जितने तत्त्व कम से कम आवश्यक हैं उन्हें ही यहाँ बारह अप्सरा-कुल कहा गया है। प्राणात्मक ऋषितत्त्व या असङ्ग प्रजापति, मन-काम, अमृत-मृत्यु (काल) सूर्य-चन्द्र (दिक्) और पञ्चभूत। 'मनोमयः प्राणमयः वाङ्मयः आत्मा' यही आत्मतत्त्व की परिभाषा है। इसमें पञ्चभूतों की प्रतीकसंज्ञा वाक् है। क्योंकि आकाश पाँचों भूतों में सूक्ष्मतम है, अतएव उसी के गुण शब्द या वाक् से शेष का भी ग्रहण कर लिया जाता है। वैदिक परिभाषा में भूततत्त्व को वाक् कहते हैं। इस दृष्टि से बारह कुलों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) अमूर्त प्रजापति = गुणातीत, असंग, मूलभूत प्राणात्मक ऋषि या वेदतत्त्व।
(२) प्रज्ञामात्रा = मन और उसकी शक्ति काम।
(३) प्राणमात्रा = काल (अमृत-मृत्यु) और दिक्-देश (सूर्य-चन्द्र)।
(४) भूतमात्रा = पञ्च महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश)

यही चतुष्पात् ब्रह्म है। इसी प्रजापति को अमूर्त-मूर्त या अनिरुक्त-निरुक्त कहा जाता है। इस प्रकार सृष्टिप्रक्रिया के लिये आवश्यक सब सूक्ष्म और स्थूल उपकरणों की संज्ञा ये बारह पदार्थ हैं। मन, देश-काल और पञ्चभूतों को लेकर प्रजापति की सूक्ष्म शक्ति सृष्टिरचना करती है किन्तु दाम्पत्यभाव या मातृ-पितृभाव के बिना स्थूल जन्म नहीं होता। वे ही अप्सराओं के शेष दो कुल हैं।

गन्धर्वतत्त्व क्या है ?

दो दक्षकन्याओं ने गन्धर्वों से विवाह किया। उनकी सन्ततिरूप दो ही गन्धर्व कुल हुए। एक चित्ररथ, दूसरा हंस। चित्ररथ-मदिरा से कादम्बरी का और हंस-गौरी से महाश्वेता का जन्म हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि पंचभूतों की संज्ञा वाक् है। वाक् सूक्ष्म प्राकृत तत्त्व है। उसी की विकृति से सब प्राणियों की देह-सृष्टि होती है। वाक् ही गौ है जिसके दुग्ध से प्राणरूपी वत्स पुष्ट होता है। मन उस वाक्रूपी धेनु का वृषभ है जिसकी कामात्मक वर्षणशील वृषशक्ति से वाक्रूपी गौ गर्भ धारण करती है। धेनु-वृषभ-वत्स यही जन्म का त्रिक है। इसे ही वाक्-मन-प्राण कहा जाता है। प्राणगर्भित वाक्तत्त्व ही गन्धर्व-अप्सरा-विवाह है। 'गां धारयति इति गन्धर्वः', इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राण ही गन्धर्व है। भूततत्त्व गौतत्त्व है। प्राण भूत का विधर्ता है। प्राण का स्पन्दन ही भूतों का विकर्षण करके या उन्हें खींचकर केन्द्र में ले आता है। यही तो देह के उपचय की प्रक्रिया है। मातृतत्त्व में बीजाधान हुआ नहीं कि प्राण का स्पन्दन आरम्भ हो जाता है। सिकुड़ने और फैलने की क्रिया ही प्राण है (प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्, शतपथ ८।१।४।१०)। पार्थिव धातुओं में शरीरस्थ अग्नि या प्राण का कम्पन या स्पन्दन यही तो देहस्थिति है। इसी स्पन्दन से भौतिक शरीर-रचना होती है। सृष्टिप्रक्रिया में कितने भी सूक्ष्म तत्त्व या अमूर्त तत्त्व जैसे मन, काम आदि रहें उनसे भूतमय स्थूल रचना नहीं हो सकती जब तक प्राण का द्विविध स्पन्दन (जिसे समञ्चन-प्रसारण या प्राणापान भी कहा जाता है) बाहर से भूतों को खींचकर केन्द्र में न भर दे। प्राण का यह द्विविध रूप ही अग्नि-सोम कहलाता है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' यही विश्व की विज्ञानभित्ति है। प्रत्येक पशुसृष्टि, अर्थात् जीवमयी रचना जिसमें वृक्ष-वनस्पति से लेकर कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, मनुष्यादि सब सम्मिलित हैं, अग्नि-सोम की इसी प्रक्रिया पर निर्भर है। इसलिये 'अग्नीषोमीय पशु' यह कहा जाता है। पशुमयी चिति या भूतचिति प्राणाग्नि के स्पन्दन पर ही निर्भर है। देह में भूतों का चयन इसी नियम से प्रतिक्षण हो रहा है। प्राण द्वारा भूतचिति की संज्ञा यज्ञ है।

अग्नि और सोम ही दो गन्धर्वकुल हैं। ये ही गौ-तत्त्व या वाक् या पंचभूतों को बाहर से लाकर शरीर में संचित करते हैं। प्राण ही गन्धर्व है। गन्धर्व की परिभाषा है—'योषित्कामा वै गन्धर्वाः' (शतपथ ३।२।४।३)। गन्धर्वतत्त्व सदा स्त्री की कामना करता है (स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः, ऐतरेय १।२७)। गन्धर्व वृषा और अप्सरा योषा है। प्राणरूपी गन्धर्व जब भूतों को या गौ-तत्त्व को मातृसंज्ञक केन्द्र में ले आता है तो उसे दो प्रक्रियाएँ करनी पड़ती हैं—एक तो उस भूतभाग की शुद्धि और दूसरे उसकी वहाँ मातृकुक्षि में स्थिर स्थिति। भूतों की शुद्धि का क्या अर्थ है ? हम अन्न के रूप में भूतभाग को अपने भीतर ले आते हैं। अन्न के अनेक प्रकार हैं। अन्नरूप भूत जैसे ही भीतर जाता है, शरीर की प्राणाग्नि उसकी विशुद्धि करने लगती है और बाहर के उस भूतभाग को शरीरस्थ धातुओं के रूप में ढालने लगती है। यही भूतविशुद्धि है। अन्न-रस से लेकर शुक्र पर्यन्त भूत-विशोधन की प्रक्रिया है। दूसरी आवश्यक प्रक्रिया है शुद्ध किए हुए भूतों की शरीर में स्थिति

या चिति। प्राणाग्नि इस कार्य को कितने रहस्यमय प्रकार से करती है, यह शरीररचना का महान् आश्चर्य है। पुरुष का जो सूक्ष्म रेतकण मातृभ्रूण के साथ मिलता है, उसकी भी इसी प्रकार विशुद्धि और चिति की जाती है। मातृभ्रूण उसे अपने रूप में परिवर्तित करके अपने भीतर ले लेता है। समस्त विश्व का यही नियम है। इन्हीं दो गुणों को प्रत्येक कन्या अपने भीतर रखती है। जो गौ-तत्त्व या भूतभाग मातृकुक्षि में प्रविष्ट होता है वह इन दो प्रकारों से आत्मरूप बनाया जाता है। यही कन्यातत्त्व मातृत्व है। कुमारी कन्या में इन दो गुणों का उत्पन्न होना ही उसका मातृत्व गुण है। वही उसकी शुक्र या गर्भधारण की योग्यता होती है। पहली शुद्धि की शक्ति सोम से और दूसरी चयन की शक्ति अग्नि या प्राण से प्राप्त होती है। यह प्राण ही वह अमृतभाव है जिसके कारण मातृगर्भ में आया हुआ भूतभाग च्युत या नष्ट नहीं हो जाता, वह वहीं स्थित या चित हो जाता है। अत एव अप्सराओं के वे दो कुल जो गन्धर्वों से मिलते हैं सोमसम्भव और अमृतसम्भव कहे गए हैं। सोम से शौच और अग्नि से नवरूप-निर्माण की शक्ति प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से कन्यातत्त्व की यह व्याख्या की गई—

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः॥[1]

सोम से शौच, गन्धर्व से गिरा या वाक् (पंचभूत) और अग्नि से मेध्यता—ये तीन गुण स्त्री को जब प्राप्त होते हैं तब मनुष्य पति से मिलने की योग्यता उसमें आती है। मेध्य का अर्थ है चिपक जाना, ठहरना, यज्ञ का अङ्ग बन जाना। गन्धर्व और अप्सरा तत्त्व के दो गुण और कहे गए हैं—गन्ध और रूप (गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति, शतपथ ९।४।१।४)। सोम की शुचिता या शुद्धि ही मातृतत्त्व की सुगन्धि है।[2] उसका पूर्व रूप सुरा का होता है। सुरा की शुद्धि से ही सोम बनता है। शरीराग्नि द्वारा अन्नरस से पहले सुरा बनती है, पीछे वही शुद्ध होकर सोम में परिणत हो जाती है। उस सोम का सर्वविशुद्ध रूप शुक्र है। गर्भाधान के अनन्तर स्त्री में जो वमनादि प्रतिक्रिया होती है वही सुराभाव है। पीछे वह गर्भ माता की शरीराग्नि से विशुद्ध होकर सोमरूप में परिवर्तित हो जाता है और माता के संस्थान का अन्तर्याम अंश बन जाता है। दूसरा गुण, रूप, अग्नि या अमृत द्वारा प्रदत्त चिति या स्थितिभाव ही है। जब भूततत्त्व प्राण के केन्द्र में ठहरता है तभी रूप का निर्माण होता है।

१—इसका मूल सोम-सूर्या के विवाहसूक्त में ही पाया जाता है—
सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
(ऋ० १०।८५।४०)

२—सुगन्धि सोम का गुण है—सोम इव गन्धेन भूयासम् (मन्त्रब्राह्मण २।४।१४); सोमो गंधाय (ताण्ड्य ब्राह्मण १।३।९)। दुर्गन्धि या पूतिभाव सुरा है। सोम और सुरा दोनों प्रजापति के अन्न हैं। वैदिक परिभाषा में पुरुष सोम, स्त्री सुरा कही गयी है। (पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा, तैत्तिरीय १।३।३।४)। सड़ना मातृतत्त्व है। इसीलिये भूमि गर्भित बीज को सड़ाती है।

चन्द्रपुरुष

अप्सराओं के जिन दो कुलों को अमृत और सोम से उत्पन्न कहा गया है वे ही क्रमशः सूर्य और चन्द्र की धाराएँ हैं। वस्तुतः अमृत और सोम दोनों एक होते हुए भी दो हैं। वे ही बुद्धि और मन की भाँति अभिन्न और भिन्न हैं। पुंडरीक केन्द्र बल और चन्द्रापीड़ परिधि बल का प्रतीक है। एक विज्ञान की और दूसरा प्रज्ञान की धारा है। दोनों के शरीर एक ही ज्योति से आप्यायित किए जाते हैं, केन्द्ररूप पुण्डरीक परोक्ष में और परिधिरूप चन्द्रापीड़ प्रत्यक्ष में। वह ज्योति 'कुमुदधवलदेहः महाप्रमाणपुरुषः महापुरुषलक्षणोपेतः दिव्याकृतिः' चन्द्र है जो पुण्डरीक के शव को अपने लोक में ले जाता है (अनु० १७४)। चन्द्रापीड के निष्प्राण हो जाने पर वही अव्यक्तरूप चन्द्र-धवल ज्योतिपुरुष पुनः प्रकट होकर महाश्वेता से कहता है—

'वत्सा महाश्वेता, मैं तुझे पुनः आश्वासन देता हूँ। तेरे उस पुण्डरीक का शरीर मेरे लोक में मेरे तेज से पुष्ट होता हुआ तेरे साथ पुन: समागम के लिये अविनाशी रूप में रक्खा हुआ है। दूसरा यह चन्द्रापीड़ का शरीर है जो मेरे ही तेज से बना हुआ होने के कारण स्वतः ही अविनाशी है। यद्यपि यह शापदोष से छूट चुका है, पर उस योगी के शरीर की भाँति जिसकी आत्मा दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है इसका शरीर शाप की अवधि बीतने तक यहीं मर्त्यलोक में बना रहेगा' (अनु० ३०१)। यह दिव्य पुरुष वही है जिसे उपनिषद् में 'बृहत्पाण्डरवासाः सोमो राजा' कहा है (बृ० उ० २।१।३)। यह चन्द्रपुरुष विराट् मन का प्रतीक है। इसे वैदिक भाषा में 'श्वोवसीयस् मन' भी कहते थे। यह ब्रह्म का ही एक रूप है (य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे, बृ० उ० २।१।३)। इसे ही 'मनो वै ब्रह्म' कहा गया है। इसके तीन रूप हैं। देवलोक में जो रोहिणीरमण भगवान् चन्द्रदेव हैं वे अव्यय पुरुष या विराट् मन के उपलक्षण हैं। मर्त्यलोक में जो कुमार चन्द्रापीड़ है वह अक्षर पुरुष या प्राणात्मा भोक्ता मन का प्रतीक है। तीसरा चन्द्रापीड़ का निष्प्राण शरीर क्षर पुरुष या भूतात्मा है। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' (गीता १५।१६) के अनुसार पंचभूतों का संघात यह भौतिक शरीर शापित दशा में शव ही है। अकेला भूत-देह शव है। शव मूर्त शोक है। पुंडरीक और चन्द्रापीड़ के शव महाश्वेता और कादम्बरी के शोक की पराकाष्ठा हैं। उनके आभ्यन्तर चान्द्र तत्त्व के आप्यायन और बाह्य अर्धनारीस्वरूप की तपश्चर्या से वे शव पुनः चैतन्यलाभ करते हैं। वहीं अच्छोद के तट पर भवानीपति शिव का आयतन है जिनकी समाधियुक्त उपासना से महाश्वेता की तपश्चर्या पूर्ण होती है'—'प्रातःकाल उठ कर मैंने

१—प्रत्यूषसि तूत्थाय तस्मिन्नेव सरसि स्नात्वा कृतनिश्चया तत्प्रीत्या तमेव कमण्डलुमादाय तान्येव च वल्कलानि तामेवाक्षमालां गृहीत्वा बुद्ध्वा निःसारतां संसारस्य भावयित्वा चानित्यतां सर्वभावानामवधार्य चाकांडभंगुरतां सर्वसुखानां निवर्त्य विषयसुखेभ्यो मनः संयम्येन्द्रियाणि गृहीतब्रह्मचर्या देवं त्रैलोक्यनाथमनाथशरणमिमं शरणार्थिनी स्थाणुमाश्रिता (अनु० १७६)।

अच्छोद सर में स्नान किया और मन में निश्चय करके वही कमण्डलु, वही वल्कल और वही अक्षमाला लेकर त्रिलोकी के नाथ, अनाथों के रक्षक भगवान् शिव की शरण में आ गई। मैंने विषय-सुखों से मन मोड़ लिया, इन्द्रियों को संयम में लगा कर ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण किया और मैंने समझ लिया कि यह संसार निःसार है तथा यहाँ के सब भाव अनित्य और सुख क्षणभंगुर हैं।'

काम और तप

काम और तप का द्वन्द्व ही सुवर्ण युग की आध्यात्मिक समस्या थी। बुद्ध की मार-विजय और शिव का मदनदहन उसी के सूचक हैं। बौद्धधर्म और ब्राह्मणधर्म दोनों के लिये साधना का आदर्श समान था—ध्यान, समाधि, तप द्वारा काम का वशीकरण और कामोपहत चित्त का पुनः अपनी महिमा में अवस्थापन। जैसा कपिंजल ने महाश्वेता से कहा है—'तपसो हि सम्यक्कृतस्य नास्त्यसाध्यं नाम किंचित्' (अनु० २०७)। शिव और बुद्ध की ध्यान-समाधि अध्यात्म का ही एक अभिप्राय है। भौतिक शरीर का होना ही जीवन नहीं है, काम से अपराभूत चित्त ही सच्चा जीवन है। कामापराध से चित्त उपहत हुआ नहीं कि श्वास-प्रश्वासयुक्त शरीर भी शव के समान बन जाता है (ते प्रियवयस्येन कामापराधाज्जीवित-मुत्सृजता, अनु० २०४)। शव साक्षात् शोक का रूप है। जरा व्याधि मरण आदि के शोक कालकृत होते हैं। काम का शोक आत्मकृत होता है। शव, शोक, शाप, मृत्यु एक ही हैं। अमृत, आनन्द, दिव्य वरदान, तप दूसरी ओर हैं।

श्रीहीन शरीर शव कहलाता है। पति जब कामराग से अन्धा होकर वधू के वस्त्र का स्पर्श या परिधान कर लेता है तभी वह 'अश्रील' हो जाता है।[1] वस्तुतः वासना या कामराग ही पतन है। सच्चा प्रेम वासना से नितान्त भिन्न आत्मा का दैवी गुण है।

बौद्धदर्शन में काम

जिस युग में बाण ने कादम्बरी लिखी उस युग में बौद्ध-धर्म और दर्शन चरम उत्कर्ष पर थे। 'युज्यध्वं बुद्धशासने' का उद्घोष चारों ओर सुनाई पड़ रहा था। अनुत्तरज्ञानावाप्ति द्वारा अर्हत् का आदर्श सर्वोपरि माना जाता था। ऐसे युग में जीवन की समस्या और उसके समाधान की जो रूपरेखा बौद्धधर्म में मान्य थी उसका प्रभाव बाण के विचारों पर पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं। किन्तु बाण अपनी संस्कृति में सुप्रतिष्ठ थे। उनके कथन की शैली इतनी श्लाघनीय है कि ऊपर से देखने पर उसमें विजातीय तत्त्व कुछ भी नहीं जान पड़ता। पर कादम्बरी के कुमारीअन्तःपुर तक में बौद्ध परिव्राजिकाएँ अवलोकितेश्वर की पवित्र स्तुतियों का पाठ करती हुई कही गई हैं (अनु० २०५), और कवि ने निरालम्बना बौद्ध बुद्धि या योगाचार

१—अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद्वध्वो३ वाससा स्वयमभिधित्सते॥ (ऋ० १०।८५।३७)

दर्शन का भी उल्लेख किया है (अनु० १३३)। देखना चाहिए कि काम और तप की समस्या का स्वरूप बौद्धधर्म में किस प्रकार का था।

बौद्धमान्यता के अनुसार काम सब विकारों में अग्रणी है। काम के अनेक रूप हैं, जैसे— राग, तृष्णा, स्नेह, मूर्च्छा, परिदाह, पिपासा आदि। पाँच निवारण (बाधाएँ), तीन एषणा (इच्छाएँ), चार उपादन (आसक्तियाँ), चार ओघ (सांसारिक क्षोभ के वेग), चार आसव (मन के मादक भाव) और तीन तृष्णा इन सब में काम ही अर्हत्व की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा है। यद्यपि काम के पाँच गुण या पंच विषय कहे जाते हैं, किन्तु स्त्रीकृत राग सबसे कठिन है। दिव्य लोक और मनुष्य लोक दोनों में काम का क्षेत्रविस्तार है। देव-मनुष्य सभी काम के वशीभूत हैं। स्वर्गलोक में नन्दनवन के सुख भी काम के मिथ्याचार ही हैं। कामों के मार्ग में मन की खुली छूट (कामेषु कामछन्द), कामपंक, कामपरिदाह, कामपिपासा, कामरति, काममूर्च्छा, कामरस, कामराग, कामवेग, कामवितर्क, कामसङ्ग, कामसेवना—ये कामवासना की तृप्ति के अनेक रूप हैं। कामभाव सबसे बड़ा संयोजन (बन्धन) है। कामसुख अत्यन्त निन्दित (मीढ सुख), सामान्य (पुथुजनसुख) और अनार्योचित है। काम के विभिन्न धरातल कामलोक या कामावचर कहे जाते हैं। इनमें अनेक प्रकार की मानसिक अवस्थाओं वाले प्राणी दुःख भोगते हैं। काम का यह पल्लवित स्वरूप बहुत कुछ उन वर्णनों से मिलता है जो पुण्डरीक-महाश्वेता और चन्द्रापीड़-कादम्बरी की मदनाविष्ट दशा के लिये कवि ने दिए हैं। काम की महिमा बौद्ध और ब्राह्मण धर्म दोनों में समान रूप से मानी जाती थी।

काम का आस्वाद एक नशा है जिसे कामासव कहा जाता था। काममूर्च्छा से मूर्च्छित या काममद से मत्त व्यक्ति अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है। काम का आसव ही कादम्बरी सुरा है। संसार में सर्वत्र उसका नशा छाया हुआ है। काम से ही शोक उत्पन्न होता है (कामतो जायती सोको, धम्मपद श्लो० २१५)। जो काम से विप्रमुक्त है वही शोक से मुक्त हो सकता है (कामतो विप्पमुत्तस्य नत्थि सोको, वही) काम और शोक के इस घनिष्ट सम्बन्ध को बाण ने भी माना है। काम से निस्सरण या छुटकारा ही परमसुख है। काम में लिप्त होना ही शूद्रभाव है। जो काम में लिप्त नहीं होता वही ब्राह्मण है ('यो न लिम्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं' धम्मपद ४०१)। इस नैतिक परिभाषा को स्वीकार करते हुए ही बाण ने कामगर्त में पड़े हुए चन्द्रापीड़ को जन्मान्तर में शूद्रक के रूप में चित्रित किया है (मानुषी शूद्रकाख्या तनुः, अनु० ३४६)।

संसार घूमते हुए पहिये के समान है। यह ब्रह्मचक्र है। बौद्ध लोग इसे भवचक्र कहते थे। दिव्यावदान में भवचक्र का वर्णन है (पृ० ३००)। अजन्ता गुफा में भवचक्र का चित्रण भी पाया जाता है। जन्मों की शृङ्खला ही भवचक्र है। बौद्धमान्यता के अनुसार भवचक्र प्रतीत्यसमुत्पाद या कार्यकारण के दुर्धर्ष नियम के अनुसार घूमता है। इसी के अनुसार नए-नए जन्मों की प्राप्ति होती है। एक ओर श्रेष्ठ दिव्य जन्म हैं, दूसरी ओर अवीची नरक

की योनियाँ हैं। किन्तु मुख्य जन्म तीन ही हैं—देव, मनुष्य और तिर्यक् योनि। पुण्डरीक का सुग्गे की योनि में जन्म लेना तिर्यक्भव का उदाहरण है। चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन मानुषीभव हैं। उज्जयिनी मनुष्यलोक है। उसके एक ओर हेमकूट, दूसरी ओर विदिशा है।

कादम्बरी के मुख्य पात्रों के तीन जन्म बौद्ध पृष्ठभूमि में और अधिक स्पष्ट हैं। संसार में जन्म या भव तीन प्रकार के हैं—अरूपभव, रूपभव और कामभव। वास्तविक भेद दो ही हैं—अरूपभव (सूक्ष्म लोक) और रूपभव (स्थूल, दृश्य, भौतिक लोक)। कामभव इसी रूपभव का भेद है। पुण्डरीक अरूप के स्तर पर है, वैशम्पायन रूपभव में है। वही कामग्रस्त होकर कामभव को प्राप्त होता है जो उसका सुग्गे का जन्म है। कामरागान्ध होकर ही वह कामभव के पाश में फँसता है। पुण्डरीक का शरीर शुद्धि के लिये उसी अरूप भव या अरूपलोक में ले जाया जाता है। जो चित्त इंद्रियरूप में परिणत है वही शव है। इंद्रियों के अनुभव में आने वाले स्थूल दृश्य लोक में जो धातु या स्कन्ध हैं उनमें जब तक चित्त फँसा है तब तक भवचक्र घूमता रहेगा। दिव्य चन्द्ररूप में अरूपभव, चन्द्रापीड़रूप में रूपभव और शूद्रक के रूप में कामभव को ही हम देखते हैं। पुण्डरीक और चन्द्रापीड़ अरूपभव से रूपभव में और फिर रूपभव से कामभव में जन्म लेते हैं। यही भवचक्र है। इसे ही बाण ने यों कहा है—'आत्मदोषान्मया सह मर्त्यलोके वारद्वयमवश्यमुत्पत्तव्यम्' (अनु० ३०४)।

भव या सांसारिक जन्म के दो भेद और कहे गए हैं—एक कामभव, दूसरा उपपत्तिभव। कामभव वह है जिसमें कर्मस्वातन्त्र्य मुख्य है। यह जीवन की सक्रिय अभिव्यक्ति है। उपपत्तिभव किए हुए कर्मों के फल भोगने के लिये केवल भोगभूमि या भोग लोक है। चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन के जन्म कामभव के उदाहरण हैं और शूद्रक एवं शुकशावक के शरीर उपपत्तिभव के प्रतीक हैं। बाण के युग में कर्मभूमि और भोगभूमि के पृथक् भेदों के विषय में बहुत उभरा हुआ विश्वास था। उनके समकालीन जटानन्दिकृत वरांगचरित (सातवीं शती) में भोगभूमि और कर्मभूमि के अलग-अलग वर्णन पाए जाते हैं (सर्ग ७–८)। पुराणों ने भी इन भेदों का बराबर उल्लेख किया है। इस दृष्टि से वहाँ भारतवर्ष को ही कर्मभूमि मान लिया गया था।[1] बाण ने भी भारतवर्ष का कर्मभूमि के रूप में उल्लेख किया है—'त्वमपि कर्मभूमीभूतेऽस्मिन्भारते वर्षे जन्मनि जन्मन्येवोत्पन्नानुरागः' (अनु० ३०४)।

गुप्तयुग के बौद्धदर्शन में चित्त के दो रूप माने जाते थे, एक धर्मधातु, दूसरा सत्त्वधातु। सत्त्वधातु भौतिक पंच स्कन्धों से निर्मित चित्त है जो संसारी होता है। इसके परिशोधन की सदा आवश्यकता रहती है। दूसरी चित्त प्रकृति वह है जो नितान्त परिशुद्ध

१—तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रम्, अन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि (भागवत ५।१७।११)। कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्फलभूमिरसौमता (आरण्यक पर्व २४७।३५)। पृथिव्यां भारतं वर्षं कर्मभूमिरुदाहृता (ब्रह्मपुराण २७।६६; मार्कण्डेय ५७।६२)।

और प्रभास्वर होती है। उसे काम रागादि से मैला नहीं किया जा सकता। उसे धर्मधातु या तथता कहा जाता था। प्रत्येक सत्त्वधातु के गर्भ में वह परिशुद्ध तथता विद्यमान है। अतएव प्रत्येक सत्त्वधातु तथागत तत्त्व से गर्भित है। यही तथागत तत्त्व मूल्यवान् है। तथागत की जो चित्त प्रकृति है वही दिव्य अच्छोद सरोवर का जल है जो सदा निर्मल है, वह भौतिक कालुष्य से नितान्त विरहित अध्यात्म तत्त्व है। बौद्ध लोग इस तथागत गर्भ सिद्धान्त की रोचनात्मक व्याख्या करते थे। कादम्बरी के कथासूत्र में इस दृष्टिकोण के प्रतीक स्फुट हैं। चन्द्रापीड़ और पुंडरीक के जो कई जन्म हैं वे क्लेशमयी वासनाओं के कोश हैं जो चित्त के आगन्तुक धर्म हैं, प्रातिस्विक अंश नहीं। इन कोशों का परिशोधन ही बोधिसत्त्व भूमि या प्रज्ञात्मक उच्चस्थिति की संप्राप्ति है। अच्छोद सर उस प्रकार के निष्कल्मष प्रज्ञा जल का अनवतप्त ह्रद है जो न केवल त्रिकाल में परिशुद्ध है, बल्कि जिसे मलिन किया ही नहीं जा सकता। चित्तधातुमयी प्रज्ञा का उच्च भूमि पर परिशोधन पुंडरीक का चन्द्रलोक में आप्यायन है। महाप्रमाण चन्द्र-पुरुष ही तथागत का रूप है। दूसरी ओर उच्च तथता का चित्त-प्रकृति के धरातल पर प्रकट होना ही चन्द्रापीड़ के शरीर का अच्छोद के तट पर कादम्बरी द्वारा आप्यायन है। काम ही चित्तप्रकृति का सर्वाधिक मल है।

काम और प्रेम

काम के दो रूप हैं, वासना और प्रेम। विषयवासना या स्त्री के प्रति रागान्धता को बाण ने अलीक काम अर्थात् मिथ्या काम कहा है। इसे ही बौद्धपरिभाषा में 'मिच्छाचार' कहा जाता था। मानस के भावों का स्वरूप जल के समान होता है। जल का गुण स्नेहन है। ऐसे ही मन भी स्नेह गुण से युक्त है। वह स्नेह-जल जब ऊपर की ओर बहता है तो उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा पूज्य गुरुजनों के प्रति होती है। छोटों के प्रति स्नेहभाव वात्सल्य कहलाता है। यहाँ भावजल का ऊपर से नीचे की ओर प्रवाह होता है। जब वह भावजल बराबर वालों के प्रति बहता है तो उसे स्नेह कहते हैं, जैसे सखा या मित्रों के प्रति। श्रद्धा, वात्सल्य और स्नेह जब एक ही व्यक्ति के लिये समर्पित हों तो उसे काम कहते हैं। काम का क्षेत्र नारी है। कामभाव एक व्यक्ति के प्रति होता है। वही जब समष्टि के लिये अर्पित हो जाय तो वह प्रेम बन जाता है। काम अनित्य और नश्वर होता है। वासना स्वार्थ के लिये होती है। प्रेम नित्य और अविनाशी तत्त्व है। प्रेम करने वाले का निजी स्वार्थ नहीं होता, वह प्रेमाश्रय के हित के लिये समर्पित होता है। वासना से आत्मतेज और आत्मशक्ति का क्षय होता है। प्रेम से आत्मतेज की वृद्धि और शक्ति का दिव्यभाव सिद्ध होता है। मन की अपरिमित शक्ति को उन्मुक्त करने का यदि कोई उपाय है तो वह प्रेम ही है। वासना भोग चाहती है, प्रेम संयम और तप से इष्ट की प्राप्ति चाहता है। नानात्व में अभिन्नता की प्राप्ति प्रेम साध्य है। कालिदास और बाण वासनामय काम को तपःपूत बनाने के आदर्श की ही व्याख्या करते हैं।

प्रज्ञा की महती संप्राप्ति

अन्ततोगत्वा तप की साधना प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये की जाती है। प्रज्ञा या अनुत्तर ज्ञान की उपलब्धि यही स्वर्णयुग का आदर्श था। जीवन में आत्मविकास की तीन कोटियाँ मानी जाती थीं—शील-सम्पदा या नीतिधर्मों का पालन, चित्त-सम्पदा या भावों को आत्मचिन्तन से सूक्ष्म और तरल बनाना, एवं अन्त में प्रज्ञासम्पदा अर्थात् ज्ञान की प्रत्यक्ष जीवन में उपलब्धि। यही तीसरा सबसे ऊँचा आदर्श था। जैसा पहले कहा जा चुका है श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी प्रज्ञा में भावनाबल से वास्तविक जीवन में उतारा हुआ ज्ञान ही श्रेष्ठ स्थिति है। उसी का फल बुद्धत्व या शिवतत्त्व की उपलब्धि माना जाता था। काव्यमयी शैली में कादम्बरीकथा का मर्म काम और प्रज्ञा का समन्वय स्थापित करना ही था। बाण ऋषिप्रज्ञा में निष्ठावान् थे। उनके सूत्र ऋषिप्रज्ञा की अध्यात्मविजय की ओर संकेत करते हैं। इस महती कथा के संयोजन में उन्होंने गतिशील भवचक्र या ब्रह्मचक्र का अति समृद्ध, रहस्यपूर्ण और साभिप्राय अंकन किया है।

कादम्बरी-कथा, एक नित्य लीला

कादम्बरी कथा मानव जीवन में स्फुरित होने वाली नित्य लीला है। कादम्बरी[1] स्त्रीमय जीवलोक की प्रतिनिधि है (स्त्रीमयमपरमिव जीवलोकम्, अनु० १८५)। कादम्बरी सुरा विश्व के रोम-रोम में ओत-प्रोत है। ऋतु पाकर वह किस मानस में नहीं छलकती (सर्वथा दुर्लभयौवनमस्खलितमिति, अनु० १६०)? कौन सा मनरूपी चन्द्रापीड़ अपने संकल्प रूपी इन्द्रायुध वाहन पर कादम्बरी के हेमकूट लोक की उपत्यका तक नहीं जाता? काम की इस रहस्यमयी लीला का विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में है। काम की यह सुरा विश्व के विराट् विधान में अपना स्थान रखती है। मर्यादित प्राजापत्य कर्म के लिये काम का दैवी स्वरूप सर्वसम्मत है। वह तो उसका सोममय रूप है जो मन को स्वच्छ रखता है। किन्तु जो मदनरूप में चित्त के मर्यादित छन्द को बिगाड़ देती है, उस मादकता या सुरा की परिशुद्धि आवश्यक है जो कादम्बरी की तपश्चर्या से होती है। प्रत्येक की आयु का वसन्तकाल प्राजापत्य कर्म के लिये उपयुक्त ऋतुकाल है। इसी ऋतु में काम-मह के दिन कादम्बरी के संस्पर्श से चन्द्रापीड़ के शरीर में पुनः प्राण चैतन्य प्रकट होता है।[2] यह काम का स्वाभाविक आप्यायन है। काम का उदय मानव की भूतदेह में

१—कादम्बरी का कुमारी अन्तःपुर क्या है? वह मानो यौवन के विलास, रति के लास्य, कामदेव के चरित, एवं अनुराग, शृङ्गार, सुरत, इन सबका पूर्ण रूप है (अनु० १८५)।

२—कादम्बरी संप्राप्ते भगवतः कामदेवस्य महे सायाह्ने स्नात्वा निर्वर्तितकामदेवपूजा तस्य पुरश्च-न्द्रापीडम् भगवता भुवनत्रयोन्मादकारिणा मन्मथेनात्मानमपारयन्ती सन्धारयितुमेकान्ते जीवन्तमिव निर्भरं कण्ठे जग्राह (अनु० ३४४)।

प्रकृति के प्राणरूपी अमृत का निषेक है ।[१] यह अमृतसेक ही समस्त भूतप्रकृति का परम सौभाग्य और सौन्दर्य है । क्या प्रकृति और क्या व्यक्ति, दोनों ही इस वसन्त की शोभा से लहलहा उठते हैं। वसन्त काम की ऋतु है और काम-मह जीवन का उत्सव है। वह प्राण और भूतों के पारस्परिक सम्मिलन या आप्यायन का दिन है । उस दिन कादम्बरी के संस्पर्श से निष्प्राण चन्द्रापीड़ जीवित होते हैं। यही इस महती कथा की सरस कल्पना है। चन्द्रापीड़ की देह में प्राणों की नई अकूत झंकार का सुनाई पड़ना ही कथा का रहस्य संकेत है ।

सृष्टि विज्ञान की भाषा में काम जलतत्त्व या मातृतत्त्व का प्रतीक है। उसका मातृतत्त्व रूप ही वस्तुतः सोम रूप है। उसका अतिक्रमण सुराभाव है। काम की लीला का उपयुक्त क्षेत्र अच्छोद का सान्निध्य है, जहाँ काम प्रज्ञा के शुद्ध आलोक को विकृत नहीं कर पाता। यही महाश्वेता का तपःपूत भास्वर रूप है। बुद्धि वह है जो अपने केन्द्रबल या हृदयबल से युक्त रहकर अग्नि की ज्योति के समान ऊर्ध्व पथ का अनुसरण करती है । वह ऊर्ध्व स्थिति मानव की प्रज्ञा का स्वाधिकार है । मन जल की भांति नीचे या भूतों के प्रति प्रवाहित होना चाहता है । यह भी मानव के लिये आवश्यक है, किन्तु मर्यादा से युक्त होकर ही। दोनों का समन्वय ही बुद्धि और मन का सकुशल भाव है । कादम्बरी की तपःपूत कथा विश्व-जीवन और मानव-जीवन की नित्य लीला है ।

१—चन्द्रापीडस्य तु तेनामृतसेकाह्लादिना कादम्बरीकण्ठग्रहेण सद्यः सुदूरगतमपि कण्ठस्थानं पुनर्जीवितं प्रत्यपद्यत (अनु० ३४५)।

परिशिष्ट २

प्राचीन प्रासाद-शिल्प

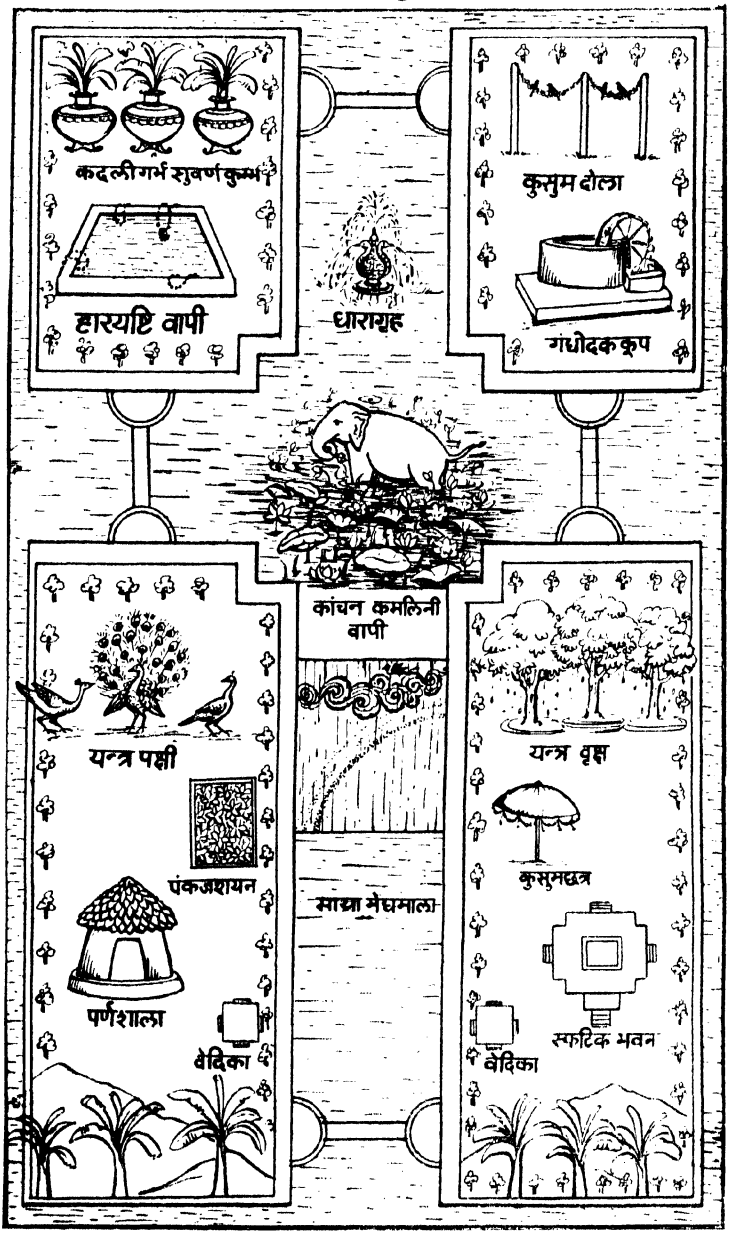
प्राचीन भारतीय राजप्रासादों का चित्रात्मक विवरण हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन ग्रन्थ के परिशिष्ट एक में (पृ० २०६–२१५) दिया जा चुका है। तथापि उज्जयिनी के राजकुल और गन्धर्वलोक के कुमारी अन्तःपुर का जो विशद वर्णन कादम्बरी में पाया जाता है उसकी परिभाषिक शब्दावली पर यहाँ लिखना आवश्यक है।

राजकुल का संस्थान अति विस्तीर्ण होता था। बाण ने उसे पुञ्जीभूत त्रिभुवन की उपमा दी है (त्रिभुवनामिव पुञ्जीभूतम्, पृ० ८६)। राजकुल को कुलभुवन भी कहा जाता था (पृ० ५)। राजकुल का आरम्भिक भाग राजद्वार था (पृ० ८६)। द्वारदेश के बाहर बहुत लम्बा-चौड़ा मैदान होता था जिसे कादम्बरी में बाह्यांगण और हर्षचरित में स्कन्धावार सन्निवेश कहा गया है। यहीं सामन्त एवं द्वीपान्तरों से आए हुए दूतमण्डल अपने शिविर लगाते थे (अनेकद्वीपान्तरागतदूतशतसमाकुलं राजद्वारम्, पृ० ८६)। स्कन्धावार से मिला हुआ ही विपणि मार्ग होता था जिसका उल्लेख हर्षचरित में आया है। इसे ही मुगलकाल में उर्दू बाजार कहा जाने लगा। सार्वजनिक सवारियाँ राजद्वार के बाहर तक ही जाती थीं। स्वयं राजकुमार चन्द्रापीड जब विद्यागृह से लौटा तो वह राजद्वार तक आकर घोड़े से उतर पड़ा (राजद्वारसामाद्य तुरङ्गमादवततार पृ० ८६); एवं जब वह माता-पिता से मिलकर मन्त्री शुकनास के घर जाने के लिये बाहर आया तो उसने राजकुल के द्वार पर छोड़े हुए इन्द्रायुध अश्व पर पुनः आरोहण किया (निर्गत्य च राजकुलद्वारावस्थितमिन्द्रायुधमारुह्य, पृ० ९४)। केवल सम्राट् ही राजद्वार के भीतर अपने वाहन पर जाते थे और वह भी दूसरी कक्ष्या में बने हुए आस्थान मण्डप के महा-सोपान तक ही।

राजद्वार में बने हुए कमरों को द्वारप्रकोष्ठ कहते थे। उसी की संज्ञा अलिंद थी। राजद्वार से पहरा शुरू हो जाता था। वहाँ नियुक्त पुरुष द्वारपाल कहलाते थे। उज्जयिनी के राजकुल में द्वारपालों की वर्दी अर्थात् उनके वारबाण या कवच, अंगराग, पुष्पशेखर और उष्णीष सभी कुछ श्वेतवर्ण का था। द्वारपाल डीलडौल में लम्बे तगड़े होते थे। वे एक क्षण के लिये भी द्वारदेश से हटते न थे (अनुज्झित द्वारदेश)। पहर-पहर में उनका वार बदल जाता था।

राजकुल का संस्थान मुख्यरूप से कक्ष्याओं पर आश्रित था जिसे आजकल की भाषा में चौक कहेंगे। हर कक्ष्या या चौक एक दूसरे से अलग होता था। उज्जयिनी के राजकुल में और हेमकूट के गन्धर्वकुल में भी सात कक्ष्याओं का उल्लेख आया है (पृ० ९२,१८२)

प्रमदवन में हिमगृह का दृश्य



पहली कक्ष्या सातों कक्ष्याओं में सबसे अधिक चौड़ी होती थी। उसके बाद की कक्ष्याओं की चौड़ाई क्रमशः कम होती जाती थी, ऐसा शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों से ज्ञात होता है। मंत्री शुकनास के भवन का वास्तु-विन्यास भी राजकुल के समान ही कक्ष्याओं में बँटा हुआ था (कक्ष्यान्तराणि निरीक्ष्यमाणः द्वितीयमिव राजकुलम्, पृ० ९५)। उज्जयिनी के राजकुल का कादम्बरी में जो विस्तृत वर्णन आया है उसकी व्याख्या टिप्पणियों के साथ मूलग्रन्थ के अनुवाद में ही कर दी गई है। उसे वहीं देखना चाहिए (अनु० ८५)। राजकुल के दो भाग माने जाते थे। पहली और दूसरी कक्ष्या बाह्य भाग और तीसरी से सातवीं कक्ष्या तक आभ्यन्तर भाग कहा जाता था। दोनों भागों के लिये नियुक्त प्रतीहार भी अलग-अलग होते थे। बाह्य प्रतीहारों की अपेक्षा आभ्यन्तर प्रतीहारों के चुनाव में विशेष सावधानी बरती जाती थी। वे लोग अधिकतर राजकुल के पुराने सेवकों में से चुने जाते थे। कादम्बरी में उन्हें पुराणपुरुष (पृ० ९०) और शुद्धान्त अन्तर्वंशिक (पृ० ९३) कहा गया है।

राजकुल के बाह्यभाग का मुख्य केन्द्र दूसरी कक्ष्या में बना हुआ आस्थानमण्डप (पृ० ८९) होता था जिसे सभामण्डप भी कहते थे (पृ० १११)। यही कालान्तर में आस्थानी, आस्थायिका, सर्वोपसरक, सर्वावसर, सब्वावसर और मुस्लिम काल में दरबारे-आम कहा जाने लगा। यहाँ एक ओर गवाक्ष में राजा के लिये महासिंहासन रक्खा जाता था (महासिंहासनोचितमूर्ति, पृ० ५२)। अपराजितपृच्छा में इस प्रकार के महासिंहासन का वर्णन आया है (पृ० ७८।२०)। आस्थानमण्डप के साथ बनी हुई कमल पुष्करिणी के लिये कादम्बरी में आस्थान-नलिनी इस सुन्दर संज्ञा का प्रयोग हुआ है (पृ० १०७)। चन्द्रापीड राज्याभिषेक के अनन्तर सभामण्डप में सिंहासन पर बैठता है (पृ० १११) और वहीं से दिग्विजय-प्रयाण के लिए निकलता है (पृ० ११२)।

राजकुल की सात कक्षाओं के अन्त में उनसे बाहर आभ्यन्तर आस्थानमण्डप होता था (पृ० ६६) जो भुक्तवास्थानमण्डप भी कहा जाता था (पृ० ९२)। राजा शूद्रक ने वहीं वैशम्पायन से कथा सुनी (पृ० १७) और वहीं कुमार चन्द्रापीड ने विद्या-गृह से लौटकर राजा तारापीड के दर्शन किए (पृ० ९२)। वहीं कुलवर्धना ने रानी के गर्भ की सूचना राजा को दी (पृ० ६६)। वास्तविक अन्तःपुर, शुद्धान्त या धवलगृह का भाग इससे अलग होता था (पृ० १७)। जैसे दिल्ली-आगरे में मुगलों के दरबार-खास में उत्तम पर्दे लगे रहते थे वैसे ही भारतीय भुक्तवास्थानमण्डप में स्तम्भों के बीच में धवलांशुक की जवनिकाओं का उल्लेख आया है (पृ० १७)। वहाँ सम्राट् के चुने हुए नरेन्द्र और रानियाँ ही गोष्ठी में सम्मिलित होती थीं, एवं सम्राट् भी अनौपचारिक वेष पहनकर बैठते थे (अनुल्बणवेष, पृ० ६६)। उनके आराम के लिये वेदिका पर एक शयन बिछा होता था जिसके प्रच्छदपट (चादर), पट्टोपधान (तकिए), प्रतिपादुका (पखवाए) और रत्नपादपीठ का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

राजकुल का अभ्यन्तर भाग धवलगृह या अन्तःपुर कहा जाता था (पृ० ९७)। वहीं राजा-रानी का आवास होता था (पृ० ५९)। भुक्तवास्थानमंडप में पिता से मिलकर

चन्द्रापीड़ ने अन्तःपुर में जाकर माता के दर्शन किए (पृ० ९३)। वहाँ के विशेष परिजन उसे मार्ग दिखाने लगे। विलासवती के शुद्धान्त भाग में पुराणपुरुष, वामन (पृ० ९०), वर्षधर, अन्तर्वंशिक, विशेष अंगनाजन और आज्ञासम्पादन में निपुण परिजन नियुक्त थे। राजकुल की सामान्य परिचारिकाओं से अन्तःपुर की परिचारिकाएँ भिन्न और अधिक विश्वासयोग्य होती थीं। कुलूतेश्वर की पुत्री पत्रलेखा को अन्तःपुर की परिचारिकाओं में रक्खा गया था (पृ० १०१)। यहाँ के पुरुष प्रतिहारी महाकंचुकी थे (पृ० ९०, ९२) और स्त्री प्रतिहारियों में सर्वोपरि प्रतिहारी महत्तरिका या दौवारिकी कहलाती थी। उसे ही कालिदास ने शुद्धान्तरक्षी कहा है।

राजा-रानी का निजी आवास राजकुल के ऊपरी भाग में होता था। विलासवती अपने प्रासाद के सौधशिखर में रहती है (पृ० ५९, ६५)। वह उसका वासभवन था (पृ० ६८) जिसमें मङ्गल प्रदीप जलता था और जिसकी भित्तियों पर माङ्गल्य आलेख्य या चित्र बनाए गए थे (पृ० ६८)। उन चित्रों में विशेषतः पत्रावली, या पत्रलताओं के रूप में भाँति-भाँति के फूल-पत्तियों के कटाव लिखे गए थे। उन्हें बाधाओं से रक्षा के लिये प्रभावशाली समझा जाता था। गुप्तयुग में जो पत्रलता अलंकरण का इतना अधिक प्रचार हुआ, उसके मूल में यही धार्मिक आस्था थी कि वे अशुभ अमंगलों से रक्षा करती हैं।

हर्षचरित और कादम्बरी दोनों में प्रासाद के ऊपरी भाग में चढ़ने के लिये प्रासाद-सोपान का वर्णन आया है (पृ० ८९)। महाश्वेता के कुमारी-अन्तःपुर-प्रासाद में ऊपर जाने के लिये आरोहण करना आवश्यक था (आरुह्य कुमारीपुरप्रासादं पृ० १४७)। कादम्बरी के प्रासाद में भी सौध ऊपरी भाग में ही था। वहाँ सौधशिखर पर चढ़कर उसने क्रीडापर्वत के शिखर पर स्थित चन्द्रापीड़ के साथ हावभाव किए (पृ० २०४)।

प्रासाद के ऊपरी भाग में सामने की ओर बीच में प्रग्रीवक, उसके दोनों ओर वासभवन एवं सौध होते थे। पीछे का भाग चन्द्रशालिका कहा जाता था। इन दोनों को मिलाने वाली दोनों पार्श्वों में प्रासादकुक्षियाँ होती थीं जिनका प्रायः उल्लेख आता है (पृ० ५८)। इन्हें ही हर्म्य-कुक्षियाँ भी कहते थे (पृ० ८३–८४)। राजकुल में अन्तःपुर-संगीतकों के अभिनय के आयोजन इन्हीं प्रासादकुक्षियों में किए जाते थे (महाप्रासाद-कुक्षिषु वीणावेणुमुरजमनोहरमन्तःपुरसङ्गीतकं ददर्श, पृ० ५८)। प्रासादकुक्षियों की एक विशेषता उनमें बने हुए वातायन या गवाक्ष थे। इन वातायनों में लगे हुए किवाड़ खोल देने पर उनमें से बाहर के दृश्य अन्तःपुरिकाजनों को स्पष्ट दिखाई पड़ते थे (विघटित-कनककपाटप्रकटवातायनेषु, पृ० ५८)। ये वातायन भाँति-भाँति की जालियों के कटाव से बनाए जाते थे। इन हर्म्यतलों के इन्द्रनील या मरकत वातायन और उनके विवरविनिर्गत स्त्री-मुखमण्डलों का साहित्य में प्रायः उल्लेख आता है (पृ० ८३)।

प्रासादशिल्प की बहुविध रचना के प्रसंग में और भी कितने ही भागों के नाम मिलते हैं, जैसे भवनदीर्घिका (पृ० १४, ५७, १६२), देवगृह (पृ० १६), विलेपनभूमि (पृ० १६), आहारमण्डप (पृ० १५), क्रीडापर्वतक (पृ०५८), प्रमदवन, भूमिगृह (पृ० ११६), लतागृह, आलेख्यगृह (पृ० १२७), संगीतशाला (पृ० १०६), चतुःस्तम्भस्फटिकमण्डपिका (पृ० १२८) या मणिमंडपिका (पृ० १३१), स्नानभूमि (पृ० १५), व्यायामभूमि (पृ० १५), वलभिकाएँ (पृ० ५१), इत्यादि। प्राचीन प्रासादों की विचित्र रचना में और भी कितने ही नामों का उल्लेख और वर्णन अंगविज्जा, मानसोल्लास आदि ग्रन्थों में मिलता है। बाण ने प्रासादशिखरों के साथ उन पर बैठने वाले पारावतों का भी वर्णन किया है (शिखरेषु पारावतमाला पृ० २६, प्रासादपारावत पृ० ९७; प्रासादैः सपारावतैः पृ० १२७)। शिल्पशास्त्र की दृष्टि से शिखरों में बनाए जाने वाले कई अलंकरणों में पारावतमाला या कपोताली (हिन्दी कयवाली, केवाली) नाम का एक विशेष अलंकरण उत्कीर्ण किया जाने लगा था।

चन्द्रापीड़ का कुमारभवन

भारतीय राजकुलों की परम्परा में राजकुमारों के लिये राजकुल के अन्तर्गत या उनसे कुछ हटकर विशेष आवासों का प्रबन्ध किया जाता था जिन्हें कुमारभवन कहते थे। राजस्थान में इन्हें अभी तक कँवरपदी के रहवास (कुमारपादीय आवास) कहा जाता है। कुमारभवन की रचना का मूल विन्यास वही था जो राजभवन का, किन्तु वे उनसे छोटे होते थे। चन्द्रापीड़ के कुमारभवन को राजकुल का प्रतिरूप कहा गया है (प्रतिच्छन्दकमिव राजकुलस्य, पृ० ९६)। कुमार के आगमन के समय उसका द्वारदेश पूर्णकलश और बन्दनवारों से सजाया गया था। चन्द्रापीड़ का स्वभवन राजकुल से बाहर था। अपने भवन से निकलकर वह राजकुल में जाता था (निर्गत्य राजकुलमयासीत्, पृ० १०)। हर्षचरित में हर्ष और रामायण में राम के कुमारभवन भी राजकुल से बाहर कहे गए हैं।

कक्ष्याविभाग की दृष्टि से कुमारभवन के दो मुख्य भाग होते थे, एक श्रीमंडप, दूसरा शयनीयगृह। श्रीमंडप का वही स्थान था जो राजभवन में आस्थानमंडप या दरबारेआम का। वहाँ कुमार के विशेष उपवेशन के लिये जो चौकी या आसन रहता था उसे शयन कहा गया है (पृ० ९६)। यह कुमारभवन का बाह्य भाग था। उसका भीतरी भाग शयनीयगृह कहलाता था। उसमें ही कुमार के लिये स्नानभूमि (पृ० ९९) और आहार-मंडप (पृ० १००) आदि स्थान होते थे। चन्द्रापीड़ ने इन्द्रायुध का बहुमान करते हुए उसके अवस्थान का विशेष प्रबन्ध अपने शयनीयगृह की सीमा में ही किया था।

कुमारीअन्तःपुर

युवतिराजकन्याओं के लिये जो विशेष आवास होते थे उन्हें कुमारीअन्तःपुर या कन्यान्तःपुर कहा जाता था। इन्हीं के लिये कुमारीपुरप्रासाद शब्द है जहाँ पुर का अर्थ

अन्तःपुर है (पृ० १४७)। महाश्वेता के कन्यान्तःपुर में राजकुल की भाँति ड्योढी लगती थी (द्वार, पृ० १४, द्वारदेश पृ० १५१)। उसे अपने प्रासाद में जाने के लिये सोपानफलक पर आरोहण करना आवश्यक था (आरुह्य कुमारीपुरप्रासादम् पृ० १४७)।

कादम्बरी का भवन

बाण ने इसके सम्बन्ध में सबसे अधिक विवरण दिया है। हेमकूट नगर में गंधर्वों के राजकुल को गन्धर्वकुल कहा गया है। उस राजकुल की सात कक्ष्याओं को पार करके अन्त में कन्यान्तःपुर (पृ० १८२) बनाया गया था। वही कादम्बरीभवन था (पृ० १८५)। उसके द्वार पर राजकुल की तरह वेत्रलता लिए हुए प्रतिहारों का पहरा लगता था। उसमें युवति कन्याओं के सुखमय जीवन के लिये पूरा प्रबन्ध किया गया था; जैसे मणिकुट्टिम (रङ्ग-बिरंगे पत्थरों के जड़ाऊ फर्श), कन्दुकक्रीड़ा, लीलादोला, वेणु-वीणा के संगीतायोजन, विलासमणिशिलातल, मुखप्रक्षालन, अङ्गराग, अधिवासगंधयुक्ति, कुंकुमानुलेपन, चम्पक-माला, चरणालक्तकराग, गन्धपात्र, गन्धोदककनकदीर्घिका, मणिप्रदीप, यन्त्र-चक्रवाक, मणि-शालभंजिकाएँ या खम्भों पर बनी हुई स्त्रीमूर्तियाँ, दर्पण (स्तम्भों में लगे हुए गोल दर्पण जिनका गुप्तयुग में विशेष प्रचार हो गया था), मौलसिरी की फूलमालाओं से सजाए हुए छोटे मंडप (बकुलकुसुममालागृह), कदलीगृह, संगीतशाला, क्रीडापर्वतक आदि। इनमें कन्याओं के मानसिक विकास और आमोद-प्रमोद के लिये भवनपादप और भवनपशु-पक्षियों का प्रबन्ध भी रहता था।

कादम्बरी के भवन तक एक लम्बी रथ्या बनी हुई थी। उस मार्ग पर चलते हुए चन्द्रापीड़ ने देखा कि दोनों ओर सावधान स्त्रियाँ सैनिक मुद्रा में पहरे पर खड़ी थीं (सेवार्थ आगत ऊर्ध्वस्थित स्त्रीजन, पृ० १८५)। अन्तःपुर के मध्य भाग में उसका सबसे विशिष्ट स्थान श्रीमण्डप था (पृ० १८६)। जैसे शूद्रक के बाह्यास्थानमण्डप में चार सुकुमार डण्डों पर छोटे दुकूलवितान के नीचे मणिपर्यङ्किका रक्खी हुई थी वैसे ही कादम्बरी के बैठने के लिये मणिमण्डप के मध्य में नातिमहत् पर्यङ्क का प्रबन्ध था (पृ० १८६)। नीचे मणिकुट्टिम, चारों ओर रत्नभित्तियाँ, बीच में मणिस्तम्भ, ऊपर मणिमण्डप, एवं अनेक प्रकार के चित्रकर्म से वह भवन सुसज्जित था। जिस बीच वाले वितान के नीचे वह बैठी हुई थी उसके स्तम्भों के शीर्षभागों पर अधोमुखी विद्याधरों की मूर्तियाँ अङ्कित थीं। इस प्रकार के अवाङ्मुख विद्याधरों का अङ्कन भारतीय स्तम्भशिल्प की विशेषता थी। ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में ही यह अलङ्करण बनाया जाने लगा था।

कादम्बरी के प्रासाद का बाहरी भाग उसका श्रीमण्डप था और भीतरी भाग सौध था। श्रीमण्डप को यहाँ स्पष्ट शब्दों में आस्थानमण्डप कहा गया है (पृ० २८३)। श्रीमण्डप में कादम्बरी से चन्द्रापीड़ की पहली भेंट हुई। श्रीमण्डप के सामने का भाग वह अङ्गण था जिसकी सुधावेदिका पर कादम्बरी महाश्वेता के साथ बैठी हुई थी जब चन्द्रापीड़ दूसरी बार प्रातःकाल के समय उससे मिलने आया था (पृ० २०८)।

कादम्बरीप्रासाद के बाहर उसका सबसे महत्त्वपूर्ण भाग प्रमदवन था। इसके भी दो भाग विशेष उल्लेखनीय हैं, एक क्रीडापर्वतक और दूसरा हिमगृह। प्रासाद के पास प्रमदवन के क्रीडापर्वतक पर एक मणिवेश्म था जिसमें कुमार चन्द्रापीड के ठहराने का प्रस्ताव महाश्वेता ने किया था (तदत्रैव स्वप्रासादसमीपवर्तिनि प्रमदवने क्रीडापर्वतकमणिवेश्मन्यास्ताम्, पृ० १९६)। मत्तमयूर नामक उस क्रीडापर्वत के मणिमन्दिर में अतिथि-योग्य सब प्रकार का सुपास था (पृ० २१४)। वहाँ स्वच्छन्द वातातपिक जीवन का आनन्द लेने के लिये मणिवेश्म से सम्बन्धित कई प्रकार की शिलाएँ यत्र तत्र रक्खी गई थीं, जैसे आजकल के भवनोद्यानों में सङ्गमरमर या पत्थर की सुन्दर उत्कीर्ण पटियाँ लगाई जाती हैं। उनमें एक शयनीय शिला मणिमन्दिर के भीतर और पाँच अन्य शिलाएँ बाहर लगाई गई थीं—

(१) मणिवेश्म के भीतर की शयनीयशिला—इसे कुथ या कालीन बिछाकर एक के ऊपर एक बहुत से तकिये लगाकर विश्राम के लिये सुखप्रद बनाया गया था। यहीं केयूरक और कादम्बरी की भेजी हुई कन्याओं और गुणीजनों ने संगीत एवं कलाविलास-गोष्ठियों से चन्द्रापीड का मनोरञ्जन किया (पृ० १०८)।

(२) मरकतशिला—क्रीडापर्वतक के सामने या प्राग्भाग में एक लतागृह था। वह आकाश की खुली छत के नीचे मानो मणिवेश्म के आस्थानमण्डप का काम देता था। उसमें बैठने के लिये विशिष्ट स्थान मरकतशिला थी (पृ० २०१)। वहीं सुख से बैठे हुए चन्द्रापीड को मदलेखा शेषहार पहनाने आई थी (पृ० २०४)। क्रीडापर्वतक के साथ भी एक उपवन था। उसी में लतागृह था। ज्ञात होता है कि मणिवेश्म क्रीडापर्वतक के मध्य भाग में बनाया गया था। उसका शिखर और ऊँचा था। चन्द्रापीड मणिवेश्म से बाहर आकर उपवन की शोभा देखते हुए क्रीडापर्वतक के शिखर पर चढ़ जाता है। (निर्गम्योपवनालोकनकुतूहलनिक्षिप्तचित्तः क्रीडापर्वतकशिखरमारुरोह, पृ० २००) और वहाँ से नीचे उतरता है (सौधशिखरादवततार कादम्बरीक्रीडापर्वतकनितम्बाच्च चन्द्रापीडः, पृ० २०३)।

मरकतशिला या गहरे हरे रङ्ग की शिला (हारीतहरित) जिसमें कुछ ललाई भी झलक रही थी (तरुणीचरणालक्तकशोणशोचिषि, पृ० २०१) हरी पत्तियों से छतनार बने हुए एक लतागृह या लतामण्डप में स्थापित थी (लतामण्डपोपगूढे मरकतशिलातले पृ० २०१)। लतागृह में एक ओर से पानी का झरना झरता था जो मकरिका प्रणाल या मकरमुखी टोंटी से बाहर गिरता हुआ उसे सींचता था (मरकतशिलामकरिकाप्रणालप्रस्रवणसिच्यमानहरितलतामण्डपे (पृ० २१३)। पानी नीचे आकर नालियों में बँट जाता होगा जैसा हिमगृह के वर्णन में आया है (प्रवर्त्यमाना गृहनदिकाः)। उसकी फुहारों के जलबिन्दु उड़कर मरकतशिलातल तक आते और सुख देते थे (हरिणीरोमन्थकेन सीकरासारे मरकतशिलातले, पृ० २०१)। इसीलिये चन्द्रापीड को 'शीकरिणि शिलातले स्थितम्' कहा गया है (पृ० २१३)।

(३) मुक्ताशिलापट्ट—क्रीडापर्वतक के उपवन में जैसे खुला हुआ वातातपिक आस्थानमण्डप लतागृह के रूप में था, वैसे ही खुला हुआ सौर्यमारुतिक शयनगृह भी गृहकुमुदिनी के तीर पर बनाया गया था। लतागृह में जैसे मरकतशिला थी, वैसे ही शयनगृह में मुक्ताशिलापट्ट था। मुक्ताशिला का अभिप्राय हकीक से ज्ञात होता है। घिसने और माठने पर (घृष्टमृष्ट अवस्था में) सीपी और हकीक दोनों की दूधिया झलक समान जान पड़ती है। मुक्ताशिलापट्ट स्वयं कला की वस्तु थी एवं उसे और भी सजाया गया था। उसके किनारों पर फूल-पत्ती के कटावों की एक चौड़ी पट्टी चित्रलिखित की गई थी (पर्यन्तलिखितपत्रलता पृ० २०६)। पत्रलता को भी चारों ओर से और अधिक सुन्दर बनाने के लिये सिन्दुवार (निर्गुंडी या सम्भालू) के श्वेत पुष्पों की मालाओं से विविध अलंकरण बना दिए गए थे (अवदातसिन्दुवारदामोपहारं,[1] पृ० २०६)। गृहकुमुदिनी जिसके तट पर मुक्ताशिलापट्ट लगाया गया था, कोकाबेली के फूलों की पुष्करिणी थी जिसके सुधाधवल सोपान पर हल्की लहरें खेलती थीं फिर थपकियाँ देती हुई मानो बीजने की वायु उन लहरों को जल की ओर ले जाती थी। यह गृहकुमुदिनी मत्तमयूर-क्रीड़ा-पर्वत के ऊपर थी जहाँ मणिवेश्म या मणिमन्दिर था। इसी प्रकार की किन्तु इससे बड़ी कमलों की पुष्करिणी पर्वत की तलहटी में दूसरी थी जिसके तट पर हिमगृह बनाया गया था (मत्तमयूरस्य क्रीडापर्वतकस्याधस्तात् कमलवनदीर्घिकातीरे विरचितं हिमगृहम्, पृ० २१४)।

(४) स्नानार्थ शिलाप्रदेश—मणिमन्दिर के समीप ही स्नान का भी प्रबन्ध था जहाँ शिलामय प्रदेश में सुगन्धित जल भरा हुआ रक्खा गया था (गन्धोदकपरिमललीनालिजटिलशिलाप्रदेशे स्नातम्, पृ० २१३, २००)।

(५) शिवार्चनशिला—वहीं क्रीडापर्वत पर जो पानी की छोटी गूल ऊपर से नीचे उतरती हुई दौड़ाई गई थी उसके किनारे एक स्थान में स्थापित अनगढ़ शिला के रूप में भगवान् शिव की स्थाणु मूर्ति थी (गिरिनदिकातटे भगवानर्चितः शूलपाणिः, पृ० २१३)। उसी में चन्द्रापीड ने इष्टदेवता की पूजा की (निरुपहतशिलार्चिताभिमतदैवतः, पृ० २००)।

(६) स्फटिक का शिलातल—क्रीडापर्वतक पर ही खुले स्थान में स्फटिक मणि का छोटा आहार-मण्डप भी बनाया गया था। उसी के स्फाटिक शिलातल पर चन्द्रापीड ने भोजन किया था (पृ० २००,२१३), एवं उसके चले आने पर कादम्बरी ने भी उसकी

१—दामोपहार में उपहार शब्द का विशेष अर्थ है पुष्पप्रकर या पुष्पों का ढेर, जो रघुवंश ५।७४ और कुमारसंभव ६।४२ में भी आया है।

प्रेममय स्मृति में तद्युक्त उन-उन स्थानों को देखते हुए उसी स्फटिकमणिवेश्म में महाश्वेता के अनुरोध करने पर कुछ आहार लेना स्वीकार किया था (तस्मिन्नेव स्फटिकमणिवेश्मन्याहारमकरोत्, पृ० २१४)।

मणिवेश्म या मणिमन्दिर का स्वरूप भी ध्यान देने योग्य है। मणिवेश्म उस विशेष मण्डप की संज्ञा थी जो भीतर बाहर से बहुत ही जड़ाऊ रूप में सुसज्जित किया जाता था। इसकी प्रत्येक शिला पर सूक्ष्म उकेरी या नक्काशी का काम बनाया जाता था।

हर्षचरित में जिसे हाथीदाँत के तोरण से युक्त वज्रमन्दिर कहा है वह मणिमन्दिर का ही एक भेद ज्ञात होता है (सदन्ततोरणं वज्रमन्दिरम्, हर्षचरित, उच्छ्वास २, पृ० ६८)। राजप्रासाद में यह कमरा सौन्दर्य का नगीना समझा जाता था। फतेहपुरी सीकरी में तुर्की सुल्ताना का जो कमरा है उससे कुछ इसके सँवारे हुए रूप का अनुमान किया जा सकता है।

हिमगृह

कुमारीअन्तःपुर के प्रमदवन का दूसरा महत्त्वपूर्ण भाग हिमगृह था। वह प्रमदवन के लगभग मध्यभाग में स्थित कदलीवन से घिरा हुआ था (प्रमदवनमध्येन गत्वा किंचिदध्वानं गत्वा कदलीदलानां मध्ये पृ० २१४)। मत्तमयूर क्रीडापर्वतक की तलहटी में दीर्घिका के जल को घेरकर एक बड़ी कमलवन पुष्करिणी बनाई गई थी। यह उस कुमुदिनीपुष्करिणी से भिन्न थी जो क्रीडापर्वतक के ऊपर थी और जिसके तट पर मणिवेश्म से सम्बन्धित शयन के लिये मुक्ताशिलापट्ट लगा था। कमलपुष्करिणी के तीर पर हिमगृह की रचना की गई थी।[1] हिमगृह को चारों ओर से कमलिनी के पत्तों से आच्छादित कर दिया गया था (निरन्तरनलिनीदलच्छन्न, पृ० २१५)[2]। अङ्गविज्जा में जिसे उत्पलगृह कहा है, वही यह ज्ञात होता है। अनुच्छेद २०८ में हिमगृह के परिचय की भूमिका बाँधते हुए शिशिर उपचारों में निपुण वहाँ की परिचारिकाओं का सूक्ष्म वर्णन किया गया है तथा अनु० २०९ में विस्तार से हिमगृह के विविध भागों का परिचय दिया गया है। यह वर्णन संस्कृत-साहित्य में अनुपम है। इसके द्वारा प्राचीन राजप्रासादों के जीवन की अन्तरङ्ग झाँकी प्राप्त होती है।

१—मत्तमयूरस्य क्रीडापर्वतकस्याधस्तात्कमलवनदीर्घिकातीरे विरचितहिमगृहमध्यास्ते। (पृ. २१४)

२—हिमगृह जैसे विशाल स्थान को ढकने के लिये काम में आने के कारण कमल के पत्तों के लिये संवर्तिका यह नया शब्द ही प्रचलित हो गया था। संवर्तिकानवदलम् (अमर १।९।४४, संवर्तयति वेष्टयति संवर्तिका, क्षीरस्वामी)। बाण ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है—कांश्चिदुद्भिद्यमानपक्षतया नलिनसंवर्तिकानुकारिणः शुकशावकान्, अनु० ३०। कमल-पुष्करिणी में उगे हुए कमलों की बेल को चढ़ा कर हिमगृह को कमल-किसलयों से आच्छादित किया जाता था। संवर्तिका = पुटकिनी, पुरइन।

हिमगृह के विन्यास का स्पष्ट चित्र समझने के लिये दीर्घिका और गृहनदिकाओं का परिचय आवश्यक है। प्राचीन भारतीय राजकुलों में दीर्घिका बहते हुए जल की कृत्रिम नदी थी जो उसके विशेष भागों को तरङ्गित जल की शोभा से युक्त करती हुई प्रमदवन या भवनोद्यान को सींचती भी थी। मुगलकाल के महलों में नहरेबहिश्त का विन्यास प्राचीन दीर्घिका की कुछ व्याख्या करता है। हर्षचरित में हम यह लिख चुके हैं कि न केवल भारतवर्ष में, बल्कि सप्तमशती के ईरानी महलों में भी दौड़ती हुई नहर बनाने का रिवाज था। हारूँ रशीद और खुसरू परवेज के महलों में इस प्रकार बहते पानी की नहरें थीं। खुसरू के महल में तो कोहे बिहिस्तून (भगस्थानपर्वत) से पानी की धारा लाकर महल की नहर से मिलाई गई थी। भारतीय राजप्रासादों में बहते हुए जलप्रवाह की लम्बी धारा या दीर्घिका का प्रबन्ध प्रासाद के वास्तुविन्यास का महत्त्वपूर्ण अङ्ग था। बाण से कई शती पूर्व कालिदास ने भी राजभवनों की गृहदीर्घिकाओं का, उनके सोपान और कमलों का, तथा उनके जल में होने वाली जलक्रीडाओं का उल्लेख किया है (रघु० १६।१३,४६)। इससे यह निश्चित है कि महल में पानी की नहर की कल्पना मुस्लिमकाल से बहुत पूर्व भारतीय राजप्रासाद के वास्तुविन्यास का अङ्ग बन चुकी थी। गुप्तकाल से पूर्व गृहदीर्घिका के इतिहास की प्राचीनता अभी अन्वेषण का विषय है। विद्यापति ने इसे कृत्रिम-नदी कहा है।

गृहदीर्घिका में या तो बाहर की किसी पर्वतीय नदी आदि से जल का प्रबन्ध किया जाता था, अथवा प्रायः राजभवन के ही एक भाग में जल को ऊँचा उठाकर किसी स्थान में संगृहीत कर लिया जाता था और वहाँ से उसे जलधाराओं द्वारा प्रासाद के इतर भागों में, क्रीडापर्वतक और प्रमदवन आदि में ले जाया जाता था। बाण के वर्णन से यही प्रकार इङ्गित होता है। जिस एक केन्द्रीय स्थान से जलौघ का निर्गमन होता था उसे प्रासाद महाप्रणाल कहा जाता था (त्रिभुवनप्रासादमहाप्रणालानुकारिणा, पृ० १६२)। वहाँ से सलिलप्लव, निर्झर, प्रवाहसहस्र आदि के रूप में जल का वितरण किया जाता था।

प्रासाद के केन्द्रीय महाप्रणाल से छूटा हुआ जल गृहदीर्घिका नाम की बड़ी जलधारा द्वारा प्रासाद के दूसरे भागों में, विशेषतः भवनोद्यान या प्रमदवन में ले जाया जाता था। भवनोद्यान का विन्यास इसी दीर्घिका के मोड़-मुड़कवाले प्रवाह पर आश्रित था। उसे ही स्थान-स्थान पर चौड़ा करके कई प्रकार की वापियाँ इत्यादि पक्षियों के लिये एवं भाँति-भाँति के पुष्पों के लिये बनाई जाती थीं। प्रमदवन के केन्द्र में गृहदीर्घिका का जल घेरकर एक कमलपुष्करिणी बनाई गई थी। उसे ही कुमारीअन्तःपुर की कमलवनदीर्घिका कहा गया है। प्रमदवन के एक भाग में निर्मित क्रीडापर्वतक या लीलागिरि को भी दीर्घिका के नीचे आते हुये जल से पहले सींचा जाता था। क्रीडापर्वतक पर यह जलधारा पहाड़ी गूल की भाँति ऊपर से नीचे की ओर लहराती हुई बहती थी। इसे कवि ने गिरिनदिका कहा है, जहाँ चन्द्रापीड ने मणिवेश्म में निवास करते हुए शिवार्चन किया था (गिरिनदिकातटे भगवानर्चितः शूलपाणिः, पृ० २१३)। इसके अतिरिक्त मणिमन्दिर के लतामण्डप में उसे

झरने के रूप में भी गिराया गया था जिसके सीकर वायु में उड़-उड़कर उस मरकतशिलातल पर आकर गिर रहे थे जो वहाँ लतागृह मण्डप में लगा हुआ था (मरकतशिलामकरिका-प्रणालसिच्यमानहरितलतामण्डपे शीकरिणि शिलातले स्थितम्, पृ० २१३)।

प्रासाद के महाप्रणाल के अतिरिक्त बाण ने दो प्रणालों का और उल्लेख किया है, एक शशिमणिप्रणालनिर्झर (पृ० १६२) और दूसरे मकरिकाप्रणालप्रस्रवण (पृ० २१३)। ज्ञात होता है पानी की मोटी धारा उतारने के लिये प्रणाल लगाने की आवश्यता होती थी। इनमें से मकरिकाप्रणाल या मकरमुखी प्रणाल तो क्रीडापर्वतक के लतामण्डप में लगाया गया था। चन्द्रकान्तमणिप्रणाल के उपयुक्त स्थान पर विचार करते हुए ज्ञात होता है कि वह हिमगृह के उस मध्य भाग में था जहाँ निर्झर से धारागृह का निर्माण किया गया था। यंत्रधारागृह ही जलक्रीडागृह भी होता था और यहीं पानी के झरने की आवश्यकता थी। इसके लिये संकेत भी उपलब्ध होता है। शशिमणिप्रणाल के झरने से प्रसन्न हुए मोरों के कुहकने का उल्लेख आया है (शशिमणिप्रणालनिर्झरप्रमोद-मुखरमयूररवरम्ये, पृ० १६२), और हिमगृह में ही यंत्रमयूरों से निर्मित धारागृह का वर्णन है (मृणालधारागृहाणां शिखरमारोप्यमाणांनां यन्त्रमयूरकाणां कदम्बकानि, पृ० २१६)। इस प्रकार कुमारीपुरप्रासाद से सम्बन्धित क्रीडापर्वतक-लतागृह में और प्रमदवन-हिमगृह में पृथक्-पृथक् प्रणालों द्वारा दो झरने विशेषरूप से गिराए गए थे।

प्रासाद के महाप्रणालका जल दीर्घिका में बहता हुआ कहीं सलिलप्लव, कहीं निर्झरनिकर, कहीं प्रवाहसहस्र, कहीं जलपूर या जलौघ के रूप में बहता था। जलप्रवाह के इन चार प्रकारों का वर्णन अनु० १६७ के आरम्भ में आया है। दीर्घिका में बहते जलों को कई रूपों में परिवर्तित करके उनसे नेत्र और चित्त को सुखी करना एक कला थी। प्लव-वहन, निर्झर-चरण, प्रवाह-वमन, पूरोद्गिरण के जिन चार रूपों में जल को हिमगृह में परिवर्तित किया जाता था उन्हें इस प्रकार समझना चाहिए—

१. पूरोद्गिरण—इसका तात्पर्य है रह-रहकर पानी का वेग से झपटना। हिमगृह में काञ्चनकमलों की एक विशेष वापी थी। उसमें जब थोड़ी-थोड़ी देर बादरुका हुआ पानी छोड़ा जाता तो वहाँ लगे हुए कृत्रिम हाथी के बच्चे या यंत्रकलभ पानी के वेग से कमलों पर झपटते और उन्हें झकझोरते जान पड़ते थे (क्वचित् क्रीडितकृत्रिमकरिकलभयूथकाकुलीक्रियमाणाः काञ्चनकमलिनिकाः, पृ० २१६)।

२. प्रवाहवमन—इसका तात्पर्य उस दृश्य से है जिसमें बह कर आता हुआ पानी एक ओर अदृश्य हो जाता था और दूसरी ओर पशु-पक्षियों के मुँह से वान्त होता हुआ या गिरता हुआ दिखाई पड़ता था। हिमगृहकी मायामेघमाला या जलचादर में ठीक यही दृश्य उपस्थित किया गया था। जलचादर की कल्पना अद्भुत है। उसमें एक ओर से जल

बहता हुआ आता था और जलचादर के मूल में प्रविष्ट हो जाता था। वह चादर मानो उसे पी जाती थी। फिर सामने की ओर ऐसा लगता था मानो वही जल आकाश में उठ गया हो और वहाँ से सहस्रधार वृष्टि के रूप में बरस रहा हो। इसे ही 'स्फटिक-बलाकावलीवान्तवारिधारालिखितेन्द्रायुधाः संचार्यमाणा मायामेघमालाः' इस तथ्यात्मक वर्णन द्वारा स्फुट किया गया है। यहाँ कवि ने स्वयं ही 'वान्त' शब्द का प्रयोग किया है। स्फटिक की जलचादर के पीछे से झाँकता हुआ रङ्ग-बिरङ्गा चित्रलिखित इन्द्रधनुष, सामने उड़ती हुई बलाकाओं की पंक्तियाँ, उनके मुखों से निकलती हुई सहस्रों धाराएँ (प्रवाह-सहस्र) और स्फटिक की चादर में सामने की ओर बलाकाओं की पृष्ठभूमि या परभाग में उकेरी हुई मेघमालाएँ—इन सबकी सम्मिलित छटा ऐसी प्रतीत होती थी मानो आकाश में बरसते मेघों की बदल-चल हो रही हो। यह मायामेघमालाओं की वह शोभा हुई जब कुछ-कुछ सूर्यप्रकाश में एक ओर इन्द्रधनुष दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर भागते हुए (संचार्यमाण) मेघ बूँदें बरसाते जाते हैं। स्फटिक की चादर पर बगुलियों की आकृतियाँ किस मुद्रा में बनाई गई होंगी इसका आभास कालिदास के इस वर्णन से मिलता है—

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः ।
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ (मेघदूत ११९)

स्वर्णयुग के नागरिक आकाशचारी मेघों में गर्भधारण करती हुई बलाकाओं के नयनसुभग दृश्य को जलचादर में प्रत्यक्ष करके देखते थे।

३. सलिलप्लववहन—प्लववहन से तात्पर्य जल के उस सतत चलने या बहने से है जो बीच-बीच में अतिरिक्त जल से बढ़ता या मौज मारता रहता है। कुएँ से पुर या रहट द्वारा जो जल की सिंचाई होती है यह पानी चलने का वही ढङ्ग था। हिमगृह में गन्धोदक कूपों से सुकुमार रहट (पत्रपुट घटीयन्त्र) द्वारा सुगन्धित जल बाहर उंडेल कर जल-द्रोणिकाओं में भरने की प्रक्रिया में यह दृश्य प्रस्तुत किया गया था।

४. निर्झरक्षरण—इसका अर्थ स्पष्ट है। मणिमन्दिर के लतामण्डप में और हिमगृह के धारागृह में दीर्घिका के बहते हुए पानी को झरने के रूप में उतारा गया था। किन्तु उन दोनों के प्रकार विभिन्न थे। बाण ने पहले को प्रस्रवण और दूसरे को निर्झर कहा है। महाश्वेता के आश्रम का वर्णन करते हुए प्रस्रवण और निर्झर का भेद स्पष्ट बताया गया है। प्रस्रवण पहाड़ी पानी के झरने की मोटी धार थी। वह पहले ढोकों पर बहता हुआ टकरा कर कुछ फेन ले आता था और तब नीचे गहरे खड्ड में नुकीली चट्टान पर पड़ने से फट कर बर्फीले धुएँ के रूप में छा जाता था।' क्रीडापर्वत पर पानी को इसी रूप में गिराया

१—अतिदूरपातिनीनाञ्च धवलशिलातलप्रतिघातोत्पतनफेनिलानामपां प्रस्रवणैरुत्कोटिप्रावविटङ्कवि-पाट्यमानैरुच्चरद्ध्वनिभिरवशीर्यमाणतुषारशिशिरसीकरासारैराबध्यमाननीहाराम् गुहाम् (पृ० १३३, अनु० १३५)।

गया था। वहाँ बाण ने उससे उत्पन्न होने वाले फेनसीकरासार का उल्लेख किया है[1] जो लतागृह के मरकत शिलातल पर विश्राम करते हुए चन्द्रापीड़ को मिल रहा था। निर्झर पानी की महीन श्वेत धारा का कलकल करते हुए उतरना था जिसे देखकर ज्ञात होता था मानो श्वेत रङ्ग की चौरियों की मिली हुई पंक्ति ऊपर से नीचे लटकती हुई हिल रही हो।[2] हिमगृह के धारागृह में निर्झर इसी रूप में उतारा गया था। निर्झर के लिये क्षरण शब्द का ही प्रयोग हुआ है (पृ० १३३; निर्झरनिकरानिव क्षरता, पृ० १६२)। इसके लिये प्रणाल भी अपेक्षाकृत अधिक सुकुमार रूप में चन्द्रकान्तमणि को उत्कीर्ण करके बनाया गया था।

हिमगृह के शिशिरोपचार

हिमगृह के अध्ययन का एक और दृष्टिकोण राजकुल के जीवन से सम्बन्ध रखता है। हिमगृह के मुख्य भाग ये थे—१ गृहनदिकाएँ, २ पंकजशयन, ३ स्फटिकभवन, ४ धारा-गृह, ५ पर्णशाला, ६ कांचनकमलिनिका, ७ गन्धोदककूप, ८ मायामेघमाला, ९ वापिका, १० यंत्रवृक्ष, ११ यंत्रशकुनि, १२ कुसुमदामदोला (फूलों के हिंडोले), १३ कमलोंसे भरे हुए सुवर्णकुम्भ, और फूलों को गूँथ कर बनाए गए आतपत्र। कदलीतोरण और तमालवीथियां भी उसकी विशेषताएँ थीं।

इस संस्थान का सम्बन्ध राजकुल के अन्तःपुरिकाजन की कामदशाओं की रूढियों के साथ मान लिया गया था। उदाहरण के लिये, कादम्बरी को अपनी विरहदशा में जिन कामकृत मानसिक और शारीरिक क्लेशों का अनुभव होता था (एवंप्रायैश्च मदनदुश्चेष्टितायास्तैः परिणाममुपैति दिवसः, पृ० २५४) उनके निवारण के लिये वह हिमगृह के शिशिरोपचारों का उपयोग करती थी। इनका वर्णन अनु० २३८ में किया गया है। उन्हें हिमगृह (अनु० २०९) के साथ मिलाकर देखना रोचक है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है हिमगृह के वास्तु-विन्यास का केन्द्र कमलिनी की पुष्करिणी थी। उसी के तट पर वह स्थित था। इस पुष्करिणी या दीर्घिका से छोटी-छोटी जलधाराएँ चारों ओर निकल कर बहती थीं जिन्हें 'प्रवर्त्यमाना गृहनदिकाः' कहा गया है। जलमंडप में भी चारों ओर फिरती हुई कुल्या बनाई जाती थी जो निरन्तर चलती हुई जलधारा के वेग से प्रवाहित होती थी (एकसंतानावली धारावर्षवेगवाहिन्या निर्झरिण्येव कुल्यया परिक्षिप्तम्, पृ० २८३)। इन गृहनदिकाओं के दोनों तटों पर तमालवीथी की रचना की जाती थी। कादम्बरी कभी उपवन के सरोजल अर्थात् कमलवनदीर्घिका में अवगाहन करती,

१—हरिणीरोमन्थफेनसीकरासारे मरकतशिलातले समुपविष्टः, (पृ० २०१,२१२)।

२—हिमहारहासधवलैश्चोभयतः क्षरद्भिर्निर्झरैर्द्धारावलम्बितचलच्चामरकलापामिवोपलक्ष्यमाणाम्, (पृ० १३३)।

कभी वहां भी शान्ति न पाकर तमालवीथी में चली जाती थी (तस्मादुत्थाय तमालवीथी-मुपैति)। वहाँ तमाल वृक्ष की शाखा को हाथ से पकड़े हुए उसीके सहारे मुख टेककर नेत्र बन्द करके चिन्तानिमग्न हो जाती थी (पृ० २५३)। गृहनदिकाओं में चन्दनरस का उल्लेख है और कादम्बरी के शिशिरोपचारों में भी सरस हरिचन्दन के पंक का वर्णन है। हिमगृह में जो रक्तपंकजशयन बनाया जाता था उसकी परम्परा अनेक राजस्थानी और हिमाचल शैली के चित्रों के युग तक पाई जाती है। लाल कमलों का मृदु कुसुमशयन जल से आर्द्र हुए वितान के नीचे बनाया जाता था और वितान के बीच बीच में निचुल-मंजरी के गुच्छे लटकाए जाते थे मानो लाल चौरियां झूलती हों। सखियां कादम्बरी को उस कुसुमशय्या पर लिटा देतीं, पर वहां भी काम के बाण उसे चैन न लेने देते थे (शय्याकुसुमैः कुसुमशरेण शरतामुपनीतैः, पृ० २५२), तो कामोत्कंठा से अधिक विह्वल होकर वह कुसुमशयन से उठ-उठ बैठती थी (रणरणकेन मदनपरवशा कुसुम शयनादुत्थाप्यते, पृ० २५३)। हिमगृह में एलारस से सुरभित स्फटिकभवन था। मणिवेश्म में भी स्फटिकवेश्म का उल्लेख आया है। वहां उसमें आहारमंडप बनाया गया था। पर हिमगृह के स्फटिकभवन में सम्भवतः संगीतशाला या संगीतगृह का प्रबन्ध किया जाता था।

यन्त्रधारागृह हिमगृह का एक विशेष भाग था। वहाँ एक ओर चन्द्रकान्त मणि की टोंटी से झरना झरता था, और बीच में पुछार मोरों की मिली हुई ग्रीवाओं से निर्मित फव्वारे की जलधाराएँ छूटकर फुहार उत्पन्न करती थीं। शिशिरोपचारों के वर्णन में यन्त्रमय कलहंसों की पंक्ति से जलधार छूटने का भी उल्लेख आया है (उत्कीलितयन्त्रमयकलहंस-पंक्तिमुक्ताम्बुधारेण धारागृहेण)। ज्ञात होता है मोर और हंस दोनों की आकृतियों से फव्वारों को सजाया जाता था। जलयन्त्र के चलने से अतिशीतल धाराएँ छूटने लगती थीं (चलितजलयन्त्रविगलिताभिः अतिशिशिरसीकरनिकरतारकिताभिः अम्बुधाराभिः आहन्यते)।

हिमगृह के एक भाग में पर्णशाला थी। उसके भीतर आम के रस से सिक्त जामुन के पत्तों से छाजन छाई गई थी। कादम्बरी कभी स्थलकमलिनी के मण्डप में जाती और कभी वहाँ से भी घबराकर किसलयों से आच्छादित उद्यान में चली आती थी। ज्ञात होता है यह पर्णशाला का ही वर्णन है। छतनार पत्तों से ढकी होने के कारण पर्णशाला संकेतगृह का भी काम देती थी। क्रीडापर्वत पर लतागृह का उल्लेख आया है। यह पवन से आन्दोलित एक प्रकार का हवाघर था जहाँ कादम्बरी कुछ विश्राम पाती थी (मुहुः पवन प्रेंखोलितं लतागृहमधिवसति)। हिमगृह में गन्धोदक के कूपों से भृंगकोषों द्वारा सलिल-क्रीडा का आनन्द उठाया जाता था। वहां और भी विनोद एवं कामोपचार के साधन संगृहीत किए गए थे।

हिमगृह के एक देश में कुसुमदामदोला का निर्माण किया जाता था। इनमें छोटी छोटी क्षुद्रघंटिकाएँ या बजने घुंघुरुओं की मालाएँ बाँधी जाती थी जिससे झूलते समय

किंकिणियों की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती थी। ये कुसुमदामदोला वही थे जिन्हें आज फूलडोल कहते हैं और मथुरा वृन्दावन के मन्दिरों में भगवान् के लिये बनाए जाते हैं। इनमें फूलों के मण्डप बनाकर उनके नीचे पुष्पदोला या फूलों के हिंडोलों का प्रबन्ध किया जाता था जो ग्रीष्म ऋतु का अति सुखद शिशिरोपचार माना जाता था।

ज्ञात होता है हिमगृह की कल्पना गुप्तयुग से भी पूर्व राजप्रासादों के वास्तु का अङ्ग बन चुकी थी। अभी हाल में प्राकृत भाषा का अङ्गविज्जा नामक जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिला है और जिसकी अधिकांश सांस्कृतिक सामग्री कुषाण युग की है, उसमें भी 'हिमगिह' का उल्लेख है (अङ्गविज्जा, पृ० १३७)। कादम्बरी में जलमण्डप का भी वर्णन है (अनु० २६९) जो चन्द्रापीड के लिये यात्रा में सरोवर के तट पर बनाया गया था। अङ्गविज्जा में उल्लिखित सुखविहार के लिये निर्मित जलगिह उसी का रूप ज्ञात होता है (पृ० १३७)।

प्रासादशिल्प की शब्दावली की विशेषता

भारतीय राजप्रासादों से सम्बन्धित स्थापत्य की शब्दावली[1] सुनिश्चित थी। हर्ष-चरित और कादम्बरी में सैकड़ों बार बाण ने उन शब्दों का प्रयोग किया है और सर्वत्र उनके अर्थ निश्चित और स्पष्ट हैं। एक बार उन्हें समझ लेने पर ये वर्णन साभिप्राय हो जाते हैं। कादम्बरी-प्रासाद के पास ही प्रमदवन था। उसमें क्रीडापर्वतक था। उस पर मणिवेश्म था। वहाँ चन्द्रापीड को ठहराया गया। कादम्बरी अपने प्रासाद के सौध में रहती है। पहले वह वहाँ के जाल-वातायन से क्रीडापर्वतक को देखती है। पर चन्द्रापीड को विशेष रूप से न देख पाकर वह गवाक्ष छोड़कर सौध के शिखर या छत पर चढ़ जाती है। उधर चन्द्रापीड भी मणिगृह के भीतर से उपवन देखने के लिये बाहर आता है और वहाँ से कादम्बरी को न देख पाकर क्रीडापर्वत के शिखर पर चढ़ जाता है। तब दोनों ने एक

१—इस शब्दावली के लिये इन अनुच्छेदों पर ध्यान देना आवश्यक है—अनु० १२,१३ (शूद्रक स्नानादि वर्णन), अनु० ४४ (उज्जयिनी वर्णन), अनु० ५० (तारापीड की क्रीडाएँ), अनु० ८५ (राजकुल वर्णन), अनु० ९४ (सन्ध्या वर्णन), अनु० १५२ (महाश्वेता भवन), अनु० १८८ (कन्यान्तःपुर के आलाप), अनु० १९१ (कादम्बरी का कन्यान्तःपुर), अनु० १९९ (मणि वेश्म), अनु० २०३ (कादम्बरी आगमन) अनु० २०७ (कादम्बरी की मदनावस्था), अनु० २०८–२०९ (हिमगृह), अनु० २३८–२३९ (कादम्बरी विरहदशा), अनु० २१९ (कुमार भवन का अभ्यन्तर), अनु० २२७ (पत्रलेखा द्वारा कादम्बरी की विरहदशा का वर्णन), अनु० २२८ (श्रीमण्डपशयन), अनु० २५७ (शंखध्वनि विस्तार), अनु० ३०० (मृणालतल्प रचना), अनु० (शूद्रक जन्मान्तर स्मरण)।

दूसरे को देखते हैं। देर तक हावभाव करने के बाद संन्ध्या होने पर सौध-शिखर से कादम्बरी और क्रीडापर्वत-शिखर से चन्द्रापीड उतर आते हैं।

चन्द्रापीड गृहकुमुदिनी के तीर पर जब मुक्ताशिलापट्ट पर विश्राम कर रहा था, तब कादम्बरी उससे मिलने आई और कुछ देर ठहर कर लौट गई। उस रात्रि में उसने अपने सौध के भीतर विश्राम न करके सौध की छत पर श्वेत दुकूलवितान के नीचे बिछे हुए शयनीय पर विश्राम किया। चन्द्रापीड नीचे मुक्ताशैलपट्ट पर ही सोया।

अगले दिन प्रातःकाल चन्द्रापीड कादम्बरी से शिष्टाचार-मिलन के लिये गया। उस समय वह अपने प्रासाद के नीचे बाह्य आँगन की वेदिका पर महाश्वेता के साथ बैठी हुई थी। चन्द्रापीड पास में ही सुधावेदिका पर बिछे हुए आसन पर बैठ जाता है। वह लौटने की अनुमति लेता है। कादम्बरी भीतर से ही उसे बिदा देती है। अन्तःपुर की परिचारिका-कन्याएं प्रासाद के बहिर्द्वार-तोरण तक उसे पहुँचाने आती हैं। किन्तु केयूरक आदि गन्धर्वकुमार हेमकूट से अच्छोद तक उसे पहुँचाने आते हैं। इन सब वर्णनों में प्रासाद-शिल्प का वास्तुविन्यास नितान्त स्पष्ट है और उसकी शब्दावली सुनिश्चित अर्थों की वाचक है। इसी प्रकार जब चन्द्रापीड दूसरी बार अच्छोद से हेमकूट लौटकर कादम्बरी से मिलता है तो वह विरहजनित सन्ताप को हरने वाले शिशिरोपचारों के लिये अपने प्रमदवन के मध्यभाग में स्थित हिमगृह में थी। वहाँ के विविध भागों का भी जैसा स्फुट वर्णन कादम्बरी में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हिमगृह का यह भव्य चित्र कवि की वर्णनात्मक प्रतिमा का उत्कृष्ट और सरस उदाहरण है।[1]

१—परिशिष्ट २ में पृष्ठ संख्या कादम्बरी के श्री पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित मूल पाठ से ली गई है।

शब्दानुक्रमणिका

१. शब्द के सामने पहला अंक अनुच्छेद का और दूसरा अंक पृष्ठांक का है। जहां केवल अनुच्छेद का अंक हो वहां श्री पी० एल वैद्य सम्पादित कादम्बरी का अनुच्छेद देखना चाहिए।

और शुभ्र दो वर्णों का सम्मिलन हो रहा हो)। पृ० २६१ पर इस उत्प्रेक्षा का अर्थ अशुद्ध हो गया है। पाठक कृपया ठीक कर लें। २५३।२६१

उरुस्तम्भविधृता = भारी खम्भे से बाँधी गई (नई हथिनी) २११।२१८

ऊर्ध्वस्थित स्त्रीजन = सैनिक 'सावधान मुद्रा' (स्टैंड इरैक्ट) में मार्ग के दोनों ओर खड़ी हुई परिचारिकाएँ १९०।१८३

ऊर्णा = भ्रूमध्य में केशों का आवर्त ६५।८२

उल्लिखितोदर = खरादा हुआ मध्यभाग २८।४२

कक्ष्यान्तर = राजकुल में चौकों का विभाग ५५।६९

कक्ष्याबन्ध = कच्छ बाँधना १८२।१७६

कटुकवर्ति = आँख में आंजने की कड़वी बत्ती जिसे रतौंधी की चिकित्सा समझा जाता था २१६।२२९

कण्टक = प्रजाओं के उत्पीडक, शान्ति में विघ्न करने वाले डकैत १२३।१९९

कण्टकशयनव्रत = काँटों वाली (कील जड़ी हुई) सेज पर सोने का अभ्यास; इसे मुसल शयन कहा गया है (अनु० ५६) २३८।२५०

कण्ठयोग = कंठालिंगन; रागों का एक अवस्थानविशेष (भानुचन्द्र), आलाप १३३।१४२

कदर्थित = परेशान की गई, तंग की गई २१६।२२२

कनकघट = सुवर्ण पूर्ण निधानकलश ४४।५८

कनकपट्ट = हेमपट्ट जो मस्तक पर बाँधा जाता था १८२।१७७

कनकशृंखलाजाल = सोने की ज़ंजीरों के जालक या संतानक जो महलों की भीतों के बाहरी ओर लटकाए जाते थे ८५।९७

कनकशृंगकोष = सोने की पिचकारी ५०।६४

कन्दल = एक प्रकार का पुष्प (रघु० १३।२९; माघ ६।३०) २८८।२८५

कन्दुकपञ्चालिकाक्रीडा = गेंद और गुड़ियों के खेल (अन्तःपुर की बालिकाओं द्वारा) ८५।१०१

कन्यकान्तःपुरवर्णन — २०६।२०८

कन्यकाविज्ञान = कन्याओं के सीखने योग्य कलाएँ १८७।१८०

कन्यान्तःपुर के आलाप १८८।१८०-८१

कपाटपट्टद्वय = किवाड़ के दोनों पल्ले २१६।२२६

कपोलपाली = गाल, कपोलफलक, कपोलभित्ति २१०।२१७

कमल = १. एक प्रकार का मृग (स्यात्कुरंगेऽपि कमलः, अमर; उल्लसत्पद्माकरकमलामोदम्) ८५।१००; २. याचक (निजलक्ष्मीकृतकमलोपकारम्) ८५।१०२

कमलप्रकर = प्रासाद के मणिकुट्टिमों पर लगाए हुए कमलपुष्पों के ढेर २४०।२५२

कमलमुकुलकमंडलु = कमल की कली के आकार का कमंडलु ४२।५६

कमलवनदीर्घिका = प्रमदवन में कमलवन की पुष्करिणी २०८।२११

करंजमंजरी = करंजुए के पेड़ की मञ्जरी २१५।२२२

कर्णकुवलयदल = कान में कमल का दल (मेघदूत १।४४) २३८।२५०

कर्णावसक्त हेमतालीपुट = कान में सोने का तरौना ९५।११२

कर्पट = कपड़ा, कपड़े का अँगोछा २०६।२०९

कर्पासकुसुमलेश = कपास के गुल्ले ६४।७८

कर्पूरकेतकीकलिका = कपूर से बसाई हुई केवड़े की कली २१०।२१७

कर्पूरपुत्रिका = कपूर की पुतली २१०।२१७

कर्मभूमीभूतभारतवर्ष — ३०४।२९६

कर्मान्तिकलोक = तोयकर्मान्तिक अर्थात् जलगृह के अधिकारी (जो अनेक भाँति की झारियाँ लिये हुए थे-गृहीतविविधभृंगार) राजकुल में विशेष कार्यों के लिये नियुक्त पुरुष २६७।२७०

कलत्र = नितम्ब (कलत्रं श्रोणिभार्ययोः, अमर) १९१।१८७

कलशावष्टब्धपार्श्वा=जिसका पार्श्वभाग कलशों से सज्जित था २१०।२१७

कलहंस = एक विशेष प्रकार के हंस जो हिमालय में क्रौञ्चद्वारतक की यात्रा करते हुए कहे गए हैं (परशुरामविवरविनिर्गत) २३०।२४४

कलाप = रंगे हुए कलावे जो ब्याह आदि में काम आते हैं (पंचरंगविचित्रचेलचीरकलाप) ६४।७९

कलिकाश्रयिणी जृम्भा = कलीका फुटाव लेना या खिलना २४३।२५३

कल्पलतादुकूल = एक विशेष प्रकार का झीना हल्का वस्त्र २०१।१९७

कविमति = कवि की बुद्धि या कल्पनाशक्ति १९८।१९५

काकलीबन्ध की विशेष मुद्रा—५०।६४

कांचनकमलिनिका = सुनहले कमलों की वापी जो हिमगृह में थी २०९।२१३

कांचनरस = हल किया हुआ सोने का पानी ६४।७९

कादम्बरीरस = कादम्बरी ग्रन्थ का रस, कादम्बरी सुरा का आस्वाद; उत्तर भाग, श्लो० ७

कादम्बरीरसविशेषवर्णनाकुलमति = राजकुल में कादम्बरी सुरा के रस या आस्वाद के वर्णन की उत्कण्ठा ८५।१०५

कादम्बरीवर्णन—१९१।१८३-८७

कान्तार दुर्गा = वन की दुर्गादेवी की मूर्ति २१५।२२२

कान्तिपति = पूर्णिमा का चन्द्रमा २५३।२६१

कामदेवगृहदन्तवलभिका = कामदेव के आयतन में बनी हुई हाथीदाँत की मंडपिका १८८।१८१

कामदेवपट = कामदेव की मूर्ति से चित्रित पट, कामपट ३००।२९४

कामदेवमह = काम का महोत्सव, माघशुक्ल पंचमी के दिन जिसे वसन्त का जन्मदिन मानते हैं ३४४।३२८

कामपीठ = हिमगृह के कुओं के जगतीपीठ जिनपर कामक्रीड़ाओं के दृश्य सुधापंक या गचकारी में बनाए गए थे २०९।२१४

कामिनी गंडूष सीधु धारा—५०।६५

कामोपहचेताः = कामविकार से कुंठित चित्तवृत्ति वाला ३२७।३१५

कायमान = काय या सेना में राजा आदि के लिये बनाया हुआ मान या फूस आदि का बँगला या राजभवन २६७।२६९

कायमान = छावनी (शिप्रातट पर चन्द्रापीड के लिये बनाया हुआ भवन) २८६।२८२

कार्पटिक = बटोही या पथिक २१५।२२२

कार्य = न्यायव्यवहार, मुकद्दमा ३४२।३२७

कालांजनवर्तिका = चित्र की टिपाई करने वाला काजल की बत्ती २५३।२६१

कालायसदर्पण = काले लोहे को चमकाकर बनाए हुए दर्पण २१६।२२५

कालिन्दी-कादम्बरी की मैना का नाम १९५।१९०

काव्येषु दृढबंध = काव्यों में क्लिष्टबंधरचना के श्लोक २।२०

काष्ठिक = लकड़हारे ३१९।३०८

काहल = तुरही ६३।७७, ११७।१२६

किंकिरात = एक वृक्ष, संभवतः कांचनार ३४३।३२८

किन्नरराज द्रुम—३६।५१

कीर्तन = देवमंदिर; सत्र, कूप, प्रपा प्रासाद (देवालय) तड़ाग, आराम को कीर्तन कहा गया है १२३।१३१, २६६।२६८

कुंकुमस्थासक = केसर के थापे ११४।१२४

कुथा = कालीन १९८।१९४

कुब्जकलताजालक = छोटी छोटी लताओं की गुलझटें। कुब्जक लता वही है जिसे जायसी ने खूझा खाझ (पदमावत ४३६।९; = झाड़-झंखाड़) कहा है। कुब्जक < प्रा० खुज्जय < खूजा < खूझा २१५।२२३

कुमारीपुरप्रासाद = कन्यान्तःपुर १५३।१५४

कुलक्रमागत अमात्य = पुश्तैनी मंत्री ४।२१

कुलक्रमागत शूर = पीढी दरपीढी से चले आते हुए शूरवीर, मौलबल ८५।१०३

कुलगृह = पीहर, स्त्री का पितृगृह २०१।१९

कुलभवन = राजकुलप्रासाद १।१७

कुलभूभृद् = कुलपर्वत १९१।१८७

कुल्याभमि = हिमगृह में बहने वाली पतली नालियों के चक्कर या घेरे २१०।२१७

कुवलयावलीरज्जु = कोकाबेली के पुष्पनाल को युक्ति द्वारा एक में गूँथ कर बनाई हुई रस्सी २०९।२१४

कुवादिक = कठ वैद्य, अनाड़ी हकीम २१६।२२८
कुसुमकरंडक = फूलों की चंगेरी या डलिया
कुसुमदामदोला = फूलों के बँगले छाकर उनमें फूल-मालाओं से ही बनाए हुए हिंडोले, जैसे मथुरा-वृन्दावन में या अन्यत्र भी मंदिरों में भगवान् के लिये ग्रीष्म ऋतु में अब भी बनाए जाते हैं २०९।२१६
कुसुमपल्लवस्रस्तररचना = फूल-पत्तियों की शयन-रचना २३५।२४७
कुसुममार्गण = काम के पुष्पबाण २१०।२१७
कुसुमशरपतत्रिन् = कामदेव का वाहनपक्षी सुग्गा १४२।१४८
कुसुमस्तबकातपत्र = फूलों के गुच्छों से गूँथे हुए गोल छत्र २०९।२१६
कुसुमस्रस्तर = (हिमगृह में) पंकज-शयन २२७।२४२
कूटपाश = बड़े हिंस्र पशुओं का जाल ३३८। ३२२
कूणितत्रिभाग = ऐसी रागभरी दृष्टि जिसका एक तिहाई भाग सिकोड़ लिया गया हो १९८।१९४
कूणितनेत्रत्रिभाग = नेत्र का तिहाई भाग मिचमिचाता हुआ २०७।२१०
कृकलास = गिरगिट २१६।२२८
कृतार्थता = पतिसमागम की प्राप्ति से स्त्री का स्खलन, गर्भाधान, गर्भसिद्धि (उपैत स्वप्नसमागमेनापि कृतार्थतामेति) १४८।१५२; २४१।२३२
कृत्रिमकरिकलभ = हाथियों के यन्त्रसञ्चालित धातु या काष्ठनिर्मित बच्चे जो हिमगृह में पानी के वेग से क्रीड़ा करते थे २०९।२१४
कृत्स्नपृथिवीजयार्थदण्डयात्रा—१२२।१२७
कृष्णागुरुधूमपटल = काले अगुरु का घना धुआँ ८५।१०१
कृष्णागुरुपंकपत्रलता—९४।१११
कृष्णिका = पान खाने से अधर पर कलौंस ९९।११४
केयूरकवर्णन—१८२।१७६
केरलीकपोल = केरल देश की स्त्री का कपोल-भाग १७।३४
केसरिकिशोरक = शेरों के बच्चे, सिंघेले २२६।२२६
कोटिसारनागरिक = उज्जयिनी के करोड़पति नागरिक (महासार्थवाह) ४४।५८
कोण = डुग्गी या दुन्दुभि बजाने का मुड़ा हुआ डण्डा ११२।१२४
कौटिल्यशास्त्र—१०८।१२२
कौलेयक = कुत्ते ९५।१११
कौशलाभ्यास = शिल्प में हाथ रवाँ करने के लिये बनाया हुआ नमूना १४३।१५०
कौशेयककोशावरण = रेशम के कोये का छल्ला (जो कोशवृद्धि के प्रतीकार के लिये पैर के अँगूठे में पहना जाता था) २१६।२२९
क्रीडानदिका = भवनदीर्घिका की धारा १९१। १८६
क्रीडापर्वतक = प्रमदवन या भवनोद्यान में क्रीडाशैल या लीलागिरि जो बड़े ढोकों से बनाया जाता था (सगंडशैलप्रस्रवणक्रीडा-पर्वतक, हर्षचरित पृ० ६८) ५०।६४
क्रीडापर्वतकनितम्ब = क्रीडा पर्वत का डौंड़ा, क्रीडाद्रि का कटक या गोल भाग
क्रीडापर्वतपत्रशबरी = क्रीडापत्र पर नियुक्त पर्णशबरी १९१।१८६
क्रीडापर्वतमणिमन्दिर = प्रमदवन में क्रीड़ा-शैल का मणिवेश्म या मणिगृह १९६।१९२
क्रीडापर्वतकमणिवेश्म = क्रीडापर्वत के ऊपर बना हुआ मणिमन्दिर १९६।१९२
क्रीडापर्वतशिखर—१८८।१८१
क्षितितललुठन = (घोड़ों का) भूमि पर लोटना २१७।२३२
क्षुद्रा = टकहिया वेश्या; मधुमक्खी १०६।१२१
क्षुद्राधिष्ठितभवन = वह घर जिसमें मधु-मक्खियों ने छत्ता रखा हो १०६।१२१
खड्गधेनुका = कटारी २८।४३
खड्गिधेनुका = गैंडों की मादाएँ २६।४१
खण्डखट्वा = टूटी फूटी मचिया २१६।२३१
खरखलीन = कटीली लगाम ९६।११२
खलीकारदानैकपण्डित = अपकार करने में चतुर (विधाता)। (पृष्ठ ३१२ पर 'उपकार' अशुद्ध छप गया है, 'अपकार' चाहिए।) ३२५।३१२

ढौकित = समीप में आया हुआ, भेंटा हुआ ३२२।३११

तदात्व = इसी लोक का प्रत्यक्ष जीवन, आयति का उल्टा ५०।६६

तनुतरंगभंगयज्ञोपवीत = यज्ञोपवीत वस्त्र की चुन्नटदार चौड़ी पट्टी १८।५३

तडित् = विद्युत, वेश में एक प्रकार की नवेली नायिका १६२।१६०

तपनीयपर्याण = सुनहली पलान २१७।२३१

तमालवीथिका = राजकुल के प्रमदवन में गृह-दीर्घिका के तट पर तमालवीथी ८५।१०२

तमालवीथी = हिमगृह में गृहनदिकाओं या नहरों के तट पर तमालवृक्षों की वीथी २३८।२५०

तरंग = रत्न का एक दोष, बाल १०४।११८

तरुणमालतीकुड्मल = मालती की टटकी कलियाँ २०९।२१७

ताम्बूलकरंकवाहिनी—५४।६८

ताम्बूलकृष्णिका = बहुत पान खाने से होठ पर काली रेखा ९९।११४

ताम्बूलभाजन = पानदान १५४।१५५

ताम्बूलिकभवन = ८५।१०४

तारकमृग = एक प्रकार का मृग ४३।५७

ताराचक्र = तारामंडल २०१।२००

तालपत्रकुहकतन्त्रमन्त्रपुस्तिका = तालपत्र पर लिखी हुई इन्द्रजाल या तंत्र-मंत्र की पोथियाँ २१६।२२९

तिलक = काला तिल २१६।२२९

तिष्ठद्भिश्च प्रतिपालयद्भिश्च (अश्वैः) = अश्व सेना में नीराजना के बाद अश्ववारों का घोड़ों की पीठपर सवार होकर सैनिकव्यूह में खड़े हो जाना और फिर अश्वाध्यक्ष आदि के आने की प्रतीक्षा करना २५७।२६४

तुच्छ = पोल, रिक्त स्थान, छूँछा स्थान (तुलना नासदीय सूक्त १०।१२९।३, तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्) निस्तुच्छित = रिक्तस्थान का भरा जाना। २५७।२६४

तुरगब्रह्मचर्य = लाचारी का इन्द्रियसंयम, स्त्री के न मिलने पर हठात् ब्रह्मचर्य २१६।२३०

तुरंगमाधिरोहणोचितवेष = घुड़सवारी के समय का वेष ९७।११३

तुलाकोटि = पायल ५०।६४

तुषारशिलाशालभञ्जिका = बर्फ की बनी हुई पुतली २१०।२१७

तृणपुरुषक = (खेतों में खड़े किए गए) डर-पाऊ धोक पुतले या बिजूके २१५।२२४

तृणपूली = घासफूस की पूली २१५।२२३

तृणमयप्राकारमन्दिर = फूस की छावनी १२३।१२९

तृणशून्य = मल्लिका। वैद्य ने तृणशूक मूल में रखकर तृणशून्य पाठान्तर दिया है। किन्तु तृणशून्य ही ठीक है (तृणशून्यं तु मल्लिका, अमर २।४।७०; विश्वकोश, मेदिनी, वाचस्पति में भी यही पाठ है, रामाश्रमी)। शिवकोश में तृणशून्य पाठ है। टिप्पणी में स्वामी के आधार पर तृणशूक पाठ भी है, मानियर विलियम्स में दोनों हैं। तृणशून्य को सब कोशों में मल्लिका कहा है। वाट में इसे Jasminim sambac लिखा है और नव-मल्लिका, मल्लिका, आस्फोता, वनमल्लिका, वार्षिकी ये संस्कृत पर्याय दिए हैं। हिन्दी में इसे मोतिया और मोगरा दोनों कहा है। २०९।२१६

तैमिरिक = जिनके नेत्रों में अँधेरा छा जाता है १०६।१२०

त्रापुषसिंहमुख = पीतल का सिंहमुखी लट्टू जो किवाड़ों में लगाया जाता था २१६।२२६

त्रापुषसिंहमुखमध्यस्थितस्थूललोहकटक = किवाड़ों में लगे हुए पीतलके नाहरमुखी लट्टुओं में दाँतों के बीच में लटकता हुआ लोहे का मोटा कड़ा २१६।२२६

त्रिपताकोग्रभ्रुकुटि = टेढ़ी भौहें जिनके बीच में त्रिशूल की आकृति बनती हो २८।४२

त्रिपदी = हाथी के पैरों की सिकड़ ८५।९८

त्रिभुवन, संपुंजित, चित्रकर्मच्छलेन = चित्रों में दर्शित विश्वरूप अंकन १९१।१८४

त्रिभुवनविजयप्रशस्तिवर्णावली = त्रिभुवन विजयी कामदेव की प्रशस्ति की अक्षरावली १९१।१८५

धारागृह, उत्कीलितयन्त्रमयकलहंसपंक्ति-मुक्ताम्बुधार = ऐसा धारागृह जहाँ यंत्रकलहंसों के मुखों से पानी की धाराएँ छूट रही थीं (कादम्बरी के हिमगृह में यंत्रमयूर वाला धारागृह भी था जो इस से दूसरी भाँति का था) २३८।२४९

धारागृहमरकतमणिमयूर = हिमगृह के धारागृह में हरे संगों से उत्कीर्ण मोर २३९।२५१

धार्तराष्ट्र = पाण्डु वर्ण के हंस ११८।१३४

धूम्ररक्तांशुक = धुमैले लाल रेशमी वस्त्र २१६।२२६

धूमवर्ति —१५।३२

धेनुका = हथिनी (बलावलीढदर्पितधेनुक) ३६।५१

ध्रियते = जीवित रहें, सकुशल रहें २६१।२६५

ध्रुवप्रतिबद्धा गीति = ध्रुवा नामक विशेष गीति १३३।१४२

ध्वजपट = १. ध्वजा का पट, २. झापडिए या वस्तु पोंछनेवालों के हाथका झाड़न १०६।१२०

ध्वान = शब्द (मुग्धचातकध्वान) १३१।१३६

नक्षत्रमाला = कंठ का आभूषण ८।२६

नक्षत्रमाला = सत्ताईस मोतियों की एकलड़ी माला ८५।१०४

नक्षत्रमाला = हाथियों का एक अलंकार ९४।१११

नक्षत्रमालाभरण = नक्षत्रमाला नामक हाथी का आभूषण २०१।१९८

नखपद्मण्डल = मण्डल नामक नखक्षत चिह्न १९१।१८७

नगरीप्राकारमण्डल = शहर के परकोटे का घेरा २५७।२६३

नगरीविस्तार = (उज्जयिनी) नगरी के चौड़े खुले भाग २५७।२६४

नग्नलोक = नग्नाटक साधु ८५।१०५

नन्दनवनदेवी—१४९।१५३

नरपतिप्रतिबद्ध = राजा की सेवा में लगा हुआ ३१६।३०५

नरसिंह = नरशेर ३६।५१

नर्मप्राय आलाप = हास्ययुक्त शृंगारमय आलाप २५४।२६२

नलिनसंवर्तिका = कमल के नये पत्तों की बेल, पुरइन (अमर १९।४४)। संस्कृत में संवर्तिका शब्द पहले अस्तित्व में आया, पुटकिनी बाद में। ३०।४५

नवग्रहा = नई पकड़ी हुई, नई बन्धन में आई हुई (हथिनी) १५१।१५३

नागकुलह्रद = नागदेवताओं की पुष्करिणी ५६।७१

नाडिका = समय नापने का पानी का यंत्र (अनवरतगलन्नाड़िकाकलितकालकला) १२।२८;६३।७६

नाडिंधम श्वास = हाँफता हुआ साँस ३३५।३२०

नायिकाओं के सात प्रकार = (कुमुदिनी, कमलिनी, निशा, ज्योत्स्ना, छाया, तडित्, जरा) १६२।१६०

नारददुहिता = नारदऋषि द्वारा प्रवर्तित संगीतसम्प्रदाय की अनुयायिनी २०५।२०७

नारदीय गान्धर्ववेद —७१।८५

नारदीय राजधर्म = नारदस्मृति ८५।१०४

नारायणनामसहस्र = विष्णुसहस्रनाम ६४।८१

नालिकेरसमुद्गक = नारियल का डिब्बा २०१।१९७

नासिकासूत्रग्रथित = (कादम्बरी की) नासिकारूपी सूत्र में पिरोया हुआ २३४।२४६

नासीरार्थ = सेना के अग्र भाग में जाने के लिये ३१६।३०५

निजाज्ञाक्षर = निजी आज्ञा के शब्द, अपना हुकुम २४९।२५८

निद्रामंगलकलश = शयनगृह में स्थापित मंत्रपूत जल का कलश ६१।७४;१८१।१७५

निधिवाद = गड़ा हुआ धन बताना २१६।२३०

निपुणालाप = प्रवीणताभरी बातचीत, जिसमें दो अर्थ ध्वनित हों २१२।२१८

निरालम्बना बौद्धबुद्धि = सर्वालम्बनों से समतिक्रान्त बौद्ध दर्शन (देखिए आलम्बन शब्द, एजर्टन बौद्ध संस्कृतकोश), विज्ञानवादी योगाचार दर्शन १३३।१४३

निरुक्तितः = निर्वचन से, कहने या व्याख्या करने से २७८।२७७

निरुपहतशिला = पत्थर की अनगढ शिला जिसमें यथेष्ट देवता की भावना की जाती थी १९९।१९६

निर्गौरव = गौरव (रेंकने का शब्द) से रहित २७४।२७४

निर्घात = झंझावात, आंधी २८८।२८५

निर्झरझरण = झरने का गिरना १६७।१६४; ३७४

निर्मांससमुत्कीर्णवदन = इन्द्रायुध अश्व का पतला लम्बा मुंह जो मांस कम होने से उत्कीर्ण-सा जान पड़ता था ७६।८९

निर्मोकपरिलघुवस्त्र = झीने वस्त्र ३१

निर्मोकशुचि = केंचुल के समान स्वच्छ वस्त्र, निर्मोक पट्ट (रघु० १६।१७) २०१।१९७

निर्वाहप्रणालिका = बह निकलने की पनाली २१०।२१७

निर्व्यूढा प्रीतिः = प्रीति प्रकट की या निबाही ३१९।३०८

निश्वासहार्य = अत्यन्त झीना वस्त्र जो सांस लेने से उड़ जाय २०१।१९७

निष्कारणाक्रुष्ट = बिना बात नाराज २१६।२३१

निष्कुट = गृहोद्यान ४४।६०

निस्तुच्छित = जिनका तुच्छ या रिक्तस्थान भर दिया गया हो। तुच्छ = पोल, रिक्त स्थान। २५७।२६४

निस्तुच्छितसकलरथ्यान्तरतया = अश्वसेना ने पहले राजद्वार के सामने का बड़ा मैदान फिर हाटों के चौक भर दिए, तब उसने सड़कों के रीते स्थानों में भरकर (निस्तुच्छित) नगरी के भीतर और बाहर (अन्तर्बहिश्च) जो खुले स्थान (विस्तार) थे उन्हें भी भर कर संकीर्ण बना दिया (संकटायमान) २५७।२६४

निस्त्रिंश = वज्र २८९।२८९

निस्त्रिंशत्व = क्रूरता २५०।२५९

निःसंस्कारता = कुपढ्ढीपन, जाहिलपना २१६।२३१

नीयमान (अश्व) = सेना में पलान से कैस घोड़ों का मन्दुरा से बाहर निकाला जाना २५७।२६४

नीलकंचुक = नीले रंग का कोट ८।२५

नीलकन्दुक = नीली गेंद १९१।१८६

नीलप्रावरणक = नीली ओढ़नी २०९।२१६

नीलांशुकप्रच्छदपट = नीली रेशमी चादर १९१।१८३

पक्कण = चंडाल बस्ती ३३५।३२०

पंक्तिस्थितैः (अश्वैः) = अश्वसेना में नीराजना-विधि के अनन्तर घोड़ों का व्यूह में पंक्तिबद्ध खड़ा किया जाना २५७।२६४

पंचतपःक्रिया = पंचाग्नितापन १३१।१३९

पंचांगालिंगितमहीतल = पंचांग प्रणाम ३१४।३०३

पञ्जरकेसरी = पिंजड़ों में बन्द शेर जो राजकुल में रक्खे जाते थे ८५।१०१

पटच्चरकर्पट = कपड़े के फाड़े हुए चीरे २१५।२२२

पटमंडप = तम्बू १२३।१२९

पटल = परिच्छद या वस्त्र ६४।७८

पटलक = रक्तवस्त्रनिर्मित गृह, आजकल की भाषा में डोला, पिटारी या डिब्बा ६१।७५; ९७।११४

पटवासमुष्टि = पटवास चूर्ण से भरी हुई मूठ १९१।१८६

पट्टकम्बलपट = घोड़ों के लिये पाट की बनी झूलें ८५।९८

पताकाकाशोभितनाटक—८५।१०२

पत्रपुटघटीयन्त्रक = पत्तों के दोनों की माला से विरचित रहट २०९।२१४

पत्रभंगमकरिका = माथे का पत्रलता के अलंकरण से युक्त मकरमुखी आभूषण १२।२८;११८।१२६

पत्रभंगकुटिला = पत्रों के उत्कीर्णभंग की तरह टेढी-मेढी १२७।१३३

पत्रभंगिनी = पत्रलता के भंग वाली ११६।१२५

पत्रभंगों का उत्किरण = पत्र भंग बनाने के लिये खाके काटना ८५।१००

पत्रमंडप = चन्द्रापीड के कुमारभवन के भीतरी शयनीय गृह के उद्यान के एकदेश में विरचित पर्णशाला २१९।२३३

पत्रलेखावर्णन—९९।११४

पुराणपुरुष = आभ्यन्तर राजकुल के वृद्ध प्रतिहारी ८५।१०४

पुस्तकव्यापार = पुस्तकर्म या मिट्टी-चूने के खिलौने आदि की कला ७१।८५

पुस्तमय = गचकारी या मिट्टी के शिल्प से बना हुआ २६३।२६६

पुस्तमयी = गचकारी के काम से भरी हुई मिट्टी की पुतली के रूपवाली १०६। ११९; १२०।१२७

पूज्यमानैः पूजितैः (अश्वैः) = अश्वसेना में सैनिक-प्रयाण के लिये चुने हुए घोड़ों की नीराजनाविधि का सम्पादित होना २५७।२६४

पूरानिर्वोद्गिरता = पानी का रह रह कर वेग से छूटना; पूरोद्गिरण १६७।१६४;३७३

पूर्णपात्र = मांगलिक अवसर पर दिया हुआ गहना-वस्त्र आदि ५५।६९;६३।७६;१७०।१६९

पूर्वा = राजा की वंशावली, प्रशस्ति १२३।१३०

पृष्ठावगुण्ठनपट = घोड़े की पीठ का पर्याणवस्त्र २०७।२१०

पेशलता = स्वभाव की माधुरी २५०।२५९

पौरोभाग्य = दोषदर्शन २५०।२५९

प्रकटितवराहनरसिंहरूपविष्णु—३६।५१

प्रकोष्ठबद्धशंखखंडक = पाशुपत परिव्राजिका का एक चिह्न, कलाई में बँधा हुआ शंख १३३।१४२

प्रचारनिर्गत गोधन = चरने के लिये बाहर गया हुआ गोधन २५८।२६४

प्रजविनी करेणुका = वेगगामिनी हथिनी

प्रतिकर्म = शरीरप्रसाधन २६८।२७०

प्रतिच्छन्दक = प्रतिमूर्ति ९२।१०९

प्रतिपत्ति = समादर, सम्मान २०४।२०४

प्रतिप्रणाम = प्रत्यभिवादन के लिये किया हुआ प्रणाम २११।२१८

प्रतिबद्ध = जो सरकारी नौकरी में लगा हो (इसका उल्टा अप्रतिबद्ध) ३१६।३०५

प्रतिमा = दन्तबंध, हाथी के दाँतों में पहनाने के कड़े (सिंहमुखी प्रतिमा = नाहरमुखी कड़े) ८५।९८

प्रतिमातारागण = आकाशस्थित तारागण की समुद्र में परछाईं २०१।१९८

प्रतिरोधक = लुटेरा ३४२।३२६

प्रतिलेख = लेख का उत्तर ३१७।३०६

प्रतिशब्दक = पुकार सुनकर झट आने वाला सेवक १०३।११६

प्रतिशयित = देवता के सामने (आयतन में) अंसल पाटी लेकर सोना २१६।२२८;२१६। २३१

प्रतिसंख्यान = अध्यात्म ज्ञान १५६।१५६

प्रतिसर = कंगन, मांगलिक वलय १११।१२३

प्रतिहारमंडल = प्रतीहारों की टोलियाँ ८६। १०५

प्रत्यक्षलोकत्रय (श्वेतकेतु) = तीनों लोकों का प्रत्यक्ष ज्ञान रखने वाले ३०८।२९९

प्रत्यावासक = (छावनी के) हर डेरे में २५९।२६५

प्रथममध्यमोत्तमपुरुष = तीन कोटि के राजपुरुष ८५।१०३

प्रधानपुरुषोपेत = श्रेष्ठी-चौधरी आदि से युक्त (नागरिक) ४४।५९

प्रधानामात्यकुमारपालित—११।२७।२८

प्रभातमंगलगीति = प्रातःकाल के मांगलिक गीत ४५।६२

प्रमदवनपक्षद्वार = प्रमदवन के परकोटे में एक ओर का छोटा द्वार १६८।१६५

प्रमदवनवेदिका = (कादम्बरी के) प्रमदवन में विरचित चबूतरा २२०।२३४

प्रयाणक = कूच, पड़ाव, पयान १२३।१२९; २९१।२८७

प्रयाणनान्दी = कूच का बाजा २७०।२७२

प्रयाणपटह = कूच का नगाड़ा ११७।१२६; २०७।२१०

प्रयाणभेरी = कूच की भेरी ११७ १२६

प्रलम्बकूर्चधर = लम्बी दाढी वाले २१६।२२८

प्रलम्बश्रवणपाशा = लम्बी कान की लौ वाली (परिव्राजिका) ८८।१०६

प्रवाहसहस्रवमन = पानी के प्रवाह का सहस्रों धाराओं में फूटकर निकलना १६७।१६४; ३७४

प्रश्रय = विनय २०१।१९९; २५०।२५९

प्रसादभूमि = कृपापात्र २११।२१८

प्रसादयामि = प्रसन्न करती या मनाती हूँ २७२।२७४

प्रसादवित्त = राजा की प्रसन्नता का चिह्न प्राप्त करने वाला ३१६।३०५

प्रसाधितदुर्ग = दुर्गों में सामग्री का संचय रखने वाला ४८।६३

प्रसाध्य = जीतकर (वसुधाम्) २४६।२५७

प्रस्थानदुंदुभि = कूच का नगाड़ा ११२।१२४

प्रस्थानमंगल = कूच के समय का मांगलिक विधान २८२।२८०

प्रस्फोटित = वस्त्र आदि से फटकार कर या झाड़कर साफ किए हुए २१५।२२३

प्राकारमंडल = नगर का परकोटा ४४ ५९

प्रासाद = राजभवन ४५।६२

प्रासादकुक्षियाँ = प्रासाद के ऊपरी तल्ले में दोनों पार्श्वों में बनी हुई दीर्घ कक्षाएँ हर्म्यकुक्षियाँ ५०।६५;२५७।२६३

प्रासादमहाप्रणाल = प्रासाद के जल बहने का बड़ा पनाला १६७।१६४

प्रासादसोपान = धवलगृह के ऊपरी तल पर चढ़ने की सीढ़ी ८५।१०१

प्राहरिकजन = प्रहरी लोग २६७।२७०

प्रेंखोलना = इधर उधर हिलना ३४७ ३३०

बकुलफलाकार कमंडलु = लम्बी गर्दन वाला लम्बोदरा चपटा कमडलु १४२।१४९

बलाकानुकारि कमंडलु—३४।४७

बलाधिकृत = सेनाध्यक्ष ३१५।३०५

बलाहकोत्साह = मेघोदय, मेघों का उमड़ना, २४८।२५७

बलिभागभुक = सामान्य कर और भूमिकर वसूल करने वाला १७७।१७२

बहिस्तोरण = बहिर्द्वार, तोरण, बाहरीद्वार २०६।२०८

बहुपुत्रिका = जातमातृ या बच्चों की देवी जो सूतिकागृह में लिखी जाती थी ६४।७७

बाणयोग्यावास = बाण विद्या के अभ्यास की भूमि ८५।१०२

बालक्रीडा = खेलते हुए बच्चों की आकृतियों से युक्त स्थापत्य का अलंकरण-विशेष जिसे वासवदत्ता में कुमारक्रीडितक और अवन्तिसुन्दरी-कथा में शिशुक कहा गया है—अनु० ४४

बालचाटवः = बाललीलाएँ २७२।२७४

बालमुंडप्रालम्ब = बालकों के मुंडों की माला २१६।२२७

बाला = राजकुमारों के साथ नियुक्त कन्या विशेष, वासू १००।११५

बालेय = रासभ ९५।१११

बाष्पवेणिक = आँसुओं की लड़ी १६१।१५९

बाहुयुद्ध = हाथापाई २१६।२३०

बाह्याङ्गण = प्रथम कक्ष्या में विस्तृत मैदान जहाँ राजवल्लभ तुरंग और कुंजर के अवस्थान का प्रबन्ध किया जाता था २६७।२७०

बाह्यास्थानमण्डप दरबार आम ५।२२; १२।२९

बिन्दुविशेषक = चन्दन–कस्तूरी आदि के बिन्दुओं से विरचित अलंकरण २०८।२१२

बिसतन्तुमयअंशुक = कमल तन्तुओं से पतले गाधों से बने हुए झीने वस्त्र २०९।२१६

बुद्बुद = बुलबुले की तरह अलङ्करण (जो बड़े कौड़े से बनाया गया था); रत्न का एक दोष, छाला, पुलक १०४।११८; २१५।२२४

ब्रध्नमण्डल = सूर्य १७९।१७३

ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकाया (महाश्वेता) १३३।१४२

भद्रक = बहुत अच्छा, भला २४८ २५७

भर = पूरी मात्रा (भरात्परावर्तत सुरभिमासः वसन्त पूरी धूमधाम से आ गया; भरेणावतीर्णा यां रजन्याम्) ३५१।३३२; ३४३।३२७

भरतपरिचय = नाट्य के अभिनेताओं से परिचय (रखने वाले उज्जयिनी के नागरिक) ४४।५९

भवनकलहंस = राजभवन में पालतू कलहंस २०५।२०८

भवनदीर्घिकाकुमुदिनी—१६७।१६५

भवनसंकटे = मकानों के संबाध में, मकानों से भरे हुए मुहल्लों में २५७ २६३

भस्मव्रत = शिवभस्म लगाने का व्रत १३२।१३९

भागीरथीभक्तिस्तोत्र, स्वदेशभाषानिबद्ध = बुड्ढे पुजारी का तमिल भाषा में रचे हुए गंगा जी के भक्तिस्तोत्र २१६।२३०

भारतवर्ष—२०४।२०५

भावनानुविद्धा मीमांसा = आर्थी और शाब्दी भावनाओं से युक्त मीमांसा शास्त्र १३३।१४२

मुक्ताप्रालम्ब = मोतियों के झुग्गे ४५।६२

मुक्ताफलजालक = मोतियों के जाले ५३।६७

मुक्ताफलक्षोदरचिताळवाल = मोतियों के पीसे हुए मावे से बनाए हुए सुकुमार थाँवले २०९।४१६

मुक्ताफलासार = मोतियों की वृष्टि (कल्पवृक्ष से) २१८।२३२

मुक्ताभरणता = १. मोतियों के गहने पहनने की अवस्था; २. आभरणत्याग की दशा २१२। २१९

मुक्ताशिला = हकीक पत्थर १३१।१३९

मुक्ताशिलापट्ट = क्रीडापर्वतक की गृहकुमुदिनी के तीर पर हकीक की पटिया २०३।२०३

मुक्ताशैलशिलापट्ट = क्रीडापर्वत के मणिवेश्म के समीप खुले स्थान के शयनीयगृह में लगा हुआ हकीक का शिलापट्ट २०७।२११

मुखभंगिविकार = मुँह बिराना, मुँह बिगाड़कर चिढ़ाना २१६।२३०

मुद्राबन्ध = मंत्र पढ़कर हाथ फेरना ३२१।३०९

मुसलशयन = नुकीली कीलों वाली शय्या ५६।७०

मृणालतल्प = पंकजशयन, उसकी विशेष रचना-विधि यहाँ दी है ३००।२९४

मृणालदण्डमण्डपिका = मृणाल लपेटकर बनाए हुए डंडों पर टिकी हुई मंडपिका २१०।२१७

मृणालधारागृह = हिमगृह की कमलदीर्घिका में कमलों से आच्छादित धारागृह

मृत्युंजयजप = मृत्युंजय मंत्र का जप ३४७।३३०

मृदंग = १. पक्षवाद्य, २. मिट्टी की मूर्तियाँ, मृत्पुत्रिका (संगीतभवनमिवानेकस्थानावस्था-पितमृदंगम्) ८५।१०५

मृदुकर = छोटे छोटे कर, बराड़ ८५।१०२

मृदुकरसहस्र = छोटे मोटे बहुत से कर ८५।१०२

मृन्मयगुटिकाकदम्बमाला = मिट्टी की गुरियों की मालाएँ ६४।७९

मौख्य = मूर्खता २५०।२५९

मौलि = केशों को संगृहीत रखने के लिये बाँधा हुआ फीता (अं० डायडिम) ५१।६६

यत्किंचनकारी = जो चाहे कर लग पड़ने वाला २१६।२३१

यथाजात = बालिशबुद्धि, मूर्ख, जैसे जन्म लिया वैसे ही अविकसित २७४।२७५

यन्त्रप्रयोग = यन्त्रों का निर्माण ७१।८५

यन्त्रमयी शकुनिश्रेणी = यंत्रसंचालित कृत्रिम पक्षी जिनके शरीरों से पनी की बूँदें झड़ती थीं २०९।२१६

यन्त्रमयूरक = पत्थर में उकेरे हुए नकली मोर जो हिमगृह के धारागृह में बनाए गए थे २०९।२१३

यंत्रविशेषविशीर्यमाणधारागृह = ऐसे फव्वारे जिनमें विशेष युक्ति से पानी सहस्रों फुहारों में छोड़ा जाता था २००।१९७

यंत्रवृक्षक = रह रह कर पानी की बूँदें झाड़ने वाले कृत्रिम वृक्ष २०९।२१६

यात्रा = दंडयात्रा, सैनिकप्रयाण ३१६।३०६

यामकरेणुका = पहरे पर नियुक्त हथिनियाँ ८५।९७

यामकुञ्जरघटा = पहरा देने वाले हाथी ९४।१११

यामावस्थापितकुञ्जरघटा = पहरे के हाथियों की पंक्तियाँ ८४।९५

यामावस्थितगजघटा = पहरे के हाथी ९०।१०८

यामिक = प्रहरी ९४।१११; २१७।२३२

यामिकलोक = पहरे के सिपाही २६८।२७०

युवराजभवनद्वाराङ्गण = कुमारभवन के द्वार के सामने वाला बड़ा मैदान २५७।२६४

योगपट्टिका = पाशुपत साधुओं का उपरना १३३।१४४

योग्या = व्यायाम का अभ्यास ३४२।३२७

रक्तचन्दनहस्तक लालचन्दन का थापा २१६।२२५

रक्तचामरावलिपरिकर = लाल चौरियों का घेरा (लोहे के दर्पणों की किनारी के रूप में) २१६।२२५

रक्तध्वज = लाल झंडा जो जंगल में चण्डिका के मंदिर में लगा था २१५।२२४

रक्तपंकजशयन = हिमगृह में उपरचित लाल कमल के शयन, एक प्रकार का शिशिरोपचार २०९।२१३

रक्तपट = काषाय वस्त्र धारण करने वाले ९०।१०८

रक्तपटव्रतवाहिनी = बौद्ध भिक्षुणी २०५।२०६

वर्णसुधाकूर्चक = रङ्गीन बत्ती से रँगने की कूची २२५।२८९

वर्धमान = शरावसंपुटरूपी मांगलिक चिन्ह ६४।८०

वलभीकपोत = सौध की मंडपिका में रहनेवाले पारावत (मेघदूत १।३८) २४०।२५२

वल्लभबालोद्यान = छोटा निजी उद्यान जो हिमगृह से बाहर किन्तु प्रमदवन के भीतर ही था २२०।२३४

वल्लभोद्यान = चन्द्रापीड के कुमारभवन में उनका खास बाग, नज़र बाग़ (कादम्बरी के प्रमदवन में भी वल्लभबालोद्यान था) २३७।२४८; २४४।२५५

वषट्कार—३६।४९

वसन्तक्रीडिन् = फागुन की मस्ती मनाने वाले २१६।२३१

वसु = रत्न १०४।११८

वसुजनी = रत्न तराशने की क्रिया १०४।११८

वागुरा = हिरनों का जाल ३३८।३२२

वाचालन = टिटकारना, पक्षियों को बोली के इशारे से शिकार पर छोड़ना ३३८।३२३

वातमृग = विशेष मृग २१०।२१७

वारिबन्ध = हाथी पकड़ने की एक युक्ति-अनु० ७४

वर्णिचिह्ना तापसी=नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी, सम्प्रदाय की तपस्विनी, परिव्राजिका २०५।२०६

वार्ताव्यतिकर = हालचाल, कुशल समाचार २०७।२११

वालखिल्यकदम्बक = बालखिल्य ऋषिसमूह १२८।१३४

वालुकाकूप = नदी किनारे की बालू में बनाए गए उथले कुएँ २१५।२२३

वासतेयी = रात्रि ३५१।३३२

वासभवन = रानी का निजी आवास जो धवलगृह के ऊपरी तल्ले में होता था ६१।७४; ६४।८१

वासभवनांगण = कायमान के भीतर वासभवन या अभ्यन्तर शयनीयगृह का आंगन २७०।२७२

वाह्यमानैः (अश्वैः) = अश्वसेना में व्यूह में पंक्तिबद्ध खड़े किए घोड़ों पर अश्ववार सैनिकों का सवार हो जाना २५७।२६४

विघटितकनककपाटप्रकटवातायन = सोने के किवाड़ खुलने से उघड़े हुए वातायन ५०।६५

विजाति = जातिपुष्प से रहित (वसन्त ऋतु) ८।२६

विटंकवेदिका = ऊँचा चबूतरा ८५।९७

विटपक = विट या गुंडों का अधिपति, मुख्य-विट, शरारती राजा १०४।११८; १२३।१२९

विडम्बितातपत्र = छत्रों की नकल करते हुए २१५।२२४

विद्याधर, अधोमुख, श्रीमंडपमध्योत्कीर्ण = श्रीमंडप के बीच के खंभों के सिरों पर नीचा मुँह किए हुए उत्कीर्ण विद्याधर मूर्ति १९१।१८४

विद्यामन्दिर का वर्णन—६९।८३-८४

विनय = भिक्षुओं के लिये आचारनियम ९०।१०८

विन्ध्याटवी—१७।३४

विन्यस्तालक्तकपटल = आलता लगा हुआ वस्त्र ६४।७८

विप्रलम्भक = छलिया १९७।१९३

विप्रश्निका = शुभाशुभ बताने वाली स्त्री ५६।७१

विभ्रमशय्या = दोलाशय्या, हिंडोले पर कल्पित शयन १०५।११९

विमानपंक्ति—४४।६०

विमानीकृतराजहंसमंडल = १. राजाओं को मानरहित बना दिया; २. राजहंसों द्वारा अपना आकाशयान उठवाया १।१७

विरलीकृता = पेड़ आदि काटकर चौड़ी की गई भूमि २१५।२२४

विरूपक = विरुद्ध आचार २७७।२७७

विलभ्यमान (अश्व) = अश्वसेना में मन्दुरा से लाये गये घोड़ों का सवारी से पहले परख होकर चुना जाना २५७।२६४

विलासतरङ्गित = शृङ्गारचेष्टाओं से प्रेरित २०२।२०१

विलासदन्तपत्र = हाथीदाँत का बना हुआ गोल टिकरा जिसे चन्द्रमा का उपमान कहा गया है २०३।२०३

शासनवलय = १. शासन या ताम्रपत्र में पिरोया हुआ कड़ा, २. पृथिवी के शासन का सूचक राजा के हाथ में कंकण २९६।२९०

शिक्षिताशेषदेशभाष = अनेक देशों की भाषाएँ जानने वाले (नागरिक) ४४।५९

शिखण्डमाणिक्य = चोटी में गूँथा हुआ माणिक्य २०६।२०९

शिखरपारावतमाला = शिखर का कपोताली नामक अलङ्करण २४।३९

शिरीषकुसुमाभरण = सिरस के फूलों के गहने १९०।१८२

शिरोधृतमणिदीपक = मस्तक पर मणिदीप जलाए हुए २१६।२२८

शिलीमुख = पत्थर फेंकने का यन्त्र (अं० बैलिस्टा) १३१।१३८

शिशिरोपचारनिपुणपरिजन—२०८।२१२

शीतलप्रदीप = कच्ची मिट्टी का दिया ६१।७५

शुकनासोपदेश—१०३।१०९; ११५।१२३

शुद्धान्तकमलिनी = प्रमदवन में कमलपुष्पों की पुष्करिणी २३८।२५१

शुद्धान्तान्तर्वंशिक = अन्तःपुर के आभ्यन्तर प्रतीहार ८८।१०६

शूद्रकवर्णन—१।१६-१७

शृङ्गारक्रीडाएँ, तारापीडकी—५०।६३-६५

शृङ्गारनृत्ताचार्य = शृङ्गार का नाच नचाने वाला (काम)

शृङ्गिहेमकूट = शृङ्गी नामक शुद्ध स्वर्ण की राशि (शृङ्गीकनक = अलंकारस्वर्ण, अमर २।९।९६), शृंगी अर्थात् मकरिका नामक आभूषण बनाने का अतिशुद्ध सुवर्ण, कुन्दन सोना ८५।१०४

शेखर = मौलि और चूडामणि के अतिरिक्त मस्तक का अलंकरण ५१।६६

शेषहार=शेषनामक हार २०१।१९९; २०६।२०९

श्रम = व्यायाम, रियाज़ २९।४४

श्रीपर्वताश्चर्यवार्ता = नागार्जुन की सिद्धियों को श्रीपर्वत के अचम्भों की बातें २१६।२३०

श्रीफलखण्ड = बेल के वृक्षों की बनखंडियाँ २१६।२२६

श्रीमंडप = कुमारभवन और कुमारीभवन में आस्थानगृह की संज्ञा ९२।१०९; १९०।१८२

श्रीरत्न=एक विशेष प्रकार का महिमाशाली रत्न जिसकी विद्यमानता से राजकोश या रत्नालय सदा भरापूरा माना जाता था, विशेष सौभासिनिक रत्न(दिव्यावदान पृ० ११६) ८५।१०४

श्वपोषक = कुत्तों के साथ शिकार करने वाले ९५।१११

श्वेतपटव्यञ्जना परिव्राजिका = श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की भिक्षुणी २०५।२०६

श्वेतांशुकरचितोत्तमांगाभरण = श्वेत रेशमी वस्त्र से सिर के ऊपर गेंडुरी के रूप में लपेट कर बाँधा हुआ शोभाजनक केशविन्यास। इसे सौंदरानन्द में शुक्लांशुकाट्टाल कहा गया है (७।७)। चतुर्भाणी के अन्तर्गत पद्मप्राभृतक में इसे ही कोकिलकेशपाश कहा गया है (चतुर्भाणी१।४; मथुरासंग्रहालयवेदिकास्तम्भ जे५५ पर अशोकदोहदमुद्रा में स्त्री का केशपाश इसी प्रकार का है) १९१।८७

षट्कर्मा = अध्ययनाध्यापन आदि षट्कर्म करने वाला ब्राह्मण ३२२।३११

षष्ठीदेवी—६४।७८

संवर्गित = एकत्र २६९।२७१

संवर्तित = वेष्टित, गोल करके रख दिए गए (कालीन) ८५।१००

संवादक=समाचार लाने वाला, दूत २६५।२६८

संवाह्यमानदोला = झोटे खाता हुआ झूला ८५।१०१

संविधान = साज सामान, इन्तज़ाम २४३।२५७

संविभाग = पारितोषिक १०७।१२२

संवेल्लिताग्रभागकुन्तलकलाप = छल्लेदार या घुंघराले अलकाकृति केश ३११।३००

संसर्पिणी प्रदीपिका = सञ्चारिणी दीपिका ६०।७४

संस्तुतजन = परिचित जन ३१५।३०४

सकुसुमशिलीमुखा = पुष्पबाण वाले काम से युक्त, सकामा २१२।२१९

सकृद्विलिखितकृष्णागुरुपंकपत्रलता = काले अगुरु से पत्रलता अलंकरण की पहली टिपाई ६२।७६

संकटायमान = संकीर्ण बना दिया, तंग कर दिया । संकटायमाननगरीविस्तार = विशाल

साग्रं वर्षशतं = सौ वर्ष और उससे भी अधिक, भूयश्च शरदः शतात् २६१।२६५

सादि = घुड़सवार २३६।२४८

सामज = माघ १२।११; जहाँ मल्लिनाथ ने हाथी अर्थ करते हुए शाश्वत कोष का प्रमाण दिया है--सामजस्तु गजे पुंसि (मेदिनी)। गुप्तयुग में यह शब्द टकसाली बन चुका था, जैसा कि रघुवंश (१६।३) में कालिदास द्वारा इसके पर्याय सामयोनि के प्रयोग से ज्ञात होता है। इस शब्द से हाथी अर्थ का प्रवृत्तिनिमित्त इस प्रकार था। सृष्टि-रचना में ऋक् वृत्त का विष्कम्भ और साम परिधि या मण्डल है। यजुर्वेद उसमें भरा हुआ रसतत्त्व या गति-आगति भाव है जिसके कारण शक्ति भूतरूप में परिणत होती है। मण्डल या पर्यन्तरेखा का नाम ही दिक् तत्त्व या दिक्चक्रवाल, दिङ्-मण्डल हुआ। उसी मण्डल में जब भूत भाग भरने लगा तो वह दिङ्मण्डल अष्टधा विभक्त हो गया। उसी की संज्ञा देश हुई। सृष्टिरचना में भौतिक तत्त्व से भरी हुई अष्टदिशाएं ही अष्टदिग्गज कहलाईं। पञ्चभूत या तत्त्वों के समूह के कूट का प्रतीक गज या हाथी है। वह दिङ्-मण्डल या देश में मूर्त रूप लेता है। अतएव वैदिक सृष्टिविद्या की प्रतीक भाषा में दिग्गज को सामज कहा गया ११७।१२६

सामंतलोक—८५।१००

सार = सार वस्तु, धन (कृतसार-मेय-संग्रह, दे० मेय = धान्य) २८।३१

सार्धनक्षत्रमाला = अर्धचन्द्राकृति टिकरे के साथ नक्षत्रमाला नाम का हाथी का आभूषण ८५।९८

सावरणपर्याण = पर्देदार पलान जो रानी विलासवती के लिये लगाया गया था ३२४।३१२

सासोढमदनवेदना = बारबार कामव्यथा सहने वाली २३८।२४९

सिंहपादांकितशयन = शेर के पंजों की आकृति के पायोंवाला पलंग १३१।१३९

सिंहमुखप्रतिमा = हाथी के दाँत में पहनाने के नाहरमुखी कड़े ८५।९८

सिक्थ = भात २१६।२२६

सिद्ध = वह योगी जो अदृश्य होने की भी शक्ति रखता हो २२८।२४२

सिप्रातट—२३६।२४८

सिमसिमायमान = धुँधुआती हुई अग्नि ३६।५०

सीमन्तमकरिका = केशवीथी में लगाया जाने वाला मकरिका-आभूषण २०६।२०९

सुकुमारकलाविलास = नृत्य गीतादि ललित-कलाओं का आनन्द १९८।२९५

सुधावेदिका = गचकारी के काम का चबूतरा ४४।६१, २०५।२०८

सुनिबिडपर्यंकिका = भारी चौकी ५३।६७

सुभाषितपाठिका = सूक्ति श्लोक पढ़ने वाली १९६।१९२

सुरंगोपभेद = दुर्गों में बने हुए सुरंगाकृति मार्ग का तोड़ना ७१।८६

सुवर्णपुर = किरातों का नगर १२३।१३१

सुहृद्वाद्विसाधन = सुहृद्बलादि छः प्रकार की सेना २१५।२२१

सूतिकागृह वर्णन—६४।७७-८१

सूतिकामङ्गलगीतिका = सोहर के मांगलिक गीत ६४।८१

सेनानिवेश = छावनी, सेना का पड़ाव २१७।२३२

सेल = लोहे का छोटा बर्छा ३३८।३२३

सैन्यसमायोग = फौजी वेश (अपनीय = उतार कर) २९३।२८८

सोपग्रह = प्रेमपूर्वक, अनुकूल भाव से २११।२१८

सौधप्रासादशिखर—५७।७२

सौधोत्सङ्ग = धवल गृह के ऊपरी अन्तरङ्ग आवास का भाग ४५।६२

सौभाग्यघंटा = मदनयष्टिओं में लगे हुये घंटे जो दाम्पत्य जीवन के सौभाग्य के सूचक थे (द्रष्टव्य मेघदूत १।२९) ४४।५९

स्कन्धदेशावलम्बी कृष्णाजिन—३४।४७

स्तनयुगलमध्यनिबद्धग्रन्थि = गात्रिकाग्रन्थि १३३।१४२

स्तनांशुक = कुचपट्ट ५३।६७

स्तम्भित = स्थापत्य के विन्यास में स्तम्भ की भाँति विजड़ित १४४।१५०, १५९।१५७, २६३।२६६

स्थलनलिनीवन = प्रमदवन में विशेष स्थान २३८ २५०

स्थाणु = पेड़ों के ठूँठ २१५।२२४

स्थूलमुक्ताकलापजालक = बड़े मोतियों के झुग्गों के जाले ७९।९१

स्नानभूमि = स्नान के लिये राजकुल में विशेष स्थान १३।३०

स्फटिकबलाकावली = हिमगृह की जल चादर में सामने की ओर स्फटिक में उत्कीर्ण बगुलियाँ २०९।२१५

स्फटिकभवन = हिमगृह में बना हुआ स्फटिक-वेश्म २०९।२११

स्फटिकमणिवेश्म = क्रीडापर्वत पर स्फटिक का आहारमण्डप २०७।२११

स्फटिकमण्डपिका —१३२।१३९

स्फाटिकशिलातल = स्फटिक का शिलातल जो मणिपर्वत के स्फटिकगृह में लगाया गया था २०७।२११

स्फाटिकस्नानपीठ = स्नान का बिल्लौरी पीढा १३।३०

स्फुरित बुद्बुदमाला = चमचमाती बुदबुदाकृति अलंकरण की पंक्ति (किवाड़ों में जड़े हुए छोटे गोल शीशों के अलंकरण) २१६।२२६

स्मेरसृक्कोपान्तमुख = ओठों के उपान्तभाग में मुस्कान से खिला हुआ मुख २५४।२५५

स्वस्तिकभक्तिजाल = सथियों की आकृति की रचना ६४।७८

हंसधवलशयनतल = नितान्त श्वेत पलंग (जिस पर तारापीड़ बैठे थे) ८६।१०५

हंसधामन् = हंस जैसे धौले वर्ण का २५७।२६४

हंसपाली = गृहहंस के लिये नियुक्त विशेष परिचारिका १९१।१८६

हंसमिथुनसनाथदुकूल = हंसों के जोड़े की भाँत से छपा हुआ रेशमी वस्त्र ६।२४

हरिद्रावसन = पीलिया ५५।६९

हर्म्यकुक्षि = महल में प्रासादकुक्षि नामक विशेष भाग ८१।९३

हर्म्यान्तराल = महलों में, प्रासादों के भीतर २५७।२६३

हर्म्योद्यानलताभवन = प्रासाद के भवनोद्यान में लतागृह २३५।२४७

हस्तक = थापा २१६।२२५

हस्तपाशश्रृंखला = कड़ीदार जंजीर, निगड-तालक, तालेदार या खटकेदार जंजीर ११०।१३५

हाटकयष्टिप्रतिष्ठापितमङ्गलप्रदीप = सोने की डंडियों पर लगे हुए दिए ६४।८१

हारयष्टि शीतल करने की वापियाँ २०९।२१६

हारीतमुनि—३४।४६-४८

हिञ्जीर = जंजीर २८७।२८४

हिमगृह = कादम्बरी के कुमारी-अन्तःपुर के प्रमदवन के मध्य में विरचित शिशिरोपचार-युक्त स्थान, 'सावनभादों' २०८।२११

हिमगृहवर्णन—२०९।२१२-२१६

हिरण्यगर्भ = सुवर्ण का गुप्त संग्रह ८५।१०३

हृदयोत्कलिका = भावों की उत्कण्ठा २०२।२०२

हेमकूट = एक वर्ष पर्वत जहाँ किन्नरों का निवास था १३९।१४६

हेमतालीपट्ट = कान का सुनहला तालपत्र या तरौना नामक आभूषण १९१।१८६

हेमपट्टलाञ्छन = सुवर्णपट्ट का चिह्न १८०।१७४